महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य
विरचिताः
षोडशग्रन्थाः

इस प्रथम स्तबक में
समाविष्ट ग्रन्थ-प्रसूनों की क्रमसूची-

श्रीयमुनाष्टकम्
बालबोधः
सिद्धान्तमुक्तावली
पुष्टि प्रवाह मर्यादा
सिद्धान्त रहस्यम्

ભગવન્માર્ગલાલસ શ્રી ભાઈઓને
ભગવન્માર્ગરૂઢ ચિ. સૌ. રેખાને
સમંગલાશીર્વાદ — સસ્નેહ-
સભગવત્સ્મરણ —
ભાવજીવત્રિય શાસ્ત્રી,
તા. ૬/૫/૮૦.

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–विरचित–षोडश–ग्रन्थान्तर्गतं–प्रथमं

श्रीयमुनाष्टकम्

चतसृभिष्टीकाभिः समलंकृतम्

१. श्रीमत्प्रभुचरणानां विवृतिः

२. श्रीहरिरायाणां विवृतिटिप्पणम्

३. श्रीपुरुषोत्तमानां विवृतिविवरणम्

४. श्रीद्वारकेशानां विवृतिटिप्पणम्

श्रीमद्—वल्लभाचार्य—महाप्रभु—प्रवर्तित—शुद्धाद्वैत—सम्प्रदायस्य—
नाथद्वारास्थित–प्रधानपीठाधिष्ठित–गोस्वामितिलकायितश्री
१००८ श्रीगोविन्दलालजी–महाराजश्रीत्येतैः प्रकाशितम्.

वि. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दाः ५०२

प्रकाशक :

गोस्वामितिलकायितश्री १००८ श्रीगोविन्दलालजी महाराजश्री,

मोतीमहल, नाथद्वारा, राजस्थान, ३१३३०१, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द: ५०२

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टुडियोबहार, २३-ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,

बंबई-४०० ००७.

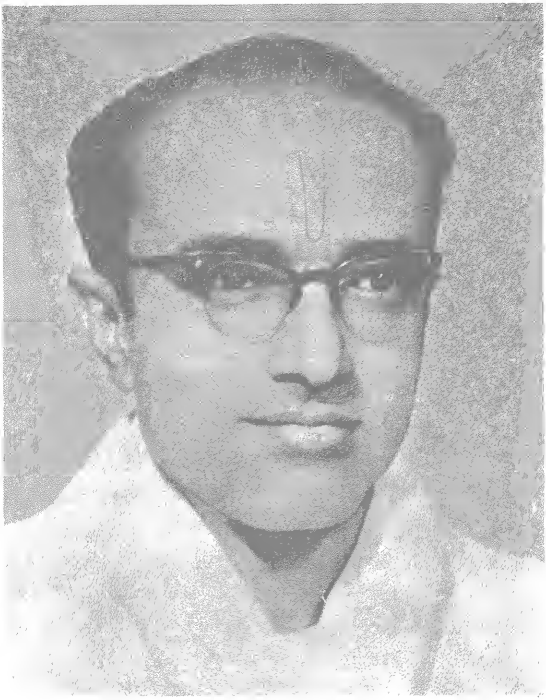

गोस्वामितिलकायितश्री १००८ श्रीगोविन्दलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ–परिचय

सुना जाता है कि अपनी व्रजयात्राके दरम्यान श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु महावनमें यमुना तटपर गोकुल ग्रामकी खोजमें परिभ्रमण कर रहे थे तब स्वयम् श्रीयमुनाने प्रकट होकर वर्तमान गोकुलका स्थल दिखलाया था. प्राचीन गोकुल ग्रामके स्थलकी पहचानके बाद श्रीमहाप्रभु वहां विराजे और तब श्रीयमुनाके पुष्टिमार्गीय माहात्म्य या महत्त्व का गान उनके मुखसे बरवस निकलने लगा. वही षोडशग्रन्थोंमें मंगलाचरणके रूपसे योजित हुआ श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रम् है.

एक किंवदन्तीके अनुसार श्रीयमुनाष्टक वि. सं १५४९ में श्रावण शुक्ल तृतीयाके दिन श्रीगोकुलमें रचा गया था. [१]

जैसे श्रीगंगाके साथ दास्यभावात्मिका मर्यादाभक्तिकी एक अन्तर्धारा बहती है, वैसे ही श्रीयमुनाके साथ पुष्टिभक्तिकी अन्तर्धारा बहती है. श्रीयमुनाके साथ बहती पुष्टिभक्तिकी यह अन्तर्धारा व्यापिवैकुण्ठके नाथको छोटेसे गोकुलके नाथ बननेके लिए मार्ग तथा पुष्टिमार्गीय गरिमा प्रदान करती है. क्षयकृत् कालके प्रवाहमें बहते जीवोंको वहांसे बरवस खींचकर अपने साथ बहाती हुई यह धारा उन्हें श्रीकृष्णकी दिव्य मधुर नित्यलीलाओंतक पहुंचा देती है.

श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुने इस यमुनाष्टक स्तोत्रमें श्रीयमुनाके आधिभौतिक आध्यात्मिक एवम् आधिदैविक रूपोंका वर्णन करते हुए पुष्टिमार्गीय दृष्टिकोणसे श्रीयमुनाके असाधारण अष्टविध वैशिष्टय अथवा ऐश्वर्य का आठ श्लोकोंमें वर्णन किया है. क्रमशः एक-एक श्लोक श्रीयमुनाके एक-एक ऐश्वर्यके वर्णनार्थ कहा गया है. वे ऐश्वर्य श्रीयमुनाके ये हैं :

१) श्रीयमुना पुष्टिमार्गीय अनेकविध सिद्धियोंको देनेवाली हैं. उदाहरणतया– साक्षाद्भगवत्सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति, भगवान्‌की विविध पुष्टिलीलाओंके दर्शन कर पानेका सामर्थ्य, उन लीलाओंमें अभिव्यक्त होते रसोंको

---

१. दृष्टव्य श्रीनागरदास बांभणिया द्वारा लिखित–"श्रीषोडशग्रन्थनी रचना तथा श्रीमहाप्रभुना चरित साथे संकालायेल महत्व नी तवारीखो" लेख. वैष्णववाणी अंक ४ वर्ष १९७९

अनुभव कर पानेका सामर्थ्य तथा सर्वात्मभाव आदि. ये सब पुष्टिमार्गीय सिद्धियां हैं जो श्रीयमुनाद्वारा पुष्टिजीवको प्राप्त होती हैं.

२) श्रीयमुना भगवद्भावको बढ़ानेवाली हैं. देवादिविषयिणी रति या प्रीति भाव कहलाती है. पुष्टिमार्गके आराध्य देव श्रीकृष्ण ही हैं तथा श्रीयमुना पुष्टिजीवको इसी कृष्णस्नेहरूप भगवद्भावसे सम्पन्न करती हैं.

३) अपने आराध्य श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध जोडनेमें पुष्टिभक्तके सामने जो भी प्रतिबन्ध या विघ्न आते हैं उन्हें श्रीयमुना दूर करती हैं. इन विघ्नोंको हर कर पुष्टिभक्तको भगवदनुभव करने योग्य शुद्ध बना देती हैं. अतः पुष्टि-जगत्को ये पावन करनेवाली हैं.

४) जैसे गुणधर्म और रूप भगवान्ने पुष्टिलीलामें प्रकट किये हैं वे सभी श्रीयमुनामें भी प्रकट किये हैं. अतः श्रीयमुनासे जिसका सम्बन्ध स्थापित हुआ हो उसका परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके साथ भी सम्बन्ध अनायास ही स्थापित हो गया समझ लेना चाहिये.

५) भगवान्के प्रिय भक्तोंमें जो भी कलिरूप दोष हों उन्हें श्रीयमुना दूर कर देती हैं.

६) रासलीलामें भगवान्के तिरोहित हो जानेपर जैसे गोपिकाओंने श्रीयमुनातटपर निःसाधनताके भावसे श्रीकृष्णकी प्रतीक्षा की, वैसे ही जो भी पुष्टिजीव श्रीयमुनाके आश्रयसे भगवान्को खोजना चाहता है वह भगवान्का प्रेमपात्र बनता है तथा भगवान्को पा सकता है. यमुना-जल-पानका यह असाधारण महत्त्व है कि पानकर्ताके देह-इन्द्रिय-आदि कालप्रवाहमें उसकी आत्माको बहाकर कभी यमालयतक नहीं पहुंचाते. किन्तु कालातीत परमात्माको प्रणयरशनामें बांधकर पानकर्ता भक्ततक अवश्य पहुंचा देते हैं.

७) देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण एवम् आत्मा यों सभीके द्वारा भगवत्-लीला एवम् भगवत्स्वरूप की अनुभूति-इस अलौकिक सामर्थ्यको तनुनवत्व अर्थात् तनु-देहका नवीनीकरण माना गया है. श्रीयमुना पुष्टिजीवोंके देहादि-में ऐसा अलौकिक सामर्थ्य प्रकट कर देती हैं कि सहस्रों परिवत्सरसे अपने प्रभुसे बिछुडा हुआ जीव अपने कालजर्जरित देहेन्द्रियादिमें एक ऐसी विलक्षण शक्ति या नूतनताका अनुभव करने लग जाता है कि उसे भगवान्की रसा-

त्मिका अनुभूति सभी तरहसे होने लग जाती है. न केवल इतना अपितु नित्यलीलामें भी उसे नूतन देह मिल जाती है, श्रीयमुनाके कारण.

८) श्रीयमुनाके तटपर तथा जलमें भी श्रीकृष्णकी अनेकविध लीलायें आधिदैविक रूपमें सनातन चलती रहती हैं. श्रीयमुनामें जलक्रीडानिरत परमानन्दात्मक प्रभुका आनन्द ही श्रमजलकणोंके रूपमें उच्छलित हो कर श्रीयमुनाजलमें तादात्म्य प्राप्त कर लेता है. अतः श्रीयमुनाजलस्नान पुष्टिभक्तोंमें श्रीकृष्णके साथ अंगसंगकी अनुभूतिकी सिहरन पैदा करता है.

श्रीयमुनाका यह आधिदैविक स्वरूप समग्रतया लीलासामयिक पुष्टि भक्तोंकी अनुभूतिका ही विषय होता है. आंशिक रूपमें परन्तु आधुनिक पुष्टिजीवोंके लिए भी प्रतिबन्धकारी दोषोंका निवारण, स्वभावविजय, भगवद्भक्ति तथा भगवत्प्रेमभाजनता श्रीयमुनाके द्वारा सम्पादित होती हैं. अतः श्रीयमुनाकी कृपासे पुष्टिजीव पुष्टिमार्गमें प्रवेशयोग्य बनता है यह मंगलविधान श्रीयमुनाका कार्य है, अतः इनकी स्तुतिको पुष्टिमार्गीय उपदेशमें मंगलाचरणके रूपमें योजित किया गया है.

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९८५ में प्रकाशित हुए संस्करणका ऑफसेट द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण-विद्यानिधि-श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजकी श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा (सूरत) द्वारा यह प्रकाशित हुआ था तथा इसके सम्पादक थे श्रीचीमनलाल ह. शास्त्रीजी. श्रीयमुनाष्टकम्के पुनःप्रकाशनके अवसरपर इन दोनों महानुभावोंके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञताज्ञापन प्रकट करते हैं. इति शम्.

श्रीकृष्णः।

प्रास्ताविकम्।

श्रीमद्गोस्वामिकुलकौस्तुभविद्वद्रत्नश्रीव्रजरत्नलालजीमहाराजचरणसंस्थापितायाः श्रीबालकृष्णशुद्धाद्वैतमहासदसो मुद्रणकार्यं प्रचलति, यस्मिन् षोडशग्रन्थानां मध्येऽस्माभिर्विवेकधैर्याश्रयान्तःकरणप्रबोधबालबोधान्तास्त्रयो ग्रन्थाः प्रकाशितावाश्चतुर्थं चरममिदमिदानीं श्रीयमुनाष्टकं सटीकं प्रदाय षोडशग्रन्थान् सम्पूर्णीकुर्वतां प्रमोदन्ते नश्चेतांसि। सुविदितमेतवत् षोडशग्रन्थानां यावल्लभ्यटीकासमेतं मुद्रणकार्यमन्तिमग्रन्थसेवाफलत एवारब्धं सम्प्रदायविद्भिस्तैलीवालामहाशयैः, तदिदं प्रथमे श्रीयमुनाष्टके एव विश्रान्तिमर्हति। भगवदिच्छापि तथैवासीत्। येन सर्वेभ्यः प्रागेवास्य मुद्रणे समारब्धेपि गो.श्रीद्वारकेशचरणटीकाया अनुपलब्धिवशात् महान् विलम्बोभूत्। तां टीकामन्वेष्टुमस्माभिर्बहुयतितम्। सर्वसाहाय्यवितरणपरायणैः श्रीव्रजरत्नलालचरणैरपि कोटा–काशी–नाथद्वारा–मोहमयीस्थानि पुस्तकालयानि गवेषितानि, तदानीं काशीसङ्ग्रहात् पत्रद्वयमेवासादितमस्याः। तदपि पुष्टिकल्पतरुत्रैमासिके प्रकाशितम्। अहं तु भगवदिच्छायाः प्राबल्यमवधार्य तत्परायणः सन् चातकव्रतमवलम्ब्य उपाविशम्। अन्तरा षोडशग्रन्थानां साररूपः सङ्ख्यात्मकश्चैको विस्तीर्णलेखो यमुनाष्टकारम्भे देय इति आवरणभङ्गषोडशग्रन्थटीकादेर्मया उद्धृत्य सज्जीकृतः। परं यमुनाष्टकस्य महर्घं स्यादिति भयेन तदभिनिवेशं परित्यज्य तं स्वतन्त्रतयान्यत्र दास्याम इत्येवावधारितम्। एकदैकेन विदुषा श्रीयमुनाष्टकस्य प्राकट्ये को विलम्ब ? इति पृष्टोऽहं टीकानुपलब्धेरेव कारणत्वेनावोचम्। 'स्वपार्श्वे विराजते टीकेयमि'त्यभिधाय स श्रीद्वारकेशचरणप्रणीतां स्वहस्ताक्षरैर्लिखितां शुद्धां टीकामददाद् इति, मया तु बहुधन्यवादाः प्रदत्ताः। श्रीयमुनाष्टकस्य मूलव्याख्यानं षष्ठश्लोकपर्यन्तं श्रीप्रभुचरणानामग्रे तदाज्ञातश्रीगोकुलनाथचरणैर्विलिख्य श्रीपितृचरणेभ्यो निवेदितमिति प्राचीना आहुः। तस्य त्रीणि विवरणानि, श्रीहरिरायचरणानां श्रीपुरुषोत्तमचरणानां श्रीद्वारकेशचरणानां विवृतिटिप्पणं विवृतिविवरणं टीकाटिप्पणमिति क्रमशोत्र प्रकाशितानि। टीकाकृतां मध्ये श्रीहरिराय-श्रीपुरुषोत्तमचरणानां चरितं बहुधा गीतं सम्प्रदायज्ञैरिति नात्र तत्पुनरुक्तिं समीहे। परं क एते श्रीद्वारकेशचरणाः प्राचीना वार्वाचीना इति शङ्कते लोकः, गो० श्रीमथुरानाथानां सूनवः श्रीद्वारकेशचरणाः सं० १८५३तमेऽब्दे प्रादुर्भूताः। स्वीयां गङ्गामातरपि ग्रन्थारम्भे प्रणमन्ति, एवं "द्वारकेशं गिरिधरं मथुरानाथसञ्ज्ञकम्" इति स्वपितृचरणान् स्मरन्ति च। तत्र श्रीद्वारकेशचरणाः १७७४तमेऽब्दे श्रीगिरिधरचरणाः १८०३तमेऽब्दे श्रीमथुरानाथाः सं० १८२९-तमेऽब्दे प्रादुर्भूताः। तैश्चतुःश्लोकीसिद्धान्तमुक्तावलीग्रन्थानां विहिता विवृतयः। श्रीयमुनाष्टकारम्भे षोडशग्रन्थानां सङ्गतिं कुर्वद्भिस्तैः सर्वेषामेव विवरणं कर्तुं प्रतिज्ञातम्। अत एवान्यपि विवरणानि स्युरपि, परं न प्रसिद्धानि। बालबोधविवरणस्य प्रणेतारो गो० श्रीद्वारकेशचरणास्तु प्राचीनाः सुप्रसिद्धा एव।

अस्य श्रीयमुनाष्टकस्य गुर्जरानुवादः 'सुरत सीटी' मुद्रणालये सम्मुद्रितः। तस्य पुष्टिकल्पतरुवाचकेभ्यो वितरणं कृतम्। पुनः प्रतापमुद्रणालये सम्मुद्रितोनुवादः, पृथग् ग्रन्थरूपो यः शु० महासदसः कार्यालयतो मूल्येनोपलभ्यते। एवं ग्रन्थान्वेषणादिबहायाससाध्यं कार्यं श्रीमदाचार्यचरणकृपयैव सुनिष्पन्नमिति एतेषां चरणकमलेषु विनिवेद्यते। अस्य मुद्रणव्ययस्तु अधिकः सञ्जातः, परं सार्धशतमेव नगरठठ्ठावासिना श्रेष्ठिना प्रदत्तम् इति मुखपृष्ठोपरि अभिधानं निवेशितं तस्य।

श्रावणशुक्लैकादशी सं० १९८५ }

भवदीयः
चीमनशास्त्री।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतं

श्रीयमुनाष्टकम् ।

मूलम्—नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा
मुरारिपदपङ्कजस्फुरदमन्दरेणूत्कटाम् ।
तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना
सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम् ॥ १ ॥
कलिन्दगिरिमस्तके पतदमन्दपूरोज्ज्वला
विलासगमनोल्लसत्प्रकटगण्डशैलोन्नता ।
सघोषगतिदन्तुरा समधिरूढदोलोत्तमा
मुकुन्दरतिवर्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता ॥ २ ॥
भुवं भुवनपावनीमधिगतामनेकस्वनैः
प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभिः ।
तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिवालुका-
नितम्बतटसुन्दरीं नमत कृष्णतुर्यप्रियाम् ॥ ३ ॥
अनन्तगुणभूषिते शिवविरञ्चिदेवस्तुते
घनाघननिभे सदा ध्रुवपराशराभीष्टदे ।
विशुद्धमथुरातटे सकलगोपगोपीवृते
कृपाजलधिसंश्रिते मम मनस्सुखं भावय ॥ ४ ॥
यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियम्भावुका
समागमनतो भवत्सकलसिद्धिदा सेवताम् ।

तया सदृशतामियात्कमलजा सपत्नीव य-
द्धरिप्रियकलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम् ॥ ५ ॥

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं
न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः ।
यमोऽपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति दुष्टानपि
प्रियो भवति सेवनात्तव हरेर्यथा गोपिकाः ॥ ६ ॥

ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता
न दुर्लभतमां रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये ।
अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं सङ्गमात्
तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितैः ॥७॥

स्तुतिं तव करोति कः कमलजासपत्निप्रिये
हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षतः ।
इयं तव कथाऽधिका सकलगोपिकासङ्गम-
स्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमः ॥ ८ ॥

तवाऽष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते सदा-
समस्तदुरितक्षयो भवति वै मुकुन्दे रतिः ।
तया सकलसिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति
स्वभावविजयो भवेद्वदति वल्लभः श्रीहरेः ॥ ९ ॥

श्रीमद्वैश्वानरावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितं
श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रं
सम्पूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीमद्व द्दनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतं

श्रीयमुनाष्टकम्।

श्रीमत्प्रभु रणविनिर्मितया विवृत्या,
श्रीहरिरायचरणप्रणीतेन त ्पणेन, श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतया
श्रीप्रभुचरणविवृति त्या च समनुगतम्।

मूलम्—नमामि यमुनामहं स लसिद्धिहेतुं मुदा

श्रीमत्प्रभुचरणविनिर्मिता विवृ ।
विश्वोद्धारार्थमेवाऽऽविर्भूतवृन्दावनप्रि ।
कृपयन्तु सदा तातचरणा मयि विट्ठले ॥ ॥

श्रीहरिरायप्रणीतं श्रीप्रभुचरणविवृतिटिप्पणम्।

श्रीकृष्णाय नमः। अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीयमुनाष्टक तिं विरचयन्तः प्रथममाचार्यवर्यस्वरूपमेतत्सजातीयधर्मवत्त्वेन निरूपयन्तः स्वस्मि तिकृतिशक्तिसिद्धये तत्कृपां प्रार्थयन्ति विश्वोद्धारार्थमिति। प्राकट्यप्रयोज म्। अत्र विश्वपदं सर्ववाचकम्। तदपि सङ्कुचितवृत्ति। "सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या " इतिवत्।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता श्रीप्रभुचरणविवृतिविवृतिः।

श्रीमद्वल्लभनन्दन दासेऽस्मिन् कृपय साधनैः शून्ये।
श्रीयमुनाष्टकविवृतिं विवरीतुं काङ्क्षते यतः करुणाम्॥ १॥

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीमदाचार्याणां स्वस्य चाऽवतारप्रयोजनं तत्र श्री ु-नाया निर्वाहकत्वादष्टककरणं चाऽनुसन्धाय श्रीयमुनाष्टकविवृतिं विरचयि त-स्तत्साफल्याय श्रीमदाचार्यान् प्रार्थयन्ति विश्वोद्धारार्थमिति। विश्वो ार्थ

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

तथा च, पुष्टिमार्गाङ्गीकृतानामेव जीवानामत्रोद्धार इति ज्ञेयम् । अयं च पुष्टिप्रभोः श्रीयमुनायाः श्रीमदाचार्यचरणानां च समानो धर्मः । भगवता व्रजस्थानां श्रीयमुनया अपि प्रभुसम्बन्धसम्पादनेन प्रभुप्राकट्यकरणेन च तासामेवाऽस्मत्स्वामिभिरपि तथाविधानामिदानीन्तनानामुद्धारात् । विशेषस्त्वेतावानेव । भगवता श्रीयमुनया च लीलासृष्टिस्थानामेव तथाकरणम् । इदानीन्तनानां प्रभुपारोक्ष्येऽस्मत्प्रभुभिरिति । एवं च सति त्रयाणां सजातीयधर्मवत्त्वे च सिद्धम् ।

भगवान् विरहं दत्वा भाववृद्धिं करोति हि ।
तथैव यमुना स्वामिस्मारणात्स्वीयदर्शनात् ॥ १ ॥
अस्मदाचार्यवर्यास्तु ब्रह्मसम्बन्धकारणात् ।
तापक्लेशप्रदानेन निजानां भाववर्द्धकाः ॥ २ ॥

उद्धारोऽत्र भगवदासक्तिसम्पादनेन प्रपञ्चात्पृथक्करणम् । तेन सर्वात्मभावदानमेव स इति बोध्यम् । एवकारोऽत्र प्रयोजनान्तराभावाय । एतेन मायावादखण्डनब्रह्मवादस्थापनकर्ममार्गप्रवर्त्तनादिकमानुषङ्गिकमिति सूचितम् । स्वरूपमाहुः—आविर्भूतेति । आविर्भूतो व्रजजनहृदयेभ्यो लीलाकरणार्थं यो वृन्दावनप्रियः सदानन्दस्तद्रूपास्त इत्यर्थः । यथा भगवान् लीलाप्राकट्यायैव रसात्माऽऽविर्भूतस्तथैतेऽपि श्रीभागवतविवृतिप्रकटीकरणेन तत्प्राकट्यार्थमेवाऽऽविर्भूता इति भावः । अथवा, वृन्दावनमेव प्रियं यासाम्, भगवद्विरहे तदर्थमपि तदपरित्यागात् । ताः स्वामिन्यः । आविर्भूताश्च तास्तथाभूताः, ता एवैत इत्यर्थः । स्वामिनीभावेन प्राकट्यदशायां सेवादिकरणा-

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

सदैव, सदैव तदर्थं वा, सदा तदर्थमेव वा, कृपयन्त्वित्ति सम्बन्धः । एतेन स्वस्य तदुद्योगस्तदावश्यकत्वं कृपालुत्वं च बोधितम् । तथाच कृपयाऽष्टकविवृतिभ्यां तं कुर्वन्तु कारयन्तु चेति भावः । श्रीमदाचार्यावतारप्रयोजनं तु—'अर्थं तस्ये'ति श्लोकेन 'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मे'त्यादिसन्दर्भेण च स्वयमेव ज्ञापितम् । तदत्र 'विश्वोद्धारार्थमेवाऽऽविर्भूते'ति पदसमभिव्याहारेण बोधितम् । स्वावतारप्रयोजनं तु स्वनाम्ना, विदा ज्ञानेन ठाः शून्यास्तान् लात्यनुगृह्णातीति तदर्थात् । पदनिरुक्तिस्तु—विदा इत्यत्र विभक्तिलोपे चर्त्वे ष्टुत्वे च कृते 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरि'ति वार्त्तिकाट्टस्य ठत्वम् । 'पौष्करसादेर्मते शर्य्येव अन्येषां मते त्वन्यत्राऽपी'ति कृष्णपण्डितैर्विस्तरेण व्याख्यानात् । यदि च नवीनमतमालम्ब्येदं नाऽऽद्रियते तदा तु—

१ भगवदास्यरूपस्य आचार्यरूपेण इति विशेषः । अ.

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

तद्भावभावनेन च तद्रूपत्वमिति भावः। वस्तुतो भावात्मा भगवान्, 'रसो वै सः' इति श्रुतेः। तदात्मरूपत्वादेतेऽपि तथा। तथा श्रीयमुनाऽपि द्रवीभूतरसात्मकतत्स्वरूपत्वेन। तत्र यथा भगवतीव श्रीयमुनायामपि स्वामिनीभावेन स्त्रीरूपत्वं, तेन च तत्र सर्वाऽपि भगवल्लीला, भगवद्भावेन च भगवत्त्वं, विरहे भगवत्स्वरूपतद्दर्शनेन स्वामिनीसुखाय, तथाऽत्राऽपि प्राकट्यदशायां स्वामिनीभावेन सेवादिकृतौ तद्रूपत्वं, भगवद्भावेन भगवद्रूपत्वं, विरहे तासामन्तरास्यप्राकट्येन स्वरूपसम्बन्धिसुखदानायेति बोध्यम्। अत एवोक्तं श्रीवल्लभाष्टके—" यस्मादानन्ददं श्रीव्रजजननिचय' इति। यद्वा। आविर्भूतं स्वस्वहृदयेभ्यो बहिःप्रकटीभूतं यद्वृन्दावनं तत्प्रियं यासाम्। अन्तःस्थितावपि बहिःप्राकट्यस्यैवाऽभिलषितत्वात्। अत एव 'वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्' (१०-२१-१०)इति ताभिर्गीतम्।तथाच तादृक्तद्रूपत्वादस्मत्प्रभवोऽपि लीलाविष्करणाभिलाषिण इति ज्ञेयम्। तातचरणा इति सम्बन्धनिरूपणं तु पुष्टिमार्गीयाचार्यकरुणासिद्धिर्यथाकथञ्चित्सम्बन्धसिद्ध्यैव भवति न त्वन्यसाधनैरिति बोधनाय।

देहेन भावतो वाऽपि सम्बन्धः फलसाधकः।
पुष्टिमार्गे नाऽतिरिक्तं साधनं साधकं ततः॥ १॥
नाऽयमात्मेत्युपनिषन्निषेधति यतोऽखिलम्।
नन्दादयो देहजेन प्रादुर्भावेन गोपिकाः॥ २॥

मयीति तत्कृपायोग्यत्वबोधनाय। सर्वसाधनराहित्येन केवलं तदीयत्वाद् अत एवैकवचनम्, अत एव सप्तश्लोक्यां 'तनोतु निजदासस्य सौभाग्यम्'इति

श्रीपुरुषोत्तम प्रणीता विवृतिः।

'पररूपं तकारो लचटवर्गेषु'—तकारः पदान्तो लचटवर्गेषु परे पररूपमापद्यते—इति कौमारसूत्रात्। आवश्यकत्वमपि विवृतेरेतेनैव ध्वनितम्। आविर्भूतवृन्दावनप्रिया इति। अत्र वृन्दावनस्य प्रियः, वृन्दावनं प्रियं यस्येति वा वृन्दावनप्रियः, आविर्भूतश्चाऽसौ स च आविर्भूतवृन्दावनप्रिय इति तत्पुरुषबहुव्रीह्यन्यतरगर्भः कर्मधारयः। तथाच तदभिन्ना इत्यर्थः। अत्र भगवत्पक्षे अभेदो वास्तवः। 'वस्तुतः कृष्ण एवे'त्याद्युक्तेः। व्रजभक्तपक्षे तद्भाववत्त्वकृतसारूप्यनिबन्धनः। 'तत्सारभूते'ति नामनिर्देशात्। तातचरणा इत्यत्र चरणपदं बहुवचनं च पूजार्थम्। 'जीवत्सु तातपादेषु' 'मुद्रे ब्रूहि सलक्ष्मणाः कुशलिनः श्रीरामपादा' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्, 'एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे' इति वाक्याच्च 'जात्या-

---

१ तासामन्तरा स्वप्राकट्येनेति ग. २ तादृग्रूपत्वादिति ग-घ. ३ तन्मयत्वादिति ग-घ.

विविधलीलोपयोगिनीं कालिन्दीं स्तोतुकामाः श्रीगोकुलेशो यथा जीवै-र्नमनातिरिक्तं न कर्त्तुं शक्यं, तथा कालिन्द्यामपीत्याशयेनाऽऽदौ नमनमे-

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

प्रार्थना । विट्ठल इति नामग्रहणं नाम्नाऽपि तद्योग्यताद्योतनाय । ज्ञानशून्यानुग्राहकत्वं हि नामार्थः । तस्य चाऽऽचार्यकरुणामन्तरेणासिद्धेस्तत्कृपयैव सामर्थ्य-रूपया तादृशजनानुग्राहकत्वसिद्धिः । तदर्थमाचार्यवर्याणामेव प्रभुणाऽऽविर्भावितत्वात् । अस्मिन्मार्गे कृपैव साधनं फलं चेति बोधनाय कृपयन्त्वित्यभिहितम् । इदं साधनफलरूपत्वञ्च 'कृपायुक्तस्य तु यथा सिद्ध्येदि'ति 'कृपानन्दः सुदुर्लभ' इति निबन्धनिरोधलक्षणग्रन्थीयवाक्याभ्यामवमन्तव्यम् । एवमेकेन पद्येन प्रभुभिः स्वाभीष्टप्रार्थनाप्रसङ्गेन निजाचार्यस्वरूपं निरूपितम् ।

विविधलीलोपयोगिनीमिति । आचार्यचरणानां हि प्रभुलीलासम्बन्धोऽभिलषितः । अत एवाऽग्रे तनुनवत्वप्रार्थनम् । स च तादृक्तत्सम्बन्धिपरितोषणेन भवति । तच्च यथास्थितरूपनिरूपणेन स्तुत्येति श्रीयमुनाया लीलासम्बन्धित्वबोधनाय विविधलीलोपयोगिनीमित्युक्तम् । विविधाः स्वरूपगुणभेदेन सर्वात्मभावकामभावादिभेदेन[1] शास्त्रीयाशास्त्रीयप्रकाराभ्यां नानाप्रकारा या भगवतः स्वामिनीभिः सह लीलास्तासु अलौकिकशरीरसम्पादकत्वेन प्रभुसम्बन्धसम्पादनेन भावजनकत्वादिभिश्च तथेत्यर्थः । कालिन्दीमिति । यद्यपि यमुनामिति वाच्यं तद्भिन्नत्वादस्याः, तथापि कालिन्दीमूलरूपत्वं तस्यां बोधयितुं भगवति 'देवकीजठरभूरि'तिवाक्यात् 'देवकीसुतपदाम्बुजे'तिवाक्याच्च देवकीसुतत्वोक्तिवदत्राऽपि कालिन्दीत्वोक्तिरितिवेद्यम् । किञ्च । प्रभुसम्बन्धप्रतिबन्धकदोषनि-

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

ख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्यामि'ति सूत्रे 'जात्याख्यायामि'ति योगं विभज्य पूजायामेकत्वे बहुवचनं प्रयुक्तमित्यदोषः । एवं कृपाप्रार्थनयाऽऽर्थिकनमनात्मकं मङ्गलं विधाय विवक्षितोद्धारस्य भजनानन्दावाप्तिरूपत्वात्तत्र च भक्तिमत्कृतस्य दैन्यस्यैव साधनत्वात्तद्धृदि कृत्वा भक्तिस्तत्प्रतिबन्धनिवृत्तिः तत्तदुपयोगिपरिकरसम्पत्तिश्चाऽर्थज्ञानपूर्वकाष्टकपाठेन भविष्यतीति ज्ञापनाय स्तोतव्यायाः श्रीकालिन्द्याः स्वरूपप्रभुपकारकत्वं कृपावत्त्वं च बोधयन्त एवाऽऽद्यश्लोकमवतारयन्ति विविधेत्यादि । अत्र विविधलीलोपयोगिनीमित्यनेन हेतुगर्भेण विशेषणेन स्तुतिप्रयोजकं

१ भेदेन चेति ख. २ अस्यामिति ख.

वाऽऽहुर्नमामीति । भगवताऽष्टविधैश्वर्यं कालिन्दै दत्तमिति ज्ञाप-

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

वृत्तये वा तथोक्तिः । कलिं दोषं द्यति खण्डयतीति कलिन्दस्तस्याऽपत्यमिति तादृग्धर्मवत्त्वेन भक्तप्रतिबन्धनिवर्त्तकत्वात्। अत एवाऽग्रे 'हरिप्रियकलिन्दये'त्यत्र तथैव व्याख्यातं प्रभुभिः। अनेन कालिन्दीपदस्याऽस्यां न धर्मवाचकत्वेन नामत्वं किन्तु धर्मविशिष्टतद्वाचकत्वेन विशेषणत्वमिति सूचितम्। स्तोतुकामा इति काम एव पूर्वं निरूपितः। अग्रे तु स्वरूपमाहात्म्यस्फूर्त्या स्तुतिकरणमशक्यमिति 'स्तुतिं तव करोति कः' इत्यनेन निरूपणीयमिति भावः। श्रीगोकुलेश इति। पुष्टिमार्गीयो लोकवेदाप्रसिद्धः पुरुषोत्तम एतत्पदेनोक्तः। तत्र लीलासृष्टिप्रवेशमन्तरा गमनाभावेन साक्षात्कारासम्भवात्परोक्षस्थितैर्नमनमेव स्वदैन्याविष्कृतये कार्यं यथा, तथा लीलासृष्टिप्रवेशमन्तराऽत्राऽपीति भावः। अत एवाऽऽचार्यवर्यैः—'नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतामि'ति द्वितीयस्कन्धीयपद्यविवृतौ 'गमनाभावान्नमनाधिकार' इत्यभिहितम्। आदाविति। अग्रे तु 'मम मनः सुखं भावय' 'ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमि'त्यादि प्रार्थनीयमिति भावः। नमनमेवेत्येवकारः पूर्वमग्रिमप्रार्थनीयास्फूर्त्या तदतिरिक्तव्यवच्छेदार्थः। अष्टविधैश्वर्यमिति। भगवता दत्तमिति। अत्राऽयं भावः। भगवान् हि लोके स्वस्य रसात्मकं रूपं तादृशीं लीलां च प्रकटयितुं प्रादुर्भूय सर्वात्मभाववतीषु तथा लीलां चकार। तत्र तदधीनत्वमङ्गीकृत्य सर्वाऽपि कृतिस्तदतिरिक्तास्फूर्त्तिश्च। अन्यथा रसात्मकत्वं न स्यात्। एवं सति सर्वमेतदैश्वर्यविरोधीति लीलासृष्टौ तत्कार्यार्थं लीलोपयोगिन्यां स्वामिनीभगवत्सम्बन्धिन्यां श्रीयमुनायां तत्स्थापितवानिति भगवता दत्तमित्युक्तम्। स्वयं तु रसात्मकत्वेन तदधीनस्तदतिरि-

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृत्तिः।

रूपमुक्तम्। अनेन स्तोत्रेण स्तुत्या प्रसन्ना स्तोतॄणां लीलासम्बन्धं कारयिष्यतीति च ध्वनितम्। श्रीगोकुलेशपदेन 'अन्धावृतं निशि शयानमि'ति वाक्योक्तं निःसाधनफलात्मकं 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठमि'त्याद्युक्तं दीनबन्धुत्वं च बोधितम्। न कर्त्तुं शक्यमित्यनेन साधनान्तराणां फलानुपधायकत्वम्। अतिदेशेन तद्धर्मवत्त्वम्। नमनपदेन कायादित्रयव्यापारात्मकमत्र नमनं सङ्गृह्यतेऽतो न चोद्यावसरः। आदौ नमनोक्तेरयमेवाऽऽशय इत्यत्र गमकमाहुः—भगवतेत्यादि। अन्यथा श्लोकस-

१ धर्मिवाचकत्वेनेति ख-ङ. २ पूर्वंनिरूपित इति ग-घ. ३ स्तुतिकरणमप्यशक्यमिति क-ख-घ-ङ. ४ परोक्षस्थितैर्जीवैरिति च. ५ भा. स्कं. २-४-१४.

मुरारिपदपङ्कजस्फुरदमन्दरेणूत्कटाम् ।

नाथाष्टभिः श्लोकैः स्तुवन्ति । साक्षाद्भगवत्सेवोपयोगिदेहासिततल्लीला-

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

त्कस्फूर्तिराहितश्चेति। तच्चैश्वर्यमष्टविधं पुष्टिमार्गीयम् । तथाहि। (१) सकलसिद्धिहेतुत्वं, (२) भगवद्भाववर्द्धकत्वं, (३) भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धनिराकरणेन तदनुभवयोग्यताहेतुशुद्धिसम्पादकत्वरूपं भुवनपावनीत्वं, (४) भगवत्समानधर्मवत्त्वादनायासेन तत्सम्बन्धसम्पादकत्वं, (५) भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वं, (६) भगवदीयोत्कर्षाधायकत्वं, (७) भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वं (८) तनुनवत्वसाधकत्वं चेति । इदं च लीलासृष्टिस्थेष्वेव ज्ञेयम् । तत्रैव तदधिकारात् । आधुनिकानां तु तदर्थप्रकटिततदास्यरूपादेव सर्वमिति विमर्शः[2] । सिद्धिस्वरूपं विवृण्वन्तीतरवैलक्षण्याय सिद्ध्यन्तर-भ्रमनिवारणाय[3] च[4]—साक्षादित्यादिना । स्वरूपादिषु परम्परासेवने तु नाऽलौकिकं देहमपेक्ष्यते । किन्तु निवेदनाख्यसंस्कारसंस्कृतं लौकिकमेव । तत्र भगवतोऽपि सावरणत्वेन जीवस्य साक्षात्स्पर्शाभावात् । लीलाप्रवेशे तु साक्षात्स्पर्शाय तदपेक्षेति साक्षात्पदमुक्तम् । लीलावलोकनमपि सिद्धिरेव । यथा योगजधर्मेण योगिनामतीन्द्रियपदार्थदर्शनसिद्धिस्तथा श्रीयमुनासेवनधर्मेणाऽपि गुणातीतप्रभुलीलादर्शनसिद्धिरिति भावः। तथा तद्रसानुभवश्च लीलोपयोगिन्योभयसम्बन्धिन्या मध्यस्थयैव भवतीति तदनुभवरूपा सिद्धिरप्येतत्सेवनेन भवतीत्यर्थः। सर्वात्मभावसिद्धिरपि भगवत्स्वरूपत्वाद् भगवतेव तद्धृदयग्रहणेन वशीकरणाद्भवतीति तत्सेवनाधीनैवेत्यर्थः।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

ङ्ख्ययाऽत्र भगवत्साम्यं न बोधयेयुरतस्तथेत्यर्थः । सङ्ख्यायाः प्रयोजनवत्त्वं जातेष्ट्यधिकरणे सिद्धम् । ऐश्वर्यदाने गमकमाद्यविशेषणमेवेत्याशयेनाऽऽध्यात्मिकाधिभौतिकव्यवच्छेदाय च तदैश्वर्यदेयं विवृण्वन्ति साक्षादित्यादि । अत्र च यदीश्वरा न स्यादुक्तसिद्धिनिमित्तभूता न स्यादिति कार्यलिङ्गकानुमानगर्भेण तर्केण तत्सत्ता साधिता । सिद्धिविवरणेन चैश्वर्यमत्र नैकादशस्कन्धोक्ताणिमादिरूपं विवक्षितम्, किन्त्वेतत्स्तोत्रोक्तं भक्तिमार्गीयसामर्थ्यविशेषरूपम् । अणिमादिमतामपि सनकादीनामुक्तसिद्धिदानादर्शनेन तत्र तदभावनिश्चयात् । तदप्यैश्वर्यं विवृतं श्रीहरिरायैः । तथाहि उक्तसकलसिद्धिहेतुत्वमेकम् । भगवद्रतिवर्द्धकत्वं द्वितीयम् ।

१ सर्वत्र मूर्धन्यान्त एव पाठ उपलब्धः ष इति स एव पूर्वं स्वीकृतः अस्माभिस्तु श इति लभ्यते । अ.
२ सिद्धान्तान्तरेति ग-घ. ३ निराकरणायेति ङ. ४ चेति नास्ति. ङ.

तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना
सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम् ॥ १ ॥

वलोकनतद्रसानुभवसर्वात्मभावादयः सकलसिद्धयो ज्ञेयाः। अत एव नमनं मुदपि। जलदोषात्मकमुरस्याऽरेः पदपङ्कजयोः स्फुरन्तः सेवोपयोगिदेहादिसम्पादनोन्मुखा ये रेणवोऽमन्दा व्रजसुन्दरीवृन्दचरणरेणुसाहित्येनाऽनल्पास्त उत्कटा जलापेक्षयाऽधिका यत्र। एतेन दोषभयं भगव-

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

अत एवोक्तं प्रभुभिरेतदष्टपद्याम्—'धारितश्रीकृष्णयुतभक्तहृदय' इति। आदिपदाद्धियोगेऽप्यन्तःप्राकट्यात्कोशप्रतिमान्यायेन भगवदाविष्टदेहसिद्धिः, परावृत्तचक्षुषाऽन्तराविर्भूतप्रभुलीलावलोकनसिद्धिः, भावात्मकस्वस्वरूपेण तदात्मकतद्रसानुभवसिद्धिः, विरहसामयिकसर्वात्मभावसिद्धिः। स च बहिर्भगवत्प्राकट्यापेक्षाराहित्येनाऽऽन्तरतद्भावनारूपो वेद्यः। एवमष्टसिद्धयो ज्ञेयाः। अत एवेति। यत एतादृशोत्कर्षवत्त्वमस्यामस्तीति स्फूर्त्तिरत एव स्वनमनमेवम्भूतश्रीयमुनाप्राकट्येनाऽलभ्यलाभान्नमने हेतुर्मुदेवेति मुदपीत्युक्तमित्यर्थः। जलदोषात्मकेति। भक्तानां भगवत्सम्बन्धे भगवतश्च भक्तसम्बन्धे जलं प्रतिबन्धकं, पारस्थिततदप्राप्तेः। तस्य च न श्रीयमुनावन्मार्गदातृत्वम्। तथा सति प्रतिबन्धकं न स्यात्। अतो दैत्यसम्बन्धादेवेदं जलं प्रतिबन्धकम्। अतो न जलस्य दोषः। तस्य तूपायेनाऽपि प्रापकत्वात्। तस्माज्जले यो दोषो भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकरूपः स मुर एवेति तस्मिन्निवृत्ते स्वत एव भगवत्प्राप्तिरिति जलदोषात्मकेत्युक्तम्। एतेनेति। चरणरेणुषु मुरारिसम्बन्धेन स्फुरत्पदबोधितसेवोपयोगि-

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः।

भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धनिराकरणेन तदनुभवयोग्यतानुकूलशुद्धिसम्पादकत्वभुवनपावनीत्वं तृतीयम्। भगवत्समानधर्मवत्त्वादनायासेन भगवत्सम्बन्धसम्पादकत्वं तुरीयम्। भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वं पञ्चमम्। स्वसेवनाद्गोपिकावद्भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वं षष्ठम्। तनुनवत्वसम्पादकत्वं सप्तमम्। लीलासामयिकप्रभुश्रमजलकणसम्बन्धसम्पादकत्वमष्टममिति। इदं च यथाधिकारं लीलास्थेषु

१ मुदेति क—ग. २ स्वरूपेणेति क—ङ. ३ एतेनेत्यारभ्य तदुभयमपास्तमिति भाव इत्यन्तो ग्रन्थः 'सुरासुरेत्या'रभ्य 'तथैव तत्सत्त्वादि'त्यन्ताद्ग्रन्थात्परतो लेखकदोषात्सर्वत्र पतितः क—ख—ग—घ—ङ—अ. चपुस्तके तु यथानिवेशमुपलब्धः, एष एव च युक्तः, व्याख्येयविवृतिक्रमानुरोधात्।

त्मासिविलम्बश्चाऽपास्तः । अग्रे स्पष्टम् । जलदर्शनस्य भगवत्स्मारकत्वं भावजनकत्वं च ज्ञापयितुं स्मरपितृपदम् ॥ १ ॥

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

देहादिसम्पादनोन्मुखत्वकथनेन चेत्यर्थः । तथाच स्वप्रयत्नदोषनिवारकसम्बन्धेन चरणरेणूनां कार्योन्मुखत्वनिरूपणेन च तदुभयमपास्तमिति भावः।सुरासुरसुपूजितेति मूले । वस्तुतस्तु[1] सर्वात्मभावकामभावयुतस्वामिनीभिः पुष्पाभरणैरलङ्कृतः सन् भावजनक इत्यर्थः । दार्ष्टान्तिके तु[2] तत्पूजितत्वं दैन्यभावमानभावयुतोभयविधस्वामिनीपूजितत्वेन ज्ञेयम् । दैन्यभाववतीनां प्रभुप्राकट्यार्थं मानभाववतीनामनुनयकरणार्थं तत्पूजनात् । पूजनं चाऽत्र तत्परतयाऽनुसरणमेव । दृष्टान्ते तथैव तत्सत्त्वादिति भावः । भगवत्स्मारकत्वमिति । स्मरपितृपदे स्मरपदेन स्मरणमुच्यते । तज्जनकत्वं च । स्मरणं स्मर इति व्युत्पत्तेः । अत एव छान्दोग्योपनिषदि 'स्मरो वा आकाशाद्भूय' इत्यत्र स्मरणमेव स्मरपदेनाऽभिमतम् । कामस्य तत्राऽप्रसक्तेः[3] । दोषनिरूपणप्रस्तावे हि तन्निरूपणं घटते । न तु सर्वविज्ञानायोत्तरोत्तरं भूयो निरूपणप्रस्तावे । तथाच श्रीयमुनायामपि तादृग्भगवच्छ्रीधारकत्वोक्त्या प्रभुधर्मस्मरणजनकत्वसत्त्वेन[4] भगवत्स्मारकत्वमिति भावः । भावजनकत्वं[5] तु कामजनकभगव-

---

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

प्रकटयति । स्वदासेष्वाधुनिकेषु त्वेतदष्टकोक्तं फलं भगवदिच्छानुसारेण ददती किञ्चिदेकं द्वयं प्रकटयतीति स्तोत्रान्त्यश्लोकादवसीयते । प्रकृतमनुसरामः । अत एवेति । दीनबन्धुत्वसिद्धिदातृत्वाभ्यामेवेत्यर्थः। ननु दोषबाहुल्ये दैन्यस्य न दयोत्पादकत्वं लोके दृष्टमतस्तेषु विद्यमानेषु किं स्तोत्रेणेत्याकाङ्क्षायां द्वितीयं विशेषणं विवृण्वन्ति जलेत्यादि । एतेनेति । मुरारिपदामन्दपदघटितेनाऽनेनेत्यर्थः । अत्राऽसुरादिपदं विहाय मूले जलदोषात्मकमुरपदं यदुक्तं तद्विवृतौ च यज्जलपदं तच्छ्रीभागवते 'दैत्यः पञ्चशिरा जलादि'ति कथनादुक्तं बोध्यम् । जलपदस्य डलयोरभेदेन जडपर्यन्तत्वं तेन तत्र भगवतस्तत्सम्बन्धिमहादोषनिवर्त्तकत्वमभिप्रेयत इत्याशयं गमयितुम् । तेन दाम्भिकादीनां न निवर्त्तयतीति ध्वनयन्ति । तावता—'अश्रद्दधानः पापात्मा

---

१ वस्तुतस्त्वित्यादिर्ग्रन्थो नास्ति क-ग-घ. २ अपीति म-घ.अ. ३ तत्राऽप्रसिद्धेरिति ग-घ. ४ प्रभुधर्मस्मरणजनकसत्त्वेनेति क. प्रभुस्मरजनकसत्त्वे इति ग. प्रभुस्मरणजनकसत्त्वे इति घ. प्रभुधर्मस्मरणजनकत्वेनेति ख-ङ-च. प्रतिभाति त्वेवम् । ५ भावजनकत्वमित्यारभ्य स्पष्टमेवेत्यन्तोंऽशो नास्ति किन्तु "भगवत्स्मारकत्वमिति भाव" इतीयं पूर्वपङ्क्तिरेव "भगवत्स्मारकत्वं स्पष्टमेवे' ति रूपेण वर्त्तते ग-घ.

कलिन्दगिरिमस्तके पतदमन्दपूरोज्ज्वला

आविर्भावप्रकारमाहुः कलिन्देति । रविमण्डलादतिदूराद्गिरिमस्तके

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

च्छ्रीधारकत्वेन स्पष्टमेव। तदा स्मरपदं कामवाचकमेव। तेनाऽत्र स्मरपदेऽर्थद्वयमप्यभिप्रेतमित्यर्थः। तथा च यथा भगवति दृष्टे 'निरीक्ष्य रूपं यद्द्विजद्रुममृगा' इति वाक्याद्भावजननं पूर्वानुभूतलीलाविशिष्टप्रभुस्मरणं तथा तादृग्भगवत्स्वरूपायामेतस्यां दृष्टायामपीति भावः॥ १॥

भगवत इवाऽलौकिकप्रकारेणाऽत्राऽऽविर्भाव इति ज्ञापनायाऽऽहुराविर्भावप्रकारमिति। यथा भगवान् वसुदेवदेवकीसमक्षमाविर्भूतो वरदानाय, यथा वा तपसा पूर्वानुभूतभगवद्विरहेण च तापात्मकात्तदुभयहृदयाद् यथा वा आविर्भूयाऽन्यत्र केवललीलास्थाने गोकुले प्रयातस्तत्र गत्वा सर्वात्मभाववद्भक्तसंवलितो

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः।

नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः। हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिन' इति वाक्योक्तानां दोषं न दूरीकरोतीति सिद्ध्यति। तृतीयं विवृण्वन्तस्तदेकदेशस्योत्तानार्थत्वमाहुरग्रे स्पष्टमिति। सुरासुरपदाभ्यां द्विविधाधिकारिणोः सुपूजितपदेन पूजाङ्गीकारस्य च शीघ्रं प्रतीतेस्तथेत्यर्थः। तटस्थनवकानने प्रकटो मोद आनन्दो यैस्तादृशपुष्पयुक्तेनाऽम्बुनेत्येवं तृतीयान्तार्थः। स्मरपितृपदेन प्रद्युम्नजनकत्वस्य शीघ्रं प्रतीतेस्तद्वारणाय तद्विवृण्वन्ति जलेत्यादि। भगवतस्तथात्वं 'यं मां स्मृत्वा निष्कामः सकामो भवती'ति तापनीयश्रुतेरपि सिद्धम्। पूर्वं निष्कामस्य भगवत्स्मरणेन भगवद्विषयकस्यैव तस्य जननात्। तत्साम्येनाऽत्राऽपि तथात्वात्। एवञ्चैताभ्यां विशेषणाभ्यां यद्दोषनिवर्त्तकत्वं भावजनकत्वं चोक्तं तत्पूर्वविशेषणोक्तसिद्धिदातृत्वसहकारित्वायेति बोध्यम्। अनुग्रहः सर्वत्र बीजमिति न क्वाऽपि कोऽपि चोद्यावसरः॥ १॥

ननु नदीत्वे साधारणेऽपि कथमत्रैवैष विशेष इत्याकाङ्क्षायामाधिदैविक्यां विशेषं वक्तुं द्वितीयं श्लोकं वदन्तीत्याशयेन द्वितीयमवतारयन्त्याविरित्यादि। आधिदैविक्याः सृष्टेर्वेदाधारत्वं देवताविग्रहाधिकरणे 'शब्द इति चेदि'ति सूत्रस्य भाष्ये मतान्तरापाकरणपुरस्सरं व्युत्पादितम्। रवेर्वेदात्मकत्वं च तैत्तिरीयाणां बृहन्नारायणोपनिषदि 'आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपती'त्यनुवाके श्रावितम्। तदन्तःस्थितस्य पुरुषस्य परब्रह्मत्वं च अन्तस्तद्धर्माधिकरणे व्यासचरणैरेव निर्णी-

विलासगमनोल्लसत्प्रकटगण्डशैलोन्नता ।

पाते फेनेन प्रवाहजलेन चोज्ज्वला । उच्चनीचशैलारोहावरोहौ विलासगति-

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

जातस्तत्र लीलां च प्रकटितवान्, तथा श्रीयमुनाऽपि प्रथमं सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिनारायणहृदयादानन्दमयादाविर्भूता द्रवीभूतरसात्मिका, ततस्तापात्मकाद्रविमण्डलात्कलिन्दोपरि समागत्य भूमावागता ततो लीलास्थाने समागत्य तादृग्भक्तसंवलिता जातेत्यर्थः ।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

तम् । मधुविद्यायां च 'यथाऽयमादित्ये तेजोमय' इत्युपक्रम्य 'अयमेव स योऽयमि'ति तस्य व्यापकत्वमपि श्रावितम् । पाद्मे यमुनामाहात्म्ये च—'त्रय्येषा ऋग्यजुःसाम्नामादित्य इति गीयते । सम्यग्ज्ञानं च यत्तेषां विश्रेषां कर्मणां मुने । सञ्ज्ञेति साऽस्यां यो धर्मो धर्मराजः स उच्यते । रसो यः परमाधारः सच्चिदानन्दलक्षणः । ब्रह्मेत्युपनिषद्गीतस्तदेव यमुना स्वयमि'ति । 'दिवसे दिवसे भानुरादायाऽऽदाय वत्सलः । उदयाचलतः पुत्रीं नयत्यस्ताचलं मुने । यमुनाऽपि ततो नित्यं गच्छन्त्यास्तेऽक्षयाऽव्यया । विशन्त्योघेन साऽदित्यमुदयाद्रौ पुनः पुनः । एवं भूमौ तथाऽऽकाशे घटीयन्त्रमिवाऽनिशम् । यमुनाऽस्तोदयाद्रिभ्यां भ्रमन्त्यास्तेऽक्षयोदके'ति वसिष्ठवाक्यं च हृदिकृत्य 'ममोदरं प्रविश्य त्वं गच्छ चाऽऽदित्यनन्दिनि । कालिन्दीति तव ख्यातिरस्तु लोकत्रये सदे'ति कलिन्दकृतवरप्रार्थनं च हृदिकृत्याऽऽचार्यैर्मूले पद्मबन्धोः सुतेत्युक्तमित्याशयेन रविमण्डलापादानकत्वोक्तिपुरस्सरं प्रथमविशेषणं व्याकुर्वन्ति रवीत्यादि । अत्र वर्षावद्रश्मिभ्यो नोत्पत्तिः किन्तु स्वरूपादित्याशयेन मण्डलस्याऽपादानत्वोक्त्या पूर्वोक्तरीतिकवेदाधारत्वस्फोरणेन तत्राऽऽधिदैविकत्वं दृढीकृतम् । तथैवाऽधिकरणकथनेन सौरगत्यनधीनपातत्वबोधनात्तदन्तःस्थितादेवाऽऽगमनं न भौतिकाद्रवेरिति निश्चायितम् । तृतीयान्तद्वयेनोज्ज्वलत्वस्याऽऽगन्तुकत्वबाह्यत्वबोधनात् स्वरूपश्यामत्वस्याऽबाधो ध्वनितः । तेनाऽऽपाततो दर्शनविरोधोऽपि परिहृतः । अतः परमुक्तविशेषणस्थममन्दत्वं द्रढयितुं विलासगमनेत्यादि द्वितीयं विशेषणमित्याशयेन तद्व्याकुर्वन्त्युच्चनीचेत्यादि । एवं क्रियाविशेषकृतशोभया प्रवाहाविच्छेदबोधनेनाऽमन्दत्वं स्थिरीकृतम्, तेनाऽपादानस्य व्यापकत्वेऽपि प्रदेशभेदस्य विद्यमानत्वान्मूलधाम्न एव समागमनं स्फोरितम् । अथ तद्गमकं

सघोषगतिदन्तुरा समधिरूढदोलोत्तमा
मुकुन्दरतिवर्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता ॥ २ ॥

रूपौ। तत्रोल्लसन्तः शोभां प्राप्नुवन्तः प्रवाहवेगेनोच्चैः क्षिप्ता अत एव प्रकटाः सर्वेषां दृश्यास्तैस्तादृशैस्तथा। उच्चतः पाते शोभामुक्त्वा ततो विषमभूमिगतिशोभामाहुः सघोषेति। दन्तुरशब्देन विविधविकारवत्त्वमुच्यते। 'विपुलपुलकभरदन्तुरितम्' 'केतकीदन्तुरिताशे' इत्यादिजयदेवोक्तिरपि।

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

घनीभूतरसात्मा हि जातो नन्दगृहे हरिः।
केवलो धर्मयुक्तस्तु वसुदेवगृहे तथा ॥ १ ॥
शब्दात्मा गुणगानादौ वदनादुद्गतः स्वतः।
द्रवीभूतरसात्मैषा सर्वाङ्गीणश्रमाम्बुभिः ॥ २ ॥
नारायणस्य हृदयाच्छुद्धसत्त्वस्वरूपतः।
प्रादुरासीन्मूलरूपपुष्टिलीलाप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

विषमभूमीति। पर्वतसम्बन्धित्वादित्यर्थः। वैषम्यं चाऽत्राऽल्पानल्पप्रस्तर-

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः।

भगवन्मेलनोत्सुकत्वं बोधयितुं सघोषगतिदन्तुरेत्यग्रिमं विशेषणमित्याशयेन तद्व्याकुर्वन्तः पूर्वविशेषणवाच्योऽर्थ उत्तरत्राऽप्युपकरोतीत्याशयेन तमनूद्याऽवतारयन्त्युच्चत इत्यादि। तत्र 'दन्तुरं तून्नतानतमि'ति कोशोक्तस्य वाच्यार्थस्य पूर्वार्धे एव सिद्धेस्तदनुवादवैयर्थ्यादत्र लाक्षणिकोऽर्थोऽभिप्रेयत इत्याशयेन विवक्षितमर्थमाहुर्दन्तुरेत्यादि। अत्र जयदेवोक्तिं सम्मतित्वेनाऽऽहुर्विपुलेत्यादि। पुलकेऽपि रोमकूपदेशे उच्छूनतेव भवतीति नोक्तार्थदार्ढ्यमिति द्वितीयमुदाहरणम्। उक्तमर्थं हेतूक्त्या द्रढयन्ति व्रजजनेत्यादि। समानो घोषो व्रजो यस्य तत् सघोषं व्रजजनादि। 'समानस्य छन्दस्य मूर्द्धप्रभृत्युदर्केष्वि'ति सूत्रे समानस्येति योगं विभज्य सपक्षसाधर्म्यादिशब्दाः काशिकायां व्युत्पादितास्तथाऽत्राऽपि। सदृशस्तुल्यो वासो घोषो यस्य तद्वा। अस्वपदविग्रहे बहुव्रीहौ सदृशार्थस्य सहस्य सभावेन कौमुद्यां ते साधितास्तथा वा। तथा च 'व्रजन्तामिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैरि'तिवत्तद्वातिभिर्विविधविकारवतीवेत्यर्थः। विकारश्चाऽत्र रसानुकूलो बाह्याभ्यन्तरो धर्मो बोध्यः यो रसशास्त्रे भावपदेनोच्यते। एतस्य पक्षस्य गौणत्वायोत्प्रेक्षावाचकपदप्रयोगः

व्रजजनगोवृन्दादिविविधगतिभिस्तादृशीव । घोषः शब्दो व्रजो वा । अनतिस्थूलशिलासु गतिशोभया असमधिरूढेव समधिरूढदोलोत्तमा ।

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

साहित्येनेति ज्ञेयम् । घोषः शब्दो व्रजो वेति । 'घोष आभीरपल्ली स्यादि'तिकोषात् घोषो व्रजस्तेन सह वर्त्तन्ते, न कदाचिदपि तं विहायाऽन्यत्र प्रयान्ति निरोधस्थानत्वात्ते सघोषा व्रजजनादयस्तेषां तीरे गतिभिस्तथेत्यर्थः । शब्दपक्षे यथा प्रियाभिमुखं गच्छन्ती प्रिया अन्तरुद्गतरजोगुणजनितकामावेशेन गायन्ती तथोच्चैर्घोषमाणा गच्छति तथेत्यर्थः । व्रजपक्षे तु भाववत्संसर्गे भाववतां भावोदयजनितविविधविकारवत्त्वं लोकसिद्धमिति श्रीयमुनायामपि तथा निरूपितमित्यर्थः । असमधिरूढेवेति, पदच्छेदे अकारस्यापि प्रतीयमानत्वादसमधिरूढत्वमपि व्याख्येयम् । तथाचाऽसमाधिरूढेव समधिरूढदोलोत्तमा । यतो दोलाधिरोहेऽपि न तथा प्रतीतिः । भगवत्साम्मुख्यगमने तद्भाववैवश्येन गमनमात्रस्फूर्त्याऽऽरोढदोलास्फूर्त्ते-

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

गौणत्वं तु व्रजजनसम्बन्धस्य समभूमौ सत्त्वेनाऽत्राऽभावात्स्वतस्तथात्वासिद्ध्या मूलधामागमनगमकत्वाभावाच्च ज्ञेयम् । अनेनैवाऽस्वरसेन पक्षान्तरं वदिष्यन्तो घोषपदस्याऽर्थावाहुः—घोषः शब्दो व्रजो वेति । शब्दपक्षे घोषेण सह वर्त्तमाना सघोषा तादृश्या गत्या तथा । ससिञ्जिताभिसरणेनोत्कटानेकभावेत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे नोत्प्रेक्षेति यद्यपि तदपेक्षयाऽयमुत्तमस्तथापि लीलाया नित्यत्वेन मूलधाम्न्यपि व्रजसम्बन्धस्य सार्वदिकत्वात्प्रथमपक्षस्याऽपि नाऽसम्भवः । स्वाभाविकतथात्वपक्षश्चाऽऽवश्यक एवेति द्वयमपि सङ्ग्रहीतुं व्याख्यातविशेषणद्वयस्य द्वितीयविशेषणार्थद्वयस्य च तात्पर्यमाहुरनतीत्यादि । 'गण्डशैलास्तु ते प्राक्ताश्च्युताः स्थूलोपला गिरेरि'ति कोशे गिरिच्युतानां तथात्वकथनादनतिस्थूलशिलासु या गतिरुच्चनीचभावेन गमनं तत्र घोषेण यत्सिञ्जितवत्ताव्यञ्जनं सैव शोभा तया स्वयमसमधिरूढेव समानसौभाग्यानां साहित्यात्स्वयमपि पादचारिणीव । तथाच सेयमाधिदैविकी यद्यपि दोलास्थानीये आधिभौतिके जलरूपे आरुह्य गच्छतीत्यग्रिमविशेषणे वक्तव्यं, तथापि विलासगमनेत्यादिविशेषणद्वयवत्त्वादसमधिरूढेवेत्यर्थः । द्वितीयविशेषणप्रथमव्याख्याने घोषो व्रजसुन्दरीप्रभृतिवृन्दम् । तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः । तेन सह वर्त्तमाना सघोषा तादृश्या गत्या चरणचलनेन दन्तुरेव दन्तुरेति । "समासे पुंवत्कर्मधारयजातीयेष्वि"ति पुंवद्भावः । एवं शब्दपक्षव्याख्यानेऽपि ज्ञेयः । एवं सकल-

भुवं भुवनपावनीमधिगतामनेकस्वनैः

ततो भूमावागत्य मुकुन्दरतिवर्द्धिनी जाता । यतो रसाकरसखस्य सुता । अतः स्वयमपि रसात्मिकेति भावः ॥ २ ॥

* ततो भुव्यागताया धर्मानाहुर्भुवमिति। प्रयोजनम्–भुवनपावनीमिति।

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

रसमधिरूढेवेत्युक्तम्। ततो भूमावागत्येति, यथा भगवतो मथुरातो व्रजे समागतस्यैव स्वामिनीभाववर्द्धकत्वं तथा रविमण्डलादाविर्भूय कलिन्दपर्वतोपरि पतित्वा ततः कालिन्दीं स्वप्रविष्टां विधाय व्रजभूमौ समागताया एव लीलासृष्टिस्थेष्वेव मुकुन्दरतिवर्द्धिनीत्वमित्यर्थः । मुकुन्दरतिवर्द्धिनीत्यत्र षष्ठीसमासो ज्ञेयः । तथा च, मुकुन्दस्य भगवतः स्वामिनीषु रतिवर्द्धिनी । तस्या उभयसम्बन्धिनीत्वादिति भावः । रतिवर्द्धिनीत्वे हेतुरेव यतो रसाकरसखस्य सुतेत्यादिना निरूपितः ॥ २ ॥

भुव्यागताया धर्मानिति, भुव्यागमनं हि भगवतो रतिवर्द्धनाय । तत्र च

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः।

सिद्धिहेतुत्वदार्ढ्यार्थमाधिदैविकत्वमनेकधा समर्थयित्वा भूमौ लीलासम्बन्ध आधिभौतिकादिरूपद्वयविशिष्टायामस्तीत्यादिज्ञापनाय तदुभयसाहित्यं हृदिकृत्याऽग्रिमं व्याकरिष्यन्तः प्रथममाधिभौतिकसाहित्यमाहुः समधीति । दोला शिबिका, उत्तमत्वं तु तस्या अपि, अग्रे लीलासम्बन्धात्। समधिरूढा आविष्टा सा ययेत्यर्थः। अथाऽऽध्यात्मिकसाहित्यमग्रिमे विवृण्वन्ति ततो भूमावित्यादि। तत इति दोलारोहोत्तरम्। भूमावागत्येति, दूराद्गिरिमूर्द्धपातक्लेशसहनपूर्वकं भूमावागत्य। एवमुभयसाहित्यात् "कलिन्दतनयातटोन्मदे"त्यादीनां न विरुद्धत्वम्। तथा पद्मबन्धोः सुतेत्यस्य 'जयति' क्रियाकर्तृत्वेन विशेष्यत्वेऽप्याधिदैविक्या नित्याया एव स्तुत्यत्वेन विवक्षितत्वात्तद्विचारेणाऽस्याऽपि विशेषणत्वमेव। तेन 'कलिन्दगिरी'त्यारभ्य 'पद्मबन्धोः सुते'त्यन्तानि पञ्चाऽपि विशेषणानि भगवद्रतिवर्द्धकत्वस्यैवोपकारकाणीति द्वितीयैश्वर्यवत्त्वमनेन श्लोकेन समर्पितम् । एतेन द्वितीयमैश्वर्यं रूपद्वयविशिष्टायामित्यपि ज्ञापितम् ॥ २ ॥

अतः परं रतिवर्द्धकत्वस्य दृढीकरणाय रतिजनका धर्मा अग्रिमे उच्यन्त इत्याशयेन तमवतारयन्ति ततो भुमीत्यादि। भुवनपावनीति श्रीयमुनाविशेषणम्। "सप्तद्वी-

* ततो भूमीति पाठः श्रीपुरुषोत्तमचरणानाम् हस्ताक्षरग्रन्थे वर्तते ।

प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभिः ।
तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिकावालुका-

अनेकस्वनैरिति शुकादिविशेषणम् । एतेन विभावादिसामग्र्युक्ता । यत्र यथोचितं तत्र तथा कुर्वन्तीति प्रियापदम् । तीरस्य चाकचक्यवत्सिकतां कृतशोभां तत्स्वरूपमप्याहुस्तरङ्गेति । यदा तरङ्गास्तीरमागत्य प्रस्तुता भवन्ति तदा तीरसिकता मुक्तावद्भासन्ते । ता न सिकताः । लोकप्रतीतिः परं तथा । किन्तु तरङ्गा एव भुजास्तत्र यानि कङ्कणानि तत्र प्रकटा या

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

ये धर्मास्तदनुकूला अपेक्ष्यन्ते विभावादिसामग्रीसेविकासाहित्यस्वरूपसौन्दर्यादयस्तानित्यर्थः । प्रयोजनमिति, रविमण्डलाद्भुव्यागमनप्रयोजनमित्यर्थः । भुवनेति, भुवनं लोकः सर्वोऽपि लीलासृष्टिस्थतदतिरिक्तरूपस्तस्य भगवद्भावान्यभावराहित्यसम्पादनभगवत्सेवनार्हशरीरसम्पादनाभ्यां पावनीं शोधिकामित्यर्थः । शुद्धिरत्र पुष्टिमार्गीयैव वाच्या । सा च पूर्वोक्तरूपैवेति तथेति भावः । भगवति स्नेहातिशय इति, तरङ्गभुजेत्यादिविशेषणेनाऽप्राकृताखिलाकल्पभूषितत्वबोधकेन तथाविधे भगवति सजातीयतया स्नेहातिशयो द्योतित इत्यर्थः । अप्राकृतानामप्राकृते वस्तुनि प्रीतिभरसम्भवस्योचितत्वादिति भावः । नमत कृष्णतुर्यप्रियामिति मूले । तत्राऽयमाशयः । अत्र स्तोत्रे विविधलीलोपयोगिनी श्रीयमुना प्रस्तूयते । तत्र च कृष्णतुर्यप्रियात्वमनुपपन्नम् । तस्य धर्मस्य कालिन्दीनिष्ठत्वात् । इयं च ततो भिन्ना,

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

पान् सप्तराशींश्च वारामाराद्भित्वा प्राङ्मुखी पावयन्ती । यास्येऽस्ताद्रेरुद्गमाद्रिं विहर्तुं खेलन्तीव स्वाश्रितापापनुत्त्यै" इति तत्रैव यमं प्रति श्रीयमुनावाक्यात् । अनेकस्वनैरित्यस्योपलक्षकत्ववारणायाऽऽहुः शुकादीति । प्रियापदं प्रियसखीबोधकमित्याशयेनाऽऽहुर्यत्रेत्यादि । चाकचक्यवत्सिकतेति चाकचक्यवत्यो याः सिकता इत्यर्थः । विशेषणेनेत्येकवचनेनेतरयोः स्नेहबोधकत्वं द्योतितम् । तथा चेतराभ्यां स्नेहो बोध्यतेऽनेन त्ववस्थाविशेषकृतोऽतिशय इत्यर्थः । तेन यदि भगवति स्नेहो न स्यान्मूलधाम विहाय भगवद्विचारितभुवनपावनात्मककार्यार्थं भुवं नेयात् । आगत्य च लीलार्थं ससामग्रीका न स्यात् । यदि तदतिशयो न स्यात्ता-

1 सेवकसाहित्येति च.

नितम्बतटसुन्दरीं नमत कृष्णतुर्यप्रियाम् ॥ २ ॥

शुक्तिका मुक्ताफलानि तान्येव वालुकावत्प्रतीयमानानि तद्युक्तो यो नितम्ब एवोच्चदेशात्मकतटस्तेन तादृशीम्। भगवति स्नेहातिशयो विशेषणेनोक्तः ॥३॥

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

"वसामि यमुनाजले" इति वाक्यात्। यद्यप्यस्यामभेदेन भगवति देवकीपुत्रत्ववत्कालिन्दीत्वं वक्तुं शक्यम्, न तु तुर्यप्रियात्वम्, तदधिष्ठानत्वेन तद्रूपत्वोक्त्यौचित्येऽपि तद्धर्मवत्त्वोक्तेरनुचितत्वात्, असाधारणधर्माणां तद्रूपमात्रनिष्ठत्वेनोपासकैरन्यत्राऽविभावनीयत्वात्। अन्यथा भावने "योऽन्यथा सन्तमात्मानमि"ति वाक्याद्दोषश्च। न हि सीतापतिः पुरुषोत्तमोऽपि रसात्मकश्रीगोपीजनवल्लभत्वेनोपासकैर्विभाव्यते। अन्यधर्मवत्त्वेनाऽन्यरूपभावने "तं यथा यथोपासते तथैव भवति तद्धैतान् भूत्वाऽवती"ति श्रुतेः स्वाभीष्टसाक्षात्काराभावेन फलासिद्धेः"।[१] ननु रूपान्तरदर्शनोद्गतभावस्य रूपान्तरेण कथं फलसिद्धिर्यथा रघुपतिवर्यवितीर्णवरस्य श्रीव्रजनाथेनेति चेत्। सत्यम्। तत्र हि श्रीरघुनाथस्य गुरोरिवोपदेशद्वारा फलप्रापकत्वं स्वाविष्टमूलरूपत्वेन न तु साक्षात्तद्दातृत्वम्, मर्यादापुरुषोत्तमत्वात्। न हि तेन पुष्टिमार्गाङ्गीकारस्तत्फलदानं च शक्यते विधातुम्। तत्त्वं च दाम्पत्यरसात्मकत्वेन तद्धर्मसहितत्वम्। तत्र मर्यादया फलदानाद्भगवन्मार्गीयगुरुणेव

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः।

दृक्तटवती न स्यादिति तर्का एतैर्बोधिताः। तावता रतिवर्द्धकत्वमनुमानेन दृढीकृतम्। किञ्चैतेनाऽऽधिदैविक्या भगवत्रदवतारोत्तरमवतरणं तादृग्लीलादावेव च तदाविर्भाव इत्यपि ज्ञापितम्। तेन "मघोनि वर्षत्यसकृद्यमानुजे"त्यत्र व्याख्यातदोपगुणयोर्न विरोधः। नमत कृष्णतुर्यप्रियामिति न व्याख्यातम्। नमनतात्पर्यस्य पूर्वमुक्तत्वेनोपदेशमात्रस्य स्फुटत्वात्। "कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले" इत्यत्र कालिन्दीयमुनयोर्भेदस्य श्रीभागवते मूल एव स्फुटत्वेन तयोराधिदैविकाधिभौतिकभावस्य तत्सुबोधिन्यां सोपपत्तिकं निरस्तत्वेन च श्रीरुक्मिण्यादित्रयसापेक्षस्य तुरीयत्वस्याऽशक्यवचनतया सात्विकादित्रयसापेक्षस्य गुणातीतात्मकस्य तस्य स्फुटत्वात्। न च महिषीष्वनन्तर्भावे प्रियात्वस्यैवाऽसिद्ध्या तुर्यप्रियात्वस्य सुतरामसिद्धिरिति शङ्क्यम्, यमुनामाहात्म्ये यमुनाभिषेकाध्याये पूर्वं भगवत्कृतमाक्षेपमुक्त्वा "यमुनाऽप्यच्युतेनैवं सुसंस्कृत्याऽथ शिक्षिता। शङ्खाम्बुना-

१ तद्धैतामिति च. तद्धैनानिति ख.

अनन्तगुणभूषिते शिवविरञ्चिदेवस्तुते

भगवत्समानधर्मत्वं ज्ञापयितुं तथा विशेषणैराहुरनन्तेति । प्रभो सप्तम्यन्तानि विशेषणानि । तत्प्रियायां सम्बुद्धिरूपाणि । घनाघनशब्दो

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

तद्विधिनिरूपणेन[1] । अतस्तदुक्त्यनुपपत्तिरिति चेत् । अत्र वदामः । व्रजे हि भगवद्भोग्याः स्वामिन्यश्चतुर्विधाः । तत्रैका मुख्या भगवतः स्वामिनी सर्वविलक्षणा । अस्यां चाऽनन्यपूर्वान्यपूर्वोभयरूपत्वाभावः । भगवतो रसात्मकस्य श्रुतिसिद्धस्याऽऽलम्बनविभावत्वेन तथात्वसम्पादकत्वात् । श्रुतिरूपा गोपगृहेषु स्थिताः सर्वात्मभाववत्यः प्रौढा एकाः । तथा कुमारिका व्रजस्था अनन्यपूर्वा विवाहाभावेऽपि वसनादानेन[2] स्वकीयाः कृताश्चाऽपराः । चतुर्थी श्रीयमुना । तस्यामपि क्रीडाव्याजेन सर्वाङ्गसम्बन्धसम्पादनेन स्वातन्त्र्येण तया सह क्रीडेति सा चतुर्थी । अत एवैतदभिप्रायेण तत्र तुर्यप्रियात्वोक्तिर्न तु तुर्यभार्यात्वोक्तिरिति नाऽनुपपत्तिः काचित् ॥ ३ ॥

भगवत्समानधर्मत्वं ज्ञापयितुमिति । भगवान् हि षड्गुणैः स्वरूपेण च सप्तविधः । तत्र गुणाः षड् ऐश्वर्यादयः । तेऽपि पुष्टिमार्गीयमर्यादामार्गीयतद्भेदेन द्विविधाः । तत्र पुष्टिमार्गीयाः षट् फलप्रकरणे वेणुगीते च—"धन्यास्त्वि"ति श्लोक-

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

ऽभिषिच्यैनां त्वत्तो नाऽन्याऽस्ति पावनी"त्यादिकं चोक्त्वा "अपि ब्रह्महणः पापमपनेष्यसि सेविता, सप्तरात्रात्तु सान्निध्यं न ते त्यक्ष्यामि कर्हिचिदि"ति भगवता सर्वदा स्वसान्निध्यरूपवरदानान्तैरर्थैः प्रियात्वस्य सिद्धावुक्तरीत्या तुर्यप्रियात्वस्य सुखेनैव सिद्धिरिति । साम्प्रदायिकास्तु केचन मुख्यस्वामिन्यग्निकुमारश्रुतिरूपसापेक्षत्वेनाऽऽहुः । केचन मुख्यतत्तत्सङ्गमुख्यसापेक्षत्वेनाऽऽहुः । ताभ्यामपि मदुक्तिर्न विरुध्यते । अत्र मुत्रं समधिगतामिति विशेषणेन कर्मभूमिगतपापात्मकप्रतिबन्धनिवृत्तिसूचनाच्छेषाभ्यां विशेषणाभ्यां सखीभिराभरणैश्च भूषितत्वबोधनेन भगवत्सान्निध्यसूचनाद्विवक्षितशुद्धिसम्पादकत्वरूपं तृतीयमैश्वर्यं दृढीकृतम् ॥ ३ ॥

अतः परं तुर्यत्वबोधितगुणातीतत्वसमर्थनाय भुवनपावनीत्वनिष्कर्षाय च तुरीयः श्लोक इति ज्ञापयन्तस्तमवतारयन्ति भगवदित्यादि । साम्प्रदायिकोक्ततुर्यत्वपक्षस्त्वष्टमे स्फुटीभविष्यति । तथा विशेषणैरिति । विशेष्यसहितैः षड्भिस्तैरित्यर्थः । समानधर्म-

१ तद्विधिनिरूपणेन फलदातृत्वमिति च. २ वसनदानेनेति क-ग-घ-ङ-च.

घनाघननिभे सदा ध्रुवपराशराभीष्टदे।

निपातरूपो घनसमुदायं वदति। श्यामे। तादृशीति वा। ध्रुवादेस्तत्तीर

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

षट्केन निरूपिताः प्रभुचरणैः। तेऽत्राऽपि तत्समानसङ्ख्याकैर्विशेषणैः श्रीयमुनायां निरूप्यन्ते। तथाहि। सप्तम्यन्तप्रभुविशेषणपक्षे अनन्ता असङ्ख्याता नित्याश्च ये गुणास्तैर्भूषिते अलङ्कृते प्रभावित्यर्थः। सम्बुद्ध्यन्ततया श्रीयमुनापक्षे अनन्तस्य नित्यस्य रासोत्सवादिषु बहुरूपस्य वा भगवतो ये गुणा भक्तकार्यसाधकत्वादयस्तैर्भूषिते इत्यर्थः। एतेन सर्वसद्गुणसततसाहित्यात् 'गुणाः सर्वत्र पूज्यन्त' इति वाक्यात्। "पूज्यो हि भगवान् तद्गुणाश्चे"त्याचार्यचरणवचनाच्च गुणानां पूज्यतावच्छेदकधर्मरूपत्वाद् "ईश्वरः पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदे"ति श्लोकनिरूपितमैश्वर्यं निरूपितमिति भावः। शिवविरञ्चिदेवस्तुते इति विशेषणेन पक्षद्वयेऽपि "वीर्यं देवेष्वि"त्यत्र निरूपितं वीर्यं निरूपितमित्यर्थः। घनाघननिभे इति विशेषणेन पक्षद्वयेऽपि स्वरूपसौन्दर्यं सर्वविसारकं विश्वजीवनत्वादिकं च निरूपितमिति "यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणादि"त्यत्रोक्तं यशो निरूपितमित्यर्थः। ध्रुवपराशराभीष्टदे इति विशेषणेन स्वसेवकानामप्यैश्वर्यज्ञानरूपाभीष्टप्रदानेन तेषामपि तद्योगात् "श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदी"त्यत्रोक्ता श्रीर्निरूपितेत्यर्थः।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः।

वन्त्वमत्र न समानसङ्ख्यामात्रबोधितमपि तु पदार्थसाम्येनाऽपीत्याशयेनाऽऽहुः प्रभावित्यादि। तथा च विभक्तिरेव विपरिणीयते न त्वर्थो भेद्यत इत्यर्थः। निपातरूप इति, अव्युत्पन्न इत्यर्थः। यद्यपि कृदन्ते "हन्तेर्घत्वञ्चे"त्यनेन हन्तेः कर्तरि घनाघनशब्दो व्युत्पादितस्तथापि मेघे वाच्ये यौगिकोऽर्थो न विवक्षित इति तथोक्तम्। तादृशि इति वेति। भगवति श्यामवर्णस्य "श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्य" इति श्रुतिसिद्धत्वात्तदर्थनिश्चायके 'अथवा शून्यवद्गाढमि'ति तत्त्वदीपश्लोके स्वरूपाभिन्नत्वेनोपपादनाद्भगवत्पक्षे घनाघननिभपदस्य विशेष्यत्वे स्फुटेऽपि तत्प्रियापक्षे तन्न स्फुटमिति तत्रापि 'ततश्च कृष्णोपवने' 'कृष्णाया हस्ततरले'त्यादिश्रीभागवतवाक्ये कृष्णापदस्य नामत्वेन बोधनादस्य तत्स्मारकत्वेन तथात्वं बोध्यमित्या-

विशुद्धमथुरातटे सकलगोपगोपीवृते

एव प्रभुप्राकट्यात्तथा । विशुद्धा मथुरा तटे यस्याः । सा निकटे वा यस्य । निरवधिकृपायुक्तो हरिस्तस्मिन् । अन्या नदी लौकिकं जलधिं सङ्गता

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

विशुद्धमथुरातटे इति । अत्राऽयमर्थः । मथुरा हि विशुद्धा, सर्वदोषराहित्यात् । न हि तत्र भूम्यादिदोषाः सम्भवन्ति । तत्त्वान्युत्पाद्य "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशदि"ति श्रुतेः कारणतया तेषु प्रविष्टस्य भगवतो भूमितत्त्वैकदेशरूपमथुराया नित्यस्थितिस्थानत्वात् । अत एव जीवानां "काश्यादिपुर्यो यदि सन्ती"ति वाक्यात्सा सर्वैःप्रकारैर्मोक्षदात्री । तादृश्या अपि श्रीयमुनातटे सत्त्वेन लीलास्थानतया यत्र भगवाँस्तल्लीलाविशिष्टः प्रकटस्तत्र सेत्येवं निरन्तरप्रभुसान्निध्येन भक्तिदायकत्वात् "ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात्स्वभावविजयो यदी"त्यत्रोक्तं ज्ञानं निरूपितम् । सकलगोपगोपीवृत इति । परोक्षेऽपि भक्तानां भगवत्सम्बन्धमाकाङ्क्षमाणानां तत्रैव भगवत्सम्बन्धोऽनुभूत इति तदाशया सततं तामावृत्य स्थितिरिति तत्सङ्गः सर्वदा । स च निरुपधिभगवत्सम्बन्धिभावेनैव भवतीति सर्वदा भगवत्प्रीत्या भगवतोऽपि भक्तसम्बन्धसम्पादकतया व्रजभक्तानां च मानादिदोषनिवारकतया तापहारकत्वेन च "हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात् । उत्क-

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

शयेनोक्तं विशुद्धेत्यादि । अत्र पद्मनाभादिपद इव गङ्गादित्वात्समासः । प्रभुपक्षे तटपदं लाक्षणिकमित्याशयेनाऽऽहुर्निकटे वा यस्येति । नैकट्यं च 'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिरि'तिवाक्योक्तान्नित्यसन्निधानात् । निरवधीति, जलधिपदविवरणम् । 'न वै कामस्याऽन्तोऽस्ति न समुद्रस्ये'ति श्रुतेः । अनया फक्किकया प्रभुपक्षे कृपाजलधिरिव कृपाजलधि तेन संश्रितस्तस्मिन्नित्युपमितसमासोत्तरं 'कर्तृकरणे कृता बहुलमि'ति गतिपूर्वकसमासो बोधितः । तत्प्रियापक्षे समासबोधनपूर्वकमस्य तात्पर्यमाहुरन्येत्यादि । इदमपि 'विशत्योघेन साऽऽदित्यमि'ति पूर्ववाक्य एव सिद्धम् । इति भावः सूचित इति । एतेन पूर्वश्लोकोक्तं भुवनपावनीत्वमेतावत्पर्यन्तं न तु पापनिवृत्तिमात्रेण चरितार्थमिति बोधितम् । एवं च हे षड्विशेषणविशिष्टे घनाघननिभे तादृशे सदा घनाघननिभे मम मनस्सुखं भावय उत्पादयेति मूलान्वयः । 'धुन्धुमतस्याऽभवत्सुत' इत्यादौ भुव उत्पत्त्यर्थस्य प्रसिद्धत्वात् । यद्वा । सुखं यथा स्यात्तथा मम मनो भावय प्रापयेत्यर्थः ।

१ स च निरुपधिभावेनैवेति क· घ· अ. सर्वानरुपमभावेनैवेत्यादि ङ.

कृपाजलधिसंश्रिते मम मनस्सुखं भावय ॥ ४ ॥

भवति। इयं तु तादृशं श्रीव्रजेशं संश्रिता। एतेन त्वत्सङ्गतो भगवत्सङ्गतो भवतीति भावः सूचितः ॥ ४ ॥

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

षश्चाऽपि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदी'त्यत्रोक्तं वैराग्यं निरूपितमित्यर्थः। एवं षड्भिर्विशेषणैः षड् धर्मान्निरूप्य धर्मिस्वरूपं निरूपयन्ति कृपाजलधिसंश्रित इति। प्रभुविशेषणपक्षे निरवधिकृपायुक्तत्वेन स्वरूपमेवाऽभिहितं न धर्मः। करुणायास्तु नित्याविर्भूतधर्मत्वेन स्वरूपमध्यपातात्। अन्ये धर्मा नित्या अपि लीलोपयोगिनस्तत्तल्लीलायां प्रकटीक्रियन्ते नाऽन्यदा। करुणा तु सर्वदाऽऽविर्भूतैव स्वरूप इति सदा तद्युक्तत्वात्स्वरूपमेव सेति भावः। श्रीयमुनापक्षे कृपाजलधिरपारकरुणो भगवाँस्तं सम्यगविच्छेदेन श्रितेति मुख्यस्वामिनीवद्धनारीनरवद्वा तत्स्वरूपमेवोक्तमिति भावः। **मम मनस्सुखं भावयेति**। पूर्वोक्तधर्मवति हरौ मम मनस्सुखं भावेनाऽनुभूयमानानन्दस्तं भावय विचारय, कथं स भविष्यतीति। तद्विषयिणीं चिन्तां कुर्वित्यर्थः। अनेन त्वच्चिन्तयैवाऽयमानन्दः प्राप्यो नाऽन्यसाधनैरिति भावो निरूपितः। सम्बुद्धिपक्षे मम मनसि भगवत्स्वरूपानुभवजन्यं यत्सुखं तत् त्वं भावय स्वमनस्यानयेत्यर्थः। अनेन त्वच्चेतसि समागतावेव तत्सुखं सर्वदाऽनुभवविषयो

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः।

'भू व्याप्तौ'। क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वाभावान्नाऽऽत्मनेपदम्। मनसः सुखं स्वाभीष्टरीतिकं भगवत्प्राप्त्येति तथा तां संपाद्य तदुत्पादयेति। आदित आप्राप्ति यथा सुखं भवति तथा अनायासेन मनः प्रापयेति वा प्रार्थना। अत्राऽऽद्येन विशेषणेन गुणेषु सङ्ख्याकालापरिच्छेदबोधनादतिसामर्थ्यरूपमैश्वर्यं बोधितम्। द्वितीयेन "सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगा" इत्याद्युक्तदेवजेतृत्वरूपं वीर्यम्। तृतीयं तु विशेष्यमेव। तुरीयेण दातृत्वाद्यशः। पञ्चमेन ज्ञानम्। स्वसन्निधानादेव ज्ञानकार्यस्य विशुद्धत्वस्य मथुरायामाविर्भावात्। षष्ठेन श्रीः। 'चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्यैकपदं वपुर्दध'दिति तदावरणेनैव तत्प्रकाशात्। सकलपदेनाऽनीर्ष्याद्योतनाद्विवक्षितमपि गुणातीतत्वं स्फोरितम्। सप्तमेन वैराग्यम्। विरक्त एव हि कृपालुर्भवति, न तु रक्तः, रागस्य गर्द्धात्मकत्वात्। 'नाऽहमा-

१ करुणायाः स्वनित्याविर्भूतधर्मत्वेनेत्यादिः ङ.

यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियम्भावुका

अथ भगवदीयानामप्युत्कर्षाधायिका या तदुत्कर्षे को वक्तुं शक्त इति भावेनाऽऽहुर्ययेति । चरणपद्मजा गङ्गा । तेन भक्तिमार्गीया ।

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

भवति । भगवताऽष्टविधैश्वर्यस्य त्वयि निक्षिप्तत्वात् स्वयं त्वदधीनः सर्वदाऽनीश्वर इवेति त्वद्विचारेणैव तद्भवतीत्यभिप्रायः सूचितः । एतेनेत्यादिना तव सर्वदा तद्द्रवीभूतरसात्मकत्वेन लीलाविशिष्टप्रभुसङ्गतत्वाद्येन केनाऽपि सम्बन्धेन त्वत्सङ्गतौ तादृक्प्रभुसङ्गतिरेव जातेत्याशयोऽत्र बोध्यः ॥ ४ ॥

अथेत्यर्थान्तरोपक्रमे । पूर्वं चतुर्भिः श्लोकैरुत्कर्षवर्णनेन स्तुतिः कृता । अतः परमुत्कर्षवर्णनस्याऽशक्यत्वनिरूपणेन सा निरूप्यत इत्यर्थः । भगवदीयानामपीति, भगवता भगवदीयत्वरूपपरमोत्कर्षं प्रापितानामपीत्यर्थः । चरणपद्मजेति, चरणजेत्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि पद्मपदोपादानस्याऽयमाशयः । यथा पद्मजो ब्रह्मा भगवतः पपञ्चे क्रीडार्थं भगवदाज्ञां च प्राप्य प्रपञ्चं सृष्टवान् स्वयं निरपेक्षस्तथेयमपि स्वगतभगवच्चरणरेणुभिः सेवौपयिकदेहसम्पादनेन भगवतो भक्तिमार्गप्रकटनेच्छामवगत्य स्वयमनपेक्षैव भगवत्क्रीडार्थं भगवदीयजनान् सृष्टवतीति । अत्र ब्रह्मवदाज्ञाऽभावोऽस्या भगवति साक्षात्सम्बन्धत्वेन[1] हार्दवित्तया । न हि हार्दविदो लोकेऽप्याज्ञाप्यन्ते, अतिचतुरत्वादिति भावः । तेनेति, चरणपद्मजात्वेनेत्यर्थः । चरणं हि निर्दोषपूर्णगुणं भक्तिरूपं च तज्जातत्वेना स्यामपि तद्गुणसङ्क्रमः । तथा-चाऽन्येषामपि[2] सेविनां तथा करणमुचितम् । 'कारणगुणा हि कार्यगुणानामारम्भका'

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

त्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विने'ति भक्तान् विना स्वस्मिन्नपि वैराग्यबोधनाच्च । तत्संश्रितत्वेन श्रीयमुनाया अपि तथात्वाच्च । अत्र भगवत्समानधर्मवत्त्वाज्जीवस्याऽनायासेन भगवत्सम्बन्धसम्पादकत्वं तुरीयमैश्वर्यं स्फुटमेव । एवं चतुर्भिः श्लोकैः स्वरूपं गुणाश्चोक्ताः ॥ ४ ॥

अतः परं पूर्वोक्तस्य सर्वस्याऽसत्समारोपणत्ववारणाय गुणानामानन्त्याद्विशेषो वागविषय इति तत्सत्ता दिङ्मात्रेणोच्यत इति बोधयितुमग्रिमः श्लोक इत्याशयेन तमवतारयन्त्यथेत्यादि । अत एव प्रक्रमान्तरबोधकपदोक्तिः ।

१ सम्बन्धत्वेनेति क-ख-ग-घ-च. २ तथाऽन्येषामिति ख.

समागमनतो भवत्सकलसिद्धिदा सेवताम् ।

निर्दोषपूर्णगुणाऽपि यया त्वया सह समागमनतो मिलनतो हरेस्तथाऽभवत् ।

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

इति न्यायादिति भावः । यथा त्वयेति, त्वया पुष्टिमार्गीयया सर्वाङ्गसम्बन्धिन्या मिलनतो मुररिपोर्भक्तप्रतिबन्धनिवर्त्तकस्याऽत एव तद्दुःखहर्तुः प्रियम्भावुका । यथा श्रीयमुना साक्षात्सेवोपयोगिदेहसम्पादनेन सेवकसृष्टिकरणात्तत्कृतसेवया प्रियम्भावुका, तथा गङ्गा श्रीयमुनासङ्गानन्तरं तद्गतस्मरश्रमजलाणुसम्बन्धे साक्षात्सेवो-

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

मिलनत इति । सञ्ज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाद्गुणाभावः । तथाऽभवदिति । प्रियम्भावुका अभवत् । 'भुवः खिष्णुच् खुकञावि'त्यनेनाऽऽढ्यादिभ्यः परस्य भूधातोश्च्व्यर्थे खुकञि प्रियम्भावुकशब्दसिद्धिः । तथाचाऽप्रिया प्रिया सम्पन्नेत्यर्थः । अप्रियत्वं चरणक्षालनजलत्वाद्भूतभौतिकत्वाभ्यां च । तेनेत्याद्युक्तगुणवत्त्वं तु चरणस्यैव माहात्म्यमतो न चोद्यावसरः। सेवतामित्यनुदात्तेत्वलक्षणस्याऽऽत्मनेपदस्याऽनित्यत्वेन शतृप्रत्ययः । अत एव 'त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तराया' इत्याद्यार्षप्रयोगः । यद्वा । क्विबन्तो नामधातुप्रयोगः । सेवेवाऽऽचरताम् । सेवा यथा प्रसादिका तथा स्तोत्रपाठादिना प्रसादयतामित्यर्थः । ननु पूर्वार्द्धोक्तेऽर्थे किं मानमित्याकाङ्क्षायां तद्वदन्त एवोत्तरार्द्धं विवृण्वन्ति पूर्वमित्यादि । अन्यसङ्गतिजनितमिति । कुटिलाजलावरणजलशिवजटादिसङ्गतिजनितम्। वामनपुराणे उमातो ज्येष्ठा हिमवत्सुता ब्रह्मशापेन नदी भूत्वा सत्यलोके प्रवहन्ती आर्षे रामायणे गङ्गापदेन निर्दिष्टा । पञ्चमस्कन्धे "साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपदाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाहविवरेणाऽन्तः प्रविष्टाया बाह्यजलधारे"त्यादिनैका गङ्गोक्ता । पुराणान्तरे गोदामाहात्म्ये विवाहसप्तपदीसामयिकपार्वतीदर्शनजातरेतःपातलज्जया बहिर्निर्गतस्य ब्रह्मणः पापापनुत्तये शिवेन पृथिवीसारतः कमण्डलुं निर्माय तत्र सकलजलसारमादाय तस्मै दत्तं तत्त्रिविक्रमचरणक्षालनेन गङ्गात्वमापन्नं भगीरथगौतमाभ्यां शिवजटाजूटाद्धाराभेदेनाऽऽनीतम् । एतदेव "या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रपादाब्जरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री"ति प्रथमस्कन्ध उक्तम् । तिसृ-

१ सेवकसृष्टिकर्तृकत्वादिति ग-घ. २ तत्कृतसेवायामिति घ. ङ.

तया सदृशतामियात्कमलजा सपत्नीव यद्धरि-

सेवतां च तथा । पूर्वं गङ्गाया अन्यसङ्गतिजनितमुत्कर्षमुक्त्वा भगवत्सङ्गतिजनित उत्कर्षः पठितः "सा राजन् दर्शनादेव ब्रह्महत्यापहारिणी" त्यादिरूपः । एतादृश्या त्वया सह सदृशतां किं काऽपीयादिति

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

पयोगिदेहादिसम्पादनपूर्वकं सेवकंसृष्टिकरणात्तथा जाता । सेवतां भवन्मिलितगङ्गासेवकानां च पूर्वोक्तसकलसिद्धिदा जातेत्यर्थः । अयमुत्कर्षः स्वानुभवेनोक्तः । परं नाऽत्र चित्रं किञ्चित् । यो हि यदाविष्टः स तदा तत्कार्यं करोति । भगवदाविष्टभक्त इव । अत एव "कस्याश्चित्पूतनायन्त्या" इत्यादिवाक्यानीति नाऽनुपपत्तिः । पूर्वमिति, यद्यपि पूर्वमाचार्यवर्यप्राकट्यात्पूर्वं पुराणादिष्वपि सरस्वतीसङ्गतिजनितमुत्कर्षमभिधाय भैवतीसङ्गतिज उत्कर्षः पठितः । परन्तु "सा राजन् दर्शनादेव ब्रह्महत्यापहारिणी"त्यादिरूपो न तु पूर्वोक्तरूपः । श्रीयमुनाया निजाचार्यप्राकट्यात्पूर्वमेवंविधस्वरूपाज्ञानात्तदनिरूपणात् । अतोऽयमेवोत्कर्ष एतत्सङ्गत्यनन्तरं भावी मन्तव्य इति भावः । एतादृश्येति, स्वसम्बन्धेन स्वसमानगुणसम्पादिकयेत्यर्थः ।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

णामेकीभावेन पातेऽपि "विष्णोः पदाच्छिशुमाराद्ध्रुवाच्च सोमात्सूर्यान्मेरुरूपाच्च विष्णोः । समागता शिवमूर्ध्नो हिमाद्रिमि"ति महाभारतेऽवतरणक्रम उक्तः । एवमग्रे तत्तत्क्षेत्रसम्बन्धे तत्तत्पुराणेषु तत्तत्कृत उत्कर्षश्चेति तथा । आदिपदेन "सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राऽऽप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति । ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्त" इति श्रुतिरन्यच्च सङ्गृहीतम् । तेन श्रीयमुनासङ्गमात्सेवकसकलसिद्धिदातृत्वं स्पष्टमेवेति बोधितम् । भगवत्प्रियम्भावुकत्वं तु समागम एव माहात्म्याधिक्यबोधनाद्भगवत्प्रियत्व एव च तथाभावात् । अन्यथा चर्मण्वत्यादिनद्यन्तरस्याऽपि तथात्वापत्तेः । अतस्तदेतैरेव वाक्यैः सिद्ध्यतीति तत्र विशेषतः प्रमाणान्तरं नोपन्यस्तम् । यद्वा । "आक्रोस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्वि"त्यधिकारस्थितेन "लषपते"ति सूत्रेण भुव उकञ् । तथा च

---

१ भवतीसङ्गति० पाठ. २ पूर्वंकसेवाकारणादिति ग-घ. पूर्वकसेवाकरणादिति क. पूर्वकं सेवाकरणादिति ङ. पूर्वकं तत्सेवाकरणादिति ख-च. पूर्वकं सेवाकारणादिति मुद्रितग्रन्थे स्वीकृतः । अ ग्रन्थे उपरिनिर्दिष्टोऽन्वर्थः पाठः वर्तते सोऽस्माभिः स्वीकृतः ३ भवत्सङ्गतिज इति च. भगवत्सङ्गतिज इति ग.

प्रियकलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम् ॥ ५ ॥

काकूक्तिः। यदीयात् कमलजेयात्। तत्र हेतुमाहुर्यद्यस्मात्सा भगवत्पत्नीत्वात्सपत्नी भवति। तत्रापि भवती प्रियेति—इवेति। भक्तानुगुणत्वमाहुर्हरिप्रियाणां कलिं (दोषं)द्यति खण्डयति ॥ ५ ॥

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

भगवत्पत्नीत्वादिति, पत्नीत्वादेव सपत्नीत्वं न तु पुष्टिमार्गीयलीलासम्बन्धित्वभक्तानुगुणत्वादिगुणैरित्यर्थः। तत्राऽपीति, पत्नीत्वेऽपीत्यर्थः। भक्तानुगुणत्वमिति, दोषनिवर्त्तकत्वेनेत्यर्थः। गुणस्तु हरिप्रियपदेनैव सिद्ध इति भावः। **मनसि मे सदा स्थीयतामिति** मूले। मनसो भावाधिष्ठानत्वेन तत्र पूर्वोक्तधर्मवत्याः सततस्थितौ भावस्याऽपि निर्दोषपूर्णगुणत्वं सेत्स्यतीति भावः ॥ ५ ॥

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः।

मुररिपोः प्रियं यथा स्यात्तथा भावुका भवनसाधुकारिणी। भगवत्सेवायोग्यशरीरोत्पत्तिसाधिकेत्यर्थः। कमलजेति। लक्ष्म्याः कमलजात्वं विष्णुपुराणे "पुनश्च पद्मादुद्भूता आदित्योऽभूद्यदा हरिरि"ति लक्ष्म्यवतारकथने। "नमस्ते सर्वभूतानां जननीमब्जसम्भवामि"तीन्द्रस्तुतौ च स्फुटम्। अतिप्रियत्वे प्रमाणं कार्यलिङ्गकानुमानमेवेति मूलाशयमुद्घाटयन्ति भक्तेत्यादि, कलिं द्यतीति। अत्र "तत्पुरुषे कृति बहुलमि"ति बहुलग्रहणाद्द्वितीयाया अलुक्। एतेन लक्ष्म्यंशास्तदाविष्टाश्च सापत्न्येनेर्ष्यावत्यो भवन्ति, भवती तु तासां तदपाकरोतीति गुणातीतत्वं प्रियत्वबीजभूतं कार्यद्वारा निश्चायितम्। कलिन्दयेति भावप्रधानो निर्देशः। तथाचाऽनेन रूपेण मे मनसि सदा स्थीयतामिति तदावेशेन स्वस्य भगवत्प्रियत्वफलिका द्वितीया प्रार्थना। पूर्वश्लोकोक्तसम्बुद्धिभिश्चारितार्थ्यान्न पुनस्तदुक्तिः। अत्र भगवत्प्रियकालिनिवारकत्वरूपं पञ्चममैश्वर्यं स्फुटमेव ॥ ५ ॥

१ तत्रापि प्रियेति वेतीति ख. तत्रापि भगवती प्रियातीवेतीति ग. इष्टस्त्वेवम्.

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं
न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः ।

एतादृश्यां त्वयि नमनातिरिक्तं न वक्तुं शक्यमित्याशयेनाऽऽहु-र्नमोऽस्त्विति । त्वयि नमनमपि दुर्लभमतः प्रार्थ्यते अस्त्विति । अद्भुत-त्वमेवाऽग्रे उपपादितम् ॥ ६ ॥

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

एतादृश्यामिति । भक्तोत्कर्षाधायिकायां भक्तानुगुणायां चेत्यर्थः । एते-नैतादृगुपकर्त्र्यां प्रत्युपकृत्यसम्भवेन यथाकथञ्चिन्नमनमेव माहात्म्यज्ञानात्सम्भवति नाऽन्यदित्युक्तं भवति । नमनमपीति । भगवति नमनं सम्भवत्यपि । भगवन्माहा-त्म्यस्य शास्त्रसिद्धत्वात् । भवत्यां तु लीलासृष्टिप्रवेशे तादृग्भावसम्पत्तौ तत एव तथा-विधभावावगतौ तद्भवतीति दुर्लभमेवेत्यर्थः । अद्भुतत्वमेवेति । मूले अति-शब्दादद्भुतत्वमपि तथाविधं वाच्यम् । तत्राऽयं भावः । भगवानद्भुतकर्मा, "कृष्णा-

---

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

एवं निरस्तसाम्यत्वबोधनेनाऽधिकवर्णनाशक्तिं समर्थयित्वा 'नमामी'त्यादौ नमनस्याऽग्रे 'नमते'त्युपदेशे कैमुतिकेन हेतुतोक्त्याऽपि चारितार्थ्यान्न पूर्वोक्त आचार्या-शय इति शङ्कां वारयितुं भगवत्कृपाङ्कुरं विना श्रीयमुनानमनमपि कोऽपि कर्त्तुं न शक्तः कुतस्तरां नमनातिरिक्तमित्याशयमग्रिमे स्वयमेव प्रकाशयन्तीति नाऽस्मदुक्तं विरुद्धमित्याशयेनाऽग्रिममवतारयन्त्येतादृश्यामित्यादि । एतादृश्यामिति वैषयिका-धिकरणसप्तमी । दुर्लभमिति । भगवत्कृपाङ्कुरं विना तत्र तादृक्श्रद्धाया एवाऽनुदयात्त-थेत्यर्थः । ननु प्रार्थनाव्यतिरिक्तार्थान्तरेऽपि तथा प्रयोगान्नेदं गमकमित्यत आहुरद्भुतत्वमेवेत्यादि । अन्यथा चरित्रस्याऽद्भुतत्वं नोपपादयेयुः । इदमपि तत्रैवोक्तम् । "गण्डूषमात्रमप्यम्बु पीत्वा भवति सोमपाः । सप्तकृत्वश्च सप्तैव सोमसंस्थाः समाप्नुयादि"ति । "विनिग्राह्यास्त्वया भ्रातर्ये नराः पापकारिणः । तानहं तारयिष्यामि प्राप्स्यामि च सुरालयमि"ति । तथा च यस्या ईदृशं चरित्रं तस्या उत्कर्षज्ञानं न भगवत्कृपाङ्कुरं विना, तदभावे तदभावान्न नमनमपी-त्यतिदुर्लभत्वात्तदर्थमपि कृपाऽपेक्षितेति प्रार्थनैऽवार्थ इति भावः । मूले पयःपाने

---

१ अत्युपसर्गादिति ख-ग-घ. २ अद्भुतमपीति क-ग-घ.

यमोऽपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति दुष्टानपि
प्रियो भवति सेवनात्तव हरेर्यथा गोपिकाः ॥ ६ ॥

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

याऽद्भुतकर्मण" इत्याचार्यैर्निरूपितत्वात्। तच्च "असाधनं साधनं करोति" इत्यादिरूपम्। यथाऽसाधनं कामादि प्रमेयबलप्राकट्येन साधनं भगवद्भावनाहेतुत्वेन। तत्र विषयत्वेन स्वप्रवेशात्। अत एव 'गोप्यः कामादि'त्यादिवाक्यानि। उक्तं चाऽऽचार्यवर्यैः 'कामान्ता च कृतिः स्फुटा। कामोद्भूते तथा प्रीतिरि'ति। एवं सति भगवान्नसाधनमपि स्वरूपबलेन साधनं करोति। तथाविधस्वरूपप्रदर्शनेन तादृग्भावजननात्। अत्र तु भावनाभावेऽपि असाधनं पयःपानं पिपासाहेतुकं तथा फलसाधकं साधनीकरणाभावेऽपीत्यत्यद्भुतत्वमेतच्चरित्रस्येति भावः। न हि पिपासया पानीयपाने काऽपि तद्भावना सम्भवति। अतस्तदसाधनमेव। ननु यमयातनाभावस्तु भगवन्नाम्नाऽपि भवतीति को विशेष एतच्चरित्र इति चेत्तत्राऽऽहुर्जातु इति मूले। कदाचिन्नामापराधेषु सत्सु गुरुवैमुख्यदुःसङ्गवर्जनरूपाङ्गद्वयाभावे न फलत्यपि नाम, न तथा प्रकृते। न हि पिपासया पाने नामग्रहण इव किञ्चिदङ्गमपेक्ष्यम्। अतो महानेव विशेष इति भावः। नन्वत्र कोपपत्तिः पयःपानेन यमयातनाभावे। लौकिकेन तेनाऽदृष्टाजननात्। नाऽपि दृष्टद्वारा, असम्भवात्। न हि पिपासाहेतुकपयःपानस्य

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः।

युष्मदनुरोधेन यातनाभावेऽपि स्वस्याऽधिकृतत्वादल्पदण्डं तु दास्यत्येवेत्यत आहुर्यमोऽपीत्यादि। उत्तर्के। इदमपि तत्रैव, "यमुने कृपया पापानवश्यं तारयिष्यसि। मयि त्वया दया कार्या निर्दये निगृहीतरी"ति यमेनोक्तम्। "एवमस्तु मदम्भोभिः स्नात्वा त्वामादरान्नराः। दशभिश्च चतुर्भिश्च तर्पयिष्यन्ति नामभिः। तेन हिंसापरोऽपि त्वं घृतकल्पो भविष्यसि। निरातङ्का भविष्यन्ति भवतो येऽपि पापिन" इति यमुनावाक्यैरेव सिद्धम्। उपपत्तिमात्रं परं तर्क्यत इत्यर्थः। यथा गोपिका इति।

---

१ तत्कृतिरिति च. २ दर्शनेनेति क-ख-ग-घ. प्रदर्शने इति च. ३ पयःपानेन यमयातनाभावहेतुत्वं क्वचिदपि लोके सिद्धमित्याशङ्क्याऽऽहुः—यमोऽपीति ख. पयःपानेन यमयातनाभावः। लौकिके पयःपाने कृते अदृष्टे अलौकिको यमयातनाभावः। तस्याऽनुत्पत्तिः। नापि दृष्टद्वारा। असम्भवादित्यादिः च.

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

यमयातनाभावहेतुत्वं क्वचिदपि लोके सिद्धमित्याशङ्क्याऽऽहुर्यमोऽपीति मूले । श्रीयमुना हि यमभगिनी, सूर्यापत्यत्वात् । तत्राऽपि कनिष्ठा, यमोत्पत्त्यनन्तरं तद्दोषपरिहाराय रविणा पश्चादुत्पादितत्वात् । अतो यमसन्माननीया । तस्याः पयःपाने तत्सुतत्वम् । पयःशब्दस्य श्लिष्टार्थकत्वात् । वस्तुतोऽपि पयःपानेन तत् सुतत्वम् । पञ्च महाभूता तदपेक्षया जलस्यैव मुख्यत्वं, पयसैव देहोत्पत्तेः । भूतान्तरापेक्षया पयस एव विशेषतो देहोत्पादकत्वात् । "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति श्रुतेः । तादृशेषु दोषसत्त्वेऽपि भागिनेयत्वेनाऽतिमान्यत्वात्स्वत एव कथं यमस्ताँस्तथा करोतीत्यर्थः । एवं दोषनिवारकमद्भुतचरित्रमुक्त्वा फलसम्पादकमद्भुतचरित्रमाहुः प्रियो भवतीति मूले । भगवदङ्गीकृतानां भगवदुक्तसाधनैर्भगवति प्रीतिसिद्धिर्भगवच्छास्त्रसिद्धा, न तु भगवतो जीवेषु प्रीतिः, तेषामविद्यादिदोषग्रस्तत्वात् । न हि निर्दोषः सदोषेषु रमते प्रीणाति च । तव पुष्टिमार्गीयायाः सेवनात्सर्वभावेन चेतसस्त्वदधीनत्वकरणात्त्वदीयत्वे सम्पन्ने स्वसम्बन्धिसम्बन्धाद्धरेः सर्वदुःखहर्त्तुस्तादृक्स्वभावस्य स सेवकस्तदीयः[1] प्रियो भवतीत्यर्थः । इदमपि तवाऽद्भुतचरित्रम्, शास्त्रासिद्धत्वात्, लोकेऽपीतरतोषहेतुकृतेरितरतोषासाधकत्वाच्च । ननु किं प्रमाणमत्र कुत्राऽप्येवं फलस्याऽदृष्टत्वादित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाहुर्यथा गोपिका इति मूले । यथा व्रतप्रसङ्गे फलप्रकरणीयगुणगानप्रसङ्गे च तव सेवनाद् गोपिका हरेस्तथा जाताः । तथाऽन्योऽपि भगवत्सेवकस्तथा भवतीति भावः । अथवा । यथा गोपिका इति दृष्टान्तेन न प्रीतिमात्रं[2] किन्तु यथा ताः सर्वभावेन प्रीतिविषया भगवतस्तथाऽयमपि भवतीति भावः ॥ ६ ॥

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

प्रियत्वे उदाहरणम् । अन्यथा बहुषु भक्तेषु सत्स्वप्येकादशे तास्वेवैकतानत्वेन प्रियत्वं न वदेदतस्तथेत्यर्थः । प्रियभवने दृष्टान्तश्चाऽयम् । सेवनस्य हेतोस्तुल्यत्वात् । तेन ब्रह्मत्वेन सेवने "रसो यः परमाधार"इति तथा सेवकस्य प्रियत्वं युक्तमेव । अतः प्रतिबन्धकनिवृत्तिरर्थादेव सिद्ध्यतीति भावः । एतावदन्तं व्याख्यानं प्रभूणाम् । अग्रे तदात्मजश्रीगोकुलनाथानाम् । अत्राऽपि स्वसेवनाद्गोपिकावद्भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वरूपं षष्ठमैश्वर्यं स्पष्टम् ॥ ६ ॥

---

१ स्वसेवकस्तदीय इति च. २ प्रतीतिमात्रमिति च.

ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता
न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये ।

श्रीगोकुलनाथचरणानाम् विवृतिः ।

आवश्यकदैहिकधर्मेऽपि त्वत्सम्बन्धे मुक्त्यधिकभक्तिप्राप्तिर्यत्र, तत्र का शङ्का यमयातनाभाव इत्याहुर्ममाऽस्त्विति । तव सन्निधौ तनोर्नवत्वं लीलोपयोगिनूतनदेहसम्पत्तिरस्तु । एतेन पूर्वदेहनिवृत्तिः सूचिता । इदमपि त्वत्कृतमेव भवति न त्वन्यथेति ज्ञापनाय प्रार्थनमस्त्विति । एतावता

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

आवश्यकेति । देहस्य देहान्तरारम्भकत्वमावश्यको दैहिको धर्मः "प्रज्ञया शरीरं समारुह्ये"त्यादिश्रुतेः[1] । किं बहुना । मुक्तावपि भगवच्छास्त्रे सेवोपयोगि वैकुण्ठादिषु देहान्तरम् । अत एवोक्तमाचार्यैः सेवाफलग्रन्थे—"सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्वि"ति । तस्मिन्नपि त्वत्सम्बन्धे सान्निध्यसम्पादिते [2]दैशिकेऽपि सम्बन्धे यत्र तथाविधभक्तिसिद्धिस्तत्र तत्र जातानां यमयातनाभावे का शङ्केति कैमुतिकन्यायो निरूप्यत इत्यर्थः । तव सन्निधाविति । एतेन दुष्टसन्निधानकृतत्वत्तिरोभावाभावस्थल एव तथात्वमित्याशयो ज्ञेय इति बोधितम् । पूर्वदेहनिवृत्तिरिति । घटस्य पाकेन[3] मृत्त्वनिवृत्तिवन्निवृत्तिरत्र वाच्या । अन्यथा पूर्वतनोर्नवत्वमिति न व्याख्यातं स्यादिति भावः ।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

तत्र च, एवमनेन स्वरूपसामर्थ्यं निश्चाययित्वा प्रियत्वोपयोगि यदभिप्रेतं तत्प्रार्थयितुमग्रिमः श्लोक इत्याशयेन तमवतारयन्त्यावश्यकेत्यादि, आवश्यकदैहिकधर्मपदेन तीरवासात्मकं सेवनं पानं चेत्युभयमपि सङ्गृह्यते । पूर्वत्र सेवनपानयोः फलस्योपपादितत्वेऽपि व्याख्यानाभावादत्राऽनुवादः । तथाच तीरवासात्मकत्वत्सेवनत्वज्जलपानरूपावश्यकदैहिकधर्मेऽपि त्वत्सम्बन्धे यत्र मुक्त्यधिकभक्तिप्राप्तिस्तत्र का आशङ्का यमयातनाभाव इत्याशयेन पूर्वं प्रार्थनमाहुरित्यर्थः । तद्व्याकुर्वन्ति तवेत्यादि । तत्र आधिदैविक्याः सन्निधौ भौतिकीमध्ये सन्निधाने तनोर्नवत्वं सिद्धिरूपलीलोपयोगिनूतनदेहसम्पत्तिरस्तु । अत्र तनुनवत्वं नैतच्छरीरेऽतिशयाधानमात्रपर्यवसायि, किन्तु, पूर्वशरीरनिवृत्तिपूर्वकाभीष्टदेहान्तरप्राप्तिपर्यन्तमित्याशयं स्फुटीकुर्वन्ति एतेनेत्यादि । एतेन नवत्वस्य नूतनदेहसम्पत्तिपर्यन्तत्वकथनेन पूर्वशरीरनिवृत्तिः सूचिता,

१ शरीरमारुह्येति ख. २ दैहिकेऽपीति ग. युक्तन्तु यथानिवेशमिति न प्रस्तार्यम् । ३ परिपाके नामत्व० निवृत्तिवत् इति पाठः अ.

अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं सङ्गमात्
तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितैः ॥ ७ ॥

शरीरपरिवर्त्तमात्रेणैव मुररिपौ रतिर्दुर्लभतमा न भवतीत्यर्थः । किन्तु तनुनवत्वेन सुलभैव । कदाचित्प्रतिबन्धके विद्यमानेऽपि यथा जलदोषरूपमुरस्य निवारकस्तथा त्वत्सम्बन्धात्सर्वदोषनिवारकत्वं मुररिपुपदेनोक्तम् । अतः कारणाद्यावदाधुनिकशरीरनिवृत्तिस्तावत्तव लालना स्तुतिरूपा अस्तु । साऽपि

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

दुर्लभतमा नेति । त्वत्सम्बन्धस्यैव दुर्लभत्वेन सा भगवति दुर्लभा तु भवत्येवेति तमप्प्रत्ययाशयो बोध्यः । प्रतिबन्धक इति । भक्त्युत्पत्तावित्यर्थः । त्वत्सम्बन्धादिति । यथा नरकासुरनिरुद्धकन्यानुग्रहाय तत्सम्बन्धाज्जलदोषरूपमुरस्य निवारकस्तथा त्वत्सम्बन्धात्त्वदीयसर्वसेवकदोषनिवारक इति भावः । एतेन त्वत्सम्बन्धिनां भगवद्रतिप्रतिबन्धनिरसनायाऽपि यत्नो न विधेय इत्युक्तम् । मुकुन्दप्रिय इति मूले । पदतात्पर्यं तु-भगवान् मुकुन्दो मोक्षदाता गृह एव चतुर्विधपुरुषार्थ भावेन स्वयमाविर्भूयाऽनुभावयन् तादृशसमाजसख्यसम्पादनेन स्वतन्त्रभक्त्या भगवदीयत्वसम्पादकस्तादृशस्य प्रियात्वेन तद्धर्मवत्त्वात् भगवदीयत्वसम्पादकत्वमस्य। इति स्वतन्त्रभक्तिदायिकात्वेन परमोत्कर्षो निरूपितो भवतीति तथा सम्बोधनमिति । अतः कारणादिति । यतो यथाकथञ्चित्त्वत्सम्बन्धे प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकभक्तिप्राप्तिसौलभ्यमतः कारणादित्यर्थः । यावदाधुनिकेति । नवीने

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

अर्थबलादेव बोधितेत्यर्थः । इदमिति । पूर्वोक्तमुभयम् । ननु किमिति द्वयं प्रार्थ्यते एतस्य शरीरस्यैव कुतो नवत्वं न प्रार्थ्यत इत्यत आहुरेतावतेत्यादि । शरीरस्य यः परिवर्त्तः पूर्वधर्मनिवृत्तिपूर्विका धर्मान्तरवत्ता, तन्मात्रेणैव मुररिपौ दोषनिवर्त्तके भगवति रतिर्दुर्लभतमा न भवति, तथापि लीला तु दुर्लभतमा भवत्येव । अतो न प्रार्थ्यत इत्यर्थः । तदेतत्स्फुटीकुर्वन्ति कदाचिदित्यादि उक्तमित्यन्तम् । श्रीहरिरायास्तु लीलोपयोगिदेहप्राप्तिं परमभक्तिप्राप्तिमात्रसाध्यां मन्वानाः पूर्वदेहनिवृत्तिं मृद्घटपाकदृष्टान्तेनैतद्देहेऽतिशयाधानमात्रपर्यवसितामङ्गीकुर्वन्ति । तदपि पूर्वकक्षाविश्रान्तमिति न विरोधः । मुकुन्दप्रिय इति तु न व्याख्यातम् । मोक्षदातृत्वस्य

१ दुर्लभा न भवत्येवेति ग. २ चतुर्विधपुरुषार्थभावेनेति ख. ३ स्वतन्त्रभक्तदायकत्वेनेति ख च.

त्वत्कृपयैव नाऽन्यथेति प्रार्थ्यतेऽस्त्विति । गङ्गाया अपि फलसाधकत्वं त्वत्सम्बन्धादेवेत्यत आहुः, सुरधुनी तव सङ्गमात् परं अत्यर्थं भुवि कीर्तिता स्तुतेत्यर्थः, न तु कदापि त्वद्रहिताऽपीत्यर्थः । ननु क्वचित्पुराणादौ केवलाया अपि स्तुतिर्दृश्यत इति स्तुतौ विशेषमाहुः पुष्टिस्थितैरिति । मर्यादामार्गीयैः केवलाऽपि स्तूयते त्वत्स्वरूपाज्ञानात् । पुष्टिमार्गीयास्तु त्वत्स्वरूपं जानन्तीति त्वत्सम्बन्धादेव स्तुवन्तीत्याहुः पुष्टिस्थितैरिति ॥ ७ ॥

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

अलौकिके तु शरीरान्तरे सम्पन्ने लीलारसानुभव एव त्वत्तीरे[1] भवेदिति भावः। लालना स्तुतिरूपेति। यथा जननी लालनसमये प्रेम्णा बालकं स्तौति। सा स्तुतिरपि लालनैव न तु गुणकीर्त्तनम्। लालनमध्यपातित्वात्। तथैषाऽपि स्तुतिर्लालनैवेति स्तुतिरूपेत्युक्तमित्यर्थः। फलसाधकत्वमिति, पुष्टिमार्गीयफलसाधकत्वमित्यर्थः। पुष्टिमार्गीयं फलं तु साक्षात्पुरुषोत्तमलीलासम्बन्धोऽलौकिकदेहसिद्ध्या, तत्सम्पादकत्वं तु गङ्गायास्त्वत्सम्बन्धादेव । अन्यथा "स्रोतसामस्मि जाह्नवी"ति वाक्येन तस्या विभूतिरूपत्वेन निरूपणादेतत्फलसाधकत्वमुच्यमानं बाधितं स्यात्।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः।

स्वाभाविकत्वेऽपि भवदनुरोधेनाऽलौकिकं देहं दास्यतीत्याशयस्य प्रियापदादेव स्फुटं स्फुरणात्। प्रियत्वं तु तत्रैव "विष्णुदयिते"ति नाम्नोक्तम्। अतःकारणादिति। यतो भवती प्रिया। तथाच तदवधि लालनारूपं तदनुकूलमिदं द्वितीयं प्रार्थितं देयमिति भावः। ननु तनुनवत्वरूपं फलमन्यथा सिद्धं गङ्गयाऽपि सम्भवादतस्तदर्थं तत्स्तुतिरेव कार्येत्याशङ्कायां तन्निरासाय श्लोकशेष इत्याशयेन तमवतारयन्ति गङ्गाया इत्यादि। इदमपि "सितासिते"इति मन्त्रोत्तरार्द्ध एव सिद्धम्। अस्याऽपि मन्त्रस्य-कर्त्रेन "गोप्यो गावः ऋचस्तस्ये"ति श्रुत्यन्तरे तासां गोपीत्वेन पुष्टिस्थितत्वात्केवलगङ्गाया एव माहात्म्यस्य तत्राऽस्फुटत्वाच्च। अत्र पुष्टिस्थितपदेन तदुक्तिराधिदैविकसङ्ग्रहाय। व्रजस्थकृतस्य केवलगङ्गाकीर्त्तनस्य श्रीभागवते अदर्शनादिति। आहुरिति। स्वपूर्वोक्तेऽर्थेऽभियुक्तसंमतिमाहुरित्यर्थः। व्याख्यानं तूत्तानार्थम्। इदं चाऽर्थादेव सिद्धम्। पुष्टिमार्गीयाणां भजनानन्दाभिलाषुकत्वेन तदुपयोगिन एव स्तुत्यत्वात्। लोकादपि तथा निश्चयात्। योजना तु—सुरधुनी भुवि कीर्तिता, परं तवैव

---

१ तत्तीरे इति क-ग-घ-ङ-ख.

स्तुतिं तव करोति कः कमलजासपत्नि प्रिये

यत्र त्वत्सम्बन्धात्सर्ववन्द्यगङ्गास्तुतिस्तत्र त्वत्स्तुतौ को वा समर्थ इत्याहुः स्तुतिं तवेति । अशक्यस्तुतित्वे हेतुमाहुः कमलजासपत्नीति ।

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

अत एव पुष्टिस्थितैरित्युक्तम्, अन्येषामेतन्माहात्म्यानवगतेः । पद्यपदलापनिका तु, पुष्टिस्थितैः निःसाधनानुग्रहमार्गनिष्ठैः सुरधुनी लोकान्तरनदी भुवि तु पुनर्न कदाऽपि कीर्त्तिता तादृक्पुष्टिमार्गीयफलसाधकत्वेनेति । परं किन्तु सर्वदैव तवैव सङ्गमात् सा तथा कीर्तिता। अतः सर्वदा तव लालना पूर्वोक्तरूपाऽस्त्विति सम्बन्धो ज्ञेयः॥७॥

अशक्यस्तुतित्व इति। वागगोचरमाहात्म्यसत्त्वाद्यथा रसस्वरूपानन्देऽशक्यस्तुतित्वम् । "यतो वाच" इति श्रुतेः । तथाऽत्राऽपीति भावः । कमलजासपत्नीति हेतुनिरूपणम् । सपत्नीत्वेन लक्ष्मीविरुद्धस्वभावत्वादित्यर्थः । अयमभिप्रायः । लक्ष्मीर्हि प्रमाणसिद्धब्रह्मानन्दस्वरूपा । अतः प्रमाणभूतैर्वेदादिवाक्यैर्लक्ष्मीमाहात्म्यनिरूपणमुपपद्येताऽपि । त्वं तु पुष्टिलीलास्थत्वेन तदतीतप्रमेयानन्दरूपेति 'यतो वाच'

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

सङ्गमात् । तत्र गमकं, पुष्टिस्थितैस्तु कदापि नेति । केवला न कीर्तितेत्यर्थ इति समीची भाति। तथाच सेवोपयोगिदेहसम्पादकत्वं गङ्गाया अस्ति, परं नाऽभीष्टसेवोपयोगिदेहसम्पादकत्वम्।तेन नाऽन्यथा सिद्धिः। यदि तया सा स्यादभियुक्तैः साऽपि स्तूयेत । तदभावा"द्यया चरणपद्मजे"त्यर्द्धेनोक्तोऽर्थ उपपन्नतर इति भावः । अत्राऽपि तनुनवत्वरूपं सप्तममैश्वर्यं स्पष्टमेव ॥ ७ ॥

नन्वस्तु गङ्गापेक्षया स्तुत्यत्वम् । सम्बन्धाधिक्यात्, न तु लक्ष्म्यपेक्षयाऽपि । तथा सति तनुनवत्वार्थं सैव स्तोतव्या। यत्पुनस्तया सदृशतामित्यर्द्धेनोक्तमतिप्रियत्वं तत्तु भक्तमानापनोदकेषु गुणातीतभक्तान्तरेष्वपि । कलिनिवारकत्वधर्मस्य साधारणत्वान्न तेनाऽनुमातुं शक्यमिति मानाभावान्नोपपन्नमित्याशङ्कायां, लक्ष्म्यपेक्षया जीवोपकारकत्वं गङ्गायां सुप्रसिद्धमिति । तत आधिक्ये लक्ष्म्यपेक्षयोपकाराधिक्यं कैमुतिकादेव सिद्ध्यतीति न लक्ष्म्यास्तदर्थं स्तोतव्यत्वमित्याशयेनाऽष्टमश्लोकमवतारयन्ति यत्रेत्यादि। उक्तार्थसूचनायाऽत्र सर्ववन्द्यपदम्। अतः परं कार्येणाऽतिप्रियत्वसाधकोऽग्रिमग्रन्थ उक्तेऽर्थे हेतुत्वमपि भजत इत्याशनेन तमवतारयन्त्यशक्येत्यादि ।

१ सा पूर्वोक्तरूपेति ग-घ. २ रसरूपेति ख. ३ ब्रह्मानन्दरूपेति च.

हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षतः।

सर्वत्र स्तुत्यत्वं भगवत्सम्बन्धात्। स सर्वत्र लक्ष्म्यपेक्षया न्यून एव। त्वं तु तस्या अपि सपत्नी तत्समानसौभाग्यवती। ननु लक्ष्मीस्तुतिस्तु लोके दृश्यते। तर्हि तत्साम्यं चेत्कथं स्तुतिरशक्येत्याहुः प्रिये इति। साम्यमात्रे कर्तुं शक्यत एव। अत्र तु ततोऽप्यधिकं प्रियत्वमस्तीति स्तुतिकरणमशक्यम्। ननु कथं ज्ञायते लक्ष्म्यपेक्षयाऽऽधिक्यमस्तीति, तत्र हेतुमाहुर्हरेर्यदनुसेवयेति।

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्।

इति श्रुतेरशक्यस्तवेति विरुद्धस्वभावत्वात्सपत्नीति। लक्ष्म्याः स्तुत्यत्वमुपपादयन्ति सर्वत्रेति। लोके वेदे च स्तुत्यत्वं भगवत्सम्बन्धात्। तदभावे निन्द्यत्वमेव। "मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिमि"ति वचनात्। सम्बन्धतारतम्येन स्तुत्यत्वतारतम्यम्। तथाच सम्बन्धस्तु लक्ष्म्या निरतिशय एव, उरसि सर्वदा निवासात्। अतः स्तुत्यत्वं तत्रोपपन्नमिति भावः। तत्समानसौभाग्यवतीति। अन्यासां भगवत्पत्नीनां लक्ष्म्यंशत्वेन तदधीनत्वम्। तव तु तत्समानसौभाग्यवत्त्वेन लक्ष्मीवत्स्वातन्त्र्यमिति भावः। ननु लक्ष्मीस्तुतिस्त्विति। स्वातन्त्र्येऽपि[1] साम्यसत्वे लक्ष्मीस्तुतिरिव कथमेतत्स्तुतिरशक्येत्याक्षेपार्थं इत्यर्थः। प्रिय इति सम्बोधनम्। स्वातन्त्र्येण साम्येऽपि प्रियात्वेन ततोऽप्याधिक्यसत्वान्न लक्ष्मीदृष्टान्तेन शक्यस्तुतित्वमस्या उपपद्येतेति भावः। अत एव "श्रियं चाऽऽत्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परे"ति दुर्वाससं प्रति प्रभुरेवैतादृशानां ततोऽपि प्रियत्वमाहेत्याधिक्यं प्रमाणैसिद्धमेव[2]। फलतोऽप्याधिक्यं वक्तुमाहुर्हरेर्यदनुसेवयेति। हरेः सम्बन्धिनी या यदनुसेवा हरिसाहित्येन तत्रापि अनु पश्चाद्भगवत्सेवां विधाय गौणभावेन यस्याः सेवा तया मोक्षं पुरुषोत्तमसायुज्यं मर्यादीकृत्य सालोक्यादिसुखं भवति। पुरुषोत्तमसायुज्यस्य भक्तिमार्गेण केवलभगवत्सेवासाध्यत्वात्[3]। अत एवोक्तमाचार्यवर्यैः— "आदिमूर्त्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यये"ति निबन्धे। तत्रापि कृष्णपदेन भक्तिप्राप्यः प्रभुरेवकारेण इतरनिरासश्चोक्तः। मोक्षप्राप्तिर्भवतीति। सालोक्यादिमोक्षप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः। अत एव वैकुण्ठे लक्ष्मीसखीनां सालोक्यादिसुखं, न

---

१ तत्स्वातन्त्र्येऽपीति ख. २ प्रमाणप्रसिद्धमेवेति क-ग-घ-ङ-च. ३ केवलमिति ख.

इयं तव कथाऽधिका सकलगोपिकासङ्गम-
स्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमः ॥ ८ ॥

हरेरनु पश्चाद्यस्याः सेवया मोक्षं मर्यादीकृत्य सुखं भवति । मोक्षप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः । न तु ततोऽप्यधिकं भजनानन्दाख्यं सुखं भवति । तदपि भगवत्सहिततद्भजनेन न तु केवलायाः, केवलाया मोक्षविघातकत्वात् । अनुशब्दान्मुख्यतया भगवद्भजनम् । तदनुगुणत्वेन लक्ष्म्याः । कालिन्द्युत्कर्षमाहुरियं तव कथेति । इयमग्रत उच्यमाना तव कथाऽपि सर्वमुक्त्यपेक्षयाऽधिका । अत एवैतत्कथारसिकानां न मोक्षेच्छागन्धोऽपि । तदेवोक्तं पञ्चमस्कन्धे— "अथ ह वा व तव महिमामृतसमुद्रविप्रषा सकृल्लीढया विस्मारितदृष्टश्रुत-

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

लक्ष्मीवत्पुरुषोत्तमनित्यसंयोगरूपसायुज्यम्, तस्य लक्ष्मीमात्रभोग्यत्वात् । न हि स्वभोग्यमन्येभ्यः कोऽपि दातुमीष्टे । अत एवोक्तं बालबोधे—" लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचिदि"ति । न तु ततोऽपीति । सायुज्यादप्यधिकमित्यर्थः । हरेरित्यस्य षष्ठ्यन्तपदस्य सम्बन्धिबोधकस्य तात्पर्यमाहुस्तदपीति मोक्षसुखमपीत्यर्थः ।केवलाया मोक्षविघातकत्वादिति । केवला भगवतः पुरुषोत्तमाद्भेदेन स्थिता विभूतिरूपा भजनेन धनादिसम्पत्प्रदा तस्या विषयासक्तिहेतुत्वेन वैराग्यविघातद्वारा मोक्षविघातकत्वमित्यर्थः । कालिन्द्युत्कर्षमिति, भजनानन्दरूपफलसाधकत्वेन लक्ष्मीत उत्कर्षमित्यर्थः । सर्वमुक्त्यपेक्षयेति, लक्ष्मीतत्सेवकफलरूपसायुज्यसालोक्यादिमुक्त्यपेक्षयेत्यर्थः । अत एवेति, यतो मुक्त्यपेक्षयैतत्कथाया आधिक्यमित्यर्थः । एतत्कथारसिकानामिति । मोक्षे हि न भेदेन स्थितिरिति सर्वात्मभावलभ्यरसकथा-

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

अनुशब्दोक्तस्य पश्चात्त्वस्य सापेक्षत्वादवधिं बोधयितुं हरेर्यदन्वित्येवं प्रतीकं तद्व्याख्यानं चेति ज्ञेयम् । तेन न दोषः । शेषं स्फुटम् । एवं लक्ष्म्यपेक्षया गङ्गापेक्षया चाऽऽधिक्यं साधयित्वा तत्र हेतुमुत्तरार्द्धेन वदन्तीत्याशयेन तमवतारयन्ति व्याकुर्वन्ति च कालिन्द्यामित्यादि, इयमित्यादि च । सकलेत्यादि, इदमपि यमुनामाहात्म्ये "केलि-

१ सर्वत्र मुक्त्यपेक्षयेति ख. २ वैराग्यविघ्नद्वारेति च.

सुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिन" इति । सा केत्याकाङ्क्षायामाहुः सकलगोपिकेति । सकलगोपिकासङ्गमेन स्मरसम्बन्धी यः श्रमस्तेन जनिता ये स्वेदजलाणवः सकलगात्रजास्तैः सङ्गमो यस्याः । एते जलाणवो न श्रमस्वेदरूपाः किन्तु विविधसङ्गमरसस्य सर्वावयवपूर्णस्याऽत्युच्छलनेन बहिरागतस्यैव बिन्दवो न तु केवलजलमात्रस्य । अत एवोक्तं सकलगात्रजैरिति । एभिर्विशेषणैः परमकाष्ठापन्नपुष्टिपुष्टिमार्गान्तरङ्गभक्तत्वं सर्वदैतद्रसपूर्णत्वमन्तरङ्गभक्तानुगुणत्वमेतल्लीलामध्यपातित्वादिकं सूचितम् । स्वस्यैतद्रसपूर्णत्वेन केवलैतद्भजनकर्त्तुरप्येतद्रसं ददातीति स्पष्टमेव वैलक्षण्यम् ॥ ८ ॥

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

रसिकानां तत्र तदभावान्न तदिच्छागन्धोऽपीत्यर्थः । "अथ ह वावे"त्यादिना प्रमाणोपन्यासः । सा केति । कथेत्यर्थः । यस्या इति पञ्चमी षष्ठी च व्याख्येया । पञ्चमीपक्षे—यस्याः सकाशादन्येषामेतत्सम्बन्धिनामपि तत्सङ्गमः । षष्ठीपक्षे—श्रीयमुनायास्तत्सङ्गमः । तदाऽपि कृपया तद्रसदातृत्वमित्यर्थः । एभिर्विशेषणैरिति । एतत्कथायां सकलगोपिकास्तत्सङ्गमः, सोऽपि रसावेशजनितो येन श्रमः तेनोद्भूतं स्वेदजलं तदीया अणवोऽतिसूक्ष्मबिन्दवस्तैः सङ्गमः, एतावन्ति कथाविशेषणानि तैरित्यर्थः । एतादृशी एतत्कथेत्यस्यामपि परमकाष्ठेत्याद्युक्तसकलधर्मवत्त्वं सूचितमित्यभिहितमिति भावः । केवलैतद्भजनकर्त्तुरपीति । अनन्यभजनकर्त्तुरित्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

सलिले"ति नाम्नि प्रसिद्धम् । केलिः सलिले यस्या इति तदर्थात् । किञ्च । "ब्रह्मविद्यासुधावहा" इति नाम्न्यपि भगवतस्तरणलीलायां प्रवाहे गण्डूषपाताद्ब्रह्मविद्यारूपभगवन्मुखसुधां वहतीत्यपि स्फुटति । यद्यपि श्रमजलगण्डूषजलसम्बन्धो लीलासमय एव, तथापि श्रीयमुनायाः सप्तसागरान् भित्त्वा सूर्यमण्डलाद् रहद्भवत्पुनःपुनरत्राऽऽगमनेन इदानीमपि सोऽस्तीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । अत्रापि लीलासामयिकप्रभुश्रमजलकणसम्बन्धसम्पादकत्वरूपमष्टममैश्वर्यं स्पष्टमेव ॥ ८ ॥

---

१ पराकाष्ठापन्नेति क-ख.

तवाऽष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते सदा*
समस्तदुरितक्षयो भवति वै मुकुन्दे रतिः ।

एवं कालिन्दीं स्तुत्वैतत्स्तोत्रपाठफलमाहुस्तवाऽष्टकमिति । यद्यप्यन्यकृतान्यपि स्तोत्राणि सन्ति तथापि वक्ष्यमाणं फलमेतत्स्तोत्रपाठेनैव भवति, नाऽन्यथेति ज्ञापनायेदमित्युक्तम् । अन्यकृतस्तोत्रेष्वेवंविधस्वरूपनिरूपणाभावात् । इदं तवाष्टकं यः पठति तस्य पूर्वं समस्तदुरितक्षयो भवति । तदनन्तरं मोक्षदातर्यपि स्नेहो भवति । अत एवोक्तं, "नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते" इति । मुकुन्दपदाद्यद्यपि मोक्षमेव साधारण्येन सर्वेभ्यो ददाति तथापि त्वत्स्तुतिपाठात्प्रसन्नो भक्तिमेव ददाति न तु मोक्षमपीति भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमुक्तम् । ततः किमिति तत्राऽऽहुः। तया सकलसिद्धयः पूर्वोक्ताः सर्वात्मभावादयो भवन्तीति शेषः । ननु प्रति-

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

वक्ष्यमाणमिति । अनुपदमेवाऽत्र पद्ये वक्ष्यमाणमित्यर्थः । समस्तेति ब्रह्मसम्बन्धवदेकहेलया अखिलपापक्षय एतत्स्तोत्रपाठेन बोधितः। तदनन्तरमिति । भक्तिप्रतिबन्धकसमस्तदुरितक्षयानन्तरमित्यर्थः । अन्यथा दुरितानामनन्तत्वेनैकदा तदनिवृत्तौ रत्युत्पत्तेरनवसरपराहतिः स्यात् । अत एवेत्यादिना प्रमाणोपन्यासपुरस्सरं समस्तपापाभावस्य भगवद्भक्त्युत्पत्तौ हेतुता निरूपिता । यद्यपि "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणी"ति वाक्याज्ज्ञानेनाऽपि सर्वकर्मनिवृत्तिः । परन्तु तत्र ज्ञानसाधने क्लेशभूयस्त्वमत्र तु पाठमात्रेणैतत्स्तोत्रस्य सा भवतीत्यनायासेन तत्साधकत्वं पाठस्येति तदुत्कर्षो ज्ञेयः । प्रसन्न इति । यथा लीलासृष्टिस्थेभ्यस्त्वत्साक्षात्कारात् त्वत्सम्बन्धेन प्रसन्नस्तथा आधुनिकेभ्यः परोक्षे त्वत्स्तुतिपाठादेव प्रसन्नो भवतीत्यर्थः । भक्तिमेवेति निश्चयवाचकं "वा"इत्यव्ययपदप्रयोगतात्पर्यं ज्ञेयम् । भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमिति । एतत्स्तोत्रपाठस्येत्यर्थः । अत्राऽयं भावः । भगवत्स्वभावः स्वामिनीभ्यो देयं फलमन्येभ्यो न प्रयच्छति । अन्यथाऽनुकम्पापात्रमुद्धवं व्रजे न प्रेषयेत् । स्वयमेव तादृग्भावं दद्यात् । एतत्स्तोत्रपाठे तु तत्कर्त्तरि श्रीयमुनासम्बन्धावगमेन स्वामिनीभ्य इव स्वयमेव तादृग्भावं प्रयच्छतीति तथेति भावः । ततः किमिति । ततो भगवद्भावादग्रे किं भवतीत्यर्थः ।

* अत्र श्रीपुरुषोत्तमचरणानां व्याख्यानं किञ्चिदस्ति तद् श्लोकान्ते निवेशितम् ।

तया सकलसिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति
स्वभावविजयो भवेद्वदति वल्लभः श्रीहरेः ॥ ९ ॥

श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

बन्धके विद्यमाने सति कथमेतत्स्तोत्रमात्रादेतावद्भवतीति चेत्तत्राऽऽहुर्मुररिपुश्च सन्तुष्यतीति । यथा दोषरूपं तन्निरुद्धकन्यासुखप्राप्तिप्रतिबन्धकं निराकृत्य ता अङ्गीकृतवानेवमेतत्पाठेनाऽपि प्रतिबन्धं निवार्य तमप्यङ्गीकरोतीत्यपि ज्ञापनाय मुररिपुपदम् । फलान्तरमाहुः स्वभावविजयो भवेदिति । स्वभावस्य विजयः परावृत्तिर्भवति । सवासनेति व्युपसर्गार्थः । दुष्टस्वभावोऽप्युत्तमस्वभावो भवतीत्यर्थः । नन्विदमनेकतपःसाध्यं कथमेतत्पाठमात्रादिति चेत्तत्राऽऽहुर्वदति वल्लभ इति । तेनाऽऽप्तवाक्यत्वेन प्रामाण्यमुक्तम् । नन्वितः पूर्वं केनाऽप्यनुक्तत्वाद्भवदुक्तिमात्रेण कथं प्रामाण्यमिति चेत्तत्राऽऽहुः श्रीहरेरिति । साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमसम्बन्धी यतः, अहमतो वदामीत्यर्थः ।

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

सन्तुष्यतीति । भगवत्प्रियात्वाद्यमुनायास्तत्स्तुतौ भगवत्तोषस्तत्रापि सम्यक्तोषो यथा गोपिकासु । अत एव "प्रियो भवति सेवनात्तव हरेरि"ति पूर्वमुक्तम् । चकारेण स्वामिन्योऽपि तुष्यन्तीत्यर्थः । लोकेऽपि स्वस्तवनापेक्षया स्वप्रियस्तवनस्याऽतितोषहेतुत्वादिति भावः । फलान्तरमिति । प्रथममेकं फलं समस्तदुरितक्षयपूर्वकसकलसिद्धिसहितभगवद्भावप्राप्तिरूपं निरूपितमित्यर्थः । स्वभावविजय इति । "काममयोऽयं पुरुष" इति श्रुतेः स्वभावस्य कामभावरूपजीवस्वभावस्य परावृत्तिः सर्वात्मभावसिद्ध्या भवतीत्यर्थः । यद्वा । स्वभावस्य सात्त्विकादिस्वभावस्य विजयः स्वाधीनीकरणं लीलामात्रोपयोगितया प्रवर्त्तनरूपं स्वरूपतो गुणातीतत्वसिद्ध्या भवतीत्यर्थः । अथवा । स्वभावस्य भगवद्धर्मप्रवेशजन्यमानादिस्वभावस्य दैन्यभावसिद्ध्या परावृत्तिर्भवतीत्यर्थः । दुष्टस्वभाव इति । शुद्धपुष्टिमार्गविचारेण पूर्वोक्तरूपस्वभावस्य दुष्टत्वमित्यर्थः । आप्तवाक्यत्वेनेति । यथादृष्टार्थवादित्वेनाऽऽप्तत्वम् । तच्चाऽऽचार्यचरणेष्वेव सम्भवति । लीलासृष्टिसम्बन्धित्वेन लीलास्थभक्तजनफलजननदर्शनात् । अत एतदाप्तत्वमेतेष्वेवेत्येतद्विषये स्वोक्तमेव प्रमाणमिति बोधनाय स्वनामोक्तिरिति भावः । नन्वित्यादिना आप्तत्वसंशयमादाय पूर्वपक्षो ज्ञेयः । साक्षादित्यादिनिरूपणस्याऽयमभिप्रायः । हरिपदेन निःसाधनगजराजोद्धृतये तद्दैन्येन प्रादुर्भूतः पुरुषोत्तम उच्यते । स च पुष्टिमार्गीयप्रभुरेव । सर्वसाधनराहित्ये केवलदैन्येन प्रादुर्भूत-

---

१ पूर्वकमिति क. ग. घ. ङ.

अत्राऽयमाशयः । साक्षात्स्वरूपसम्बन्धिनां स्वरूपं साक्षात्तत्सम्बन्धिन एव जानन्ति न त्वन्ये । श्रीकालिन्द्याः साक्षात्तत्सम्बन्धित्वं पूर्वं प्रकटमेवोपपादितम् । स्वातिरिक्तानां साक्षाच्छ्रीगोकुलेशसम्बन्धाभावात्साक्षात्तत्सम्बन्धिन्याः स्वरूपाज्ञानात्तदकथनम् । स्वस्य तु साक्षात्तादृशत्वात्तत्स्वरूपज्ञानात्तत्कथनमिति नाऽनुपपत्तिः काचित् ।

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचिता श्रीयमुनाष्टकविवृतिः सम्पूर्णा ।

श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम् ।

स्यात् । अत एवाऽग्रे साक्षादित्युक्तम् । पुष्टिमार्गीयातिरिक्तेषु साक्षात्सम्बन्धाभावेन साक्षात्स्वरूपप्रादुर्भावाभावात् । तत्र तु पुरुषोत्तमस्य विशुद्धसत्त्वव्यूहादिव्यवधानमेव । अत एव श्रीपदम् । सौन्दर्यादिरसानुभावकधर्मप्राकट्यस्य पुष्टिमार्ग एव सम्भवात् । तादृशस्य वल्लभत्वेन सम्बन्धीति मदुक्तौ नाऽऽप्तत्वसंशयः पुष्टिपथानुगृहीतैरस्मदीयैर्विधेय इति दिक् ।

इति श्रीमन्निजाचार्यकृपया परया युतः ।
हरिदासश्चकारेदं टिप्पणं विवृतौ प्रभोः ॥ १ ॥
प्रसीदन्तु निजाचार्याः स्वदासे निजवंशगे ।
प्रयच्छन्तु स्वतो भावं यमुनासहिते हरौ ॥ २ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणतामरसपरागाभिलाषिहरिदासप्रणीतं
श्रीयमुनाष्टकविवृतिटिप्पणं
सम्पूर्णम् ।

श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता विवृतिः ।

नवमश्लोकतद्विवरणं चोत्तानार्थम् । तत्राऽपि मुदा सदेति पदाभ्यां स्वस्याप्तत्वोक्त्या चाऽऽनन्दस्य प्रत्यहमविच्छेदस्य स्वस्मिन्विश्वासस्य च पाठाङ्गत्वं श्रीमदाचार्यैर्दर्शितमिति बोध्यम् ॥ ९ ॥

श्रीयमुनाष्टकविवृतिः प्रभुचरणकृपाबलेन विवृतेयम् ।
यदि ह्रस्वमतिजदोषादसदुक्तं तत् क्षमन्तां मे ॥ १ ॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणकृपाभिलाषुकतत्तद्दासपुरुषोत्तमविरचिता
श्रीयमुनाष्टकविवृतेर्विवृतिः
समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीत्रिभङ्गीरायो जयति ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतं

श्रीयमुनाष्टकम् ।

श्रीमत्प्रभुचरणविनिर्मितया टीकया
गो० श्रीद्वारिकेशचरणविरचिततट्टिप्पणेन च समलङ्कृतम् ।

मूलम्—नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा

गो० श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान्करुणारसपूरितान् ।
श्रीविट्ठलेशांश्च विभूंन्निजेभ्यो बुद्धिदायकान् ॥ १ ॥
श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां भक्तिसिद्धये ।
अकार्षुः षोडशग्रन्थान्स्वसिद्धान्तार्थबोधकान् ॥ २ ॥
तद्व्याख्यानं कृतं पूर्वैः प्रभुभिश्च पृथक्कचित् ।
यमुनाष्टकमारभ्य सेवाफलमुदाहृताः ॥ ३ ॥
स्वगुरून्मथुरानाथान् गङ्गां च स्वीयमातरम् ।
हेतुः षोडशग्रन्थानां टीकानां च मयोच्यते ॥ ४ ॥

तत्र गोस्वामिप्रभूणां कृतीनां गणना—

यमुनाष्टकसिद्धान्तमुक्तावल्योस्तथा पुनः ।
नवरत्ने प्रकाशश्च त्रयं स्वैः प्रभुभिः कृतम् ॥ १ ॥
तट्टिप्पणं तु बहुभिर्वंशीयैर्बालकैः कृतम् ।
तत्कृपाबलमाश्रित्य तद्ग्रन्थान्विवृणोम्यहम् ॥ २ ॥

तत्र ग्रन्थक्रमः पूर्वमुच्यते—

यमुनाष्टकमादौ तु श्रीकृष्णास्यं हि निर्ममे ।
मुकुन्दरतिसिद्ध्यर्थं दुरितक्षयपूर्वतः ॥ ३ ॥
स्वभावविजयार्थं च मुरस्यारेश्च तुष्टये ।
(जीवैस्तु नमनाधिक्यं नैव कर्तुं हि शक्यते ।)
नमनादतिरिक्तं तु कर्तुं जीवैर्न शक्यते ॥ ४ ॥
कृष्णस्य निरपेक्षत्वादिति स्वान्ते विचार्य हि ।
अधिकारस्य सिद्ध्यर्थं यमुनाष्टकमुज्जगौ ॥ ५ ॥
अग्रेऽधिकारसिद्धेस्तु कर्तव्यज्ञापनाय वै ।
सुपुरुषार्थसङ्क्षेपं बालबोधे न्यरूपयत् ॥ ६ ॥
पुरुषार्थपरिज्ञाने साध्यसाधनभावतः ।
सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु सेवारूपं न्यदर्शयत् ॥ ७ ॥
तत्र— सेवा च द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
तन्निर्वाहाय सिद्धान्तरहस्यं प्रभुरुक्तवान् ॥ ८ ॥
तत्र बाह्यपदार्थानां शुद्धिरुक्ता समर्पणे ।
आन्तराणां तु शुद्ध्यर्थं नवरत्नं तथा पुनः ॥ ९ ॥
अन्तःकरणसम्बोधं प्रकटीकृतवान्स्वयम् ।
बाह्याभ्यन्तरयोः शुद्धिमेवमुत्पाद्य मत्प्रभुः ॥ १० ॥
तन्निर्वाहार्थं विवेकधैर्याश्रयमरीरचत् ।
तत्राश्रयश्चित्तदोषान्न स्थिरो भवतीति हि ॥ ११ ॥
विचार्य कृष्णाश्रयाख्यं ग्रथं सूक्ष्मं न्यरूपयत् ।
आश्रये तु स्थिरे सिद्धे स्वकीयार्थप्रसिद्धये ॥ १२ ॥
चतुःश्लोकीं चकाराग्निरुद्दिश्य स्वमनः प्रति ।
ततो मार्गत्रयस्यापि बोधनार्थं कृपानिधिः ॥ १३ ॥
पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रथं गूढमचीकरत् ।
एवं भक्तिप्रकरणं महाकारुणिकस्ततः ॥१४ ॥
दृढीकृत्य प्रवृद्ध्यर्थमकरोद्भक्तिवर्द्धिनीम् ।
एवं भक्तिं वर्धयित्वा जलभेदमिषेण तु ॥ १५ ॥
भक्तानां लक्षणं प्राह सर्ववादिनिरासकृत् ।
पद्यानि च तदर्थं हि प्रोवाच निखिलेष्टदः ॥ १६ ॥

उक्तश्च भक्तिवर्द्धिन्यां त्यागो भक्तिविवर्द्धनः ।
अतस्तस्य विवेकार्थं संन्यासे निर्णयं जगौ ॥ १७ ॥
भावसिद्धौ भावनैव साधनं त्वपरं न हि ।
निरोधलक्षणे भावं व्रजस्थानामतश्चकौ ॥ १८ ॥
इत्थं पञ्चदशग्रन्थैर्भावं संसाध्य कारणम् ।
उद्वेगप्रतिबन्धानां साधनैर्वारणैः सह ॥ १९ ॥
फलं स कथयाँश्चक्रे सेवाफलनिरूपणम् ।
तस्याप्यतिदुरूहत्वाद्विवृतिं चाकरोद्विभुः ॥ २० ॥
एवं षोडशभिर्ग्रन्थैः पुरुषोत्तमसेवनम् ।
प्रतिपाद्य फलत्वेन चक्रे जीवोद्धृतिं विभुः ॥ २१ ॥
अवतारदशायां तु उद्धृतो रूपदर्शनात् ।
इह नामात्मकैर्ग्रन्थैः स्वदासानां सदोद्धृतिः ॥ २२ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन दैवैः कर्तव्यमेव हि ।
सेवनं श्रीव्रजेशस्य तद्ग्रन्थानां च पाठनम् ॥ २३ ॥
इति सिद्धं तथापीह लोके जीवा बहिर्मुखाः ।
कृता भगवदाज्ञसै रुद्रांशैर्ब्राह्मणैस्ततः ॥ २४ ॥
तेषां साम्मुख्यसिद्ध्यर्थमर्थज्ञानमपेक्षितम् ।
तदर्थं ग्रन्थटीकास्तु प्रभुप्रभृतिभिः कृताः ॥ २५ ॥
तासां मतं समालोक्य सर्वकर्तृकृपाबलात् ।
मयापि क्रियते ह्येषा सुगमान्वयबोधिनी ॥ २६ ॥
श्रीमदाचार्यचरणान्नमस्कृत्य पुनःपुनः ।
गोपीनाथाँश्च सुखदान् ससस्तनुयुतान्प्रभून् ॥ २७ ॥
श्रीदामोदरसञ्ज्ञं तत्पुत्रं विठ्ठलरायकम् ।
श्रीवल्लभं गिरिधरं तत्सूनुं विठ्ठलेश्वरम् ॥ २८ ॥
द्वारिकेशं गिरिधरं मथुरानाथसञ्ज्ञकम् ।
हरिरायनरश्रेष्ठौ स्मृत्वा तट्टिप्पणीकृतौ ॥ २९ ॥
यमुनाष्टकटीकायाष्टिप्पणं विलिखाम्यहम् ।
तत्र बुद्धिं प्रयच्छन्तु श्रीमदाचार्यवंशजाः ॥ ३० ॥

मुरारिपदपङ्कजस्फुरदमन्दरेणूत्कटाम् ।

श्रीमत्प्रभुचरणविरचितविवरणम् ।

विश्वोद्धारार्थमेवाऽऽविर्भूतवृन्दावनप्रियाः ।
कृपयन्तु सदा तातचरणा मयि विठ्ठले ॥ १ ॥

विविधलीलोपयोगिनीं कालिंदीं स्तोतुकामाः श्रीगोकुलेशो यथा जीवैर्नमनातिरिक्तं न कर्त्तुं शक्यं, तथा कालिन्द्यामपीत्याशयेनाऽऽदौ नमनमेवाऽऽहुर्नमामीति । भगवताऽष्टविधैश्वर्यं कालिन्द्यै दत्तमितिज्ञाप-

गो० श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

अथ श्रीमदाचार्यनन्दनाः श्रीयमुनाष्टकं व्याचिख्यासवः श्रीमदाचार्यश्रीयमुनाश्रीगोवर्द्धनधराणां स्वरूपैक्यस्य बोधं कुर्वन्तस्तत्कृपां प्रार्थयन्ति विश्वेति । विशन्ति लयसमये भगवतीति विश्वे, दैवजीवास्तेषामुद्धारो ब्रह्मसम्बन्धकारणात्, संसारान्विमुच्य स्वस्वरूपानन्ददानम् (इति)। तदर्थमेव एवकारोत्रान्ययोगव्यवच्छेदकः । वृन्दावनं प्रियं येषां ते च ते आविर्भूताश्च तथोक्ताः। यद्वा । लीलार्थमाविर्भूतं यद्वृन्दावनं तत्प्रियं येषां ते पितृचरणा मयि विठ्ठले ज्ञानशून्यानुग्राहके सदा कृपां कुर्वन्तु । एतेन निजाचार्यस्वरूपनिरूपणस्वस्वरूपनिरूपणश्रीयमुनास्वरूपनिरूपणश्रीगोवर्द्धनधरस्वरूपनिरूपणपूर्वकं कृपाबलं सम्प्रार्थ्य प्रथमश्लोकमवतारयन्ति विविधेति । अहं सर्वभवनसमर्थः ।

(यमु उपरमे। यमयति जीवान्भगवत्समीपे रमयति) अनेका या लीलास्तासां उपयोगिनीं समीपसम्बन्धसम्पादनकर्त्रीम् ।अत एव कालिन्दीम्, कलेर्दोषस्य खण्डनकर्त्रीम्, श्रीयमुनां स्तोतुकामा इति स्तुतेरपि ग्रहत्वे शब्दे च ग्रहत्वं कायिकी नतिः जयजयशब्दोच्चारपूर्विका । इच्छाविषयत्वं तत्कृपाधीनत्वात् श्रीभिर्युक्तस्य गोकुलस्य स्वामिनि जीवैस्तदंशत्वात्तदधीनैः गमनाभावान्नमनाधिकार इतिन्यायेन नमनमेवादौ, अग्रे तु नमनेन दैन्याविष्कृतौ प्रभुकृपया विशेषाधिकारे सम्पन्ने स्तुतिप्रार्थने अपि कर्त्तुं शक्ये भविष्यतः । एवकारेणाग्रे करणीयायाः 'मम मनः सुखं भावये'ति 'तनुनवत्वमस्त्वि'त्यादिरूपप्रार्थनाया अस्फूर्तिः सूचिता । श्लोकसङ्ख्याकारणमाहुः भगवतेति । 'रसो वै स' इतिश्रुत्या स्वयं रसात्मा रमणार्थमाविर्भूतः । स्वस्य रसात्मत्वसिद्ध्यै सर्वात्मभाववद्भक्ताधीनो जातः । तथा सन् सर्वलीलोपयुक्तस्वामिन्यां श्रीयमुनायां स्वस्याष्टविधं पुष्टिमार्गीयमैश्वर्य्यं स्थापितवान् । तत्स्वरूपं श्रीहरिराया आहुः, सकलसिद्धिहेतुत्वम् १, भगवद्भाववर्द्धकत्वम् २, भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धकनिराकरणेन तदनु-

तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना
सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम् ॥ १ ॥

नायाष्टभिः श्लोकैः स्तुवन्ति । साक्षाद्भगवत्सेवोपयोगिदेहासितल्लीलावलोकनतद्रसानुभवसर्वात्मभावादयः सकलसिद्धयो ज्ञेयाः । अत एव नमनं मुदेति । जलदोषात्मकमुरस्यारेः पदपङ्कजयोः स्फुरन्तः सेवोपयोगिदेहादिसम्पादनोन्मुखा ये रेणवोऽमन्दा व्रजसुन्दरीवृन्दचरणरेणुसाहि-

---

गो०श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

भवयोग्यताहेतुशुद्धिसम्पादकरूपं भुवनपावनीत्वम् ३, भगवत्समानधर्मवत्त्वेप्यनायासेन तत्सम्बन्धसम्पादकत्वम् ४, भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वम् ५, भगवदीयोत्कर्षाधायकत्वम् ६, भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वम् ७, तनुनवत्वसम्पादकत्वम् ८, सकलः कलासहितः पुरुषोत्तमः तस्य सिद्धिः वश्यत्वेनात्राप्तिः । इदं च लीलासृष्टिस्थेष्वेव ज्ञेयमिति सकलेति । विवृण्वन्ति साक्षादिति । आवरणानच्छन्नावलोकम्, तद्रसानुभवसर्वात्मभावादयः सकलसिद्धयो ज्ञेयाः । अत एव नमनं, आवरणानवच्छन्नभगवत्सेवनयोग्यदेहप्राप्तिरूपा १, तादृशस्य लीलादर्शनरूपा २, तस्यैव रसस्य स्वेन्द्रियविषयीभूतकरणरूपा ३, सर्वत्र भगवद्भावरूपा ४, आदिपदेन भगवदाविष्टदेहाप्तिः ५, परावृत्तचक्षुषान्तराविर्भूतलीलावलोकनसिद्धिः ६, भावात्मकस्वरूपेण तदात्मकतद्रसानुभवः ७, विरहसामयिकसर्वात्मभावसिद्धिः ८, इति श्रीहरिरायाः । अत इति, यतोऽष्टविधैश्वर्यवत्सकलसिद्धिहेतुभूतश्रीयमुनायाः प्राकट्यमलभ्यलाभः । अतो नमनं मुदा हर्षेण । मुरारिपदपङ्कजेति विवृण्वन्ति जलेति । जले दोषो मुर एव । मुरदैत्यसम्बन्धादेव षोडशसहस्रनायिकानां भगवत्प्राप्तौ प्रतिबन्धकम् । मुरनाशे तु भगवत्प्राप्तिरनायासेन । तत्सम्बन्धादेव जलं भगवत्प्राप्तौ प्रतिबन्धकं भवति । अत्र तु तन्नाशकस्य भगवतः पदपङ्कजसम्बन्धिनः सेवायोग्यदेहकरणतत्पराः श्रीरेणवोऽधिकाः सन्ति । तेन मूलेऽपि लीलोपयोगिनीत्वं सूचितम् । जलाधिक्ये तु क्रीडायां निमज्जनभयं मकरादिभयमपि भवेत् । अत एव दशमस्कन्धीयपञ्चदशाध्याये अगाधतोयह्रदिनीत्युक्तिः । तटस्थेति मूले तीरस्थानां नवानां वनानां प्रकटो यो मोदः गन्धः पुष्पाणि च तत्सहितेन जलेन । स्मारकत्वं जलस्य भ्रमरगीते 'सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे । पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत' । मोदः सत्त्वरूपः, पुष्पाणि रजोरूपाणि, काननानि तमोरूपाणि ।

प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभिः ।
तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिकावालुका-
नितम्बतटसुन्दरीं नमत कृष्णतुर्यप्रियाम् ॥ ३ ॥
अनन्तगुणभूषिते शिवविरञ्चिदेवस्तुते

अनेकस्वनैरिति शुकादिविशेषणम् । एतेन विभावादिसामग्र्युक्ता । यत्र यथोचितं तत्र तथा कुर्वन्तीति प्रियापदम् । तीरस्य चाकचक्यवत्सिकताकृतशोभां तत्स्वरूपमप्याहुस्तरङ्गेति । यदा तरङ्गास्तीरमागत्य प्रसृता भवन्ति तदा तीरसिकता मुक्तावद्भासन्ते । ता न सिकताः । लोकप्रतीतिः परं तथा । किन्तु तरङ्गा एव भुजास्तत्र यानि कङ्कणानि तत्र प्रकटा या मुक्तिका मुक्ताफलानि तान्येव वालुकावत्प्रतीयमानानि तद्युक्तो यो नितम्ब एवोचदेशात्मकतटस्तेन तादृशीम् ।भगवति स्नेहातिशयो विशेषणेनोक्तः॥३॥

भगवत्समानधर्मत्वं ज्ञापयितुं तथा विशेषणैराहुरनन्तेति । प्रभौ

गो० श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

रस्य दुरितक्षयपूर्वकं भगवद्भावदानेन पावनकर्त्रीत्वं स्नेहातिशय इति । (श्रीपुरुषोत्तमास्तु पाविनीमिति पेठुः) । * अप्राकृताखिलभूषणभूषितकथनेनाप्राकृताखिलभूषणभूषितेन भगवता स्नेहातिशयो युक्त एव । समानशीलव्यसनेषु सख्यमिति नियमात् । भगवतोऽप्राकृतभूषणभूषितत्वम् । 'उद्दामकाञ्ची'त्यत्र स्फुटतरमस्ति । मूले कृष्णतुर्य्यप्रियामिति । व्रजे भगवद्भोग्याश्चतस्रः स्वामिन्यो मुख्याः । श्रीराधिकायूथस्थास्तामस्यः । श्रीचन्द्रावलीयूथस्था राजस्यः । कुमारिकायूथस्थाः सात्विक्याः । श्रीयमुनायूथस्था गुणातीताः तुर्याः । तासु इयं तुर्य्यातस्तथाकथनमिति । "कालिन्दीतिसमाख्याता वसामि यमुनाजले" इति वाक्येनास्याः कालिन्दीभिन्नत्वेपि प्रियात्वमुपपन्नम् । शुको वाचिकीसेवां करोति । मयूरः कायिकीं, हंसो मानसीं, आदिपदेन पारावतकोकिलसारसचक्रवाकदात्यूहादयो गृहीताः । अन्वयस्तु, भुवनपाविनीं, भुवमधिगतां, प्रियाभिरिव स्थितैः अनेकस्वनैः शुकमयूरहंसादिभिः सेवितां, तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिकावालुकानितम्बतटसुन्दरीम्, कृष्णतुर्यप्रियाम्, यूयं नमत, इति दैवीजीवान्प्रति विधिः । अत्र भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धकनिराकरणेन तदनुभवयोग्यताहेतुशुद्धिसम्पादकरूपं भुवनपावनीत्वं तृतीयमैश्वर्यं दर्शितम् ॥ ३ ॥

अग्रिममवतारयन्ति भगवत्समानधर्मत्वमिति । यथा भगवानैश्वर्यादिभिः

* तरङ्गादीनां भुजादित्वं हरिवंशे सूपपादितम् ।

घनाघननिभे सदा ध्रुवपराशराभीष्टदे।

सप्तम्यन्तानि विशेषणानि। तत्प्रियायां सम्बुद्धिरूपाणि। घनाघनशब्दो निपातरूपो घनसमुदायं वदति। श्यामे। तादृशीति वा। ध्रुवादेस्तत्तीर

गो० श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

षड्भिर्गुणैः सहितः स्वयं धर्मी, तथेयमपीति सप्तभिर्विशेषणैः स्तुवन्ति। मूले अनन्तेति। अत्र पक्षद्वयमाहुः प्रभौ सप्तम्यन्तानि विशेषणानि श्रीयमुनायां सम्बुद्ध्यन्तानि। सम्बुद्धिरूपाणीति। आद्ये पक्षे अनन्ता अपारा येऽलौकिका गुणास्तैर्भूषितेऽलङ्कृते। द्वितीये अनन्तस्य भगवतो भक्तमनोरथपूरकादयो गुणास्तैर्भूषिते। एतेन विशेषणेन 'गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते' इति वाक्याद्गुणानां पूज्यत्वात्, 'ईश्वरः पूज्यते लोकैर्मूढैरपि यदा कदा। निरुपाधिकमैश्वर्यं वर्णयन्ति मनीषिण' इति वाक्योक्तमैश्वर्य्यं निरूपितम्। शिवविरञ्चिदेवस्तुते इतिविशेषणेन 'वीर्यं देवेषु तत्रापि स्त्रीषु तत्रापि कामतः।सान्निध्ये पुरुषाणां च मूर्छा तेन ततो महत्' इत्यत्रोक्तं वीर्यमुभयत्र निरूपितम्। घनाघनेति विशेषणेन उभयत्रापि स्वरूपसौन्दर्यं सर्वविसारकं विश्वजीवनत्वादिकं च निरूपितम्। तेन 'यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणात्। स्वधर्मं योजयेत्तेषु तदा भवति नान्यथा' इत्यत्रोक्तं यशो निरूपितम्। ध्रुवपराशराभीष्टदे अनेन स्वसेवकानामभीष्टदानेन 'श्रियो हि परमाकाष्ठासेवकास्तादृशा यदी'तिपद्योक्ता श्रीर्निरूपितोभयत्र। विशुद्धा मथुरेति मथुराया विशुद्धत्वं तु 'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः' इति भगवत्सान्निध्यात्। तत्रापि श्रीयमुनातटसत्त्वेन लीलास्थानत्वम्। तेन 'ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात्स्वभावविजयो यदी'त्यत्रोक्तं ज्ञानं निरूपितम्। सकलेतीतिविशेषणेन गोपाश्च गोप्यश्च सततं गृहादिकं त्यक्त्वा एतत्तट एव तिष्ठन्ति, पूर्वं तत्रैवानन्दसाक्षात्कृतत्वात्। यद्वा, सकलगोपगोपीभिरन्तस्थैर्वृता—आवृता। यद्वा, सकलगोपगोपीभिर्वृता भगवतो याचिता सम्भक्ता वा। सा च भक्तानां सर्वात्मभावदानेन मानादिदोषनिवारकत्वेन च प्रभोः प्रीतिवर्द्धिनी, तेन 'हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात्'। 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदि' इत्यत्रोक्तं वैराग्यं निरूपितम्। एवं षड्भिर्विशेषणैर्धर्मान्निरूप्य धर्मिस्वरूपं निरूपयन्ति कृपाजलधिसंश्रितेति। यद्यपि भगवतः सर्वे धर्मा नित्याः, तथापि कार्ये प्रकटा भवन्ति। करुणा तु नित्यमेव प्रकटा। तेन तज्जलधिरूपो भगवान्। अस्मिन् सम्यङ्मुख्यस्वामिनीवत् श्रिता मिलिता तेन, षड्गुणैश्वर्य्ययुक्तभगवति

विशुद्धमथुरातटे सकलगोपगोपीवृते
कृपाजलधिसंश्रिते मम मनस्सुखं भावय ॥ ४ ॥
यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियम्भावुका

एव प्रभुप्राकट्यात्तथा । विशुद्धा मथुरा तटे यस्याः । सा निकटे वा यस्य । निरवधिकृपायुक्तो हरिस्तस्मिन् । अन्या नदी लौकिकं जलधिं सङ्गता भवति । इयं तु तादृशं श्रीव्रजेशं संश्रिता । एतेन त्वत्सङ्गतो भगवत्सङ्गतो भवतीतिभावः सूचितः ॥ ४ ॥

अथ भगवदीयानामप्युत्कर्षाधायिका या तदुत्कर्षं को वक्तुं शक्त इति भावेनाऽऽहुर्ययेति । चरणपद्मजा गङ्गा । तेन भक्तिमार्गीया ।

गो० श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

मिलिता यास्ते सर्वेपि गुणा द्योतिताः । एतेन धर्मिरूपत्वमस्या निरूपितम् । प्रभुपक्षे चत्वारि तु स्फुटानि एव । विशुद्धा मथुरा तटे निकटे यस्य, तत्र निरन्तरं सान्निध्यात् । सकलेति स्फुटम् । कृपेति कृपा एव जलधिः, तेन संश्रितो मिलितः, अपारकृपायुक्त इति भावः । यथा समुद्रगामिन्यां नद्यां पतितं तृणादिकं स्वत एव समुद्रे प्रपतति, तथा अपारकरुणायुते कृष्णे मिलितायां यमुनायामाश्रिता अपि एतद्वेगेनैव तत्र गमिष्यन्तीति भावः । ममेति । प्रभुपक्षे सम्बोधनान्तं श्रीयमुने इत्यध्याहृत्य योजनीयम् । एतादृग्धर्मवति हरौ मम मनः सुखं यथा स्यात्तथोपायं कुरु । श्रीयमुनापक्षे भो एतादृग्धर्मवति ! मम मनसि यत्सुखं तत्त्वं भावय स्वमनस्यानय । त्वया मनस्यानीते मम सुखानुभवो भविष्यति नत्वन्यथा । भगवताष्टविधैश्वर्यस्य त्वयि स्थापितत्वात् । अस्मिन् पद्ये भगवत्समानधर्मवत्वेपि अनायासेन भगवत्सम्बन्धसम्पादकत्वं चतुर्थमैश्वर्यं प्रदर्शितम् । अन्वयस्तु पक्षद्वयेप्युक्त एव ॥ ४ ॥

अथेत्यर्थान्तरारम्भे । चतुर्भिः पदैरुत्कर्षवर्णनद्वारा संस्तुत्य चतुर्भिरुत्कर्षवर्णनस्याशक्यत्वं निरूपयन्तः संस्तुवन्ति ययेति ।

भगवदीयानामिति बहुवचनेन लक्ष्मीगङ्गासरस्वतीतुलस्यो ज्ञेयाः । तत्र लक्ष्मीः पद्मजा, गङ्गाचरणपद्मजा, तथा तुलस्यपि, सरस्वती मुखपद्मजा । भगवदीयाः सर्वत उत्कृष्टाः, महाराजसेवकवत्, तेष्वप्युत्कर्ष एतयाऽऽधीयते, 'स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास्यतः' इति वाक्यतः सर्वासामुत्कर्षः श्रीयमुनाकृतः । अत एतदुत्कर्षवर्णनस्याशक्यत्वं

समागमनतोऽभवत्सकलसिद्धिदा सेवताम्।
तया सदृशतामियात्कमलजा सपत्नीव य-

निर्दोषपूर्णगुणाऽपि यया त्वया सह समागमनतो मिलनतो हरेस्तथाऽभवत्। सेवतां च तथा। पूर्वं गङ्गाया अन्यसङ्गतिजनितमुत्कर्षमुक्त्वा भगवत्सङ्गतिजनित उत्कर्षः पठितः। "सा राजन् दर्शनादेव ब्रह्महत्यापहारिणी"त्यादिरूपः। एतादृश्या त्वया सह सदृशतां किं काऽपीयादिति

गो० श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

युक्तमेव। तेनेति चरणपद्मजात्वेन, 'कारणगुणाः कार्यगुणानां समारम्भका' इति न्यायाद्भगवच्चरणतुल्यगुणवत्यपि। तथाभवदिति, प्रियत्वं भावयन्त्यभवत्। सेवतामिति त्वया मिलितायाः सेवनं कुर्वताम्। तथेति। पूर्वोक्तसकलसिद्धिदा अभवत्। सह कलाभिर्वर्तते सकलः पुरुषोत्तमस्तस्य सिद्धिः प्राप्तिस्तस्या दात्री मूले सेवतामित्यत्र चक्षिङोङित्करणादनुदात्तत्वप्रयुक्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वाच्छतृप्रत्ययो बोध्यः। पूर्वमिति पुराणेषु। अन्येति सरस्वतीसमागमनज उत्कर्षः। अत्र केचित्कमलजासपत्नीव यदिति प्रिये इति वा पठन्ति, तत्र मूलं मृग्यम्, एतादृश्येति। स्वसम्बन्धेन स्वसमानगुणसम्पादनकर्त्र्या। तत्रापीति पत्नीत्वेपि। त्वं तु प्रिया इति तथा सम्बोधनम्। इव यदिति पाठे, लक्ष्मीर्भवत्याः सपत्नी इव। त्वद्वत्पुष्टिमार्गीयलीलास्थभक्तानुगुणत्वसम्पादिकात्वाभावात्। त्वं तु सर्वदुःखहर्त्तुर्भगवतः प्रियाणां कलेः खण्डनकर्त्रीति महद्वैलक्षण्यम्। तेन न कापि त्वत्सदृशीति भावः सूचितः। यतस्त्वं भक्तानुगुणा अतः प्रार्थ्यते। मम मनसि सदा स्थितिं कुरु, मनसि म इति मूले। मनसि त्वयि स्थितौ मनसः शुद्धत्वं सेत्स्यति। तस्मिन्सति सकलेन्द्रियाणां निर्दुष्टत्वमेव। अतश्चैकादशे भिक्षुगीतायां 'मनः परं कारणमामनन्ती'ति। 'मनोवशेन्ये ह्यभवं स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं समेति। भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः'। श्रुतिरपि तृतीयाष्टकब्राह्मणेऽन्तिमे प्रश्ने नवमानुवाके 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव। नान्यस्य मनो वशमन्वियाय, भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् स नो जुषाण उपयज्ञमागात्' आकूतीनामधिपतिं चेतसां च सङ्कल्पजूतिं देवं विपश्चितम्, मनो राजानमिह वर्द्धयन्तः। उपहवेस्य सुमतौ स्याम। स्मृतिश्च, 'मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति' 'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलमि'ति एतादृशि मनसि निर्दोषपूर्ण-

१ भवतीसङ्गति० पाठः।

हरिप्रियकलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम् ॥ ५ ॥
नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं
न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः ।

काकूक्तिः । यदीयात् कमलजेयात् । तत्र हेतुमाहुर्यद्यस्मात्सा भगवत्पत्नीत्वात्सपत्नी भवति । तत्रापि भवती प्रियेति—इवेति । भक्तानुगुणत्वमाहुर्हरिप्रियाणां कलिं (दोषं) द्यति खण्डयति ॥ ५ ॥

एतादृश्यां त्वयि नमनातिरिक्तं न वक्तुं शक्यमित्याशयेनाऽऽहुर्नै-

गो० श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

गुणवत्यास्तवानवरतस्थितौ मनसो भावाधिष्ठानत्वाद्भावस्यापि तथात्वं भविष्यति । तस्मिंस्तथा सति चैकादशस्कन्धीयद्वादशाध्यायोक्तरीत्या गोपिकावल्लीलाप्रवेशः सुकरः । मूलान्वयस्तु, हे प्रिये ! यया समागमनतश्चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियंभावुका अभवत्, सेवतां सकलसिद्धिदा च अभवत्, तया सदृशतामियात् कमलजा यत्सपत्नी, अस्तीति शेषः । एतादृश्या हरिप्रियकलिन्दया मे मनसि सदा स्थीयताम् । अस्मिन्पद्ये भगवत्प्रियकलिनिवारकत्वं पञ्चमं ऐश्वर्यमुक्तम् ॥ ५ ॥

एवमुत्कर्षवर्णनस्य सर्वेश्वरप्रियाज्ञाननिरूपणद्वारा अशक्यत्वं निरूप्य भगवदीयोत्कर्षसम्पादनकर्त्र्याः स्तुतेरशक्यत्वं निरूपयन्तोऽग्रिममवतारयंति एतादृश्यामिति।

भगवत्प्रियकलिनिवारणकर्त्र्यां नमनातिरिक्तं सेवनादिकं कर्तुं सुतरामशक्यम् । परं नमनमपि दुर्लभमतः प्रार्थनमित्यत आहुः त्वयीति । मूले अत्यद्भुतमिति । अत्रैवं ज्ञेयम्, भगवांस्त्वद्भुतकर्मा, प्रमेयबलेन असाधनं यत्कामादिकं तत्साधनमिव कृत्वा स्वीयानुद्धरति । तदुक्तं सप्तमस्कन्धे, 'गोप्यः कामादि'त्यादिना। त्वं तु अत्यद्भुतचरित्रवती। अद्भुतत्वमेवाग्रे उपपादितम्। यत्सर्वान्जीवान् भावरहितान् साधनैः कामादिरहितान् जिह्वोपस्थपरायणान् अनंतिमजन्मसंभूतान् त्वद्रूपज्ञानेन सुतरां शून्यानपि पिपासाहेतुकपयःपानेनैव भगवत्प्रियान्करोषि । न भावमप्यपेक्षसे । एतदेवाहुः न जात्विति । जातु कदाचिदपि यमयातना न भवति । यद्यपि भगवन्नामतो यमयातनाऽभावो भवति, तथापि गुरुषु मन्तुषु सत्सु भवत्यपि । प्रकृते तु मन्तुषु सत्स्वपि नेति महद्वैलक्षण्यम् । अत्र लौकिकीमुपपत्तिमाहुः यमोऽपीति । अत्रैवं ज्ञेयम्, यम-

१ तत्रापि प्रियेति वेतीति पाठः ।

यमोऽपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति दुष्टानपि
प्रियो भवति सेवनात्तव हरेर्यथा गोपिकाः ॥ ६ ॥
ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता

मोऽस्त्विति । त्वयि नमनमपि दुर्लभमतः प्रार्थ्यते अस्त्विति । अद्भुतत्व-मेवाऽग्रे उपपादितम् ॥ ६ ॥

अतः परं श्रीगोकुलनाथचरणानां विवृतिः ।

आवश्यकदैहिकधर्मेऽपि त्वत्सम्बन्धे मुक्त्यधिकभक्तिप्राप्तिर्यत्र, तत्र

गो० श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

क्रौर्यभिया जनानवता दिवाकरेण तत्तापनाशनायेयं प्रकटीकृताऽतस्तथा । जीवाश्च ये तत्पयःपानं कुर्वन्ति, तेषामेतत्सुतत्वं भवति । तथा च, यमोपि स्वानुजाया मानिनीयायाः सुतान्कथं हन्ति ? तद्धिंसां तर्कितुमपि नेष्टेऽत उक्तम् उ इति । यद्यपि ते दुष्टास्तथापि स तु स्नेहवशात् स्वस्यापवादभयादतिशुद्धत्वाच्च तेषां नैवापकारं करोति। प्रत्युतोपकारमेव करोतीति भावः । एवं चरित्रस्य केवलपिपासाहेतुकपयःपानेन यमयातनाऽभावसम्पादनद्वाराऽत्यद्भुतत्वमुक्त्वाऽत्युत्कृष्टफलस्य श्रीगोपीजनवल्लभप्रियत्वस्य प्रापकत्वेन तस्य तथात्वमाहुः प्रिय इति मूले । श्रीकृष्णहार्दविदस्तव सेवनाच्चेतसस्त्वयि प्रवणात्तत्समर्तॄणां सकलदुःखहर्तुः प्रीतिविषयो भवति । एतदेव दृष्टान्तेन विशदयन्ति यथेति । फलप्रकरणीयद्वितीयाध्याये 'यथान्तर्हिते प्रभौ सर्वलीलानुकरणं कृतवन्त्यो व्रजवरवध्वोप्येतत्पुलिनमागत्य भगवद्भावनया गानं कुर्वन्त्यः श्रुतय इव मनोरथान्तं लेभिरे' यथा च, व्रतचर्यायामेतत्सेवनं कुर्वन्त्यो 'मयेमा रंस्यथे'त्यादिरूपं फलं प्रापुस्तथाऽयमपि भवति । चतुर्विधा अपि गोप्यो यथा 'प्रीतिसुखभाजो जातास्तथाऽयमपीति ज्ञापनाय बहुवचनम् । दृश्यते हि लोकेपि देहिनां ज्ञानकर्मभक्तिभ्यो भगवति प्रीतिः,त्वत्सेवनात्तु निर्दोषपूर्णगुणविग्रहस्य सच्चिदानन्दस्य सदोषेषु जीवेषु प्रीतिरतस्तव चरित्रस्यात्यद्भुतत्वे किमु वाच्यम् । एवं चास्मिन्पद्ये भगवदीयोत्कर्षाधायकत्वं षष्ठमैश्वर्यं निरूपितम् । पदयोजना तु हे यमुने ! तुभ्यं नमोस्तु, यत्तव चरित्रमत्यद्भुतम्, किं तत्, ते पयःपानतो जातु यमयातना न भवति, यमोपि दुष्टानपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति ! तव सेवनाद्गोपिका यथा तथा हरेः प्रियो भवति ॥ ६ ॥

एवं भगवदीयानां सेवतां गोपिकावद् भगवत्प्रियत्वरूपस्योत्कर्षस्य सम्पा-

न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये।

का शङ्का यमयातनाभाव इत्याहुर्ममाऽस्त्विवति। तव सन्निधौ तनोर्नवत्वं लीलोपयोगिनूतनदेहसम्पत्तिरस्तु। एतेन पूर्वदेहनिवृत्तिः सूचिता। इदमपि त्वत्कृतमेव भवति न त्वन्यथेति ज्ञापनाय प्रार्थनमस्त्विवति। एतावता

गो० श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

दनकर्त्र्याः स्तुतेरप्यत्यद्भुततमत्वेनाशक्यत्वं निरूप्याऽऽवरणानाच्छन्नभगवत्सेवोपयोगिदेहसम्पादनकर्त्र्याः स्तुतेरशक्यत्वं निरूपयन्तोऽग्रिममवतारयन्ति आवश्यक इति। अतःपरं प्रभुचरणाज्ञप्तानां श्रीगोकुलनाथानां लेखः। अवश्यं भव आवश्यकः, स चासौ देहे भवश्च, स चासौ धर्मश्च तथा 'देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुरि'तिदशमस्कन्धीयप्रथमाध्यायोक्तरीतिकस्तस्मिन्नपि सुरतश्रमजलजया त्वया सम्बन्धे सति 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगमि'त्युक्तरीतिकभक्तिलाभो यत्र, तत्रत्यानां तथाभवने कः सन्देह इति कैमुतिकन्यायेन तया यथा कथञ्चिद्देशिकेपि सम्बन्धेपि श्रीकृष्णे रतिः सुलभेति सूचितम्। अत एव नित्यलीलास्थानावृतवस्तुदर्शनाद्यर्थं प्रार्थ्यते तवेति। पूर्वोक्तधर्मवत्यास्तव सन्निधौ सेवासमये पश्यन्ति, 'ते मे रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ती'तितृतीयस्कन्धोक्तप्रकारकनित्यलीलास्थानां समीपे योगः संयोगसम्बन्धो विद्यते यस्य यस्मिन्वैतादृशो नूतनतनोर्लाभोऽस्तु। ननु तनोर्नवत्वे प्रार्थिते एतद्देहावसाने यथाऽन्यसेवया फलं भवति तथैवात्रेति श्रीयमुनायाः सेवायां को वा विशेष इत्याशङ्क्य प्रकारभेदं वक्तुं तत्समाधानमाहुः एतेनेति। तनोर्नवत्वप्रार्थनेन पूर्वशरीरस्य लीलानुपयोगिदेहस्य निवृत्तिर्नितरां वर्त्तनम्। सत्ता सूचिता न तु नाशः। अन्यथा नवतनुवत्त्वं प्रार्थितं स्यात्। वक्ष्यमाणं एतावता शरीरपरिवर्तनमात्रेणे'ति व्याख्यानं चानुपपन्नं स्यात्। तेन यथा घटस्यामदशायां जलादिधारणसामर्थ्यं न। पुनः पाकदशायां सर्वधारणसामर्थ्यं मृत्त्वनिवृत्तिश्च। तथैवात्र लीलास्थजीवानां पुष्टिमार्गे स्थितानां श्रीयमुनासम्बन्धादर्वाक् आमघटवद्भगवल्लीलादर्शनादि सामर्थ्यं नास्ति। श्रीयमुनासम्बन्धे तु कृपया तनुनवत्वे जाते पक्वघटवल्लीलादर्शनानुभवादिविषयकं सामर्थ्यमुत्पद्यते। शरीरे लौकिकत्वनिवृत्तिश्चेति दिक्। मूलस्थास्यास्त्विवति पदस्य तात्पर्यमाहुरिदमिति। हीनमध्यमानामपि उत्तमाधिकार्य्युपयुक्तालौकिकसामर्थ्यरूपफलसम्पादनकर्त्र्यास्तव कृपैव दुर्लभा, तस्यां तु सत्यां न किमपि दुर्लभतममिति वदन्नाहुरेतावतेति। ननु कदाचित्प्रारब्धदोषवशाद्भगवदीयानामपराधे जाते तज्जनिते भगवत्कृते प्रतिबन्धे चोद्भूते

अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं सङ्गमात्

शरीरपरिवर्त्तमात्रेणैव मुररिपौ रतिर्दुर्लभतमा न भवतीत्यर्थः। किन्तु तनुनवत्वेन सुलभैव। कदाचित्प्रतिबन्धके विद्यमानेऽपि यथा जलदोषरूपमुरस्य निवारकस्तथा त्वत्सम्बन्धात्सर्वदोषनिवारकत्वं मुररिपुपदेनोक्तम्। अतः कारणाद्यावदाधुनिकशरीरनिवृत्तिस्तावत्तव लालना स्तुतिरूपा अस्तु।

गो० श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

तस्याप्रतीकार्यत्वात्कथं रतिर्दुर्लभतमा नेत्याशङ्क्य मुररिपुपदस्याशयं ब्रुवन्तस्तत्समाधानमाहुः कदाचिदिति। कस्मिन्नपि काले भगवदीयानामपराधे जाते तेन च भक्त्युत्पत्तिविषयके भगवत्कृते प्रतिबन्धे जातेऽपि राजकन्यावत् सर्वदोषान्कायवाङ्मनोजानाधिदैविकादीन्कालजन्यदेहावस्थान्तरकृतान्भूतभविष्यद्वर्त्तमानान्निवार्य्य स्वकीयान्करिष्यतीति त्वत्कृपायां सत्यां न किमपि दुर्लभमिति सुष्ठूदितम्। ननु श्रीयमुनाकृपया भगवत्कृतप्रतिबन्धापगमे किं गमकमित्याशङ्क्य मुकुन्दप्रिय इति सम्बोधनेन मूले मुररिपाविति समादधते। मुकुन्दप्रिय इति मुकुं मोक्षं ददातीति तथा। तत्प्रियात्वेन तत्समानशीलव्यसनवतीयमिति मोक्षदाने समर्था, अत एतत्कृपया तदपगमने किञ्चित्रम्। अन्यथा मुकुन्दप्रियात्वं गच्छेत्। मोक्षस्वरूपं तु, पद्मपुराणे, 'विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण' इति। श्रीभागवतेपि, 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः'। यद्वा, 'यतोपराधस्तत एव मुक्तिरि'ति नियमाद्भक्तद्रोहे जाते तत्सेवनादेव तन्निवृत्तिः। अन्यथाम्बरीषोपाख्याने 'क्षमापय महाभाग ततः शांतिर्भविष्यती'त्युक्तमनुपपन्नं स्यात्। तथा च, सर्वभक्तशिरोमणेः श्रीयमुनायाः सेवनादेतत्प्रसन्नतया 'यथा तरोर्मूलनिषेचनेने'तिवत्सर्वभक्तप्रसन्नतायां भगवत्कृतप्रतिबन्धापगम इति नानुपपत्तिः काचित्। एवं च विवेकधैर्याश्रयसेवाफलग्रन्थयोर्वक्ष्यमाणो 'भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते। अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिरि'ति, 'पुष्टौ नैव विलम्बयेदि'ति च भगवत्कृतप्रतिबन्धापगमने यः प्रकारः स एवात्र मुकुन्दप्रियापदेन सूचित इति दिग्। उत्तरार्द्धमवतारयन्ति अत इति। यतः शरीरनिवृत्तिकृन्मुकुन्दप्रियत्वसम्पादनकृच्छ्रीयमुनाकृपया सर्वसौलभ्यमतो हेतोर्यावता कालेन इदानीं स्थितस्य अलौकिकसामर्थ्यशून्यस्य देहस्य निवृत्तिः परिवर्त्तनं तावत्कालं तव पूर्वोक्तधर्मवत्या लालना प्रेमविवशतया

तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितैः ॥ ७ ॥

साऽपि त्वत्कृपयैव नाऽन्यथेति प्रार्थ्यतेऽस्त्विति। गङ्गाया अपि फलसाधकत्वं त्वत्सम्बन्धादेवेत्यत आहुः, सुरधुनी तव सङ्गमात् परं अत्यर्थं भुवि कीर्तिता स्तुतेत्यर्थः, न तु कदापि त्वद्रहिताऽपीत्यर्थः । ननु कचित्पुराणादौ केवलाया अपि स्तुतिर्दृश्यत इति स्तुतौ विशेषमाहुः पुष्टिस्थितैरिति। मर्यादामार्गीयैः केवलाऽपि स्तूयते त्वत्स्वरूपाज्ञानात् । पुष्टिमार्गीयास्तु त्वत्स्वरूपं जानन्तीति त्वत्सम्बन्धादेव स्तुवन्तीत्याहुः पुष्टिस्थितैरिति ॥ ७ ॥

गो० श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

गुणगणकथनं सा स्तुतिरूपा भवतु। अस्तुपदस्य तात्पर्यमाहुः सापीति । लालनापि भगवत्कृतप्रतिबन्धेपि रक्षिकायास्तव कृपया सामर्थ्यभावेनैव सम्पत्स्यते, नान्यथा। इतरथा 'तदान्यसेवापि व्यर्थे'तिसेवाफलविवृतौ वक्ष्यमाणमनुपपन्नं स्यात्। एतत्सेवा तु भक्तसेवैवेति स्फुटमुक्तम्, तत्र सर्वभक्तमूलत्वात् । ननु गङ्गाया यद्यपि 'सन्निवेश्य मनो यस्मिञ्छुद्धं यामुनयोमलाः । त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मतामि'त्यादिरूपं यस्यां स्नानार्थं पानार्थं वा गच्छतः पुंसः पदे पदेश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमि'त्यादिरूपं च फलदात्रीत्वं श्रूयते, तथापि, यथाधिकारमलौकिकसामर्थ्यादिफलसाधकत्वं स्मरश्रमजलजायास्तव संमिलनादेवेत्यत आहुः गङ्गाया इति। सुरधुनीति। धुञ्कम्पने। धुनोति तीरस्थवीरुधो द्रुमानिति धुनी। क्विप्रेति क्विप्। पृषोदरादित्वान्नुक्। नान्तत्वान्ङीप्। सुराणां धुनी, देवलोकनदीति, कौ तु त्वत्सगमादेव स्तुता । लोके कथादिषु माहात्म्येषु च 'गङ्गाद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे, सर्वत्र दुर्लभा गङ्गे'त्यादिवचनेषु श्रीयमुनासम्मिलनात्पूर्वमपि श्रीहरिद्वारकनखलक्षेत्रादिषु च मुक्तिदात्रीत्वं श्रूयते, तदाक्षिपन्नाहुः नन्विति। विशेषमिति, अधिकारिभेदेन किञ्चित्प्रकारे नानात्वम् पुष्टीति व्याकुर्वन्ति। मर्यादेति। वेदोपनिषत्पुराणादिश्रवणेन यथार्थभगवन्माहात्म्यज्ञानम्, तस्मिन्सति तत्रोक्तसाधनानुष्ठानं तेन च स्वरूपज्ञानम्, तस्मिन्सति मुक्तिरिति मर्यादामार्गः। निजजनानुदिधीर्षुर्भगवान्दयया निस्साधनान् अनुगृह्य लीलासृष्टौ प्रवेशयतीति पुष्टिमार्गः। एवं च मर्यादामार्गीयाणां शास्त्रश्रवणैकहेतुकज्ञानवत्त्वम्। तत्र च सृष्टिस्थित्यर्थं तदिच्छयैव तत्स्वरूपं गूढरीत्योक्तम् । तथा च श्रुतिः । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चने'ति । अत्र वागगोचरस्तुतिकस्य मनोध्यानाविषयस्य ब्रह्मण आनन्दविदुषोऽकुतोभयवत्त्वमुच्यते,

स्तुतिं तव करोति कः कमलजासपत्निप्रिये

यत्र त्वत्सम्बन्धात्सर्वबन्ध्यगङ्गास्तुतिस्तत्र त्वत्स्तुतौ को वा समर्थ इत्याहुः स्तुतिं तवेति । अशक्यस्तुतित्वे हेतुमाहुः कमलजासपत्नीति । सर्वत्र स्तुत्यत्वं भगवत्सम्बन्धात् । स सर्वत्र लक्ष्म्यपेक्षया न्यून एव । त्वं तु तस्या अपि सपत्नी तत्समानसौभाग्यवती । ननु लक्ष्मीस्तुतिस्तु लोके

गो० श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

तेन तदानन्दविद्वत्त्वं तदिच्छयैवेति भासतेऽन्यथा वाङ्मनोऽगोचरत्वमनुपपन्नं स्यात् । एवं च पुष्टिस्थानां त्विच्छयैव सर्वलीलाविशिष्टस्वरूपज्ञानं भगवान्हृदि निधत्त इति ते श्रीयमुनायाः सर्वाङ्गीणश्रमकमलजायाः स्वरूपं जानन्ति । इतरेषां तु 'द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिष्वि'त्यादिप्रभुदत्ताज्ञाकरुद्रादिकलाभिर्ब्रह्मणादिभिर्भ्रान्तत्वान्न तेषां भगवत्स्वरूपज्ञानम्, कुतः श्रीयमुनापर्यन्तमिति ते स्तुतिं केवलगङ्गाया इति मन्यन्तेऽदीर्घदत्तत्वात् । पुष्टिस्थास्तु पुराणादौ या स्तुतिः केवला या दृश्यते सापि त्वत्सम्बन्धादेवेति यथायथं त्वत्स्वरूपज्ञानात् स्तुवन्ति । एतेषामेतन्माहात्म्यावगतेरित्येतदभिप्रेत्य मर्यादेत्यारभ्य पुष्टिस्थितैरित्यन्तमुक्तमिति । मूलान्वयस्तु, भो मुकुन्दप्रिये ? तव सन्निधौ मम तनुनवत्वमस्तु, एतावता मुररिपौ रतिर्दुर्लभतमा नास्तीति शेषः, यत एवं, अतस्तव लालनाऽस्तु, सुरधुनी पुष्टिस्थितैः त्वत्सङ्गमात्परं कीर्तिता, न तु कदापि त्वद्राहितापीति शेषः । एवं चास्मिन्पद्ये भगवति रतेरदुर्लभत्वकथनेन भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वसप्तममैश्वर्यं प्रोदितम् ॥ ७॥

एवं भगवत्प्रियत्वसम्पादिकायाः स्तुतेरशक्यत्वं निरूप्य पूर्वश्लोके प्रार्थितस्य तनुनवत्वस्य प्रकारं तत्सम्पादिकात्वमशक्यस्तुतिकत्वे हेतुं च वदन्तः कैमुतिकन्यायेनाऽग्रिममवतारयन्ति यत्रेति ।

लीलासृष्टौ सर्वबन्ध्यत्रिविधजीवस्तुत्यगङ्गायाः स्तुतिः उत्कर्षवर्णनं त्वत्सम्बन्धात्तत्र त्वदुत्कर्षकथने को वा समर्थः ? हेतुं स्फुटयन्तोऽवतारयन्ति अशक्येति । सर्वत्रेति, लोके वेदे च स्तवनीयत्वं पुरुषोत्तमसंयोगादेव । 'तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः, वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशक इति, 'यद्यद्विभूतिमदि'तिवाक्येन च निश्चितम् । स पुरुषोत्तमसम्बन्धः सर्वत्र आब्रह्मस्थावरादिषु लक्ष्म्यपेक्षया अल्पः, तस्यास्तद्वक्षसि स्थितत्वात् । न हीतरस्तत्र क्षणमपि स्थाप्यतेऽत एवं सर्वेषां लक्ष्मीतो न्यूनतां स्फुटीकृत्य श्रीयमुनायास्तत आधिक्यं स्फुटयन्ति त्वन्त्विति । लक्ष्म्या एकपतिकेति तत्सदृक्सौभाग्ययुता । व्रजे चतस्रः स्वामिन्यस्ता व्रजलीलायामेव सर्वसुखानुभवं कुर्वन्ति । अन्यत्र लीलायां तु तासां

हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षतः ।

दृश्यते । तर्हि तत्साम्यं चेत्कथं स्तुतिरशक्येत्याहुः प्रिये इति । साम्यमात्रे कर्तुं शक्यत एव, अत्र तु ततोऽप्यधिकं प्रियत्वमस्तीति स्तुतिकरणमशक्यम् ।

गो० श्रीद्वारिकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

विप्रयोगानुभव एव । लक्ष्मीस्तु व्रजरत्नानां क्रीडावकाशे सुखानुभवं करोति । तदुक्तं श्रीमदाचार्यवर्यैः सुबोधिन्याम्, 'तासामाविरभूदि'त्यस्य व्याख्यावसरे । तथा हि, 'अथवा, व्यापिवैकुण्ठरूपेण एतावत्कालं लक्ष्म्या सह रमणं कृत्वा तेनैव रूपेण प्रादुर्भूतः । स्रग्वी वनमालायुक्तश्च, मध्ये ब्रह्मादिपूजां च गृहीतवान्, लक्ष्म्या वा, अतो विलम्ब' इत्यपि सूचितम् । अत एव प्रथमश्लोके पूर्वाध्याये 'श्रयत इन्दिरे'त्युक्तमिति 'जयति तेऽधिकमि'त्यस्य व्याख्यायां च 'कदा ममावसरो भविष्यतीति निरन्तरं सेवते' इति । प्रकृतमनुसरामः । श्रीयमुना तु व्रजे तुर्यप्रियारूपेण रमते । द्वारिकायां च तथारूपेण । तत्रास्यास्तथात्वे गमकं कुरुक्षेत्रोपाख्याने द्रौपद्या पृष्टाभिर्वैदर्भीप्रभृतिभिर्यथाक्रमेणोत्तरं दत्तम्, तदेव । तथा हि, 'रुक्मिणी सत्यभामा च जाम्बुवत्पुत्रिका शुभा । कालिन्दी मित्रविन्दा च सत्या भद्रा च लक्ष्मणा । महिष्यश्च समाचख्युः स्वां स्वां वैवाहिकीं कथाम्' । अस्यास्तत्रापि ताभ्य आधिक्यं स्कान्दे श्रीभागवतमाहात्म्ये स्फुटतरमिति ततोवगन्तव्यम् । एवं श्रीयमुनेतरस्वामिनीनामेकैकस्मिन्नवसरे रमणम् । श्रीयमुनायास्तु स्वामिनीत्वेपि लक्ष्मीसमानसौभाग्यवतीत्वमित्यपि शब्दार्थः । ननु लक्ष्मीवत्तथात्वे एतस्या अपि स्तुतिस्तद्वच्छक्या भविष्यतीति पाक्षिकं दोषं परिहरन्क्षिपन्ति नन्विति ।

लोके दृश्यते शास्त्रादिद्वारा तत्साम्यं लक्ष्मीतुल्यत्वम् । तस्मिन्सति तद्वत्स्तुतिः शक्या भविष्यतीत्याशङ्क्य सम्बोध्यपदस्य तात्पर्यमाहुः प्रिय इतीति । व्याकुर्वन्ति साम्येति । साम्यमेव साम्यमात्रं तस्मिन्नेव सति स्तोतुं शक्यतैव । अत्रेति श्रीयमुनायाम् । ततो लक्ष्म्याः अधिकम् अवतारानवतारदशासु अनवरतलीलासम्बन्धरूपं प्रियत्वं विद्यते । तथा हि, लक्ष्मीर्हि सर्वपत्नीभ्यो मुख्यात एव वक्षोनिवासकृतः । अन्यासां तदंशत्वेन तदधीनता, श्रीयमुनायास्तु तद्वत्सौभाग्यवत्त्वेन न तदंशत्वम्, प्रत्युत तत्सपत्नीत्वेन तद्विरुद्धस्वभावत्वमपीत्येतत्सर्वं प्रियत्वं विना न निर्वहतीति प्रियत्वमनुमीयते प्रमीयते च, प्रियत्वे सति लक्ष्मीत आधिक्यम् ।

ननु कथं ज्ञायते लक्ष्म्यपेक्षयाऽऽधिक्यमस्तीति, तत्र हेतुमाहुर्हरेर्यदनुसेवयेति। हरेरनु पश्चाद्यस्याः सेवया मोक्षं मर्यादीकृत्य सुखं भवति। मोक्षप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः । न तु ततोऽप्यधिकं भजनानन्दाख्यं सुखं भवति । तदपि भगवत्सहिततद्भजनेन न तु केवलायाः, केवलाया मोक्षविघातकत्वात् । अनुवाद्वात् मुख्यतया भगवद्भजनम् । तदनुगुणत्वेन लक्ष्म्याः। कालिन्द्युत्कर्षमाहु-

गो० श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

तथा हि, 'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना, श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मण्येषां गतिरहंपरा', । यत्र मर्यादामार्गीयभक्तेष्वप्येतादृशी प्रतिज्ञा, तत्रानुग्रहमार्गे सकलभक्तशिरोमणेः श्रीयमुनायाः प्रियत्वे किमुवाच्यमिति तत्करणमशक्यमित्युक्तम् । एवमनुमानप्रमाणाभ्यामाधिक्यं निश्चित्य प्रमेयसाधनफलैरप्याधिक्यं वक्तुं पुनराशङ्कते नन्विति । तत्र प्रमेयतः आधिक्ये 'प्रमेयं हरिरेवैक' इति निबन्धोक्तेः प्रमेयं भगवान्, साधनं च सेवा, 'तत्सिद्ध्यैतनुवित्तजेति वक्ष्यमाणात् । एवं च प्रमेयस्य सेवानन्तरं लक्ष्म्याः सेवया साधनभूतया तत्तोषे मोक्षं पुरुषोत्तमानुचरत्वम् । आमर्यादीकृत्य ततोऽर्वाक् 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत, दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इत्यादिरूपम्, भगवदीयानामनिच्छाविषयं सुखं यच्छति सा । मोक्षेति सगुणमोक्षलाभ इतिभावः । भजनानन्दस्या'दिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया' इति तत्त्वदीपे पुरुषोत्तमसेवैकलभ्यत्ववदनादित्यत उक्तं न तु तत इति । हरेरित्यनेनान्यप्रमेयसापेक्षतया सेवयेत्यनेन साधनापेक्षया आमोक्षत इत्यनेन फलस्य तुच्छत्वेन ततः श्रीयमुनाया प्रमेयसाधनफलैरुत्कर्षः सूच्यते । तत्सपत्नीत्वेन तद्विरुद्धस्वभाववतीतया । हरेरिति संयोगसम्बन्धे षष्ठी, तत्तात्पर्यमाहुः तदपीति सगुणमोक्षमपि । तथा च, लक्ष्म्याः रूपद्वयम् । एकं भगवता सह स्थितम्, सालोक्यादिप्रदम् । अपरं भेदेन स्थितं केवलं विभूतिरूपम् । भजनेन धनादिसम्पत्प्रदम् । तस्या 'अधनोयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् । इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरिनाददात्' १०-८१-२० इत्यादिवाक्यैः भगवत्स्मरणविस्मारकत्वेनासुरावेशहेतुत्वात्संसारासक्तिसम्पादनद्वारा तथात्वम्, इति केवलं तद्भजनं निषेध्य तत्साकं तद्भजनमाहुरन्विति । एवं प्रमाणप्रमेयसाधनफलस्वभावैर्लक्ष्म्याः श्रीयमुनातो न्यूनत्वमुक्त्वा श्रीयमुनायास्तत्तुनवत्वसम्पादने प्रकारं वदन्तः श्रीयमुनायाः प्रमाणादिभ्य उत्कर्षं कथयन्त उत्तरार्द्धमवतारयन्ति कालिन्द्यु-

इयं तव कथाऽधिका सकलगोपिकासङ्गम-

रिये तव कथेति । इयमग्रत उच्यमाना तव कथाऽपि सर्वमुक्त्यपेक्षयाऽधिका । अत एवैतत्कथारसिकानां न मोक्षेच्छागन्धोऽपि । तदेवोक्तं पञ्चमस्कन्धे—"अथ ह वा व तव महिमामृतसमुद्रविप्रुषा सकृल्लीढया विस्मारितदृष्टश्रुतसुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिन" इति । सा केत्याकाङ्क्षायामाहुः सकलगोपिकेति । सकलगोपिकासङ्गमेन स्मरसम्बन्धी यः श्रमस्तेन जनिता ये स्वेदजलार्णवः सकलगात्रजास्तैः सङ्गमो यस्याः । एतेन जलार्णवो न श्रमस्वेदरूपाः किन्तु विविधसङ्गमरसस्य सर्वावयवपूर्णस्याऽत्युच्छलनेन बहि-

---

त्कर्षमिति । कलिन्दस्येयं कालिन्दी, अस्या उदधिकं कर्षणं तनुनवत्वसम्पादनेन लीलासृष्टिप्रवेशनम् । कथामुखेनाहुः इयमग्रत इति । सर्वेति सालोक्यादितदपेक्षया अधिका उत्कृष्टा । वैकुण्ठस्थितस्य भगवत एकस्मिन्वक्षस्थलरूपगात्रस्थितायास्तस्याः कथायाः सकलाङ्गसम्बन्धिन्याः श्रीयमुनायाः कथा अधिका, अतस्तत एतत्कथारसनिमग्नानां न सालोक्यादिमुक्तीच्छालेशोपि । तदेवेति कथारसपूर्णानामन्यविस्मरणमेव । वृत्रपीडितदेवताभिर्नवमाध्याये षष्ठस्कन्धस्य कृष्णस्तुतावुक्तम् । एवं रसिकानामितरविस्मृतिं प्रामाण्य श्रीयमुनायाः कथां विशदयितुमवतारयन्ति सा केतीति । कलाभिः सहितः सकलः पुरुषोत्तमस्तस्य गोपिकाभिः सम्यग्गमनं, तदुक्तं ताभिर्युताः सकलाश्चतुर्विधा अपि गोपिका तासां यः सङ्गमः तद्धेतुको यः स्मरः कामः तज्जन्यो यः श्रमस्तेन करणभूतेन जनिता दृग्गोचरीकृता ये प्रस्वेदपयःकणाः, सकलतनूद्भवास्तैः सङ्गमो विविधभावभरेण, गमनं गमः । घञर्थेकविधानमितिकः । सम्यक्प्राप्तिर्लीलासृष्टौ यस्याः श्रीयमुनायाः । यद्वा, यस्या इति पञ्चमी । यस्याः सकाशात्सङ्गमोन्येषामेतत्सम्बन्धिनां तनुनवत्वे सम्पन्ने भवतीति श्रीयमुनाया आमघटस्य वह्निसङ्गमेन पक्वत्वमिव सकलगोपिकासङ्गमस्मरश्रमजलाणुसङ्गमेनैव तनुनवत्वं सम्पाद्यावरणानाच्छन्नभगवल्लीलासृष्टौ निजानां तदनुभवकरणसामर्थ्यसम्पादनमिति महदाधिक्यम् । ननु बिन्दवश्चेत् सङ्गमजास्तर्हि तत्सङ्गमेन कथं तनुनवत्वं सेत्स्यतीत्याशङ्क्य बिन्दुस्वरूपं वर्णयन्ति एतेनेति, श्रीयमुना-

---

१ सर्वत्र मुक्त्य० पाठः ।

स्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमः ॥ ८ ॥

रागतस्यैव बिन्दवो न तु केवलजलमात्रस्य । अत एवोक्तं सकलगात्रजै-रिति। एभिर्विशेषणैः परमकाष्ठापन्नपुष्टिपुष्टिमार्गान्तरङ्गभक्तत्वं सर्वदैतद्रस-पूर्णत्वमन्तरङ्गभक्तानुगुण्यमेतल्लीलामध्यपातित्वादिकं सूचितम् । स्वस्यै-तद्रसपूर्णत्वेन केवलैतद्भजनकर्त्तुरप्येतद्रसं ददातीति स्पष्टमेव वैल-क्षण्यम् ॥ ८ ॥

गो० श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम्।

यास्तत्समकथनेन, तनुनवत्वसम्पादनमभिप्रेत्य कथनेन, च । अत एवेति । यदि श्रमस्वेदरूपाः स्युस्तर्हि सकलगात्रजा न भवेयुः। केशनखादिषु स्वेदस्यानुप-लब्धेः। तेन रसरूपा एवेतिभावः । एभिरिति, सकलगोपिकासङ्गम इत्यनेन पुष्टिपुष्टिमार्गान्तरङ्गभक्तत्वे, स्मरश्रमजलाणुभिरनेन सर्वदैतद्रसपूर्णत्वम्, सकलगा-त्रजैरनेन भक्तानुगुणत्वम्, सङ्गम इत्यनेन लीलामध्यपातित्वम्, चादिपदेन तत्समा-नसौभाग्यवतीत्वेन तद्विरुद्धस्वभावात् । यथा रजोगुणप्रधाना सा (लक्ष्मीः) जीवान्मदेन केवलभजनकर्तॄन् भगवद्विमुखान्कृत्वा स्वर्गादिलोभेन प्रवाहमार्गे निपातयति, न तथेयमिति तत्सपत्नीत्वात् । दृश्यते हि परस्परं विरुद्धस्वभाववत्यः सपत्न्यो लोके। एतदेव विशदयन्त आहुः स्वस्यैतदिति, यद्यपि, 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इति भगवता प्रतिश्रुतम्, तथापि श्रीयमुनायां रसविवशेन भगवता स्वस्याष्टविधैश्वर्यस्य स्थापितत्वाच्छ्रीयमुनाया अनन्य-भजनकर्त्तुस्तनुनवत्वं सम्पाद्य तद्रसदानमिति भावः। दृश्यते हि लोकेपि महा-राज्ञां पूर्णाधिकारिणां विनाज्ञां, लघुकार्यस्याप्यकरणम्, अपूर्णाधिकारिणामप्याज्ञातो महत्कार्यसम्पादनम्, किं तत्राखिललोकनियन्तुर्भगवतः प्राणादपि प्रियायाः श्रीयमु-नायास्तथाकरणे चित्रमिति हृदयम्। अन्वयस्तु, हे प्रिये ! कमलजासपत्नि तव स्तुतिं कः करोति, तत्र हेतुः, यत् हरेरनुलक्ष्म्याः सेवया आमोक्षतः सुखं भवति, तव कथा इयं अधिका, यत्सकलगोपिकासङ्गमस्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमो भवति, लक्ष्म्याः यत् (न) भवतीत्येतेषामध्याहारः। एवं अस्मिन्पद्ये तनुनवत्वसम्पादक-त्वमष्टममैश्वर्यं दर्शितम् ॥ ८ ॥

---

१ पराकाष्ठा० पाठः।

तवाऽष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते सदा-
समस्तदुरितक्षयो भवति वै मुकुन्दे रतिः ।

एवं कालिन्दीं स्तुत्वैतत्स्तोत्रपाठफलमाहुस्तवाऽष्टकमिति । यद्य प्यन्यकृतान्यपि स्तोत्राणि सन्ति तथापि वक्ष्यमाणं फलमेतत्स्तोत्रपाठेनैव भवति, नाऽन्यथेति ज्ञापनायेदमित्युक्तम् । अन्यकृतस्तोत्रेष्वेवंविधस्वरूप निरूपणाभावात् । इदं तवाष्टकं यः पठति तस्य पूर्वं समस्तदुरितक्षये भवति । तदनन्तरं मोक्षदातर्यपि स्नेहो भवति । अत अवोक्तं, "नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत " इति । मुकुन्दपदाद्यद्यपि मोक्षमेव साधारण्येन सर्वेभ्यो ददाति तथापि त्वत्स्तुतिपाठात्प्रसन्नो भक्तिमेव ददाति न तु मोक्षमपीति भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमुक्तम् । ततः किमिति तत्राऽऽहुः

अतः परं श्रीगोकुलनाथचरणानां विवृतिः ।

एवमष्टविधैश्वर्यप्रतिपादकान्श्लोकानुत्कर्षवर्णनतदशक्यवर्णनद्वारा व्याख्याय स्तोत्रस्यासाधारणफलबोधकमग्रिममवतारयन्ति एवमिति । उक्तप्रकारेण कलिदोष दात्रीं अलौकिकप्रकारेण संस्तूय अष्टविधैश्वर्यप्रतिपादकस्तोत्रस्य व्यक्ततयोदितस्य श्रीमत्प्रभुतुष्टिरूपं फलं प्रतिजानन्त आहुः यद्यपीति । अन्येतिशङ्कराचार्यप्रभृतिभि-र्निर्मितानि । वक्ष्यमाणमिति अस्मिन्नेव पद्येऽनुपदं कथ्यमानम् । फलमिति स्तोत्रपाठमात्रेणैव भृशं सकलदुरितनिवृत्तिपूर्वकमुकुन्दरतिनिष्पत्तिः एतत्पाठेनैव तत्र हेतुमाहुः अन्यकृतेति । एवं विधेति स्तुतिं तवेतिश्लोकोक्तस्वरूपनिरूपणस्य तथात्वात् । फले क्रमं वदन्तो मूलान्वयमाहुः इदमिति । अत्र प्रमाणमाहुः अत एवोक्तमिति । एतेन दुरितनाशस्य भक्तिप्रजनने हेतुत्वमुक्तं भवति । मूलस्थस्य मुकुन्दपदस्याशयमाहुः मुकुन्दपदादिति । तथा चोक्तं पञ्चमस्कन्धे, 'राजन्पतिर्गुरुर-लम्भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किंकरो वः । अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगमिति ५-६-१८। भक्तिमेवेति। मूलस्थस्य निश्चयवाचकवैपदस्य तात्पर्यं बोध्यम् । तेन यद्यपि स मोक्षदस्तथापि त्वत्स्तुतेः प्रीतो भक्तिं ददातीति सुष्ठूक्तं भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमिति । उत्तरार्द्धमव-तारयन्ति तत इति, दुरितक्षयानन्तरं भगवद्रतेः किमग्रे फलं तदाहुः तयेति शेषपदा-

तया सकलसिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति

तया सकलसिद्धयः पूर्वोक्ताः सर्वात्मभावाद्यो भवन्तीति शेषः । ननु प्रतिबन्धके विद्यमाने सति कथमेतत्स्तोत्रमात्रादेतावद्भवतीति चेत्तत्राऽऽहुर्मुररिपुश्च सन्तुष्यतीति । यथा दोषरूपं तन्निरुद्धकन्यासुखप्राप्तिप्रतिबन्धकं निराकृत्य ता अङ्गीकृतवानेवमेतत्पाठेनाऽपि प्रतिबन्धं निवार्य तमप्यङ्गीकरोतीत्यपि ज्ञापनाय मुररिपुपदम् । फलान्तरमाहुः स्वभावविजयो भवेदिति । स्वभावस्य विजयः परावृत्तिर्भवति । सवासनेति व्युपसर्गार्थः । दुष्टस्वभा-

---

गो० श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

न्तम् । यद्वा, तया मुकुन्दरत्या सकलसिद्धयो गोप्यो मुररिपुश्च सन्तुष्यति । सकलस्य पुरुषोत्तमस्य रमणस्य सिद्धिर्याभ्यः । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन तद्वतो भक्तद्रोग्धारो यदेदं स्तोत्रं पठिष्यन्ति तत्र का व्यवस्थेति मनसिकृत्य क्षिपन्तो मूलस्थस्य मुररिपुपदस्य सदृष्टान्तमाशयमाहुः नन्वित्यारभ्य पदमित्यन्तम् । मूले च सन्तुष्यतीति । तथा च, लोके स्वोत्कर्षवर्णनात्स्वप्रियोत्कर्षकथनस्यात्यन्तं स्वतोषबीजत्वेन श्रीयमुनायाश्चात्यन्तं स्वहार्दविच्वेनैतत्स्तोत्रानुजल्पनेन प्रतिबन्धनिवारकः प्रभुः सम्यक् तुष्यति । यथा व्रजवरकुमारिकास्वेतत्तटे तुष्टो रासादिसुखं दत्तवाँस्तथैतज्जल्पितारमप्यनुगृह्णातीतिभावः । किञ्च, श्रीयमुनाष्टकपाठात्स्वामिनि तुष्टेऽनावरणानाच्छन्नप्रभुलीलामध्यपातिनि जीवे स्वामिन्योऽपि तुष्यन्ति, न तु भगवत्प्रियस्वरूपस्वभोग्यफलभोक्तरि जीवे ईर्ष्यन्ति, मुरलिकावत् । भगवत्प्रियकलिवारकश्रीयमुनातोषस्य सर्वभक्ततोषहेतुत्वादिति चकारार्थः । टीकायां फलान्तरमिति सकलदुरिताऽभावपूर्वकभगवद्रतिनिष्पत्तिरूपमेकं फलं पूर्वं निरूपितम्, तेन भगवत्स्वभावपरावर्त्तकत्वमेतस्योक्तम्, अतः परं जीवस्वभावपरावर्त्तकत्वमुच्यते स्वभावस्येति । स्वभावश्च जीवात्मनो भावः, प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारः । जीवस्य जीवत्वमिति यावत् । तथा चोक्तं, विद्वन्मण्डने, 'आनदांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो, येन जीवभाव' इति । तथा च, जीवस्याविद्यासम्बन्धेन भगवद्बाहिर्मुख्यत्वस्यैतत्पाठितुः कृपया हृदि प्रभावाविर्भूतेऽन्तरस्यात्तनुनवत्वे सम्पन्ने बाह्यतश्च परावृत्तिर्भवति । यद्वा, स्वभावशब्देन मन उच्यते । तस्य विजयः स्वातन्त्र्येण प्रवर्त्तनं भवति । यद्वा, स्वस्य जीवस्य भावः । श्रीगोकुलप्राणप्रियसेवनरूपसहजधर्मस्तस्य विविध उत्कर्षः । परा अत्यन्तं आवृत्तिरसकृत्सेवनम्, सम्पूर्णसेवाधिकारसिद्धिर्भवति । सेवाफलग्रन्थे वक्ष्यमाणस्य आद्यस्यालौकिकसामर्थ्यरूपफलस्य प्राप्तिरिति यावत् । स वासनेतीति अनेकमनोरथानां

स्वभावविजयो भवेद्वदति वल्लभः श्रीहरेः ॥ ९ ॥

श्रीमद्वैश्वानरावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितं
श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

वोऽप्युत्तमस्वभावो भवतीत्यर्थः । नन्विदमनेकतपःसाध्यं कथमेतत्पाठमात्रादिति चेत्तत्राऽऽहुर्वदति वल्लभ इति । तेनाऽऽप्तवाक्यत्वेन प्रामाण्यमुक्तम् । नन्वितः पूर्वं केनाऽप्यनुक्तत्वाद्भवदुक्तिमात्रेण कथं प्रामाण्यमिति चेत्तत्राऽऽहुः श्रीहरेरिति । साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमसम्बन्धी यतः, अहमतो वदामीत्यर्थः। अत्राऽयमाशयः । साक्षात्स्वरूपसम्बन्धिनां स्वरूपं साक्षात्तत्सम्बन्धिन एव जानन्ति न त्वन्ये । श्रीकालिन्द्याः साक्षात्तत्सम्बन्धित्वं पूर्वं प्रकटमेवोपपादितम् । स्वातिरिक्तानां साक्षाच्छ्रीगोकुलेशसम्बन्धाभावात्साक्षात्तत्सम्बन्धिन्याः स्वरूपाज्ञानात्तदकथनम् । स्वस्य तु साक्षात्तादृशत्वात्तत्स्वरूपज्ञानात्तत्कथनामिति नाऽनुपपत्तिः काचित् ।

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिता श्रीयमुनाष्टकविवृतिः सम्पूर्णा ।

गो० श्रीद्वारकेशचरणविरचितं टिप्पणम् ।

पूर्त्तिर्भवति । स्तोत्रपठितुः 'कृष्णोऽहं पश्यत गतिमिति' श्लोकोक्तो मोक्षः सम्पद्यते । बाहिर्मुख्यानिवृत्तिपक्षे कर्मवासनानामनुद्भवो भवति । दुष्टस्वभाव इति । बहिर्मुख्यादिदोषग्रस्तोपि दैन्यभावसिद्ध्या सन्मुखो भवति । एतद्विषये प्रामाण्यं वक्तुमाशङ्कन्ते नन्विदमिति । समादधते वदति वल्लभ इति, प्रियाः प्रियाभिप्रायं विज्ञायैव वदन्तीति भावः । तेनाप्तत्वेनेति । आप्तश्च यथादृष्टार्थवादी, तादृशास्त्वत्राचार्यचरणा एव । अन्येषामेतज्ज्ञानं नेति वक्तुं क्षिपन्ति नन्वित इति । श्रीहरेरिति । श्रीभिः स्वामिनीभिर्युक्तस्य सर्वदुःखहर्त्तुः प्रियोहम् । यतो वदामि तेन तत्तथैव । अग्रे स्पष्टम् । तथा हि, साक्षादिति श्रीयमुनाप्रभृतीनां स्मरश्रमे इत्याद्युक्तं रूपम् । साक्षात्तदिति श्रीमदाचार्या एव जानन्ति । स्वातिरिक्तानामिति, श्रीमदाचार्यपादाब्जामोदरहितानाम् । साक्षादित्यादि । (अभावादिति)। आवरणानाच्छन्नस्वामिनीसहितगोकुलपतेरसम्बन्धात् । साक्षादिति श्रीयमुनायाः, तदिति एतादृक्प्रकारस्याकथनम् । स्वस्येति श्रीमदाचार्यरूपेण स्थितस्य साक्षादिति प्रकटतया, तादृशत्वादिति वस्तुतः कृष्णरूपत्वात्, तदिति 'स्मरश्रमे'त्याद्युक्तस्वरूपस्यवर्णनमिति, न शङ्कालेश इति दिक् । मूलान्वयस्तु, हे सूरसुते ! इदं तवाष्टकं यः सदा मुदा पठति, तस्य समस्तदुरितक्षयो भवति, वै मुकुन्दे रतिर्भवति, तथा सकलसिद्धयो भवन्ति, मुररिपुश्च सन्तुष्यति, स्वभावविजयो भवेत्, श्रीहरेर्वल्लभो वदति ।

श्रीमदाचार्यकृपया भर्तुः श्रीगिरिधारिणः ।
श्रीमद्विट्ठलनाथस्य कृतिर्हि विवृता मया ॥ १ ॥

अत्र किञ्चिदयुक्तं यन्मयोक्तं स्वल्पबुद्धिना ।
क्षाम्यन्तु तन्निजाचार्याः किङ्करे निजवंशजे ॥ २ ॥

युग्मम् ॥

स्वान्तःकरणनिष्ठेन श्रीमदाचार्यरूपिणा ।
श्रीमद्विट्ठलनाथेन श्रीगोवर्द्धनधारिणा ॥ ३ ॥

प्रेरितेन कृतेयं श्रीमथुरानाथसूनुना ।
प्रीत्यै भूयाद्भगवतोः कालिन्दीकृष्णदेवयोः ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनसुखपतेः पादयुगले,
मनो धृत्वा दीनं किसलयदलाभे विरचिता ।
सदा श्रीकृष्णास्यात्मजचरणदेशे प्रपतिता
निजा भक्ता एनामनुदिनमुदारां विदधतु ॥ ५ ॥

कालिन्दीकृष्णयोः प्रीत्यै सुगमान्वयबोधिनी ।
कृता तेन प्रसीदन्तु श्रीमदाचार्यनन्दनाः ॥ ६ ॥

श्रीमद्गोवर्धनधरसेवायां प्रतिबन्धकाः ।
ये ते सर्वे प्रणश्यन्तु ममेति प्रार्थनं प्रभो ॥ ७ ॥

इति श्रीमथुरानाथात्मजश्रीद्वारकेशचरणविरचिता सुगमान्वयबोधिनी श्रीयमुनाष्टकविवृतिटीका सम्पूर्णा ।

श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचितायाः
श्री य मु ना ष्ट क वि वृ तेः
वि व र ण त्र यं
समाप्तम् ।

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतः-द्वितीयः

बालबोधः

तिसृभिष्टीकाभिः समलंकृतः

१. श्रीदेवकीनन्दनानां प्रकाशः

२. श्रीपुरुषोत्तमानां विवृतिः

३. श्रीद्वारकेशानां टीका

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–प्रवर्तित–शुद्धाद्वैत–सम्प्रदायस्य–सप्त–
पीठान्तर्गत–प्रथम-पीठाधिष्ठित-गोस्वामिश्री १००८ श्रीरणछोडा-
चार्य(अ. भा. पु वै. परिषत्प्रचाराध्यक्ष) महाराजश्रीत्येतैः
प्रकाशित :

वि. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दाः ५०२

प्रकाशक:

गोस्वामिश्री १००८ श्री रणछोडाचार्य 'प्रथमेश'

गिरधर निवास, जतिपुरा, गोवर्धन, मथुरा, २८१५०२, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्दः ५०२

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक:

स्टुडियो बहार, २३–ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,
बम्बई–४०० ००७.

गोस्वामिश्री १००८ श्री रणछोडाचार्य 'प्रथमेश'

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

ग्रन्थ-परिचय

एक किंवदन्तीके[1] अनुसार 'बालबोध' ग्रन्थका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि. सं. १५५० में पुष्कर राजमें[2] किया था. ८४ वैष्णवन की वार्ता ५७ मी के भाव प्रकाशके अनुसार अम्बालाके नारायणदास कायस्थको यह बालबोध स्वयम् श्रीमहाप्रभुने द्वारकामें पढ़ाया था.

नारायणदासके पिता सरकारी दफ्तरमें नोकरी करते थे. बीस वर्षकी आयुमें नारायणदासको जूआ खेलनेकी लत लग गयी और इसके कारण घर छोड़कर भागना पडा. भटकते हुए दक्षिणमें कहीं जाकर कुछ विद्यार्जन किया और बजारमें बच्चोंको पढ़ानेकी एक दुकान खोल ली. पढ़ाते समय विद्यार्थी बालकोंका प्रताडन और प्रबोधन दोनों कठोरतासे करते थे! श्रीमहाप्रभुके सेवक कृष्णदासके टोकनेपर भी एकबार किसी विद्यार्थी बालककी पिटाई करने पर जब वह बेहोश हो गया तभी इन्हे अपनी कठोरताका होश आया. भाग कर सीधे कृष्णदासके पास आये और उनके द्वारा श्रीमहाप्रभुके सम्मुख उपस्थित हुए. श्रीमहाप्रभुके प्रतापसे तब वह बालक और नारायणदास दोनों ही स्वस्थ होगये. दीक्षित होनेके बाद दक्षिणसे द्वारकातककी यात्रामें ये श्रीमहाप्रभुके साथ रहे. द्वारकामें इन्हें जब घर लौटने आज्ञा दी गई तब स्वधर्मनिर्वाहकी इनकी चिन्ताका निवारण श्रीमहाप्रभुने—"तोसों स्वरूपसेवा निबहेगी नाहीं. पराई चाकरी करनी. घरपें कोउ सेवक नाही. ताते हस्ताक्षर लिख देत हों सामग्री जो बने सो भोग धरिके महाप्रसाद लीजियो"—कह कर किया. गद्यमन्त्र तथा अष्टाक्षर सेवार्थ लिखकर पधरा दिये. नारायणदासकी बिनती पर कि "महाराज इतने दिन आपके पास रह्यो परन्तु मेरे अन्तःकरणमें बोध न भयो. सो ऐसी कृपा करो जो संसारको दुःख-सुख कछु मोकों बाधा

१. श्रीनागरदास बांभनिया शास्त्रीजी द्वारा लिखित लेख "श्रीषोडशग्रन्थनी रचना... महत्वनी तवारीखो". वैष्णववाणी अंक ४ वर्ष १९७९.

२. दृष्टव्य:श्रीयदुनाथजीकृत श्रीवल्लभदिग्विजय मध्यम यात्रा प्रकरण

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

ग्रन्थ-परिचय

एक किंवदन्तीके[1] अनुसार 'बालबोध' ग्रन्थका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि. सं. १५५० में पुष्कररराजमें[2] किया था. ८४ वैष्णवन की वार्ता ५७ मी के भाव प्रकाशके अनुसार अम्बालाके नारायणदास कायस्थको यह बालबोध स्वयम् श्रीमहाप्रभुने द्वारकामें पढ़ाया था.

नारायणदासके पिता सरकारी दफ्तरमें नोकरी करते थे. बीस वर्षकी आयुमें नारायणदासको जूआ खेलनेकी लत लग गयी और इसके कारण घर छोड़कर भागना पडा. भटकते हुए दक्षिणमें कहीं जाकर कुछ विद्यार्जन किया और बजारमें बच्चोंको पढ़ानेकी एक दुकान खोल ली. पढ़ाते समय विद्यार्थी बालकोंका प्रताडन और प्रबोधन दोनों कठोरतासे करते थे! श्रीमहाप्रभुके सेवक कृष्णदासके टोकनेपर भी एकबार किसी विद्यार्थी बालककी पिटाई करने पर जब वह बेहोश हो गया तभी इन्हे अपनी कठोरताका होश आया. भाग कर सीधे कृष्णदासके पास आये और उनके द्वारा श्रीमहाप्रभुके सम्मुख उपस्थित हुए. श्रीमहाप्रभुके प्रतापसे तब वह बालक और नारायणदास दोनों ही स्वस्थ होगये. दीक्षित होनेके बाद दक्षिणसे द्वारकातककी यात्रामें ये श्रीमहाप्रभुके साथ रहे. द्वारकामें इन्हें जब घर लौटने आज्ञा दी गई तब स्वधर्मनिर्वाहकी इनकी चिन्ताका निवारण श्रीमहाप्रभुने—"तोसों स्वरूपसेवा निबहेगी नाहीं. पराई चाकरी करनी. घरमें कोउ सेवक नाही. ताते हस्ताक्षर लिख देत हों सामग्री जो बने सो भोग धरिके महाप्रसाद लीजियो"—कह कर किया. गद्यमन्त्र तथा अष्टाक्षर सेवार्थ लिखकर पधरा दिये. नारायणदासकी बिनती पर कि "महाराज इतने दिन आपके पास रह्यो परन्तु मेरे अन्तःकरणमें बोध न भयो. सो ऐसी कृपा करो जो संसारको दुःख-सुख कछु मोकों बाधा

---

१. श्रीनागरदास बांभनिया शास्त्रीजी द्वारा लिखित लेख "श्रीषोडशग्रन्थनी रचना... महत्वनी तवारीखो". वैष्णववाणी अंक ४ वर्ष १९७९.

२. दृष्टव्य:श्रीयदुनाथजीकृत श्रीवल्लभदिग्विजय मध्यम यात्रा प्रकरण

न करे अरु चित्त श्रीठाकोरजीके चरणारविन्दमे लग्यो रहे". श्रीमहाप्रभुने अपना चरणामृत दिया और उन्हें यह बालबोध ग्रन्थ पढ़ाया.

बालबोधमें सर्वसिध्दान्तोंका संग्रहरूपेण निरूपण है किन्तु स्वसिध्दान्तका नहीं. अन्यान्य सिध्दान्तोंके साधन एवम् फलों का एकबार बराबर ज्ञान हो जानेपर पुष्टिजीवके अन्य मार्गोंपर भटक जानेका भय नहीं रह जाता. सभी मोक्षशास्त्र या तो सांसारिक दुःख दूर करनेके रूपमे या फिर पारलौकिक सुखकी प्राप्तिके रूपमे मोक्षका प्रतिपादन करते हैं. इस संसारमें रहते हुए भी भगवत्सेवा और/अथवा भगवत्कथा के द्वारा भजनानन्दकी प्राप्ति ही पुष्टि-जीवके लिए मोक्ष है. इसका निरूपण किन्तु चतुश्लोकीमे किया जायेगा. यहां वह विवक्षित नहीं है.

वैसे तो मनुष्यके मनमे अगणित कामना या महत्त्वाकांक्षा भरी रहती हैं. विद्वानोंने उन्हे किन्तु चार पुरूषार्थोंके रूपमे वर्गीकृत किया है: (१) धर्म (२) अर्थ (३) काम और (४) मोक्ष. स्थूल अर्थोमे इन्हे क्रमशः (१) कर्तव्य (२) सम्पदा (३)प्रेयस् और (४) श्रेयस् कह सकते हैं. जीवनमे दिखलाई देती हर तरहकी कामनाओंका इन चार पुरूषार्थोंमे अन्तर्भाव हो जाता है. इनके वास्तविक सहज एवम् शुभ स्वरूपकी जिज्ञासाका समाधान अलौकिक वेदादि शास्त्रोंमे भी मिलता हे तथा विभिन्न ऋषियोंके द्वारा प्रणीत आर्ष शास्त्रोंमे भी.

प्रस्तुत बालबोध ग्रन्थमे वैदिक धर्मार्थकाममोक्ष पुरूषार्थोंका निरूपण अभिप्रेत नही है. वह तो सर्वनिर्णयमे ही विशदतया निरूपित हो गया हैं. आर्ष अथवा लौकिक शास्त्र, जिनमे त्रिवर्ग धर्म अर्थ या काम पुरूषार्थ का निरूपण किया गया है, यहां उन शास्त्रोंका विवेचन भी अभिप्रेत नहीं है. यहां तो केवल अन्यान्य ऋषियों द्वारा प्रणीत मोक्षशास्त्र और उनमे प्रतिपाद्य मोक्षस्व-रूपके बारेमें ही श्रीमहाप्रभु अपना अभिमत प्रगट करना चाहते हैं.

मोक्षका निरूपण करनेवाले विभिन्न ऋषियोंद्वारा प्रणीत शास्त्रोंमें चार शास्त्र प्रमुख है. अन्य शास्त्रोंका या तो इन्हींमें अन्तर्भाव समझना चाहीये या फिर उन्हें सिद्धान्ततः उपेक्षणीय ही समझना चाहिये.

मोक्षप्रतिपादक ऋषिप्रोक्त चार शास्त्र :

(१) त्यागसे स्वतोमोक्षका प्रतिपादक सांख्यशास्त्र

(२) अत्यागसे स्वतोमोक्षका प्रतिपादक योगशास्त्र

(३) शिवकी भक्ति या प्रपत्ति से परतोमोक्षका प्रतिपादक शैवतन्त्र

(४) विष्णुकी भक्ति या प्रपत्ति से परतोमोक्षका प्रतिपादक वैष्णवतन्त्र

(१) बाह्यत्याग द्वारा स्वतोमोक्षका प्रतिपादन करनेवाले सांख्यशास्त्रके अनुसार अहन्ता-ममताके सर्वथा नष्ट होनेपर जीवात्माका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना ही मोक्ष माना गया है. तत्तत् कालमें विभिन्न ऋषियोंने सांख्यशास्त्रका वर्णन अनेकविध प्रक्रियाओंके आधारपर किया है. पर मोक्षप्राप्तिके उपाय और स्वरूप के बारेमें प्रायः एकवाक्यता है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार सांख्यशास्त्रीय प्रणालीका जो रूप मान्य वेदादि शास्त्रोंमें वर्णित हुआ है तदनुसार साधनाचरण करनेपर ही उल्लिखित प्रकारका मोक्षलाभ सांख्यसे मिल सकता है. अन्यथा नही.

(२) चित्तवृत्ति—निरोधकी यौगिक प्रणालीसे स्वतोमोक्षका प्रतिपादन करनेवाले योगशास्त्रके अनुसार विषयोंके वाह्यत्यागकी उतनी अपेक्षा नहीं है जितनी कि यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधिके बाह्य तथा आन्तरिक समुचित उपायोंसे अनात्मरूप विषयोंमें भटकती चित्त-वृत्तिके निरोधकी आवश्यकता है. चित्तवृत्तिके निरुद्ध होनेपर ही आत्मा अपने स्वरूपमें अवस्थित या मुक्त हो सकती है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार इन योगशास्त्रीय उपायोंका निरूपण मान्य वेदादि शास्त्रोंमें भी उपलब्ध होता है अतः तदनुसार अनुष्ठान करनेपर ही मोक्ष-प्राप्तिकी सम्भावना है. वैदिक प्रणालीसे विपरीतता बरतनेपर आत्माकी स्वरूपमें अवस्थिति सम्भव नहीं.

(३) परतोमोक्षवादी पाशुपतादि शैवतन्त्रोंके अनुसार साधना करनेपर शिवके द्वारा भी मुक्ति मिल सकती है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार क्योंकि सर्वात्मक निर्दोषपूर्णगुण ब्रह्म ही अथर्व-शिखा आदि उपनिषदोंके अनुसार जगत्संहारक शिवका रूप धारण करता है. अतः शिवके मुक्तिदाता होनेमें किसी सन्देहका अवसर नही है. फिरभी शिवके रूपमें भगवान् स्वयम् मुक्तताके आनन्दके उपभोगकी लीला करते हैं.

अतः शिवसे उनकी स्वोपभोग्य मुक्तिके बजाय भोगकी प्राप्ति सुलभ मानी जाती है किसी अतिप्रिय जीवको ही शिव मुक्तिदान करते हैं. यह असाधारण प्रेमभाजन वे ही बन सकते हैं जो पूर्णतया शिवके प्रति समर्पित होते हैं. अतः शिवकी भक्ति या शरणागतिके साथ जो वर्णाश्रमोचित स्वधर्मकी उपेक्षा नहीं करते उन्हें शिवसे मोक्ष मिलता है.

(४) परतोमोक्षवादी पांचरात्र वैष्णवतन्त्रके अनुसार साधना करनेपर विष्णुद्वारा मुक्ति मिल सकती है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार क्योंकि सर्वात्मक निर्दोषपूर्णगुण ब्रह्म ही महानारायण आदि उपनिषदोंके अनुसार जगत्पालक विष्णुका रूप धारण करता है. विष्णुके रूपमें भगवान् स्वयम् अलौकिक दिव्य भागोंके उपभोगकी लीला करते हैं. अतः विष्णुसे उनके स्वोपभोग्य भोगके बजाय मोक्षकी प्राप्ति सुलभ मानी जाती है. विष्णु अपने किसी अतिप्रिय भक्तको ही भोगका दान करते हैं. यह असाधारण प्रेमभाजन बन पाना पूर्णतया विष्णुके प्रति समर्पित होनेपर ही सम्भव है. अतः विष्णुकी भक्ति या शरणागति के साथ जो वर्णाश्रमोचित स्वधर्मकी उपेक्षा नहीं करते उन्हें विष्णुसे मुक्ति मिल सकती है.

स्वतोमोक्षके प्रकारमें सांसारिक दुःख तो दूर होते है किन्तु पारलौकिक सुखकी सम्भावना नही है जबकि परतोमोक्षके प्रकारमें वह सम्भव है.

इस तरह ब्रह्मा–विष्णु–शिवकी त्रिपुटीमें शिव और विष्णु भोग–मोक्ष दोनोके दानमें समर्थ होनेपर भी अधिकांशमें शिव भोगके दाता बनते हैं और विष्णु मोक्षके दाता. ब्रह्मा केवल भोगके दाता हैं मोक्षके नहीं. अतः मोक्षदाता देवताके रूपमें ब्रह्माका भजन व्यर्थ है परन्तु मोक्षशास्त्रके उपदेशक गुरूके रूपमें ब्रह्माको भी मोक्षदाता माना जाता है.

यह सारे मोक्षशास्त्रोंके सिद्धान्तोंका संग्रहरूपेण निरूपण है. इसे जाननेसे पुष्टिजीवको पूर्णतया पुष्टिमार्गीय बननेमें अथवा बने रहनेमें सहायता मिलती है स्वसिद्धान्तका निरूपण तो आगे चलकर सिद्धान्तमुक्तावलीमें किया जायेगा. नारायणदास अंबालावालेको श्रीमहाप्रभुने यही सर्वसिद्धान्तसंग्रह पढ़ाया था ताकि उनका चित्त पुष्टिके प्रशस्त पथको छोड़कर कहीं यहां–वहां न भटक जाये. वार्तामें उल्लेख मिलता है कि अपने घर लोटनेके बाद

काम–काजमें व्यापृत हो जानेपर भी इनका चित्त सदा गोकुल और श्री-महाप्रभु की ओर दोडता रहता था–"भैयाजी श्रीगोकुल श्रीआचार्यजीके दरस-नको कब चलोगे ?" तब नारायनदास कहते–'हाँ, अब चलूंगो ? नेत्रनमें जल भरि लीलारसमें मगन होय जाते. फेरि वह चाकर कहतो (कब श्रीगोकुल चलोगे) फेरि मगन होय जाते."

श्रीमहाप्रभुने इस बालप्रबोधनद्वारा नारायनदासको कितना स्वकीय–कितना पुष्टिमार्गीय बना लिया होगा ! अतएव श्रीमहाप्रभुने 'बीज' रूपसे पुष्टिके रहस्योंको यहां अवतारी कृष्णके सन्दर्भमें न देकर उनके गुणावतार शिव और विष्णु के सन्दर्भमें 'उपक्षिप्त' किया है–"समर्पणेनात्मनो ही तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्. अतदीयतया चापि केवलश्चेत्समाश्रितः तदाश्रयतदीयत्वबुद्धयै किञ्चित्समाचरेत्. स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै भारद्वैगुण्यमन्यथा. इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः" (बालबोध १८–१९)

नारायणदासको स्वरूपसेवाकी आज्ञा न मिली–अतएव स्वरूपसेवाके अनुकल्प श्रीहस्ताक्षरकी सेवाका उल्लेख हमें मिलता है–और न स्वसिद्धान्तका उपदेश ही–अतएव बालबोध द्वारा सर्वसिद्धान्तसंग्रह उपदिष्ट हुआ–फिरभी स्वकीयता–सार–सर्वस्व चिर–उत्कण्ठा और तापभाव का उन्हें वरदान मिला –"भैयाजी! श्रीगोकुल श्रीआचार्यजीके दरसन को कब चलोगे? हां, अब चलूंगो ! नेत्रनमें जलभरि लीलारसमें मगन होय जाते....." बालबोध वस्तुतः श्रीमहाप्रभु, उनके सिद्धान्त और मार्ग की ओर प्रयाण करने की तीव्र उत्कण्ठा जगाता है–'समर्पणेनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम् . . . इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः"

प्रस्तुत संस्करण वि. सं १९८३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामि–कुलभूषण–विद्यानिधि–श्रीव्रजरत्न-लालजी महाराजने श्रीचीमनलाल ह. शास्त्रीद्वारा सम्पादित करवा कर अपनी श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत–महासभा (सूरत) द्वारा इसे प्रकाशित कराया था. उस संस्करणके पुनः प्रकाशनपर आदरणीय महाराजश्री तथा श्री-शास्त्रीजी के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते है! इति शम्.

સંશોધન

આ ગ્રન્થની બે ટીકા–શ્રીદેવકીનંદનજીની અને શ્રીપુરુષોત્તમજીની ટીકા–શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજ તરફથી મુદ્રિત થઈ હતી. આ મુદ્રિત પ્રતિનો પણ અમે હસ્તલિખિત પ્રતિસહ સંવાદ કરી પ્રેસકોપીમાં ઉપયોગ કર્યો છે. પાઠભેદ જે અત્યાવશ્યક લાગ્યા તે રાખ્યા છે. શ્રી-દ્વારકેશ ચરણની ટીકા માટે અમે બહુ આયાસ કર્યો, પરંતુ પ્રભુ ઈચ્છાએ કાલાવધિ પૂર્ણ થતાં **"ગુજરાતી" પ્રેસના માલિક શ્રીયુત નટવરલાલ ઈચ્છારામભાઈ દેશાઈ** તરફથી અમને મળી. તે ઘણી જ શુદ્ધ, પ્રાચીન અને વાચિત છે, તેથી આ એક પ્રતિથી પણ કાર્ય સુંદર અને સરલ થયું. આ ટીકાકાર પ્રાચીન છે. આ શ્રીદ્વારકેશચરણની ટીકાનો અને શ્રીદેવકીનંદન-જીની ટીકાનો ઉલ્લેખ પોતાની ટીકામાં શ્રીપુરુષોત્તમજી કરે છે. આવા સામ્પ્રદાયિક ઘણાખરા સુંદર પ્રાચીન ગ્રન્થો શ્રીયુત નટવરલાલભાઈ પાસે છે, અને વિનાસંકોચે ગ્રન્થો છાપવા માટે આપે છે, તે તેમની વિદ્વત્પ્રિયતા સૂચવે છે. એ માટે અમે તેમનો આભાર અત્ર ઉચિત સ્થાને માનીએ છીએ.

શ્રીયમુનાષ્ટકના ઉપર શ્રીદ્વારકેશજીની ટીકા માટે બહુ પ્રયાસ કરતાં કાશીમાંથી ફક્ત અમને પ્રથમ શ્લોકની જ ટીકા મળી છે. શ્રીહરિરાયચરણ અને શ્રીપુરુષોત્તમચરણની ટીકા તો મુદ્રિત થઇ ગઈ છે. પરંતુ શ્રીદ્વારકેશજીની ટીકા મળી જાય, તો આ ષોડશ ગ્રન્થનું કાર્ય અમારા શિર ઉપરનું પૂર્ણ કરી દઈએ. આપણા સમ્પ્રદાયમાં આ ષોડશ ગ્રન્થ ઉપરનું સાહિત્ય અનહદ ઉપયોગિ છે, તે હરકોઈ જાણે છે; પરંતુ શોકની વાત એ છે કે પોરબંદરસ્થ ગો૦ શ્રીજીવનલાલજી મહારાજે મુદ્રણ કરાવેલા સેવાફલાદિ અનેક ગ્રન્થો હજુ શિલિકમાં પડ્યા છે. વષ્ણવો તરફથી તે ખરીદી જો ઉત્તેજન ન આપવામાં આવે અને તેનો વાચનમાં ઉપયોગ ન કરવામાં આવે ત્યાં સુધી તે મુદ્રિત હો કે લિખિત હો, એ સમાન છે. આજ હેતુથી સભાસદ્નું વર્ગીકરણ શુદ્ધાદ્વૈત મહાસભાને રાખવું પડ્યું છે, કે જેથી આ સભાએ પ્રકટ કરેલા વિવેકધૈર્યાશ્રયાદિ ગ્રન્થો સીધા જ સભાસદ્ના ગૃહમાં પધરાવાય. ચતુઃશ્લોકીનો પણ ઉદ્ધાર મારે હાથેજ લખાયો હતો.

વિવેકધૈર્યાશ્રય વખતે શુદ્ધાદ્વૈત મહાસભાનું મહાધિવેશન હતું તેથી ત્વરામાં તેનું મુદ્રણ થયું હતું. પરંતુ આ ગ્રન્થ શાંતિથી થએલ છે તેથી પ્રભુકૃપાએ શુદ્ધ મુદ્રણ થયું છે, તથાપિ જીવબલ વિચારી વિદ્વદ્વર્ગ અશુદ્ધિ પરત્વે ક્ષમા અર્પશે.

જ્યેષ્ઠ શુક્લ ૧૫
સં. ૧૯૮૭

ભવદીય
શાસ્ત્રી શ્રીમનલાલ

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतः

बालबोधः ।

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥ १ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।
जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥ २ ॥

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।
लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया ॥ ३ ॥

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदादाद्या यतः स्थिताः ।
धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥ ४ ॥

त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते ।
मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ॥ ५ ॥

द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ ।
त्यागात्यागविभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥

अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥ ७ ॥

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।
ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ॥ ८ ॥

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि ।
यमादयस्तु कर्त्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥ ९ ॥

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते ।
ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते ॥ १० ॥

ते सर्वार्था न चाऽऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् ।
अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ॥ ११ ॥

---

१ "अतः" इति पाठः श्रीपुरुषोत्तमचरणानाम् ।

वस्तुनः[1] स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्त्तकौ ।
ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥ १२ ॥

निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ।
भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥ १३ ॥

भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः ।
लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचित् ॥ १४ ॥

अतिप्रियाय[2] तदपि दीयते क्वचिदेव हि ।
नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥ १५ ॥

प्रत्येकं साधनञ्चैतद् द्वितीयार्थे महाञ्छ्रमः ।
जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥ १६ ॥

श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति ।
मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा ॥ १७ ॥

समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुवम् ।
अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः ॥ १८ ॥

तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्समाचरेत्[3] ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यमन्यथा ॥ १९ ॥

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥ १९½ ॥

इति बालबोधः समाप्तः ।

---

१ 'वस्तुस्थितौ च संहारे कार्ये' "इति क्वचित्पाठः" इत्युक्तं श्रीदेवकीनन्दनचरणैः स्वटीकायाम् ।
वस्तुनः स्थितिसंहारे कार्ये इत्यपिपाठः क्वचिदितिप्रोक्तं श्रीपुरुषोत्तमचरणैः ।

२ अतः प्रियायेति पाठः श्रीद्वारकेश्वराणाम् ।

३ स दाचरेत् इतिपाठः श्रीपुरुषोत्तमचरणानां श्रीदेवकीनन्दनचरणानाञ्च ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरण कमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणप्रणीतः

बालबोधः ।

श्रीदेवकीनन्दनचरणकृतप्रकाशव्याख्योपेतः ।

यच्चमत्कृतिरेवाऽन्तर्निरस्यति तमः स्मृता ।
अलङ्कुर्वन्तु मद्वाचमाचार्यचरणत्विषः ॥ १ ॥
यदाश्रयवतामेव वल्लवीजनवल्लभः ।
प्रसीदति विनोपायैर्विठ्ठलेशं तमाश्रये ॥ २ ॥
पितृपादाम्बुजयुगं भक्त्या नत्वा मुहुस्त्रिधा ।
मतिं स्वामनतिक्रम्य बालबोधो विचार्यते ॥ ३ ॥
भक्तिमार्गे फलं कृष्णस्तदास्वादस्तु दुर्लभः ।
जीवानामत एवाऽन्यमतेषूत्पद्यते रतिः ॥ ४ ॥
तत्प्रेरितेन रुद्रेण मतान्युक्तानि वै कलौ ।
विशेषतः प्रवर्तन्ते स्वातन्त्र्यं न यतो नृणाम् ॥ ५ ॥
तत्तत्फलप्रशंसैव तत्र तत्र निरूप्यते ।
तन्मोहवशतो लोकः परिभ्रमति केवलम् ॥ ६ ॥
अतः कदाऽपि कृष्णस्य भजनं लभते न सः ।
फलाभावाद्दैवसृष्टिर्व्यर्था भवति सर्वथा ॥ ७ ॥
'दैवी सम्पद्विमोक्षाये'त्युक्तिस्तर्हि विरुध्यते ।
अतः करुणया बालबोधमग्निश्चकार हि ॥ ८ ॥
अष्टादशानामत्र श्रीभगवद्वचसामपि ।
पुराणानां स्मृतीनां च प्रामाण्यज्ञापनाय हि ॥ ९ ॥

१ तद्विशेषा इति क.

तावन्तः कथिताः श्लोका आद्येनोपक्रमस्तथा ।
अन्तेऽर्द्धेनोपसंहारस्तेन सार्द्धोनविंशतिः ॥ १० ॥

अथ मतान्तरेषु पुरुषार्थचतुष्टयस्य फलत्वेन कथनात्तदर्थितया जीवानां प्रवृत्तेर्भक्तेरगौरवमसहिष्णवस्तन्मार्गप्रकटनायोक्तचतुष्टयस्याऽपुरुषार्थत्वं समर्थयन्तः किञ्चित्स्वमतं वक्तुमादौ विघ्नाभावाय समङ्गलं तदुद्दिशन्ति नत्वेति ।

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥ १ ॥

हरिं सदानन्दं नत्वा सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहं वदामीति पदसम्बन्धः । हरिपदेन दुःखाभावसम्पादनपाटवोक्त्या समारब्धान्तरायापायः सूचितः । सदानन्दपदेन 'कृपिर्भूवाचकः शब्द' इति निरुक्तेः सुखरूपः श्रीकृष्ण उक्तः । 'तेन दुःखाभावः सुखं चेति पुरुषार्थद्वयं' निष्प्रत्यूहं ततः सिद्ध्यतीति तं नत्वेत्युक्तम् । स्वसिद्धान्तनिर्गलितमर्थमिममेवाऽग्रे निर्णेतुमारभन्ते सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहं वदामीति । सर्वानपि सिद्धान्तान्सङ्गृह्य एकीकृत्य वदामीत्यर्थः । यद्वा, सर्वेषामपि तेषां सम्यगिदमित्थतया ग्रहो ज्ञानं येन तादृशं ग्रन्थं तथेत्यर्थः । यद्यपि तत्तच्छास्त्रैरपि तत्तन्मतपरिज्ञानं भवति, तथापि भ्रान्तिसंवलितमेव, तद्वक्तॄणां प्रतारकत्वात् । तत्र च हेतुरग्रे वक्ष्यते— 'तथैवेश्वरशिक्षये'ति । अत्र तु तन्निवृत्तिपूर्वमिति ज्ञाने सम्यक्त्वमुक्तम् । तदपि हेयत्वेन न तूपादेयत्वेनेति ज्ञेयम्, स्वमार्गविरोधित्वात् । ननु किं तादृशप्रयासेन, प्रयोजनाभावात्, अत आहुर्बालप्रबोधनार्थायेति । बाला हि स्वतः शास्त्रतो वेष्टानिष्टविचाररहिताः केनचित्प्रतारणार्थमिष्टेऽनिष्टत्वेऽनिष्टेऽपीष्टत्व उच्यमाने तत्र भ्रान्तास्तमेवाऽनुवर्तन्ते । पुनः पित्रादिना तद्गुणदोषवर्णने कृते तद्भ्रममपहाय तत्प्रदर्शितं स्वहितवर्त्म गृह्णन्ति । न तु तेषामुभयत्र स्वाभाविकं ज्ञानं प्रयोजकमस्ति । परं वातादिकृतसहजभ्रमरहिताश्चेत्, तादृशानामप्रतीकार्यत्वादिति । तादृशा आसुरत्वादिस्वभावदोषरहिता मोहशास्त्रैः परिभ्रामिता न भक्तिपदवीमनुसरन्ति जीवाः, ते बाला इत्युच्यन्ते । तेषां प्रकर्षेण बोधनं स्वमतज्ञानलक्षणं, तदर्थायेत्यर्थः । पुनरस्तथात्वाय बोधने प्रकर्ष उक्तः । पित्रादिवत्स्वस्य तत्प्रबोधनमावश्यकमिति ज्ञापयितुमपि तेषां बालत्वमुक्तम् । अन्यथा दैवसर्गस्य फलराहित्येन वैयर्थ्यं स्यात् । उक्तं च " दैवी सृष्टिर्व्यर्था च भूयान्निजफलरहिते"ति । ननु किमेतदुच्यमानं प्रमाणसिद्धमुत स्वबुद्धिकल्पितमित्यत आहुः सुविनिश्चितमिति । सुष्ठु वेदादिप्रमाणैर्विशेषेण स्वस्य वागधिपतित्वात्स्वबुद्ध्या च निश्चितं निर्णीतमित्यर्थः ॥ १ ॥

१ निष्कलितमिति क.

प्रथमं मतान्तरीयपुरुषार्थचतुष्टयस्याऽनुपादेयत्वकथनाय वैदिकतच्चतुष्टयभिन्नत्वमुपपत्त्या निर्द्धारयन्ति धर्मार्थकाममोक्षाख्या इति ।

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।
जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥ २ ॥

एते चत्वारो मनीषिणां विदुषामर्थाः पुरुषार्था इत्यर्थः । वस्तुतस्तु पुरुषार्थत्वेन भक्तिमार्गीया एव धर्मादयश्चत्वारो गण्यन्ते, न त्वितरे । 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'त्यादिवचनैर्भक्तेरेव सर्वतोऽधिकत्वश्रवणात् । अन्येषां धर्मादिसञ्ज्ञामात्रमिति ज्ञापनायाऽऽख्यापदम्, अपुरुषार्थताज्ञापनाय पुरुषपदप्रयोगाभावश्चोक्तः । मनीषिणामित्यनेन सर्वानधिकारित्वाच्च तथेति ज्ञापितम् । भक्तौ तु "देवोऽसुरो मनुष्यो वे"ति सामान्यनिर्देशादुक्तदूषणाभावः स्फुटः । किञ्च । कालादीनामङ्गत्वेन तदशुद्ध्या धर्मादयः पुरुषार्था इति तु वार्त्तामात्रम्, स्वरूपासिद्धेः । भक्तेस्तु भगवदनुग्रहैकजन्यत्वेन तत्स्वरूपसिद्धौ न तेषामङ्गतेति न तदशुद्धेर्बाधकत्वम्, प्रत्युत तेषामनुगुणत्वमेव । तदुक्तम्, 'कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुण' इति । 'कलिं सभाजयन्त्यार्य्या गुणज्ञाः सारभागिन' इति च । तेन भक्तिरेव परमपुरुषार्थ इति निरूपितम् । ननु वेदानामीश्वरवाक्यत्वेन तत्प्रतिपादितानां तेषां कथमतथात्वमिति चेत्, तत्राऽऽहुः जीवेश्वरविचारेणेति । ते धर्मादयो जीवविचारेणेश्वरविचारेण च द्विधा द्विप्रकारका विचारिता भिन्ना इत्यर्थः । तेन जीवविचारितानामेवाऽपुरुषार्थता न त्वीश्वरविचारितानामिति ध्वन्यते । ईश्वरोक्तानां तु पुरुषार्थता परं मर्यादायामिति ज्ञेयम् । पुष्टौ तेषामप्यनपेक्ष्यत्वात् । हिशब्दोऽत्र युक्तार्थतां सूचयति । न हि पूर्णज्ञानवद्विचारितस्याऽल्पज्ञानवद्विचारितस्य चैक्यं भवितुमर्हति, भिन्नविषयत्वात् ॥ २ ॥

तदग्रे स्पष्टीकुर्वन्त्यलौकिकास्त्विति ।

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।
लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया ॥ ३ ॥

वेदोक्ता ईश्वरविचारिता अलौकिका न लोकविषया इत्यर्थः । अन्येषामलौकिकत्वव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः । ननु वेदे यज्ञात्मको धर्मः' तस्य च "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते"त्यादिभिः स्वर्गसाधकत्वमुच्यते । स च स्वर्गो लोक एवेति कथमलौकिकत्वमिति चेत्, सत्यम् न हि वेदे स्वर्गशब्देन लोकं उच्यते । "यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदमि"ति

१ उक्तमिति क. २ लौकिक इति क.

लक्षणाप्रवेशात् । किन्त्वात्मसुखमेव तादृशम्, तच्चाऽलौकिकमिति नोक्तमनुपपन्नम् । एतन्निबन्धे विवृतमिति विस्तरेण ततोऽवगन्तव्यम् । नन्वेवमपि फलस्याऽलौकिकत्वमायाति । न तु स्वरूपतो यागादेस्तत्साधनानां वा तथात्वं वक्तुं युक्तम्, स्वकृतिसाध्यत्वादित्यत आहुः साध्यसाधनसंयुता इति । साध्या यागादयस्तत्साधनानि च तैः सहिता एवाऽलौकिका इत्यर्थः । "यज्ञो वै विष्णुरिति" श्रुतेः ससाधनस्य तस्य भगवद्रूपत्वात्तथोच्यत इति भावः । तदुक्तं निबन्धेऽपि "तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यदि"ति । अत एवाऽर्थस्याऽपि धर्मसाधनत्वेनाऽलौकिकत्वमिति ज्ञेयम् । तदसाधकस्य नाशहेतुत्वादपुरुषार्थतैव । अर्थस्य धर्मसाधनत्वं निबन्धे निरूपितम्, "धर्मो ह्यर्थेन साधित" इति । तेन धर्मेणाऽर्थोऽर्थेन कामः कामेन मोक्ष इति क्रमोऽत्र नोररीकृतः । कामस्य तु दृष्टान्तत्वेन वैराग्यजनकत्वेन च मोक्षसाधकत्वात्तथात्वमिति विवेकः । ननु यथा धर्मसाधनत्वेनाऽर्थस्य मोक्षसाधनत्वेन च कामस्य पुरुषार्थता, तथाऽऽत्मसुखसाधनत्वेन धर्मस्य तथात्वं न स्वतः । अतः को विशेषस्त्रयाणामिति चेद्, उच्यते । वेदे हि काण्डद्वयम् । तत्र पूर्वकाण्डे यज्ञात्मको धर्मः साक्षादात्मसुखसाधनत्वेन पुरुषार्थ इति स्तूयते । तथोत्तरकाण्डे साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन ज्ञानमपि । तथा परम्परयैकत्र साधनमर्थोऽपरत्र कामः । एवं साक्षात्परम्पराभेदकृतो विशेषो धर्मस्योभाभ्याम् । कामस्य विषयसुखात्मकत्वमाश्रित्य तथा व्याख्यातम् । वस्तुतः पुरुषार्थद्वयमात्मसुखं मोक्षश्चेति निर्णयः । तथा च तत्त्वदीपे, "दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मतमि"ति । अतो मोक्षकामयोः साक्षात्पुरुषार्थता । तत्साधनत्वेन धर्मस्य । धर्मसाधनत्वेनाऽर्थस्य च परम्परया पुरुषार्थतेति सिद्धम् । अत्र कामशब्देनाऽऽत्मसुखमुच्यते । विषयसम्बन्धिनः साक्षात्पुरुषार्थतानुपपत्तेः । जीवविचारितानाहुर्लौकिका इति । ऋषिभिः प्रोक्ता लौकिका इत्यर्थः, जीवबुद्धिविषयत्वात् । ननु तेऽपि वेदार्थविदः कथमीश्वरविचारादन्यथा कथयन्ति । किञ्च । तदुक्तस्याऽपि वेद एव मूलं भवति । अन्यथाऽप्रामाणिकत्वप्रसङ्गादित्याशङ्क्याऽऽहुस्तथैवेश्वरशिक्षयेति । यथा ते कथयन्ति तथैवेश्वरस्य नियामकस्य प्रेरणलक्षणा शिक्षा, तया तथेत्यर्थः । एवकारेण प्रकारान्तरेण प्रेरणं कथनं वा व्यावर्त्यते । शिक्षाप्रयोजनं तु "त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारये"त्यत्र निरूपितम् । वस्तुतो वेदतात्पर्यपरिचयो ज्ञानवतामपि दुर्लभः । "तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरय" इति वचनात् । अतस्तेषामनीश्वरविचारितत्वादनङ्गीकारः सूचितः ॥ २ ॥

१ श्रूयत इति क. ग.

एवमीश्वरजीवविचारभेदेन धर्मादिचतुर्णां द्वैविध्यमुक्त्वा विस्तरेण लौकिकान् वक्तुमुपक्रमन्ते लौकिकानिति ।

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदाद्या यतः स्थिताः ।
धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥ ४ ॥
त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते ।
मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ॥ ५ ॥
द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ ।
त्यागात्यागविभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥

लौकिकान् प्रकर्षेण वक्ष्यामीत्यर्थः । तुशब्दस्त्वलौकिककथनापेक्षां व्यावर्त्तयति । तत्रोपपत्तिमाहुर्वेदाद्या इति । यतो यस्माद्धेतोराद्या ईश्वरविचारितास्ते वेदाद्वेदस्य विद्यमानत्वात्तत एव स्थिताः प्रवर्त्तमानाः सन्त्यतस्तान्विहाय लौकिकाः कथ्यन्त इति भावः । किञ्च, स्थिता इति पदेन गतिनिवृत्तिः सूच्यते । धात्वर्थस्य तथात्वात् । तथाचाऽधुना प्रवृत्त्यभावेन तत्कथनप्रयोजनाभाव उक्तः । अंतो[1] लौकिकानामेव वक्तव्यत्वात्तन्मध्ये त्रिवर्गनिर्णयस्याऽनावश्यकत्वमाहुर्धर्मशास्त्राणीति । धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि। नीतिः नीतिप्रतिपादकमर्थशास्त्रम् । कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि । क्रमात्प्रत्येकं त्रिवर्गस्य धर्मादित्रितयस्य साधकानि सन्ति । चकारद्वयेन तत्तन्निर्णयग्रन्था अपि सङ्गृह्यन्ते । इति हेतोस्तन्निर्णयोऽत्र नोच्यते प्रयोजनाभावादिति भावः । मोक्षनिर्णयस्याऽऽवश्यकत्वायाऽऽहुर्मोक्षे चत्वारि शास्त्राणीति । लौकिके जीवविचारिते मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि साधकानि सन्तीत्यर्थः । यद्यपि धर्मादिशास्त्राणामपि बहुत्वं, तथापि देशाद्याचारभेदेन विरोधाभावात्तत्समाहितिर्भवति । मोक्षस्तु पुरुषार्थरूप इति तस्य चतुर्द्धा कथने भ्रमो भवति, स न युक्त इति तन्निरासाय निर्णीयत इति भावः । तस्य चातुर्विध्यव्यवस्थामाहुः परतः स्वत इति । परतः स्वतश्चेति द्विधा द्विप्रकारके द्वे द्वे शास्त्रे स्त इत्यर्थः । अत्राऽयमर्थः । शास्त्रद्वयं स्वतो मोक्षसाधकम् । शास्त्रद्वयं परतश्चेति । यत्र शास्त्रोक्तरीत्या साधनाचरणे कृते जीवः कृतार्थो भवति तत्स्वतःशास्त्रमुच्यते । यत्र तदुक्तरीत्या साधनेऽकृतेऽपि[3] कस्यचित्प्रसादात्कृतार्थो भवति तत्परतः शास्त्रमुच्यते । उभयोर्द्वैविध्याच्चत्वारि तानि भवन्ति । यद्वा, परतः स्वतश्चेति द्विप्रकारके लौकिके मोक्षे द्वे द्वे ते स्त इति । अस्मिन्नर्थेऽयं भावः । लौकिको मोक्षो हि स्वरूपतो द्विविधः । स्वाश्रयः पराश्रयश्चेति । यत्राऽवि-

१ अत इत्यारभ्य मुक्तो भवतीति भाव इत्यन्तो निबन्ध एव नास्ति सार्धद्वयस्य, कपुस्तके । २ तर्हीति ख. ३ कृतेऽपीत्यग्रमहशून्यः सर्वत्रोपलब्धः पाठः । भातित्वग्रमहोऽपीति तथेह निवेशः ।

विद्यानिवृत्तौ सत्यामद्वैतं ब्रह्म भासते, तत्र जीवब्रह्मणोरभेदात्प्रतिबिम्बन्यायेन जीवः स्वाश्रये ब्रह्मणि लीयते । स स्वाश्रयो मोक्ष इत्युच्यते । यत्र पुनरविद्यानिवृत्तौ शुद्धो जीवः परस्मिन्ब्रह्मणि लीयते तत्राविद्यानिवृत्तावपि भेदस्वीकारात्पराश्रय इत्युच्यते । तयोरपि प्रतिपादके द्वे द्वे ते स्त इति मोक्षे चातुर्विध्यम् । तत्र प्रथमं स्वतस्ते आहुः स्वतस्तत्रेति । तत्र तेषां मध्ये स्वतः शास्त्रभूतौ सांख्ययोगौ प्रकीर्त्तितौ प्रकर्षेण कथितावित्यर्थः । यद्यपि "यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यत" इति वाक्यादुभयोरेकमेव फलमिति न भेदो वक्तुमुचितस्तथापि जीवविचारेणोच्यमानत्वात्तदनुसारेणोभयोर्भेदं व्यवस्थापयन्ति त्यागात्यागविभागेनेति । साङ्ख्ये त्यागोऽपरत्राऽत्याग इति विभागेन भेद इत्यर्थः । तदेव स्पष्टयन्ति-साङ्ख्ये त्याग इति । साङ्ख्ये मुक्तिसाधनत्वेन त्यागः प्रकीर्तित इत्यर्थः । साङ्ख्ये हि नित्यानित्यवस्तुविवेकः प्रतिपाद्यते । तस्मिन्सम्पन्ने वैराग्योत्पत्तौ ततः सर्वपरित्यागेन मुक्तो भवतीति भावः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

ननु सङ्घातस्य विद्यमानत्वात्कथं त्यागमात्रेण मुक्तिरित्याशङ्कायां तन्मुक्तिप्रकारमाहुरहन्ताममतानाश इति ।

> अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ ।
> स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥ ७ ॥
> तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।
> ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमवाह्यतः ॥ ८ ॥

अहन्ताममतात्मकः संसारः, तत्राऽविद्यया जीवो बद्धस्तिष्ठति । साङ्ख्ये चाऽऽत्मानात्मविवेकेनाऽविद्यानिवृत्तिर्भवति । तस्यां निवृत्तायां तत्कार्यरूपः संसारोऽपि नश्यति । ततः सङ्घाताद्भिन्नतया आत्मज्ञानमुत्पद्यते । एवमपि सति यावदहङ्कारनिवृत्तिर्न भवति तावदपि न सर्वात्मना मुक्तिरित्यभिप्रायेणाऽऽहुः सर्वथा निरहङ्कृताविति । सर्वथा सर्वप्रकारेण "नैव किञ्चित्करोमी"त्यहङ्काराभावे सतीत्यर्थः । ततो मुक्तिस्वरूपमाहुः स्वरूपस्थ इति । यदैव जीवः सर्वं परित्यज्य स्वरूपस्थः स्वात्मज्ञानैकनिष्ठो भवति तदा तदवस्थापन्न एव स कृतार्थो मुक्त इति निगद्यते कथ्यत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु ब्रह्मलाभस्य मोक्षपदार्थत्वेन तदभावान्न मुक्त इति भावः, पुनर्जन्मावश्यम्भावाच्च । तदुक्तं दशमस्कन्धे, "आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं

---

१ तत्र निवृत्तावपीति ग. २ सांख्येनाऽऽत्मनात्मेत्यादि क. ३ मुक्तस्वरूपमिति ख. ४ पुनर्जन्मावश्यम्भावित्वाच्चेति ग.

ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय"इति । तथा च तत्त्वदीपविवृतौ, "जन्मान्तरे ज्ञानी ज्ञानी सन्नुत्पद्यत" इति ॥ ७ ॥

नन्वेवं सति जीवविचारितस्य साङ्ख्यस्य कथं प्रामाण्यमित्यपेक्षायामाहुस्तदर्थमिति । तदर्थमुक्तरीत्या मोक्षार्थं काचित्प्रक्रिया पुराणेऽपि निरूपिता कथितेत्यर्थः । तेन पुराणमूलकत्वात्प्रामाण्यं तस्येति भावः। ननु "पुराणं हृदयं स्मृतमि"ति वाक्यात्तन्मूलकस्य कथं जीवविचारितत्वमित्यत आहुः, ऋषिभिरिति । ऋषिभिः सा प्रक्रिया बहुधा बहुभिः प्रकारैर्भिन्ना प्रोक्ता स्वविचारादतस्तथेत्यभिप्रायः । तत्र हेतुः पूर्वमुपपादितः, "तथैवेश्वराशिक्षये"ति । तर्हि साधनप्रकारभेदात्फलं भिन्नं भविष्यतीत्याशङ्क्य तथा नेत्याहुः फलमेकमिति । पुराणोक्तस्य साङ्ख्यस्य फलद्वयम् । प्रथममात्मदर्शनमेकम् । ततो ज्ञानद्वारा मोक्षो द्वितीयम् । जीवविचारितस्य तस्याऽऽत्मदर्शनमेकमेव फलं न द्वितीयमित्यर्थः । तत्रापि विशेषमाहुरबाह्यत इति । बाह्यो बहिर्मुखो निरीश्वरो विकर्मपरिपोषितश्च साङ्ख्यः । तदतिरिक्तात्पुराणमूलकात्साङ्ख्यादुक्तं फलं, न तु बाह्यादिति भावः । प्रत्युत तादृशान्नरकः, वेदविरोधित्वात् । तदुक्तं तत्त्वदीपे, "योगसाङ्ख्ये धर्महीने विमार्गपरिपोषिते, नरकायैव भवत" इति ॥ ८ ॥

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि ।
यमादयस्तु कर्त्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥ ९ ॥

एवं स्वतःशास्त्रमेकमुक्त्वा द्वितीयमाहुरत्यागे योगमार्ग इति । त्यागाभावे योगमार्गो योगप्रतिपादकं शास्त्रं मोक्षप्रतिपादकमित्यर्थः । ननु त्यागव्यतिरेकेण कथं योगः सिद्ध्येदित्याशङ्क्याऽऽहुरत्यागोऽपीति । न हि सर्वात्मना त्यागो निषिध्यते । मनसा तु सर्वं त्यक्तव्यमेव । अन्यथा योगो न सिद्ध्येदिति । मनसा सर्वपरित्यागे सम्पन्ने बहिस्त्यागो नाऽपेक्षित इत्येवकारेण तद्व्यवच्छेद उक्तः । युक्तोऽयमर्थ इति हिशब्द आह । ननु मनसश्चञ्चलत्वाद्बहिस्त्यागाभावे कथं तन्निरोधो भवतीत्यत आहुर्यमादयस्तु कर्त्तव्या इति । यमा द्वादशविधाः । तदुक्तमेकादशस्कन्धे "अहिंसे"त्यारभ्य "द्वादश स्मृता" इत्यनेन । आदिपदेन तत्रोक्ताः शमदमादयो ग्राह्याः।तेषु कृतेषु मनः स्थिरीभवतीति भावः।तदुक्तं श्रीकपिलदेवेन— "अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि । भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् । यमादिभिर्योगपथैरि"त्यादि । भक्त्या भगवदतिरिक्तविषयविरक्त्या च

१ त्याग इति ग.

भक्तिमार्गे तद्वशीकरणमुक्त्वा यमादिभिर्योगपथैरिति योगमार्गे तैरेव वशीकरणं भवतीत्युक्तम्। अत एवाऽवश्यकर्त्तव्यत्वाय योगपथैरिति विशेषणम्। तुशब्देनाऽकरणपक्षो व्यावर्त्यते। प्रकारान्तरेण तदसिद्धेः। ततः किमित्यत आहुः सिद्धे योगे कृतार्थतेति। योगसिद्धौ कृतार्थो भवतीत्यर्थः। कथमिति चेद्, एवम्। यावज्जीवं योगाभ्यासे कृते स्वात्मज्ञानोदयो भवति। "अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनमि"ति वाक्यात्। ततो योगबलेनैव देहापगमे अविद्यातो विमुच्यते। न त्वितोऽधिकं फलमित्यर्थः। अयमेव केवलयोगसाध्यो मोक्षः। तथा तत्त्वदीपेऽपि, "केवलेनाऽपि योगेन दग्धकर्ममलाशयः। योगवीर्येण जितदृक् लिङ्गं भित्त्वा तथा भवेदि"ति। अत्राऽपि ब्रह्मलाभाभावान्न कृतार्थतेति भावः॥ ९॥

एवं स्वतः शास्त्रद्वयमुक्त्वा परतः शास्त्रद्वयमाहुः पराश्रयेणेति।

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते।
ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते॥ १०॥

परशब्देन विष्णुशिवावुच्येते। तयोराश्रयेण तद्भजनेन मोक्षो द्विधा तत्तच्छास्त्रभेदात् द्विप्रकारको भवति। सोऽप्यत्र निरूप्यते कथ्यत इत्यर्थः। तुशब्दः स्वाश्रयपक्षव्यावर्त्तकः। स्वाश्रयापेक्षया पराश्रयस्याऽऽधिक्यं भक्तिमार्गे भविष्यतीति तद्भावायाऽपिशब्देनाऽनादरः सूचितः। ननु ब्रह्मणा किमपराद्धम्। गुणावतारत्वेन त्रयाणामविशेषात्ततोऽपि कथं न मुक्तिरित्यत आहुर्ब्रह्मेति। ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातः प्राप्त इत्यर्थः। यथा ब्राह्मणो निरन्तरं स्ववर्णाश्रमादिविहितं कर्म कुर्वन् स्वार्थमेव सम्पादयति, न तद्विरुद्धमन्यार्थमपि। तथा ब्रह्माऽपि भगवदाज्ञप्तं सृष्टिलक्षणं कर्म करोति। स चेत्पुरुषार्थान्प्रयच्छेत्सर्वमुक्तिरेव स्यात्। तथा सति सृष्टिरुच्छिद्येत। अतः समर्थोऽपि न ददातीति भावः। किञ्च। तद्रूपेण सृष्टिकर्त्तृरूपेण सुसेव्यते। परं प्रजाकामैरेव न त्वन्यैरिति विशेषः। "प्रजाकामः प्रजापतीनि"ति वाक्यात्॥ १०॥

अत आहुस्ते सर्वार्था न चाऽऽद्येनेति।

ते सर्वार्था न चाऽऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम्।
अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ॥ ११॥
वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्त्तकौ।
ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ॥ १२॥
निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता।
भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि॥ १३॥

भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः।
लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचित् ॥ १४ ॥

आद्येन ब्रह्मणा चत्वारोऽपि ते न भवन्तीत्यर्थः । चकारेण क्वचिदर्थकामौ ततो भवतोऽपि, हिरण्यकशिपुप्रभृतीनामिव । परं न तयोः पुरुषार्थता, नाशहेतुत्वादिति ज्ञापितम् । मोक्षस्तु नैवेति विवेकः । ननु ब्रह्मप्रतिपादितवैखानसमतानुसारेण विष्णुभजनान्मोक्षश्चेत्कथं नैवेत्युच्यत इत्यत आहुः शास्त्रं किञ्चिदुदीरितमिति। न हि शास्त्रप्रवर्त्तकत्वेन मोक्षस्ततो वक्तुं शक्यः। तथा सत्यतिप्रसङ्गः स्यात्। एवमाद्यस्य पुरुषार्थदत्वं निषिध्येतरयोस्तत्प्रदत्वमाहुरत्र इति । यतो हेतोराद्यस्याऽतत्प्रदत्वमतो हेतोः शिवश्च विष्णुश्च जगतः सृष्टेः हितकारकौ पुरुषार्थप्रदावित्यर्थः । यद्यप्यनयोरपि स्वस्वकार्यपरता, तथाऽपि विष्णोः पालनं कार्यमतः "अधिकं तत्राऽनुप्रविष्टं न तु तद्धानिरि'ति न्यायेन मोक्षदाने न काऽपि क्षतिः । शिवस्य तु कार्यं संहारः । तदविरोधात्त्रिवर्गदाने न काऽपि क्षतिः । मोक्षदाने तु नोपसंहारः कर्त्तुं शक्य इति कार्यविरोधात्क्षतिः । अतस्तदग्रे निराकरिष्यन्ति 'भोगः शिवेने'त्यादिना ॥ ११ ॥

तयोर्विशेषकार्यमप्याहुर्वस्तुन इति । वस्तुमात्रस्य स्थितिः संहारश्चोभौ तयोः कार्यौ कर्त्तव्यौ भवत इत्यर्थः । 'वस्तुस्थितौ च संहारे कार्ये' इति क्वचित्पाठः । तदा वस्तुस्थितिलक्षणे संहारलक्षणे च कार्ये तौ नियामकाविति योजनीयम् । किञ्च । स्वस्वगुणाधिकारकशास्त्रप्रवर्त्तकौ च । ननु तच्छास्त्रेषु तयोः सर्वात्मकत्वकथनात्कथमेकैककार्यकर्तृत्वमिति चेत्तत्राऽऽहुर्ब्रह्मैवेति । यस्माद्धेतोर्ब्रह्मैव तादृशं तत्तत्कार्यार्थं तत्तद्रूपेण प्रकटं तत्तत्सञ्ज्ञया भिन्नमिव भाति । न तु वस्तुतस्तथा । अतस्तत्र तत्र सर्वात्मकतया कथितावित्यर्थः । उक्तहेतोरेव तत्र तत्र तयोर्निर्दोषपूर्णगुणता च कृता प्रतिपादितेत्यर्थः। वस्तुतो निर्दोषपूर्णगुणत्वं सर्वात्मकत्वं च परब्रह्मणः[३] श्रीकृष्णस्यैवेति दिक् । तथा चोक्तं प्रथमस्कन्धे, 'परः पुरुष एक इहाऽस्य धत्ते स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति संज्ञा' इति । दशमेऽपि, 'त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये' इति । अत एवोभयोः स्वस्वगुणानुगुणं फलदातृत्वमाहुर्भोगमोक्षफले इति। यद्यपि भगवद्गुणावतारत्वेन द्वावपि शिवविष्णू भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ समर्थौ, तथापि तद्गुणविचारेण शिवेन भोगः सिद्ध्यति विष्णुना मोक्ष इति निश्चयो युक्त इत्यर्थः। तत्राऽपि न तयोः कर्तृत्वं, किन्तु करणतैवेति तृतीयया बोध्यते । कर्तृत्वं सर्वत्र भगवत एवेति स्वसिद्धान्तः । उक्तं च मुचुकुन्दं प्रति

१ उच्यते तत आहुरिति क. २ निर्दोषपूर्णगुणवत्त्वमिति क. ३ परब्रह्मत्वमिति ग.

देवैः, 'एक एवेश्वरस्तस्ये'ति । 'श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युरि'त्यत्र श्रेयांसीति बहुवचनात्सात्त्विकान्येव तान्युच्यन्ते । मोक्षस्य बहुत्वानुपपत्तेः । तथा च अत्र विष्णोः सकाशान्मोक्ष उच्यते तत्र विष्णुपदं पुरुषोत्तमपरं क्वचिज्ज्ञेयम् । यदि तच्छास्त्ररीत्या गुणावतारपरं तदुच्यते तदा मोक्षपदार्थस्तत्रैव लयो वाच्यः, 'देवान् देवयजो यान्ती'ति भगवद्वाक्यात् । तथा निबन्धेऽपि 'आदिमूर्त्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया । निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा साऽन्यसेवये'ति । ननूभयोः समत्वेनाऽविशेषात्कथं नोभाभ्यां मुक्तिरिति चेद्, उच्यते । 'ज्ञानान्मोक्ष' इति सर्वशास्त्रसिद्धम् । तथा च 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमि'ति वाक्यात्तद्गुणाधिष्ठात्रा स सुलभ इत्युच्यते । भोगस्य तत्प्रतिबन्धकत्वाददानमपि । तमसो ज्ञानप्रतिबन्धकत्वात्तद्गुणाधिष्ठात्रा स दुर्लभ इत्युच्यते । भोगस्तन्मूलक एवेति सुलभत्वं युक्तमेव । ननु तत्तच्छास्त्रेषु स सुलभ एवेति चेद्, ओमिति ब्रूमः । "शक्तौ द्वावपी"ति पूर्वमुपपादितं च । न तावताऽस्माकं काऽपि क्षतिः, उभयोरस्वीकारात् । एवं जीवविचारेण लौकिको मोक्षश्चतुर्द्धा प्रतिपादितः । तस्याऽनीश्वरविचारितत्वादस्वीकारोऽप्यर्थादुक्तः । यद्यपि भगवदीयानां मोक्षाभिलाषराहित्यादेतदुक्तं नोपयुज्यते । तथापि "पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय" इति न्यायेन यदि कस्याऽपि तत्रोपादेयबुद्धिः स्यात्प्रमाणसिद्धत्वात्साऽपि मा भूदित्याशयेन जीवभ्रान्तिकल्पितास्ते चत्वारोऽपीत्युक्तम् । अत एतद्द्रष्टारस्तत्र न प्रपत्स्यन्त इति पर्यवसितोऽर्थः । ननु भक्तिमार्गे मोक्षस्याऽनीप्सितत्वेन न तद्दातुर्विष्णोर्भजनापेक्षा । किन्तु विषयाणां भगवत्सेवोपयोगित्वेन तदभावे तद्दातुः शिवस्य तदपेक्षाऽस्त्विति चेत्, तत्राऽऽहुर्लोकेऽपीति । प्रभुः सेवकानां पतिः श्रीकृष्णो यद्भक्तसम्बन्धि वस्तु भुङ्क्ते स्वयमभ्यवहरति, तद्वस्तु कर्हिचित्कदाऽपि शिवो न यच्छति न तदातीत्यर्थः । तथा सति भगवतो भक्तकामनापूरकत्वं "सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे"ति वाक्याद्भक्तेर्वा कल्पतरुत्वं भज्येत । अतः सर्वथेतरापेक्षा भक्तिमतां नोचितेति भावः । अत एव नैरपेक्ष्यं भक्तेरङ्गमिति भगवानप्याह । "तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेदि"ति । किञ्च, "यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिगि"ति । वचनाद्यत्र स्वार्थं भगवदपेक्षाऽपि दोषाय तत्राऽन्यापेक्षायास्तथात्वे किं वाच्यमिति । तस्मात्स्वीयानां सर्वं स्वयमेव हरिः सम्पादयतीति सिद्धान्तरहस्यम् । "अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चय" इति वचनाच्च ॥१२॥१३॥१४॥

---

१ तदुच्येतेति ख. ग. २ अत्र ब्रूम इति क. ३ यत इति क. ४ अनिर्वाच्यादिति ख. ग.

किञ्च । भगवदीयातिरिक्तस्याऽपि विषयसम्पत्तिर्न तेन सम्पाद्यते । येन भक्तानामपि तथोच्येत । किन्तु कस्यचिदेवेत्याहुरतिप्रियायेति ।

अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि ।
नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥ १५ ॥
प्रत्येकं साधनञ्चैतद् द्वितीयार्थे महाञ्छ्रमः ।

तेन यद्दीयते तदतिप्रियाय स्वस्याऽत्यन्तभक्ताय न तु यस्मै कस्मैचिदित्यर्थः । तादृशेनाऽप्यपराद्धं चेत्कुप्यत्येव न तु क्षमते कदाचिदित्याशयेन तत्रापि नियमो नेत्याहुः, क्वचिदेव, न तु सर्वत्र । हि युक्तोऽयमर्थः । "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति वाक्यात् । यथा नियतं फलं भक्तेभ्यो भगवान्प्रयच्छति न तथाऽन्यो दातुं शक्नुयात् । अनीश्वरत्वादिति । अत एव " अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परमि"ति सार्वकामिकं भगवद्भजनमेवोक्तम् । ननु शिवस्याऽर्थदातृत्वं नियतमनियतं वा भवतु, ततोऽत्र किमागतमित्यत आहुः—नियतार्थप्रदानेनेति । नियतं चेदर्थप्रदानं तस्योच्येत तदा भगवदीयानामप्यर्थस्य तदीयत्वं तत्सम्पादितत्वं स्यात् । बहिर्वैलक्षण्याप्रतीतेः । नन्वर्थस्य तथात्वे को दोष इति चेत्तत्राऽऽहुः—तदाश्रय इति । तस्यैवाऽर्थदातृत्वनिश्चये भगवदीयानां तदपेक्षायां तस्यैवाऽऽश्रयो भवेदित्यर्थः । न चैतद्युक्तम्, निषेधश्रवणात् । " सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजे"ति । " मदन्यत्ते न जानन्ति नाऽहं तेभ्यो मनागपि " इति च । तथा च भगवदीयातिरिक्तस्य मोक्षापेक्षायां विष्णुभजनं, भोगापेक्षायां शिवभजनमिति व्यवस्थापितम् ॥ १५ ॥

न तूभयापेक्षायामेकेनाऽपि तत्सिद्ध्यतीत्याहुः प्रत्येकं साधनं चैतदिति । एतद्विष्णुभजनं शिवभजनं च प्रत्येकमेकं मोक्षसाधनमपरं भोगसाधनम् । न त्वेकमुभयसाधनमित्यर्थः । तेनोभयाकाङ्क्षिभिर्भगवानेवाऽऽश्रीयतामिति ज्ञापितम् । ननु भक्तिमार्गे " स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन " इति वाक्यादुभयोरनपेक्षितत्वेन किं तदाश्रयेणेत्यत आहुर्द्वितीयार्थे इति । एको लौकिको मोक्षश्चतुर्द्धा पूर्वमुक्तो, द्वितीयस्त्वलौकिको भक्तिमार्गीयः । तदर्थं यः श्रमः तन्मार्गीयसाधनाचरणलक्षणः स महान्, पूर्वोक्तापेक्षया साधनतः फलतः स्वरूपतश्चाऽप्युत्कृष्ट इत्यर्थः । इदमत्राऽऽकूतम् । विष्णोः सात्त्विकत्वात्तत्र लयः सात्त्विको मोक्षः । यत्र फलस्य सदोषत्वं तत्र साधनं सुतरां तादृशमेव । भक्तिमार्गे तु निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः श्रीकृष्णः

१ भगवदीयातिरिक्तस्याऽपि जीवमात्रस्येति ख. ग. २ पूर्वोक्तमोक्षसाधनतः इति क.

फलम्। साधनं च तन्निष्ठं निरुपधि प्रेम। तच, "मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतमि"ति वाक्यात्तादृशमेव।

एतच्च फलदशायामेव भवतीति प्रथमाधिकारे जीवानां सहजदुष्टत्वं तन्निवृत्तिप्रकारं चाऽऽहुर्जीवः स्वभावतो दुष्टा इति।

जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥ १६ ॥
श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति।
मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा ॥ १७ ॥
समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुवम्।

स्वभावत एव दुष्टाः। न तु स्वरूपतः। भगवदंशत्वादित्यर्थः। "ममैवांऽशो जीवलोक" इति भगवद्वचनात्। "अंशो नानाव्यापदेशादि"ति वेदान्तसूत्राच्च। अथवा। ननु लौकिकमोक्षस्य जीवविचारितत्वादनङ्गीकरणं युक्तमेव। परं वेदोक्तस्य तस्येश्वरविचारितत्वादङ्गीकार उचित इत्यत आहुर्द्वितीयार्थ इति। द्वितीयो वैदिको मोक्षस्तदर्थे श्रम आयासो महानधिक इत्यर्थः। तेनाऽतिकष्टसाध्यत्वात्किं तत्कथनेनेति भावः। तेन लौकिकवैदिकभक्तिमार्गीयेषु क्रमेण शत्रूदासीनमित्रभावा[1] उक्ता भवन्ति। तर्हि किमुद्दिश्य किं कर्त्तव्यमिति चेत्तत्राऽऽहुर्जीवा इति, स्वभावतो दुष्टा इत्यर्थः। (तथा च) जीवानां सहजभगवदंशत्वेन सहजभगवद्दासत्वेन तत्सेवालक्षणस्वधर्माकरणं स्वभावदोष उच्यते। अतस्तेषां दोषाभावाय श्रवणादि भगवच्छ्रवणकीर्त्तनादि सर्वदा निरन्तरं कर्त्तव्यत्वेन साधनमिति शेषः। ततः कः पुरुषार्थ इत्यत आहुस्तत इति। ततो दोषनिवृत्त्यनन्तरं श्रवणादितो वा भगवति प्रेम्णि जाते तेनैव तेषां सर्वमैहिकं पारलौकिकं च कार्यं सिद्ध्यति। न किञ्चिदवशिष्यत इत्यर्थः। ननु पारलौकिकत्वेन मोक्षो वक्तव्यः। "कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं[2] व्रजेदि"ति वचनात्। एवं सति कथं मोक्षस्याऽनपेक्षितत्वमिति चेत्। एवम्। कीर्त्तनादेवेत्येवकारो मोक्षे कीर्त्तनातिरिक्तसाधनव्यवच्छेदको, न तु कीर्त्तनस्य मोक्षैकफलत्वसूचकः। तथा सति प्रेमरहितस्य मोक्षसाधनत्वेन कृतस्य तस्य स एव फलम्। प्रेमसहितस्याऽतथा कृतस्य न तत्फलमिति व्यवस्था। अन्यथा भगवानपि कथमेवं वदेत्, "सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना" इति। तेन भगवानपि तादृशेभ्यो भजनातिरिक्तं फलं न ददातीति सूचितम्। तथा च

१ प्रियभावा इति क. २ पदमिति ख. ग.

सर्वात्मभावेन तदीयत्वमेव भक्तिमार्गे मोक्षपदार्थः । तदेवैतल्लौकिकवैशिष्ट्यात्पारलौकिकमित्युच्यते । अतो नाऽनुपपन्नं किञ्चित् । श्रीभागवते च, "भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था" इति । पद्मपुराणेऽपि, 'न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते । विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण' इति । ननु तदीयत्वं भगवदनुग्रहैकसाध्यम् । "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति श्रुतेः । अतः कथं स्वकृतिसाध्यश्रवणादिना तत्सिद्ध्यतीत्यत आहुर्मोक्ष इति । यथोक्तरीत्या विष्णोः सकाशान्मोक्षः शिवतश्च भोगः सुलभस्तथा समर्पणेन स्वात्मप्रभृतिसर्वस्वनिवेदनेनाऽऽत्मनो जीवस्य तदीयत्वलक्षणो मोक्षो भवेदित्यर्थः । ध्रुवं निश्चितम् । नाऽत्र काचिदसम्भावनेति भावः । हीति युक्तोऽयमर्थः । [1]अतदीयत्वकारणाभावात् । ननु समर्पणस्य तत्साधनत्वे श्रवणादिकथनस्य वैयर्थ्यमायाति, तस्य चाऽनुग्रहैकलभ्यत्वं न सिद्ध्यतीति चेत् । मैवम् । श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तमागतस्य समर्पणं भवति । नाऽन्यथा । परस्परं हेतुहेतुमद्भावात् । अतस्तत्साधनत्वेन श्रवणादिकथनं साधुतमम् । किञ्च । आत्मनिवेदनं न स्वकृतिसाध्यम्, श्रवणादिजन्यत्वात् । किन्तु भगवदनुग्रहैकसाध्यम् । यतः श्रवणादि सर्वं तदनुग्रहरूपमेव । भक्तिहेतुनिर्णये तथा निरूपितत्वात् । अतः सर्वमनवद्यम् । ननु तदीयत्वं मोक्षत्वेन कथं स्तूयते, जन्मान्तरे गत्यन्तरसम्भवेन तल्लक्षणाभावादिति चेत् । एवम् । यथा मोक्षे न पुनरावृत्तिर्भवति तथाऽत्र तदीयत्वे सिद्धे पुनरावृत्तिर्नैत्यपुनर्भवत्वं लक्षणमस्तीति न तथाऽवधेयम् । तदुक्तं प्रभुणैव—"ये दारागारपुत्राप्तप्राणान्वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे" इति । हित्वेति समर्पणानन्तरं दारादिषु स्वीयत्वपरित्याग उक्तः, न तु ज्ञानमार्गीयः । तत्र तु वैराग्योत्पत्तौ तेष्वसद्बुद्ध्या तत्परित्यागः स्वार्थमेव, न तु भगवदर्थम् । तथा सति स्वस्य भाराभावात् 'कथं त्यक्तुमुत्सहे' इति तन्निर्बन्धं किमिति भगवान्वदेत् । अतो निवेदितात्मनः कदापि न त्यजति प्रभुरिति सिद्धम् । एवं भक्तिमार्गीयो मोक्षः ससाधनः प्रतिपादितः । यद्यपि मोक्षलक्षणे सिद्धेऽपि नाऽस्माकमुत्कर्षः समायातः कोऽपि । तथापि "अधिकं तत्राऽनुप्रविष्टं न तु तद्धानिरि"ति न्यायेन "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेन वा तथोक्तम् । वस्तुतस्तु मोक्षेऽक्षरामृतपानमव्यक्तम्, अत्र तु तदधिकः परमानन्दानुभवो व्यक्तः, इति महत्तारतम्यम् ।

---

१ कोकेति ख ग. २ अतदीयकारणेत्यादि क. ३ तत्साधनत्वेनेति क. ४ नेत्यर्थ इति क.

ननु निवेदनमकृत्वाऽपि केचित्तदाश्रितास्तेषां का गतिरिति चेत्तत्राऽऽहु-रतदीयतयेति ।

अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः ॥ १८ ॥

तदीयत्वव्यतिरेकेणाऽपि केवलः समाश्रितश्चेत्तदा केवलाश्रयणेनाऽपि गति-र्भवत्येव । "मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिमि"ति वचनात् । न तावता तदीयत्वलक्षणो मोक्षः सिद्ध्यति, समर्पणाभावात् । न वा गतिप्राप्तौ तदाश्रयस्तिष्ठति, तस्योभयनिष्ठधर्मत्वात् । साधनत्वेन स्वीकाराच्च । अतो नाऽयं फलरूपभक्तिमार्गः, किन्तु साधनरूप एव । "न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः" । स्वर्गापवर्गनरके-ष्वि"त्यादिवचनविरोधात् ॥ १८ ॥

ननु जीवानां स्वतो ज्ञानाभावात्तदाश्रयतदीयत्वे कथं सिद्ध्येतामित्याशङ्क्या-ऽऽहुस्तदाश्रयेति ।

तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्सदाऽऽचरेत् ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यमन्यथा ।
इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥ १९½ ॥

इति श्रीमद्वैश्वानरावतार श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितो बालबोधः सम्पूर्णः ।

तदाश्रयतदीयत्वयोर्बुद्ध्यै ज्ञानाय किञ्चिदाचार्योपसत्तिरूपं साधनं सदा निरन्तरमाचरेदित्यर्थः । तत एव तत्सिद्धिर्नाऽन्यथेति तस्याऽवश्यकर्त्तव्यत्व-माहुः स्वधर्ममिति । "स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै लोकः क्षेमाय कल्पत" इति वचना-त्स्वधर्माचरणे कृते फलं तत्तन्मार्गीयं भवति, न तु तदकरण इति सिद्धम् । भक्तिमार्गे च मुख्यः स्वधर्मस्तदुपसत्तिरेवेति सैव कर्त्तव्येति भावः । "आचार्यवान् पुरुषो वेदे"ति श्रुतेः । श्रीभागवतेऽपि "आचार्यं मां विजानीयान्नाऽवमन्येत कर्हिचित् । न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः" । अन्यच्च, "यस्य साक्षाद्भग-वति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ । भक्तिर्न स्याच्छ्रुतं तस्य मन्ये कुञ्जरशौचवत्" । पुराणा-न्तरेऽपि, "हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसा-दयेत्" । अतस्तामन्तरेण कृतस्यापि साधनान्तरस्य वैफल्यमाहुर्भारद्वैगुण्यमिति ।

१ आवश्य कृच्छ्रेणेति तस्योभयनिष्ठधर्मत्वादिति शोधितो ग पुस्तके पाठः । २ सेवेतेति ख. ग.

अन्यथा तदकरणे भारद्वैगुण्यं द्विगुणो भारो भवेदित्यर्थः । फलाभावात्साधनकृतः तदकरणप्रत्यवायकृतश्चेति भारद्वयम् । उक्तमुपसंहरन्तीतीति । इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण यावद्वक्तव्यं तावत्सर्वं कथितमित्यर्थः । ननु ततः किमत आहु- र्नैतज्ज्ञान इति । एतज्ज्ञाने जाते सति पूर्वस्थितो भ्रमो गच्छति । गतः पुनः परावृत्य न भवतीत्यर्थः ॥ १९½ ॥

चतुर्द्धा लौकिको मोक्षः सदोषत्वान्निराकृतः ।
अतस्त्वलौकिको मोक्षः स्वीकार्यो भगवत्परैः ॥ १ ॥

अन्ततोऽर्थोऽयमेवाऽस्य ग्रन्थस्य फलितोऽभवत् ।
एवमाचार्यकृपया बालबोधः प्रकाशितः ॥ २ ॥

विविधमतनिरूढभ्रान्तिगूढस्वमार्ग-
प्रचलितजनतायाः सुस्थिरत्वाय यत्र ।
स्वमतमवददग्निर्बालबोधे तदर्थं
कुरुत मतिमवश्यं सप्रकाशे तदीयाः ॥ ३ ॥

१ इतः परम्—

‘ श्रीमल्लक्ष्मणसूनुना विरचितः पुष्ट्यर्थमोक्षप्रदो
भक्तानामुभयोस्तु तन्मतिमतां सर्वस्वमस्मिन् कलौ ।
श्रीमद्विट्ठलदीक्षिताङ्घ्रिकमलप्रोन्मत्तसत्तालिना
श्रीमदेवकि(?)नन्दनेन विवृतः श्रीबालबोधो मया ॥’

इति पद्यमधिकमुपलभामहे ख.

इति श्रीदेवकीनन्दनचरणकृतौ बालबोधप्रकाशः समाप्तः ।

---

२ इतः परम्—

तारापण्डितानां द्वे पद्ये

“ निजोद्धरणहेतवे कपटमानुषीमाश्रित-
स्तनुं सुरनरार्चितां विदितविठ्ठलेशान्वये ।
असूत रघुनाथतो यमिह जानकी नन्दनं
स एष जगदीश्वरो जयति देवकीनन्दनः ॥
तस्याऽऽज्ञया तत्कृतबालबोध-
प्रकाशसंज्ञो महनीयकीर्त्तेः ।
ताराभिधेनाऽयमलेखि रम्यो
ग्रन्थो भवग्रन्थिविनाशिसेव्यः ॥”

इति पद्यद्वितयमधिकमुपलभामहे ख.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतः

बालबोधः ।

श्रीपुरुषोत्तमचरणविवृतिसमेतः ।

जयन्ति श्रीमदाचार्य्यवाचोऽर्थामृतवर्षणैः ।
पुमर्थादिगतभ्रान्तितापो याभिर्निवारितः ॥ १ ॥

नन्विहाऽनादौ संसारे केचन लोकायतिकास्त्यागभोजने प्रशंसन्ति । अन्ये पुनः स्वार्थमैश्वर्यादिकमेव बहु मन्यन्ते, वदन्ति च, " नमोऽस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्यगुरुशाखिने । सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने" इति । अपरे कीर्त्त्यर्थमेव यतन्ते, वदन्ति च, " यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोकेषु गीयते । तावद्वर्षसहस्राणि पुण्यलोके महीयते" इति । केचन पुनः कामानेव साधयन्ति, वदन्ति च, " शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः फलभूताश्च धर्मार्थयोस्सन्ति" । तथेतरे स्मार्त्ताद्याचारम्, वदन्ति च, "धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यत" इति । " आचारप्रभवो धर्म" इति । "शौचाचारविहीनानां समस्ता निःफलाः क्रियाः" इति । अन्ये तु धर्म एव प्रवर्त्तन्ते, वदन्ति च, " मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः । नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासये"ति । केचन तपसि, "तपसा देवा देवतामग्र आयन्नि"-त्यादिश्रुतेः । तथाऽन्ये साङ्ख्ययोगविदः संन्याससत्यशमदमादिषु, " न्यास इत्याहुर्मनीषिण" इति, "सत्येन वायुरावाती"ति, "शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ती"ति, "दमेन दान्ताः किल्बिषमवधुन्वन्ती"ति श्रुतेश्च । इतरे शिवमुपासते । अन्ये च विष्णुम् । ततस्ततश्च सकलां सिद्धिं मोक्षं चाऽऽहुः । प्रभुभिश्च भक्तिमार्ग उपदिष्ट इति किमसङ्ख्याताः पुमर्था, उत नियताः । यदि नियतास्तर्हि किं तुल्या उत गुणप्रधानभूताः । यदि गुणप्रधानभूतास्तर्हि गुणभूतानां साधनानां फलं प्रति समुच्चयो विकल्पो वा । व्यवस्थितिर्वा । फलं च किमेकमुताऽनेकम् । इति सन्दिहानानां स्वानां सन्देहजनकं तत्र तत्रोपादेयताभ्रमं वारयितुं मङ्गलवाक्य एव मुख्यं फलं साधनव्यवस्थां च सूच-

यन्तस्तादितरस्य हेयत्वावबोधनार्थं पुमर्थप्रतिपादकसर्वशास्त्रसिद्धान्तसङ्ग्रहनिरूपणं प्रतिजानते नत्वेत्यादि ।

नत्वा हरिं सदानदं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥ १ ॥

अत्र हरिं सदानन्दमिति पदद्वयेन दुःखाभावार्थं भजतां फलान्तरार्थं च भजतां "फलमत उपपत्तेरि"ति न्यायसिद्धं फलदातृत्वं स्वतः पुरुषार्थत्वेन भजतां च "यो वै भूमा तत्सुखम्" "कृषिर्भूवाचकः शब्दः" "ब्रह्मविदाप्नोति पर"मित्यादिश्रुतिभिः "जगद्व्यापारवर्जमि"त्यादिन्यायैश्च सिद्धं, परमानन्दरूपफलात्मकत्वं च बोधितम् । नत्वेत्यनेन दैन्यपूर्वकभजनस्योपलक्षणविधया साधनत्वं बोधितम् । तावता "मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः । मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत्कु[2]तस्तद्विषयात्मनाम्" "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेदि"त्यादिनिर्णीता मु[3]ख्यफलसाधनव्यवस्था च सूचिता । एवं मङ्गलं विधाय विषयमाहुः सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहमिति । सर्वेषां पुमर्थप्रतिपादकानामुपादेयानां हेयानां च शास्त्राणां यः सिद्धान्तः फलसाधननिष्कर्षस्तेषां सम्यक् ग्रहो ज्ञानं येन तादृशं ग्रन्थम् । सङ्ग्रहं समासं वा । व्यासेन कथने ग्रन्थबाहुल्याद्वृथाकालक्षेपबुद्धिक्षोभयोः सम्भवादिति द्वारकेश्वराः । यद्यपि तत्तच्छास्त्रैरपि तत्तन्मतज्ञानं भवति, तथापि, तत् भ्रान्तिसंवलितमेव तद्वक्तॄणां प्रतारकत्वात्तेषां तथात्वं च तथैवेश्वरशिक्षयेति देवकीनन्दनाः । यद्यपि मन्वादीनां कपिलादीनां च न प्रतारकत्वं तथापि "धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परम"इति वाक्याज्जघन्याधिकारकतन्निरूपणादिना मुख्याधिकारिणः प्रति फलतस्तथात्वमिति तेषामाशयः । प्रयोजनमाहुर्बालप्रबोधनार्थायेति । बालाः स्वतो हिताहितानभिज्ञतया शुद्धभावेन च दयापात्राणि । तेषां प्रकर्षेण बोधनमितरफलसाधनविषयकोपादेयताभ्रमनिरासेन यथाधिकारं भक्तौ प्रपत्तौ वा प्रवेशनसमर्थबोधोत्पादनम् । तेन योऽर्थस्तदुद्धारस्तदर्थमित्यर्थः । प्रकारमाहुः सुविनिश्चितमिति । सुष्ठु वेदादिप्रमाविशेषत ऐकाग्र्येण निश्चितं निर्द्धारितम् । तेन तत्तत्सिद्धान्तमात्रं नोच्यते, किन्तु तत्सङ्ग्रह्य तेषामुत्कृष्टमपकृष्टं वा यद्यस्य स्वरूपं वेदाद्यविरोधेन सिद्ध्यति तदत्र बोध्यत इति प्रकारो दर्शितः ॥ १ ॥

एवं प्रकारं फलसम्बन्धं च बोधयित्वा प्रथमतः पुरुषार्थविषयकं सन्देहमपाकर्तुं तन्निश्चयं सङ्ग्रहेणाऽऽहुर्धर्मेत्यादि ।

---

१ सम्यगिति क. २ कुतस्तु इति ख. ३ मुक्तेति क.

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।
जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥ २ ॥

चत्वार इति सङ्ख्यया मनिषिणामिति यथार्थविषयग्रहणसमर्थबुद्धिमद्वाचकपदेन च नानापुरुषार्थवादो भ्रान्तप्रतिपन्नत्वादनुपादेय इति बोधितम् । धर्मेत्याद्याख्याकथनेन पुरुषार्थदेवतावत्त्वबोधनाद्धर्मादिरूपेणैव पुरुषार्थता न यज्ञादिरूपेणेत्यपि सूचितम् । देवकीनन्दनास्तु—अत्र केवलार्थपदाल्लौकिका एव चत्वारोऽनुपादेयत्वायोच्यन्त इति पुरुषार्थाभासत्वबोधनायाऽऽख्यापदमित्याहुः, तेन तेषां मते वैदिकानां मर्यादामार्गे पुरुषार्थता । भक्तिमार्गे तेऽप्यनुपादेया इति भक्तिमार्गोत्कर्षमात्रबोधनार्थः सर्वो ग्रन्थः । द्वारकेश्वराणां मते त्वन्येषां निष्कर्षबोधनार्थ इति विशेषः । तत्र धर्मो नाम चोदनालक्षणोऽर्थः । चोदना च "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" "न हिंस्यात्सर्वा[2] भूतानी"त्यादिविधिनिषेधभेदेन द्विविधा । तेन धर्मोऽपि बाह्यक्रियात्मा निवृत्त्यभिसन्धिरूपान्तरक्रियात्मा च सामान्यतः प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेन च द्विविधः । अर्थस्तु स्रक्चन्दनवनिताभरणगृहादिभेदेनाऽनन्तविधः । कामोऽपि तत्तदिन्द्रियविषयभोगात्माऽनन्तविधः । मोक्षस्तु विश्वमायानिवृत्तिरूपेण स्वरूपलाभरूपेण वा एकविध एव । अवान्तरतन्त्रभेदेन बहुविधं ते ते आहुः । तथापि स्वरूप एव भेदो न तु नाम्नीत्याख्यापदम् । अर्थ्यन्ते मे सन्त्विति स्वसम्बन्धितया इष्यन्त इत्यर्थः । तेनैतेषां पुरुषार्थत्वप्रयोजकं रूपमुक्तम् । एवं पुरुषार्थान्निष्कृष्य तुल्यातुल्यत्वसन्देहनिरासाय तदवान्तरभेदं विवेक्तुमाहुर्जीवेत्यादि । हि यतो हेतोस्ते जीवैरीश्वरेण च कृतो यो विचार उपपत्तिभिः समर्थनेन तत्स्वरूपादिनिश्चयस्तेन विचारिता निर्द्धारिता, अतो विचारकृतप्रकारेण द्विधा सन्तीत्यर्थः । तथा च यद्यपि वेद एकस्तथापि तदर्थभानभेदात्तेषां द्वैविध्यमिति भावः । ईश्वरपदेन वेदो गृह्यत इति द्वारकेश्वराः ॥ २ ॥

एवं द्वैविध्यमुपपाद्य ईश्वरविचारितानां स्वरूपमाहुरलौकिका इत्यादि ।

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।
लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया ॥ ३ ॥

तुर्जीवविचारितपक्षनिरासे । अलौकिका वक्ष्यमाणलौकिकविलक्षणस्वरूपाः । वेदोक्ता वेदादेव प्रमिताः । साध्यसाधनसंयुताः, साध्यमवान्तरपरिकरादि, साधनमुपायः, ताभ्यां सम्यग्युताः, अव्यभिचरितसाध्यसाधनभावा इत्यर्थः ।

१ निकर्ष इति क. २ सर्वभूतानीत्युपलब्धम् ।

तद्यथा । "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते"त्यादिवेदवाक्येभ्यो यागाद्यात्मा धर्मः प्रमितो भवति । तदवान्तरपरिकरोपायादिकमपि "अरुणया एकहायन्या गवा पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति" "वारणो यज्ञावचरो वैकङ्कतो यज्ञावचर" इत्यादिश्रुत्यैव प्रमितं तदुक्तयैवाऽऽनुपूर्व्या यज्ञादिरूपं धर्ममव्यभिचारेण साधयति । तथा "उद्भिदा यजेत पशुकाम" इत्यादिश्रुतिभिः प्रमितोऽर्थोऽपि तदुक्तप्रनाड्यैव सिद्ध्यति। तद्वत् छान्दोग्ये वामदेव्यसामोपासनायां छान्दोग्ये बृहदारण्यके च पञ्चाग्न्युपासनायां रसब्राह्मणे च "उपमन्त्रयते सहिङ्कार" इत्यादिना "योषा वा व गौतमाग्निरिति योषा वा अग्निर्गौतम एषां वै भूतानां पृथिवी रस"इत्युपक्रम्य "स स्त्रियं ससृजे तां सृष्ट्वाऽध उपास्त" इत्यादिना च प्रमितः कामोऽपि तदुक्तरीत्या सिद्ध्यति । एवं "ब्रह्मविदाप्नोति परमि"त्यादिना मैत्रेयीब्राह्मणादिना च प्रमितो मोक्षोऽपि पुष्टि-मर्यादाभेदेन यथाधिकारमुक्तया प्रनाड्या सिद्ध्यति । तत्तत्साधनानि न व्यभिचरन्ति। द्वारकेश्वरा अप्येवमेवाऽऽहुः । देवकीनन्दनास्तु "धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्ये"ति प्रथम-स्कन्धीयार्थसङ्ग्राहकस्य "धर्मो ह्यर्थेन साधित" इत्यस्य स्वारस्यादन्योऽपि साध्यसाध-नभावः सङ्गृह्यत इत्याहुः । तेन चत्वारोऽपि सपरिकरा लौकिकेभ्यो विलक्षणाः । आपाततः साम्यं तु साजात्याल्लोकदृष्ट्या प्रतीयते मृत्काञ्चनघटयोः स्फटिकहीरकयो-रिव, न तु तत्स्वरूपैक्यं नियन्तुमलं भवति । तस्मात्ते अलौकिका एवेति निश्चयः । द्वारकेश्वरास्तु वेदोक्तानां पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वेनाऽलौकिकत्वमाहुः । देवकीनन्द-नास्तु ब्रह्मवादमाश्रित्य वैदिकानां साध्यसाधनफलानामलौकिकत्वमिच्छन्ति । अहं तु वाक्योक्तस्वरूपमादाय वदामीति विशेषः । जीवविचारितानाहुर्लौकिका इत्यादि । ऋषिभिर्मन्वादिभिर्विशालाक्षादिभिर्नन्द्यादिभिः कपिलादिभिः प्रोक्ता धर्मादयो लौकिकाः स्मृतिसिद्धा इत्यर्थः । नन्वृषीणां सर्वज्ञानां वेदवेत्तृत्वात्तदु-क्तानां कथं वैदिकेभ्यो भेद इत्याकाङ्क्षायां तत्रोपपत्तिमाहुस्तथैवेश्वरशिक्षयेति । प्रपञ्चवैचित्र्येणाऽधिकारिभेदात्तत्तदर्थमीश्वरेण तथैव शिक्षिता अतस्तथेत्यर्थः । इद-मपि "नो लङ्घनीयाः कुलदेशधर्माः" "शूद्रेषु दासगोपालः" "चतुर्थीमुद्वहेत्कन्याम्" "योगेनैव दहेद्देह" इत्यादिवाक्यैस्तु मीयते । द्वारकेश्वरास्तु तथैव स्वप्रकृत्यनुसारे-णैव ईश्वरस्य वेदस्य शिक्षया अर्थावबोधेनेत्यर्थमाहुः । इदमप्येकादशस्कन्धे चतुर्द-

---

१ यज्ञाविचर इति क. २ प्रमितः इति ख. ग. घ. ३ तदुक्तयैवाऽऽनुपूर्व्या यज्ञादिरूपं साध्यं धर्ममव्य-भिचारेण साधयन् (?) अपूर्वं यद्धर्माख्यं नित्यं भगवद्रूपं तदभिव्यञ्जकं करोतीति क. घ. पाठोऽयमविरुद्धोऽपि मूल-नैरपेक्ष्यान्न प्राधान्येनाऽऽदृतः ।

शेऽध्याये "वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिन" इत्याद्युद्धवप्रश्ने "कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता । मयाऽऽदौ ब्रह्मणे" इत्यारभ्य "मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ । श्रेयो वदन्त्यनैकान्त्याद्यथाकर्म यथारुची"त्यन्ते सन्दर्भे सिद्ध्यतीति न शङ्कालेशः ॥ ३ ॥

एवं द्विविधानां स्वरूपमुक्त्वा लौकिकतत्प्रवक्तॄणामृषीणामानन्त्यात्तदुक्तिषु हेयोपादेयभावं बोधयितुं वैदिकानां निःसन्दिग्धत्वं च बोधयितुमाहुर्लौकिकानित्यादि ।

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदाद्याद्या अतः स्थिताः ।
धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥ ४ ॥
त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते ।

लौकिकान् स्मार्त्तान् धर्मादीन् । तुः शिष्यपरिगृहीतपक्षानिरासे । प्रकर्षेणेतरविवेकेन वक्ष्यामि कथयिष्यामीत्यतो हेतोः आद्या अलौकिका वेदात्काण्डद्वयात्मकात् स्थिताः जैमिनिकल्पकारबादरायणैराचार्यैः शब्दादिबलाबलं विचार्य शब्दादेव गुणप्रधनभावेन व्यवस्थापिताः । तथाच यदि वैदिकधर्मेप्सुस्तदा यथाशाखं कल्पेन जैमिनीयेन च धर्मं साधयेत् । तथैवाऽर्थेप्सुरपि ताभ्यां तम् । यदि कामेप्सुस्तदा तथैव तमपि । मोक्षेप्सुस्तु यथाधिकारं वैयासेन ब्रह्मवादेन स्वतो मोक्षं भेदवादविशिष्टाद्वैतवादविशिष्टभक्त्यादिभिः परतो मोक्षमिति निबन्धादौ निर्णीतमेव । अतस्तेषामसन्दिग्धत्वादन्त्यानेव कथयिष्यामीत्यर्थः । एवं प्रतिज्ञाय "मानाधीना मेयसिद्धि"रिति मानकथनमुखेनैवाऽऽहुर्धर्मेत्यादि । धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि गृह्यसूत्रादीनि च । तेनाऽऽगमा वामाद्या व्यावर्तिताः । नीतिः बृहस्पत्यादिप्रणीतं राजनीतिशास्त्रम् । एकवचनं ब्राह्मवैशालाक्षबाहुदन्तकबार्हस्पत्यौशनसप्राचेतसादीनामिदानीमप्रसिद्धत्वाद्राजधर्मादौ भारते दिङ्मात्रमुक्ताया अपि नीतेः कार्यक्षमत्वात्तत्परम् । तेन चौरद्यूतकारादिशास्त्राणि व्यावर्त्तितानि । कामशास्त्राणि वात्स्यायनसूत्राणि । ब्राह्मनान्दबाभ्रव्यादीनामिदानीमप्रसिद्धत्वेऽपि दन्तकादिप्रणीतशास्त्रार्थस्य वात्स्यायनसूत्रेषु सप्ताधिकरण्या कथनाद्बहुवचनम् । तेनाऽपि " मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिष्वि"त्यादिबोधकानि कौलादीनि व्यवर्त्तितानि । एतानि क्रमात् त्रिवर्गसाधकानि । तथा च तदुक्तरीत्या साधने धर्मार्थकामाः परस्पराविरोधेन सिद्ध्यन्ति । यथाऽऽह

१ एतेन 'यतः स्थिता' इत्यत्र 'अतः स्थिता' इति पाठः प्राप्यते परन्तु मूले तथा स्वीकारे प्रत्युत योजनायाः क्लिष्टत्वात् 'कथयिष्यामि यतो हेतोरि'ति विवृतावेव पाठः प्रतिभाति । २ तेनाऽऽगमाद्या व्यावर्त्तिता इति ख, ३ बाहुदन्तकेति ख, बाददत्तकेति ग,

वात्स्यायनः, "किं स्यात्परत्रेत्याशङ्का यस्मिन्कार्ये न जायते । न चाऽर्थघ्नं सुखं चेति शिष्टास्तस्मिन्व्यवस्थिता " इति । अन्यथा साध्यमानास्तु परस्परविरोधादधर्मानर्थद्वेषाख्यदुष्टत्रिवर्गपर्यवसायिनो भवन्तीत्यर्थः । एवं त्रिवर्गे गुणप्रधानभावो गुणभूतसाधनव्यवस्था च सङ्क्षेपेण सूचिता । अतः परमधर्माधभावाय यथैतानि शास्त्राण्युक्तानि तथैतेषां निर्णयोऽपि तदर्थं वाच्य इत्याकाङ्क्षायामाहुरिति न तन्निर्णय उच्यत इति । इति त्रिवर्गसाधनत्वादेव हेतोः तेषां धर्मशास्त्रादीनां निर्णयो नोच्यते, " त्रैवर्गिकायासे"तिवाक्येन भगवन्मार्गे तेषामनुपादेयत्वान्नोच्यत इत्यर्थः ॥ ४½ ॥

एवं त्रिवर्गव्यवस्थां सूचयित्वा मोक्षरूपं फलमेकमनेकं वेत्याकाङ्क्षायां तद्भेदं वक्तुमाहुर्मोक्ष इत्यादि ।

मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ॥ ५ ॥
द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ ।
त्यागात्यागविभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥

स्मार्तमोक्षविषयकाणि चत्वारि शास्त्राणीत्यर्थः । एतेन " प्रजामनु प्रजायन्ते तदु मर्त्यामृतं विदुरि"ति श्रुत्युक्तः " स्वर्गं मोक्षं सुखानि च । प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहा " इति पितृदेयो मोक्षस्तच्छास्त्रं च निवारितम् । एवमन्यदपि तन्त्रोक्तम् । कथमेवमित्यत आहुः परत इत्यादि । परतः स्वतः द्विधा परायत्तस्वायत्तभेदेन द्विप्रकारके मोक्षे द्वे द्वे शास्त्रे, तेन चत्वारीत्यर्थः । अवान्तरविभागं सप्रयोजकं वक्तुं परायत्तमोक्षपक्षे विचारबाहुल्यात्तदनुक्त्वा सूचीकटाहन्यायेन स्वायत्तमोक्षप्रतिपादकविभागमाहुः स्वत इत्यादि । स्वतस्तत्र स्वायत्ते मोक्षे त्यागात्यागविभागेन साङ्ख्ययोगौ दर्शनग्रन्थौ प्रकीर्त्तितौ आदृतत्वेन शिष्टैः कथितौ । तथा चैतौ शिष्टादृतावित्यर्थः । एतेन मोक्षप्रतिपादकौ कणभक्षाक्षचरणदर्शनग्रन्थौ शिष्टानादृतत्वेन व्यावर्तितौ । अत एव पराशरोपपुराणे "अक्षपादप्रणीते च काणादे साङ्ख्ययोगयोः । त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंऽशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिरि"ति । " एतेन शिष्टापरिग्रहा व्याख्याता " इति व्याससूत्रञ्च । तेन कैमुतिकन्यायादेव तथागतार्हतलोकायतादिव्यावृत्तिरपि सूचिता । एवं प्रयोजकभेदमुक्त्वा क्रमे प्रातिलोम्यभ्रमं वारयितुमाहुः साङ्ख्ये त्यागः प्रकीर्त्तित इति । साङ्ख्ये हि " मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष " इति नित्यानित्यवस्तूनि सङ्गृह्य तद्विवेकेन पुरुषस्य

१ सप्रयोजनकमिति क. ग. २ प्रयोजनभेदमिति घ. ३ नित्यानि वस्तूनीति क. ४ तत्तद्विवेकेनेति क.

मोक्षः प्रतिपादितः । ततः " एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् । अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानमि"तीश्वरकृष्णाचार्येणाऽहन्ताममतात्यागो ज्ञानसाधनत्वेनोक्तः । साङ्ख्यप्रवचनेऽपि " तत्त्वाभ्यासान्नेति नेति त्यागाद्विवेकासिद्धिरि"तिसूत्रितम् । अर्थस्तु धर्मवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याख्यैः सप्तभी रूपैः प्रकृतिः पुरुषं बध्नाति । एकेन ज्ञानेन रूपेण सैव मोचयतीति तत्त्वाभ्यासात्पौनः-पुन्येन मननात् पूर्वप्रतिपादितैर्न्यायैरनात्मनां त्यागाद्विवेकस्य सिद्धिर्दृढभूमित्वं भवतीति । तथा चैवं मोक्षसाधनत्वेनोक्तः । अतस्त्यागेन स्वायत्तमोक्षबोधकं साङ्ख्यशास्त्रमित्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

अतः परं यदर्थमिदं साधनमुक्तं तस्य मोक्षस्य स्वरूपमाहुरहन्तेत्यादि ।

अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥ ७ ॥

पूर्वोक्तरीत्या प्रकृतिप्राकृतत्यागेन स्थूललिङ्गशरीराहन्तायास्तत्परिकरममतायाश्च नाशे सति बुद्धितत्त्वस्थे स्वप्रतिबिम्बेऽभिमानाभावेन कर्तृत्वभोक्तृत्वाभावात्सर्वथा निरहङ्कृतौ सर्वथोदासीनत्वे सति स्वरूपस्थो " जडप्रकाशयोगात्प्रकाश " इति सूत्रान्निर्विषयप्रकाशात्मत्वेन विद्यमानो यदा जीवः शारीर आत्मा भवति तदा स आत्मा कृतार्थो मुक्तो निगद्यते साङ्ख्याचार्यैरुच्यते । तथा च विस्मृतकण्ठमणिन्यायेन स्वस्वरूपे ज्ञाते बन्धो निवर्तत इति विविक्तस्वरूपमेव स्वतो मोक्ष इत्यर्थः । मायावादिमतेऽप्येवम् ॥ ७ ॥

ननु गौतमकणादादिमतवत्साङ्ख्यादिमतमप्यंशतः श्रुतिविरुद्धमिति कथं साङ्ख्यप्रतिपन्ने मोक्षे शिष्टानामादरः, चिद्धर्मकस्य जीवस्यैकविंशतिदुःखध्वंसात्मके अशेषविशेषगुणोच्छित्त्यात्मके च गौतमाद्युक्ते मोक्षे कथं नाऽऽदर इत्याकाङ्क्षायामाहुस्तदर्थमित्यादि ।

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।
ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ॥ ८ ॥

" मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिरि"ति पुराणे मोक्षलक्षणात्तदर्थं तादृशमोक्षार्थं प्रक्रिया पञ्चविंशत्यादितत्त्वकथनरूपा प्रकृत्यादिभ्य आत्मविवेकसाधनार्था च सरणिः काचित्पुराणेऽपि निरूपिता । पुराणं श्रुत्युपबृंहणत्वाद्वेदार्थनिर्णायकमतस्तत्सामानाधिकरण्यादत्र शिष्टादरः । कणादाद्युक्तानां त्वस्मिन्नप्यंशे वैयधिकर-

१ ज्ञानरूपेणेति क. २ प्रकृतिप्रकृत्यत्यागेनेति क. ३ जडजीवप्रकाशयोगादिति ग. ४ तत्समानाधिकरण्यादिति क. ख. ग.

ण्यादनादर इत्यर्थः। ननु साङ्ख्यमनेकविधम्। क्वचित् षड्विंशतितत्त्वानि। क्वचित् पञ्चविंशतिः। क्वचित् षोडश सप्तदशेत्यादि। तथा सति तेषामेकफलाभावात्कथं सर्वेषां साङ्ख्यानामादरणीयत्वमिति चेत्, तत्राऽऽहुः ऋषिभिरित्यादि। यद्यपि साङ्ख्यप्रक्रिया ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता, तथापि, अबाह्यतः विमार्गपरिपोषिताद् आत्मव्यतिरिक्तत्यागरूपं यदबाह्यमन्तरङ्गं साधनं तत्सर्वत्रैकम्। ततो वा हेतोस्तासु सर्वास्वपि प्रक्रियासु फलं स्वरूपावस्थानात्मकमोक्षरूपमेकमेव। अतो बाह्यसाङ्ख्यव्यतिरिक्तं सर्वमेव साङ्ख्यं शिष्टादरणीयमित्यर्थः॥ ८॥

एवं स्वतो मोक्षसाधकमेकं शास्त्रं निर्णीतम्। अतः परं द्वितीयं निर्णेतुमुपक्षिपन्त्यत्याग इत्यादि।

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि।
यमादयस्तु कर्त्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता॥ ९॥

अत्यागे त्यागाभावे साधनत्वेन विवक्षिते योगमार्गश्चित्तवृत्तिनिरोधेनाऽऽत्मबोधको यः पन्थाः, स हि युक्तः पुराणसमानाधिकरणः। तथा च ततः शिष्टादृत इत्यर्थः। ननु त्यागाभावे कथं योगसिद्धिः कथं च मोक्ष इत्याकाङ्क्षायां तत्रत्यं साधनसमाजमाहुस्त्याग इत्यादि। हि यस्माद्धेतोर्मनसैव त्यागो "नैव किञ्चित्करोमी"त्याद्युक्तवत्। तु पुनः यमादयः यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधयो बाह्याभ्यन्तरा उपायत्वेन कर्त्तव्याः। तैः सिद्धे योगे चञ्चलस्य मनसोऽखिलवृत्तिनिरोधे दृढे सति कृतार्थता आत्मनः स्वरूपावस्थानरूपमोक्षसिद्धिरित्यर्थः। एतेन निर्बीजसबीजयोगा अबाह्या यावन्तस्ते सर्वेऽपि योगत्वेन सङ्गृहीताः॥ ९॥

एवं स्वतो मोक्षे द्वितीयं शास्त्रं निर्णीतम्। अतः परं परतो मोक्षविषयकं शास्त्रद्वयं निर्णेतुं तत्रत्यमोक्षस्वरूपनिरूपणपूर्वकं तत्प्रपञ्चयन्ति पराश्रयेत्यादि।

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते।
ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते॥ १०॥

ते सर्वार्था न चाऽऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम्।
अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ॥ ११॥

पराश्रयेण परस्य तत्तच्छास्त्रे सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रतिपादितस्य आश्रयेण सर्वा-

१ विमार्गपरिपोषितादिति ग. २ वेदबाह्यमिति क. ३ मोक्षस्वरूपमिति ख. ग. ४ आत्मवाचक इति ग. ५ समदृढसति इति क. ६ परमिति नास्ति ख.

त्मना आलम्बनेन मोक्षः बन्धनिवृत्त्या सालोक्यादिचतुष्टयरूपः । तुः पूर्वपक्षनिरासे । केवलस्वरूपावस्थानरूपो न किन्तु तत्तदानन्दानुभवात्मा । द्विधा परद्वैविध्यात् द्विप्रकारः । तेन तत्प्रतिपादकशास्त्रेऽपि द्वित्वमित्यर्थः । कथं द्वैविध्यमित्याकाङ्क्षायामाश्रयणीयरूपभेदादिति वक्तुं तन्निरूपणं प्रतिजानते सोऽपि निरूप्यत इति । अपिरनादरस्य सूचनाय । तत्र "लीलया परमेश्वराः" "वरदेशा वयं त्रयः" इत्यादिवाक्यैर्गुणदेवानां त्रयाणां पुराणेषु तुल्यतानिरूपणात्तौल्येऽपि सरस्वतीशापादिना ब्रह्मणः पूज्यत्वापगमान्मोक्षस्य सृष्टिविघातकत्वेन स्वकार्यप्रतिबन्धकत्वाच्च स मोक्षं न ददातीति तदर्थमनाश्रयणीयतां तस्योपपादयन्ति ब्रह्मेत्यादि । ब्रह्मा रजोयुक्तोऽभिमानी अनभिमानी वा ब्राह्मणतां ब्रह्म वेदः परब्रह्म वा तज्ज्ञातृतां वर्णविशेषाभिमानिब्रह्माख्यदेवताधिष्ठानतां वा यातस्तद्रूपेण ब्राह्मणरूपेण सुतरां ब्रह्मज्ञानार्थं वेदाध्ययनार्थं ब्रह्मवर्चसाद्यर्थं च सेव्यते, न तु मोक्षदातृत्वेन ॥ १० ॥

तत्र गमकमाहुस्ते सर्वार्था न चाद्येन नेति । ते[2] चत्वारोऽर्थाः ब्रह्मणा न किन्तु द्वित्रा एव । ते वा सेवितारः । ब्रह्मणा प्राप्तसर्वार्था न किन्तु यत्किञ्चिद्वन्तः । दृश्यते हि श्रुत्यादौ मनोरिन्द्रस्य च वेदाध्ययनायाऽऽत्मज्ञानाय च ब्रह्मसेवा । "ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिमि"ति पुराणवाक्यम् । सुन्दोपसुन्दहिरण्यकशिपुप्रभृतीनामर्थकामावेव, न तु कस्याऽपि मोक्षदानमिति । देवकीनन्दनास्तु—तद्दत्तार्थकामयोरप्यग्रे नाशहेतुत्वादपुरुषार्थत्वमाहुः । अतः परं टीकान्तरमतं मया न लिख्यते । व्याख्यानस्य क्लिष्टत्वात्[3] । स्वस्य यथा भातं तथैव लिख्यते । तर्हि मोक्षदानसामर्थ्ये किं मानमत आहुः शास्त्रमित्यादि । मोक्षशास्त्रं वैखानसतन्त्रादिरूपं किञ्चिदुदीरितं यथा धर्मार्थकामा अध्यायानां शतसहस्रेण सप्रपञ्चमुक्तास्तथेदं नोक्तं किन्तु सङ्क्षिप्तमुक्तम् । भगवति देवत्वं प्रतिपाद्य तेन गुरुत्वोपाधिना मोक्षप्रयोजको भवतीति सामर्थ्यं विद्यते, परन्तु देवत्वोपाधिना न ददातीति नाऽऽश्रीयत इत्यर्थः । एवं तस्याऽनाश्रयणीयत्वे द्वयोरेव मोक्षदातृत्वान्मोक्षे द्वैविध्यमित्याशयेनाऽऽहुरत इत्यादि । यतो ब्रह्मा न स्वयं देवत्वेन मोक्षदो न वा देवत्वेन मोक्षशास्त्रप्रवर्तकः, अतः शिवः चकारात्तद्भजनं विष्णुः चकारात्तद्भजनं जगतः सर्वस्य हितकारकौ भजनेन चतुर्वर्गदातारौ ॥ ११ ॥

वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्त्तकौ ।
ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥ १२ ॥

---

१ चेति ख. ग. घ. २ ते च चत्वारोऽर्था इति ख. ३ व्याख्यानक्लिष्टत्वादिति ख.

निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ।
भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥ १२ ॥
भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः ।

किञ्च, वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ विष्णुशिवयोरवश्यकर्त्तव्यौ। तावपि शास्त्रस्य चतुर्वर्गविषयस्य श्रुतिसमानाधिकरणपञ्चरात्रस्य तादृशपाशुपतस्य च प्रवर्त्तकौ। उत्पद्यमानानामतिपराधीनत्वादप्रौढत्वाच्च न स्वतः प्रवृ[illegible]र्मोक्षादिवीप्सा दुःखभीतिश्च। ततः स्थितानां संहरिष्यमाणानां स्थित्यादिना सुखदुःखाद्यनुभवात्प्रौढत्वाच्च या चतुर्वर्गेप्सा तदर्थं प्रवृत्तिर्भीतिश्च सा स्थितिसंहारप्रयुक्तैवेति तादृशां दर्शने दयया श्रुत्यविरुद्धशास्त्रकरणमिति तावेव प्रवृत्तिप्रयोजकौ। अतः स्वकार्याप्रतिबन्धादपि तौ तथेत्यर्थः। क्वचित्तु 'वस्तुनः स्थितिसंहारे कार्ये' इति पाठः। तथा 'वस्तुस्थितौ च संहारे कार्ये' इत्यपि पाठः। तदा वस्तुनः स्थितिसहिते संहारे वस्तुस्थितौ संहारे च कार्ये कर्त्तव्ये सति यच्छास्त्रं धर्मादिजनकं मोहकं वामादिकं च तस्य प्रवर्त्तकौ। तेनाऽमुग्धानां साक्षात् मुग्धानां च मोहतारतम्येन सन्निकृष्टविप्रकृष्टपरम्परया धर्मादीनामधर्मादिनिवृत्तेश्च जनकावतस्तथेत्यर्थो ज्ञेयः। इदमपि पुराणेषूक्तम्। तथा च कूर्मपुराणे देवदारुवनस्थानां गौतमशप्तानां मुनीनां प्रसङ्गे "न वेदबाह्ये पुरुषे पुण्यलेशोऽस्ति शङ्कर" इत्युपक्रम्य 'तस्माद्वै वेदबाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनाम्। विमोहनानि शास्त्राणि करिष्यामो वृषध्वज। एवं संबोधितो रुद्रो माधवेनाऽसुरारिणा[1]। चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः। कापालं लागुडं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम्। पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथाऽन्यानि सहस्रशः' इति। अत्र शास्त्राणां विमोहनत्वस्य रक्षणार्थत्वस्य चोक्त्या पापादिना दुर्भाग्ययोगेन तत्र प्रवेशेऽपि बहुजन्मविपाकेनाऽधर्मनिवृत्तौ पुनः सन्मार्गलाभ इति सूचितम्। तेन न शङ्कालेशः। ब्रह्ममीमांसायां तर्कपादे "पत्युरसामञ्जस्यात्" इत्यनेन यदीश्वरस्य केवलनिमित्तत्वमिति वादस्य दूषणं तथा 'उत्पत्त्यसम्भवात्' इत्यादिना. सृष्टिप्रक्रियांशस्य यद्दूषणं पाशुपतपञ्चरात्रयोस्तदेतदीययोरेव। न तु श्रुत्यविरुद्धयोः। इदं यथा तथा प्रहस्तावृत्ते वादे निपुणतरमुपपादितमस्माभिः। ननु श्रुत्यविरुद्धे शास्त्रे तौ कथं हितकारकतया प्रतिपादितावित्याकाङ्क्षायां तत्प्रमेयं सङ्ग्रहेणाऽऽहुर्ब्रह्मैवेत्यादि। ब्रह्मैव तादृशं शिवरूपं विष्णुरूपं च। अथर्वशिखास्वथर्वशिरः[2]श्वेताश्वतरीयमन्त्रोपनिषत्कैवल्योपनिषत्सु शिवरूपेण महानारायणोपनिषन्नारायणोपनिषन्महोपनिषत्सु बालोपनिषत्सु

[1] माधवेन मुरारिणेति क. [2] अथर्वशिखाऽथर्वशिर इत्यादि क. ख. अथर्वशिक्षाऽथर्वशिर इत्यादि घ.

विष्णुरूपेण च ब्रह्मण एव प्रतिपादनात् । तत्तच्छास्त्रे श्रुत्यविरुद्धे पाशुपते पञ्चरात्रे च यस्माद्धेतोः सर्वात्मकतयोदितौ निमित्तोपादानात्मकत्वेनोक्तौ । निर्दोषपूर्णगुणता तयोः कृता । तेन ब्रह्मत्वमेव तयोः स्फुटीकृतम् । पाशुपते हि पशुपतिना पशुपाशविमोक्षणाय 'अथाऽतः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्यामः' इत्यादिना कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताख्यैः पञ्चभिरध्यायैः—कार्यरूपो जीवः पशुः, कारणं पशुपतिरीश्वरः, योगः पशुपतौ चित्तसमाधानं, विधिर्भस्मना त्रिषवणादिस्ततो दुःखान्तसञ्ज्ञो मोक्षश्चोक्तः । एवं पञ्चरात्रेऽपि—भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वम् । स सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धैः सह चतुर्व्यूहः । तमभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैर्यावज्जीवमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यत इत्युक्तम् । तेन प्रमेयं श्रुत्यविरुद्धम् । तत्र देवतान्तरत्ववादस्तु श्रुतिपुराणविरोधादुपेक्ष्यः । आग्रहवादिनस्तु प्रतर्दनाख्यायिकावदनुगमाधिकरणेन दत्तोत्तरा इति प्रमेयमविरुद्धम् । साधनं चोभयत्राऽपि तत्तदुक्तप्रकारेण तत्पूजनम् । तदपि पुराणाविरुद्धम् । तेन तयोरपि मोक्षशास्त्रत्वमिति भावः । इदं सर्वं भारते मोक्षधर्मे उक्तम् । 'साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै । साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते । हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नाऽन्यः पुरातनः । अपान्तरतमश्चैव[1] वेदाचार्यः स उच्यते । प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन । उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो[2] ब्रह्मणः सुतः । उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः । पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् । सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते । यथागतं तथाज्ञानं[3] निष्ठा नारायणः प्रभुः । न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशाम्पते । तमेव शास्त्रकर्त्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः । निष्ठा नारायणमृषिं[4] नाऽन्योऽस्तीति वचो मम । निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं स वसते हरिः । निःसंशयान् हेतुबलान्नाऽध्यावसति माधवः" इति । अत्र साङ्ख्यादीनां पञ्चानां भगवत्परत्वं 'निष्ठा नारायणः प्रभुः' इत्यन्तेनोक्त्वा 'न चैनमि'त्यर्द्धेन एवं ब्रह्मरूपेण न जानन्ति किन्तु देवतारूपेणाऽऽत्मरूपेणेति फलभेदे हेतुरुक्तः । ततः 'तमेव शास्त्रे'ति श्लोकेन शास्त्रकर्तॄणां स्वस्य चाऽऽशय उक्तः । अत्र[5] प्रवदन्तीत्यस्य बोधयन्तीत्यर्थः 'तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ती'तिवत् । किञ्च । ऋषिपदेन मन्त्रद्रष्टृत्वबोधनात्तेष्वाविश्य तत्तत्प्रकाशकत्वं[6] बोधि-

१ अपान्तरतमाश्चैवेति क. २ केशवमिति ख. घ. केशवेति ग. ३ यथाज्ञानमिति क. ४ मुनिरिति ग. ५ अत्र प्रवदन्तीत्यारभ्य तत्तत्प्रकाशकत्वं बोधितमित्यन्तं न दृश्यते ग्रन्थः क. ख. ग. ६ तत्तत्प्रकाशकत्वञ्चेति घ. किञ्चेति प्रस्तुतेऽस्य प्रयोजनन्तु न पश्यामः । तदर्थं चकारो लेखकप्रमाद एवेति भाति ।

तम् । ततो 'निःसंशयेष्वि'तिश्लोकेन तमोभिभूतानां स्वरूपावस्थानमात्रं देवतारू-पादेव तत्सायुज्यान्तं फलञ्च, न तु भगवदानन्दो भगवद्दत्तो वा भजनानन्द इति निरूपितम् । तेन तन्मोक्षस्य स्मार्तत्वाल्लौकिकत्वं समर्थितम् । न चाऽत्र पञ्चरात्रस्य नारायणवक्तृकत्वकथनात्कथं जीवविचारितत्वमिति शङ्क्यम् । 'तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः । तन्त्रं सात्वतमाचष्ट' इत्यादिवाक्येषु नारदवक्तृकत्वस्याऽपि कथनात्तस्याऽऽवेशित्ववदत्राऽप्यावेशिन एव वक्तृकत्वात् । निष्ठास्थले तु पर एव परा-मृश्यत इति न कोऽपि विरोधः । एवं मोक्षविषये सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहं निरूप्य पञ्चानां याथातथ्येनाऽर्थज्ञानवतां तत्तत्सिद्धान्ते प्रवृत्तानां किं तुल्यं फलमुत फलभेद इत्या-काङ्क्षायां साङ्ख्ययोगयोः स्वरूपावस्थानमात्रस्य फलस्य कथनात्तत्र तावदेव फलं तच्च पूर्वमेवाऽनूदितमिति तदनुक्त्वा पाशुपतपञ्चरात्रयोः फलं तत्प्रतिपाद्यस्व-रूपविचारेणाऽऽहुर्भोगेत्यादि । तत्तच्छास्त्र उभयदातृत्वस्योक्तत्वाद् द्वावपि द्वयोर्दाने यद्यपि समर्थौ, तथापि श्रीभागवते दशमस्कन्धे 'देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् । प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम्'इति प्रत्यक्षानुरोधिनि राजप्रश्ने 'शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंयुतः । वैकारिकस्तै-जसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा । ततो विकारा अभवन् षोडशाऽमीषु कञ्चन । उपधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् । हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः । स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेद्'इति श्रीशुकेन स्वरूपं विचार्य तादृशफलनियमसम-र्थनात् भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुना इति विशेषतो निश्चयः पुराणस्य श्रुत्युप-बृंहणत्वेन श्रुत्यभिप्रेतोऽयमेव निर्णय इत्यर्थः । तथा सति पुराणे श्रुतौ च यच्छिवस्य मोक्षप्रदत्वं विष्णोश्च भोगप्रदत्वं यदुच्यते तत्सामर्थ्याभिप्रायं न तु दानाभिप्रायम् । वस्तुतस्तु रूपविशेषेण फलविशेषो नियत एव । अत एव 'ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेन्मो-क्षमिच्छेज्जनार्दनादि'ति वाक्यम् ।

परन्तु युक्त्यभावे एतद् बालैर्नाऽवधारयितुं शक्यमित्यतस्तत्र लौकिकीं युक्ति-माहुर्लोकेऽपीत्यादि ।

लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचित् ॥ १४ ॥

स्फुटमेतत् । तथा च 'यस्याऽनवद्याचरितं मनीषिणो गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः । निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं पिशाचचर्यामचरत्सतां गतिः । हसन्ति यस्याऽऽचरितं हि[5] दुर्भगाः स्वात्मन् रतस्याऽविदुषः समीहितम् । यैर्वस्त्र-

१ देवतारूपादेवतासायुज्यान्तमिति क. २ फलं नत्विति चकाररहितः पाठः क.ख.ग. ३ गुणसंवृत इति क. ४ अपधावन्निति ख. ग. ५ सुदुर्भगा इति ग.

माल्याभरणानुलेपनैः श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितमि"त्यादिवाक्येषु पिशाचचर्याया भोगत्यागस्याऽऽत्मरतत्वस्य च कथनेन शिवस्य सर्वदा मुक्तिर्भोग्या । 'अनन्वितं ते भगवन्विचेष्टितं यदात्मना चरसि हि कर्म नाऽज्यसे । विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं न मन्यते स्वयमनुवर्त्तर्ती भवान् । यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याऽङ्घ्रियुगं नवं नवम् । पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलाऽपि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचिदि"त्यादिवाक्येष्वनपेक्षस्याऽपि लक्ष्म्या अत्यागकथनात्सर्वत्र पुरुहूतरूपेणैव प्राकट्याद्भोगो भोग्यः स्फुट एव । तेन स्वभोग्यत्वाच्छिवो मुक्तिं विष्णुर्भोगं च न ददातीत्यर्थः । वस्तुतस्तु "आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य जीवलोकस्य राधसे । शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः" इति वाक्याद्धोरशक्तिनियमानुरोधेनोक्तसन्दर्भेबोधितोपासकदोषेण च मोक्षं शिवो न ददाति । 'भक्ताय चित्रा भगवान्हि सम्पदो राज्यं विभूतीर्न समर्द्धयत्यजः । अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवमि'ति वाक्याद्भोगदोषदर्शनेन 'न मन्यते' इति वाक्याच्छक्त्यनधीन इति स्वातन्त्र्येण च भोगं विष्णुर्न ददातीति भावः । द्वारकेश्वरा अप्येवमेवाऽऽहुः ॥ १४ ॥

नन्वेवं सर्वथा अदाने पाशुपततन्त्रस्य मोक्षशास्त्रत्वं भज्येत । " अपत्यं द्रविणं दारा हारा हर्म्यं हया गजाः । सुखानि स्वर्गमोक्षौ च न दूरे हरिभक्तित ' इत्यादिवाक्ये उक्तं भगवद्भक्तेरपत्यादिसाधनत्वं च विरुद्ध्येतेत्याशङ्कायामधिकारिविशेषे दानमाहुरतिप्रियायेत्यादि ।

> अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि ।
> नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥ १५ ॥
> प्रत्येकं साधनश्चैतद् द्वितीयार्थे महाञ्छ्रमः ।
> जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥ १६ ॥
> श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति ।

अतिप्रियाय परमप्रीतिविषयाय तदपि स्वभोग्यमपि दीयते । दीङ् दाने । ददाति । इदमपि लोकसिद्धम् । अन्यथा कृपणत्वं स्यात् । तत्र गमकमाहुः क्वचिदेव हीति । हि यस्माद्धेतोः क्वचिदेव पुरुषविशेष एव मयबाणसदृशे शिवो मोक्षं ददाति ।

---

१ " अतः परं टीकान्तरमतं मया न लिख्यते " इति पूर्वमुक्तेऽपि यदिह टीकान्तरमतोपन्यासः स सम्मतिप्रदर्शनार्थः । न तु मतान्तरतयेति मे भाति । अन्यदीयं टिप्पणमेव वा प्रमादाद् ग्रन्थप्रविष्टं भवेत् । २ भगवद्भक्तेः स्तुत्यादिसाधनत्वेति क.

उपरिचरवस्वादिसदृशे विष्णुर्भोगं ददाति। तेन अतिप्रियायैव ददातीति निश्चीयते। तस्मादुभयदानशक्तौ न सन्देहो नाऽपि मोक्षशास्त्रत्वभङ्गो न वा वाक्यविरोध इत्यर्थः। द्वारकेश्वरास्तु अतः प्रियायेति पेठुः। एवमत्र साधनभेदेन फलभेदः साधितः। अतः परं तयोः शास्त्रयोर्यत्साधनं प्रतिपादितं तत्करणेऽपि कथं कस्यचिद्देवांऽतिप्रियत्वमित्याकाङ्क्षायां तत्र तत्साधनोपचयात्किन्तु शास्त्रान्तरोक्तात्तदुक्ताद्वा साधनान्तरादिति वक्तुं फलबलेनाऽतिप्रियत्वसाधनमाहुर्नियतेत्यादि। अतिप्रियत्वनियतो यो भोगमोक्षरूपोऽर्थस्तस्य प्रदानेन लक्ष्म्या इव स्वस्येव (१) सम्पादनेन हेतुना तदीयत्वं तदाश्रयः एतदुभयं पुराणोक्तं समुदितं प्रत्येकं च साधनम्। तथा चैताभ्यां प्रत्येकसमुदिताभ्यामतिप्रियत्वे यथाधिकारं भोगस्य मोक्षस्य च दानमित्यर्थः। ननु सामर्थ्ये विद्यमाने शिवो मोक्षं विष्णुश्च भोगं यन्न ददाति तदिदमौदार्यविरोधीत्यत आहुर्द्वितीयार्थे महाऽन्ऋम इति। सर्वेभ्यः साधारण्येन दीयमानाद्व्यतिरिक्तो द्वितीयः। तदर्थे तयोर्महान् प्रयासः। अतो न ददतः। तथाच न ह्युदारः प्रयासं कृत्वा ददात्यपि त्वयत्नसिद्धमिति लोके दृष्टमतो न दोष इत्यर्थः। यद्वा। तदेव वक्तुं फलबलेन साधनाभावकथनपूर्वकमतिप्रियत्वस्याऽतिरिक्तं साधनमाहुर्नियतेत्यादि। साधारणेभ्यो नियतस्याऽर्थस्य प्रदाने सति न तदीयत्वं तदाश्रयश्च न। एतच्च द्वितीयार्थे साधारणदेयव्यतिरिक्तार्थे प्रत्येकमपि साधनम्। यद्येतत्स्यात्तदाऽतिप्रियत्वात्तदेव दद्यान्न तु साधारणवतस्तथेत्यर्थः। ननूदारस्य साधनापेक्षा नोचितेत्यत आहुर्महाऽन्ऋम इति। अर्थस्तूक्त एव। कुतो महानित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति जीवाः स्वाभावतो दुष्टा इति। जीवाः शारीरात्मानः सलिङ्गाः। "एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडशविस्तृतम्। एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते" इति चतुर्थस्कन्धे नारदवाक्यात्। यद्यपि श्रुतौ केवला अपि जीवपदेनोच्यन्ते। तथापि, 'त्रयः प्राजापत्या देवा मनुष्या असुराश्चे'ति श्रुतेः, "उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवाः" इत्यादिपञ्चरात्रवाक्याच्च देवत्वादिवैशिष्ट्यं सलिङ्गानामेवेति तादृशा एवाऽत्र ग्राह्याः। तेषां च स्वभावतः लिङ्गवैशिष्ट्यतो यः साहजिको देवमनुष्यासुरत्वरूपो धर्मस्तस्माद्दुष्टाः अविद्याकामकर्मजवासनाविशेषदोषभाज इति तद्दाने पात्रत्वायाऽयोग्याः। तथा च योग्यतार्थं स्वभावपरावर्तनस्य

१ अतीति ख. "अतः परमि"त्यादिप्रतिज्ञाविरोधादत्र तु ग्रन्थबहिर्भूतत्वमनिवार्य्यमेव सर्वत्रोपलम्भात्तु निरासस्साहसमनाश्रयणीयमेव। २ ददत इति ख ग. घ. ३ स्वभावतः त्रयः प्राजापत्या देवा मनुष्या असुराश्चेति श्रुतेः। उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवा इत्यादिपञ्चरात्रवाक्याच्च यः साहजिको देवमनुष्येत्यादिः पाठः ख.ग.

कर्त्तव्यत्वान्महानित्यर्थः । अयमाशयः । मत्स्यपुराणसमाप्तौ कल्पानुकीर्त्तनाध्याये 'सङ्कीर्णाः सात्त्विकाश्चैव राजसास्तामसास्तथा' इति चतुर्विधान् कल्पान् प्रदर्श्य 'अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषु प्रकीर्त्यते । राजसेषु तु माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः । सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यते । सात्त्विकेष्वथ कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः । तेष्वेव योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति परां गतिम्' इति चतुर्विधानां लक्षणोक्तिपूर्वकं सात्त्विकेष्वेव सावधारणं मोक्ष उच्यते । तथा कौर्मेऽपि सात्त्विककल्पान् प्रकृत्य 'ध्यानं तपस्तथा ज्ञानं लब्ध्वा तेष्वेव योगिनः । आराध्य मां च गिरिशं यान्ति तत्परमं पदम्' इति । पुराणानामपि तत्तत्कल्पानुसारित्वं मत्स्यपुराणे पुराणदानाध्याये उक्त्वा 'सात्त्विकेष्वथ कल्पेष्वि'त्यादि पठितम् । तेन ज्ञायते यद्विष्णुमाहात्म्ययुक्तं पुराणं तत्सात्त्विकम् । तथैवाऽन्यत्तामसादिकम् । वामनपुराणे दशमाध्याये "देवानां परमो धर्मः सदा यज्ञादिकाः क्रियाः । स्वाध्यायो वेदवेत्तृत्वं विष्णुपूजारतिः स्मृता । दैत्यानां बाहुशालित्वं मात्सर्यं युद्धसत्क्रिया । वेदनं नीतिशास्त्राणां हरभक्तिरुदाहृता'इति श्लोकद्वयेनोक्ताः पूर्वोक्ता जीवाश्च त्रिविधाः सात्त्विकादिरूपेण पर्यवस्यन्ति । एवं सति सात्त्विकपुराणोक्तविष्ण्वाराधनात्सात्त्विककल्पे मुक्तिः । तथा 'मां च गिरिशम्' इति वाक्याच्छिवाराधनादपीति सिद्ध्यति । इयमेव व्यवस्था तन्त्रेऽपि, न्यायसाम्यात् । तत्र सात्त्विकानां सत्त्वनिवृत्तौ गुणातीतत्वशैघ्र्यान्मोक्ष इति तद्दाने विष्णोर्न श्रमः । भोगदाने तु दोषानुद्भवपूर्वकं शान्तस्वभावस्य परिवर्त्तनीयत्वान्महान् श्रमः । तामसानां तु गुणत्रयप्रयुक्तशान्तघोरविमूढत्वनिरासेन गुणातीतत्वसम्पादने शिवस्य महान् श्रमः । भोगदाने तु स्वभावपरिवर्त्तनस्याऽनपेक्षणान्न श्रमः । तस्मादेषा साधनापेक्षा नौदार्यस्य भञ्जिकेति साधनानामभावे योग्यताया अप्यभावे यद्दानं तेन च तस्य जीवस्योत्कर्षादिकमिति मूलरूपस्यैव धर्मो न त्ववतारधर्म इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । एवं साधकदोषवशेन तद्दाने तयोः श्रमबाहुल्यं साधयित्वा तद्दोषनिवृत्तये यत्साधकस्य आवश्यकं तन्त्रत्यं शास्त्रान्तरीयं वा साधनं तदाहुर्दोषाभावायेत्यादि । दोषस्य दोषाणां वा अभावार्थं निवृत्त्यर्थं सर्वदा कालाविच्छेदेन श्रवणादि तन्नवकं वा त्रिकं वा पञ्चकं वा यत्त-

१ "देवानां परमो धर्मो विष्णुपूजारतिः स्मृता । दैत्यानां बाहुशालित्वं हरभक्तिरुदाहृते"ति क. ग. घ. २ श्लोकद्वयेनोक्तामिति ख. ग. घ. ३ कल्पेष्वितिति ख. ४ शान्तस्वभावस्याऽपीति ख. ५ अभावाय, निवृत्तौ चतुर्थी, मशकेभ्यो धूप इतिवत्, निवृत्त्यर्थं. सर्वदेत्यादि क. ६ कालानवच्छेदेनेति ख. ७ तन्नवकं त्रिकं पञ्चकं वा यत्तन्त्रोक्तमित्यादि क. तन्नवकं वा तात्त्विकं वा पञ्चकं यत्तन्त्रोक्तमित्यादि ख. तन्नैकं वा त्रिकं वा पञ्चकं वा यत्तन्त्रोक्तं तत्कार्य्यमिति शेष इति घ.

त्रोक्तं शास्त्रान्तरोक्तं तत्तद्विषयकं तत्कार्यमिति शेषः। ततस्तस्मात्क्रियमाणाज्जातेन प्रेम्णा तच्छास्त्रीयपरविषयकेण स्नेहेन सर्वं कार्यं तदीयत्वतदाश्रयरूपं हि निश्चयेन सिद्ध्यति। तथाच निर्बन्धेनाऽविच्छेदेन श्रवणादिकरणात्साधकस्याऽपि श्रमबाहुल्यमित्यर्थः।

एवं सामर्थ्यं साधनव्यवस्थां च बोधयित्वा तेन सिद्धमाहुर्मोक्ष इत्यादि।

मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा॥ १७॥
समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुवम्।
अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः॥ १८॥
तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्समाऽऽचरेत्।
स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यमन्यथा॥ १९॥

तुर्विशेषावधारणे। पूर्वोक्तोपपत्तिभिर्द्वितीयार्थे महाश्रमावधारणात्। मोक्षो विष्णोः सुलभः, शिवतो भोगश्च तथा सुलभ इत्यर्थः॥ १७॥

अतः परं तदीयपदस्य सम्बन्धितद्धितान्तत्वेन तत्सम्बन्धिमात्रे योगात्साधकमात्रस्य तेन पदेन तुल्योपस्थितौ श्रवणादेः पूजादिकर्मणश्च तुल्यत्वमेवेति कथं कस्यचिदेवाऽतिप्रियत्वमित्याशङ्कायां तस्य पर्यवसितं विशेषमाहुः **समर्पणे** इत्यादि। हिः स्फुटार्थे। आत्मनः समर्पणे ध्रुवं तदीयत्वं भवेत्। एतदपि लोक एव स्फुटम्। मदीयानां मम च यथेष्टं विनियोगं प्रभुः करोत्विति बुद्धिर्ह्यात्मसमर्पणे कारणम्। तथा सति स्वसत्तालेशस्याऽप्यभावात्तन्निश्चितं भवति। तथाच साधनान्तरेण तदभावाच्छ्रवणादिकृतं तदीयत्वमात्मनिवेदित्वे पर्यवस्यतीति तस्यैवाऽतिप्रियत्वमिति तदर्थं श्रवणादिकमेव कार्यमित्यर्थः। नन्वेवं सति तदाश्रितस्य कथं फलसिद्धिः। तस्य स्वरक्षकत्वमात्रेण तदनुसन्धानात्तदीयत्वाभावेनाऽतिप्रियत्वाभावादित्याकाङ्क्षायां तदर्थं प्रणालीमाहुरतदीयेत्यादि। **अतदीयतया** उक्तरीतिकसमर्पणाभावेनाऽध्रुवत्वादतदीयतया केवलस्तदीयतारहितः **समाश्रितः** सम्यक्सर्वात्मना सर्वतो रक्षकत्वानुसन्धानवाँश्चेत्तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै उक्तरूपानुसन्धानोपयुक्ता या तदीयोऽहमिति बुद्धिस्तदर्थं किञ्चित्तदनुकूलं श्रवणादिकं **समाचरेत्** येन सा दृढा भवति।

---

१ तत्तत्कार्यमिति क. २ तेन जातेनेति क. ३ तज्जातीयपरविषयकेणेति ख. ४ तदाश्रयत्वरूपमिति ग. ५ समर्पण इत्यादीति च्छेदेन सप्तम्यन्ततया सर्वत्र प्रतीकग्रहोपलब्धावपि तादृशयोजनाया अदर्शनाल्लेखकदोषमनुमाय 'समर्पणेनेत्यादि' इत्येव पठितव्यमिति भाति। ६ अत्राऽप्युक्तया दिशा समर्पणेति पाठः प्रतिभाति। ७ प्रनाडीमिति ख. ग. घ. ८ अतदीयोऽहमिति क.

तत्रापि स्वधर्ममनुतिष्ठन् वर्णाश्रमधर्मं कुर्वन् । तथाचाऽऽश्रितस्यैवं प्रणाल्या तदीयत्वदार्ढ्ये तस्याऽप्यतिप्रियत्वं भवतीति ततोऽपि तथेत्यर्थः । ननु तदीयत्वार्थं श्रवणादिकमेवाऽस्तु । वर्णाश्रमधर्मस्य साधारणस्य कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाहुर्वै भारेत्यादि । वै निश्चयेन । अन्यथा भारद्वैगुण्यं स्वधर्मानाचरणेऽधर्मकृतः स्वभावकृतश्चेत्येवं द्विगुणो भारो दोषः स्यात्तथा सति तदुद्धर्तुः श्रमोऽतिमहान् भवेत्तथा सति पापस्य प्रतिबन्धकत्वात्फलेऽपि विलम्बः स्यादिति तदभावार्थं धर्मोपयोग इत्यर्थः । तेन पाशुपतपञ्चरात्रयोर्यथातथज्ञानवतामपि तदुक्तसाधनेन यथायथं भोगमोक्षयोः सुलभत्वं मोक्षभोगयोस्तु दुर्लभत्वमिति शैवतन्त्रं परम्परया मोक्षाय वैष्णवं साक्षान्मोक्षायेति फलतौल्येऽपि साधनतस्तारतम्यमिति सिद्धम् । द्वितीयस्कन्धे—"एतावान्साङ्ख्ययोगाभ्यामि"त्यस्य सुबोधिन्यामेतदेव निरूपितम् । पञ्च सिद्धान्ताः स्वतन्त्रतया विहिताः । तत्र श्रुतिवैष्णवौ समप्रधानत्वेनोक्तौ । पशुपतिमतस्य कल्पभेदेन तामसपरत्वेनोत्कर्षजननद्वारा परम्परया यथायथमुपयोगः क्रममुक्तिहेतुत्वेन वेति । साङ्ख्ययोगयोः स्वतन्त्रतया ब्रह्ममीमांसायां निन्दितत्वात्स्मरणशेषत्वं धर्मशास्त्रस्य चेत्यपि तत्रैव प्रतिपादितम् । एवञ्चाऽत्राऽयं निष्कर्षः । लौकिकेषु मोक्षशास्त्रेषु वैष्णवतन्त्रमुत्कृष्टम् । तदपि "योगास्त्रयो मया प्रोक्ता" इत्युक्तयोगत्रयमध्ये कर्मयोगरूपम् । एकादशे सप्तविंशे "क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो" इति प्रश्ने "वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः । त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेदि"ति कथनात् । योगेश्वरवाक्येऽपि "य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः । विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवमि"ति कथनात् । तन्त्रोक्ता भक्तिस्तु तस्यैवाऽङ्गभूता । अत एव "तया मुक्तिर्न चाऽन्यथे"त्यनेन मुक्तिरेव तत्फलत्वेनोक्ता । "न चाऽन्यथे"त्यनेन केवलकर्मयोगान्न मुक्तिरित्यपि सूचितम् । तेन तान्त्रिकमात्मसमर्पणादिकमपि तदुक्तभोगमोक्षपर्यवसाय्येव न तु पुरुषोत्तमसम्बन्धि सिद्ध्यति । भक्तियोगस्तु ततो भिन्न एव । अत एव "भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परमि"त्युपक्रम्य 'श्रद्धाऽमृतकथायां मे ' इत्यादिना कारणकथनावसरे "वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षे"ति कथनात् क्रियायोगाध्याये च "मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति । भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत मामि"ति कथनात् भक्तियोगस्तस्य फलभूतः । भगवांश्च "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये"ति गीतावाक्यादनन्यभक्तिलभ्यः । भक्तेश्च कारणं पूर्वमु-

---

१ इत्याशङ्कायामिति क. ख. घ. २ साधनतारतम्यमिति ख.

क्तमेव। "पुनश्चे"ति वाक्ये परमिति विशेषणात्। एतेषाञ्च परत्वमात्मनिवेदनान्तरत्व एव। "एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवाऽऽत्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्याऽवशिष्यते" इत्युपसंहारे तस्याऽधिकारिविशेषणत्वेन कथनात्। तथा तदुपयोगी शरणागत्यात्मा आश्रयोऽपि भिन्न एव। "अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखे"त्युपक्रम्य "न रोधयति मां योग" इत्यादिना स्मार्त्तश्रौतयावन्निषेधपूर्वकं सत्सङ्गस्य केवलभावस्य च यथायथं स्वावरोधकत्वं स्वप्राप्तिसाधनत्वं चोक्त्वा व्रजभक्तनिदर्शनमप्युक्त्वा "तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्ये"ति द्वाभ्यां सर्वात्मना शरणगमनस्याऽकुतोभयप्राप्तिसाधनत्वकथनात्। अनेन सन्दर्भेण साधनफलयोरुत्कर्षोऽपि सिद्धः। श्रुतेरप्याशयोऽयमेव। "नाऽयमात्मा प्रवचनेने"ति "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येने"ति श्रुतिस्मृतिभ्यां तथाऽवसायात्। तदिदं सुबोधिनीनिबन्धभाष्येषु निपुणतरमुपपादितमत्र मङ्गलवाक्ये सूचितम्। वेदे पूर्वकाण्ड उत्तरकाण्डे च त्रिवर्गो य उक्तस्तस्य तात्पर्यमेकादशे एकविंशाध्याये "फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम्। श्रेयोविवक्षया प्रोक्ता यथा भैषज्यरोचनम्। उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च। आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु। न तानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि। कथं युञ्ज्यात्पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः। एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः। फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि। कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः। अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते" इत्यन्तेन पश्चाग्न्युपासनान्तस्य साधनजातस्य यत्त्रिवर्गरूपं फलं तत्पुष्परूपं रोचनार्थं इत्युक्तम्। मोक्षो य आत्मलाभात्मा उक्तस्तत्राऽप्यात्मशब्दो भगवत्पर एव। अभेदवादस्वारस्यात्। तल्लाभसाधनं चाऽऽपाततः श्रवणादित्रयम्। वस्तुतस्तु वरणमेव, "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"इति श्रुतेः। तेन य आद्ये प्रवृत्तस्तस्य दुःखाभाव एव। यः पुनस्तन्न साधनाधीनमिति ज्ञात्वा यतते तस्य साधनकौण्ठये वरणश्रुतिर्वरणस्य दीनत्वमेव साधनं सूचयतीति भक्तावेव पर्यवस्यतीति 'वेदादाद्या यतः स्थिता"इत्यनेन सूचितम्। शेषनिर्णयस्तु स्फुटतयाऽत्र प्रतिपादित एव।

तदिदं सर्वं हृदिकृत्योपसंहरन्ति, इतीत्यादि।

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥ १९½ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो बालबोधः सम्पूर्णः।

इतिः समाप्तौ। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कथितं यत् तत्सर्वं स्वस्य परेषां च

५

सिद्धान्तसङ्ग्रहरूपं निष्कृष्टं न तु प्रतीकरूपम् । एतज्ज्ञाने पुनः पुमर्थादिविषयको भ्रमोऽन्यथाज्ञानं न भवतीत्यर्थः ॥ १८॥ १९ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जकृपाश्रयात् ।
बालबोधस्य विवृतिं चक्रवान्पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

यदत्र सदसद्वाऽपि जीवबुद्ध्या मयोदितम् ।
तत् क्षमन्तां बालबोधे प्रवृत्ताः प्रभवो मम ॥ २ ॥

इति श्रीमदाचार्यचरणशरणस्य श्रीपीताम्बरसूनोः पुरुषोत्तमस्य कृतिर्बालबोधविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतः

बालबोधः ।

श्रीद्वारकेश्वरचरणविरचिता बालबोधटीका ।

यत्पादमूलमुपसृत्य विशन्ति शश्वद्वृन्दावनद्रुमलताभुजपूजिताङ्घ्रिम् ।
सोऽयं समस्तजगतामभिवन्दनीयपादाम्बुजः सकरुणः प्रियमातनोतु ॥ १ ॥

इह खलु लोके श्रुतिस्मृतिवात्स्यायनपुराणपञ्चरात्राद्युक्तधर्मपरिकरबोधकवाक्यनिःप्रतिपाद्यानां धर्मार्थकाममोक्षाणां विद्यमानत्वेनाभिधानक्रमेण जीवसम्बन्धीयेष्वेवाल्पकत्वाद्भक्तिमार्गीयैकयोग्यास्तेषु यतिष्यन्त इति तेषां विवेचनं शास्त्ररूपेण वदन्तो मङ्गलमाचरन्ति नत्वेति ।

नत्वा हरिं सदानदं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥ १ ॥

हरिं सदानन्दं नत्वा सर्वसिद्धान्तानामप्रबुद्धानां प्रकर्षेण बोधाय सुष्ठु विशेषेण निश्चितं सङ्ग्रहं वदामीति सम्बन्धः। एतच्छास्त्रानुसारेण भजतां प्रतिबन्धनिराकरणपूर्वकं स्वानन्दं कृपया तेभ्यः प्रयच्छतीति नामद्वयकथनम् । तादृशे तु जीवैरेतावत्सदुपशिक्षितं 'नमो नम' इति न्यायेन नमनमेव कर्त्तव्यम् । 'किमासनन्त' इत्यादिना, नाधिकं कर्त्तुं शक्यमिति सिद्धान्तः । एवं परंपराकरणार्थं ग्रन्थादौ तन्निबन्धनम्। सर्वशब्देनात्र प्राकरणीकत्वात्प्रमाणत्वावच्छिन्नानां तत्तत्प्रमेयप्रमापकानां ग्रहणम्, तेषामशेषतो निरूपणे ग्रन्थबाहुल्यं बुद्धिक्षोभस्तेनैव वा कालनयनं भवेदिति तदर्थं तत्तच्छास्त्रेषु निर्गलितार्थरूपा ये सिद्धान्तास्तेषां सङ्ग्रहो राशिवदेकीकरणम् । यथा रत्नादिस्वरूपज्ञास्तत्स्वरूपमन्येभ्यो विवेचयितुं परीक्षकेभ्यो दर्शयितुंताननेकजातीयाननेकान् राशीभूतान् कुर्वन्ति, तथा कुर्वन्तु । एवमेव सिद्धान्तानां सङ्ग्रहपूर्वकं

वदनम् । नतु किमित्येतावान्प्रयासः क्रियते, तत्राहुर्बालेति, बालास्तत्तद्वस्तुस्वरूपज्ञानरहिताः, तेषां प्रकर्षेण बोधनार्थं फलपर्यन्तं सिद्धान्तानां स्वरूपनिर्द्धारार्थम्, बालप्रबोधनमेवार्थः प्रयोजनम्, बालाः स्वाहिताहितज्ञानरहिताः, तादृशास्तु सर्वेषां दयापात्राणि भवन्ति । अतस्तदर्थे तथाकरणं युक्तम् । तथापि, स्वतो विचाररहितानामविचारितेन प्रबोधने अनाप्तत्वं स्यादिति, तत्राहुः सुविनिश्चितमिति । सुष्ठु विशेषेण निश्चितं निःसन्दिग्धमित्यर्थः । यद्वा, सुष्ठु तद्विशेषेण निश्चितम् ॥ १ ॥

एवं नत्वा प्रस्तुतमाहुः, धर्मेति ।

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।
जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥ २ ॥

विहितक्रियाफलप्राप्तावन्तरव्यापारो यः स धर्मः । कामनासहितः स एव सुखं साधयति । तद्रहितो 'धर्मेण पापमपनुदती'त्यादिना 'जन्मान्तरसहस्रेष्वि'त्यादिना च शुद्धिद्वारा भगवदिच्छाप्राप्यं ज्ञानं भक्तिं वा साधयतीति सर्वथोपादेयः । एवमेव द्यूतचौर्यादिनानुपत्या(?)तत्साक्षात्तत्साधनसाधनेनापि द्वितीयोप्यवश्यमपेक्षितः (अर्थः) । यथा प्रथमे तथा तृतीयेपि तस्योपयोगः । यद्यपि तत्र उत्पादनप्रकारानियमेपि पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यादितश्चाव्यग्रतया तृतीयसाधनं भवतीति तथा तृतीयोपि । तथैव सर्वेषां प्रजननहेतुः 'प्रजातिरमृतमानन्द' इत्युपस्थ इत्याद्युक्तरूपं स तु सर्वेषां सर्वथैवापेक्षितः । एवं त्रिवर्गकामा बहवः प्रायेण भवन्ति, मुमुक्षवस्तु स्तोकजरा भवन्ति । तत्तत्पुरुषार्थस्वरूपाभिज्ञा बहुधा प्रत्येकसमुदायाभ्यां तेषु तेषु प्रवर्त्तन्ते । अत एव मनीषिणामित्युक्तम् । मनीषा यथार्थविषयग्रहणसमर्था बुद्धिः । तद्वतामेव तत्प्रयोजनम्, अनया हीनः पशुतुल्य एव । न हि ते चतुर्षु केष्वपि यतन्ते । ते तु द्विविधाः, लौकिकालौकिकभेदेन । जीवा ऋषयः परिच्छिन्नमतयो वा । ईश्वरो वेदः सर्वनिर्द्धारयिता । ईश्वरत्वेन वेदोद्देशो गोपनार्थः, ताभ्यां कृतो विचारः स्वस्वाधिकारानुसारेण वस्तुनिर्द्धारको भवति । विचारस्तु, अनुपपत्तिनिराकरणपूर्वकं उपपत्तिभिर्मनसा वस्तुनोऽनुसन्धानम् । महतां मनोपि महदेव भवतीति तादृशमेव वस्तु तेषां मनसि निर्द्धारितं भवतीति तेन तैस्तथैव निर्द्धारितम् । जीवास्तदपेक्षया सर्वथा क्षुद्राः परिच्छिन्नधियश्च । अत ईश्वरविचारितादेतद्विचारितस्य भेदस्तात्विक एव । अत एव हीत्यव्ययम् ॥ २ ॥

उद्देशतस्तानुक्त्वा विविच्य तानेव निरूपयन्ति अलौकिक इति ।

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।
लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया ॥ ३ ॥

अलौकिकः पुरुषोत्तमः, तत्सम्बन्धिनस्ते तु वेदेनैव निरूपयितुं शक्याः । तस्यैवानुभवविषयत्वात्तेषाम् साध्यानि अवान्तरफलरूपाणि । साधनानि पुरुषार्थस्वरूपसिद्ध्यै अव्यभिचारितया कारणानि । मुख्यफलरूपास्तु स्वयमेव भवन्तीति वेदेन उक्ताः साधनैः सहिता ये साध्याः । तत्रोक्तानां साध्यसाधनानां परस्परमव्यभिचारेण हेतुहेतुमद्भाव इति ज्ञापनार्थं सम्यग्योगो निरूपितः। एवं सपरिकराणामलौकिकानां निरूपणप्रकारमुक्त्वा शिष्टानामाहुर्लौकिका ऋषिभिः प्रोक्ता इति। ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः, तैः स्वज्ञानानुसारेण प्रकर्षेण उक्ताः । ननु न हि ते वेदाद्यसंमत्या स्वतन्त्रतया पुरुषार्थद्रष्टारो वक्तारो वा भवन्ति। तथा सत्यलौकिकानां तेषां तेनैव निरूपणस्य सिद्धत्वात्किमिति वेदाद्यनुक्तानां तेषामप्रामाणिकानां निरूपणं तैः क्रियते इति तत्राहुः, तथैवेश्वरशिक्षयेति । वेदस्तु लौकिकालौकिकेषु नियन्ता, अत एवेश्वरः, तच्छिक्षया तथाविधानां कथनम् । ऋषीणां तु वेदेनैव सर्वज्ञत्वं ऋषित्वं च प्राप्तानां लौकिकैकपुरुषार्थप्रवर्त्तनयोग्यत्वात्तथाविधतत्प्रवर्त्तनं वेदस्यापि सम्मतमिति योगजधर्मेण वेदार्थविचारे तथाभूता एव ते स्फुरद्रूपा जाता इति तथैवोक्तवन्तः। अत एव प्रोक्ता इति निरूपितम् ॥ ३ ॥

ननु जीवविचारितेभ्यस्तेभ्य ईश्वरविचारितानां तेषामुत्तमत्वात्त एव किमिति नोच्यन्ते तत्राहुः—लौकिकाँस्त्विति ।

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदादाद्या यतः स्थिताः ।
धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥ ४ ॥

तुशब्दः पूर्वविधाद्व्यावर्तयति । तथापि, ऋषिभिस्ते निरूपिता एव किं भवदुक्त्येति चेन्, न । प्रवक्ष्यामीति प्रकर्षेण वक्ष्यामि। ऋषिभिर्निरूपिताः, परं नालौकिकेभ्यो विविच्य, अहं तु तेभ्यो विविच्य स्वरूपतः फलतः स्थूणाखननन्यायेन लौकिकान्वक्ष्यामि। तथापि, सामान्येभ्यो विशिष्टा एव कथं नोच्यन्ते ? तत्राहु वेदादाद्या इति। यतो वेदादाद्या अलौकिका वेदस्वरूपाभिज्ञैस्तद्वाक्यैरेव तदाशयविचारे निर्गलितार्थरूपाः । तथाधिकारिप्राप्तिविषयत्वेन विचारकाणां मनसि स्फुरद्रूपतया स्थिताः। अन्येषां सामान्यतस्तत्स्वरूपस्थितिज्ञानं समाहृत्य सर्वनिरूपणे वाक्यशेषोक्तन्यायेन स्वत एव लौकिकेभ्यो भिन्नतया तद्भवतीति मुख्यान्विहाय गौणानेव कोटिद्वयभेदेन निरूपयन्ति। तत्र त्रयाणामेका कोटिः। तुरीयस्यैका, पूर्वकोटिप्रतिपादकानाहुः । धर्माः शारीराः, तत्प्रतिपादकानि शास्त्राणि । अर्थस्तूभयत्र हेतुः, तत्प्रतिपादकं नीतिशास्त्रम् । कामस्तु वात्स्यायनोक्तप्रकारतः, तत्प्रतिपादकं तु तदुक्तमेव शास्त्रम् ॥ ४ ॥

तदेवाहुस्त्रिवर्गेति।

त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते।
मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः॥ ५॥

द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ।
त्यागात्यागविभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः॥ ६॥

एतानि त्रिवर्गसाधनानि इति कार्यतः कारणतः फलतः स्वरूपतस्तन्निरूपणे उच्यन्त इति तत्प्रतिपादकानि, नाहं वदामीति। द्वितीयकोटिसाधनान्याहुर्मोक्षे चत्वारीति। चत्वारि शास्त्राणि लौकिकमोक्षप्रतिपादकानीत्यर्थः। योगः साङ्ख्यम्। तत्तच्छक्तिमत्त्वेन विष्णुशिवप्रतिपादके द्वे। एवञ्चतुर्द्धा वैष्णवे शैवे वा तेषां, कोटिभेदेन निरूपणम्। द्वाभ्यामेकाकोटिस्तथैव चापरा। एकस्या द्विरूपत्वं त्यागा त्यागभेदेन। एका स्वतः स्वकृतिसाध्यतया। अपरा परतः मोचककृतिसाध्यतया। अतः कोटिद्वयम्। द्विधासती मुक्तिहेतू आहुः साङ्ख्ययोगाविति। तत्र मोक्षप्रतिपादकसमये स्वतो मोक्षप्रतिपादकौ साङ्ख्ययोगौ प्रकर्षेण कीर्त्तितौ। पूर्वकोटिद्वित्वे हेतुमाहुस्त्यागात्यागेति। साङ्ख्ये त्यागो बाह्याभ्यन्तरभेदेन। योगे त्वान्तर एव। त्यागस्तु संसारनाशद्वारा पुनर्भवनसहिताहङ्कारध्वंसजनने उपक्षीणः॥ ५॥ ६॥

अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते॥ ७॥

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता।
ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः॥ ८॥

एवं सर्वथाऽहङ्काराभावे यदा जीवः स्वमूलभूते अक्षरात्मके ब्रह्मणि उद्धतत्रितयांशोभूत्वा स्थितो भवति, तदा स जीवः कृतः अर्थः पुरुषार्थो येन, तादृशः स निगद्यते। तथैव च निबन्धे, 'संसारस्य लयोऽपुनरावृत्तिः, मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचिदि'ति। श्रुतिः स्मृतिश्च, 'न स पुनरावर्त्तते यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते' इत्यादिनोक्तरूपाऽपुनरावृत्तिश्च तस्य, ततोप्यधिकभजनानन्ददानोन्मुखभगवदधीना, मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादिवत्। एवं प्रकारकमोक्षे प्रकारान्तरीयसाधनघटना पुराणेपि निरूपिता। ऋषिभिरपि स्वस्वप्रकृत्यनुसारेण चरमार्थप्रतिपादकत्वेन विविधसाधनकदम्बाः प्रतिपादिताः। तेषां सर्वेषां फलमेकमेव। यथा रात्रि(?)न्यायेन अक्षर एव। तत्र हेतुः, अबाह्यतः एतत्साध्यैकसाधनजातीयैकपरत्वतः॥ ७॥ ८॥

पूर्वकोटिद्वितीयपक्षमाहुरत्याग इति ।

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि ।
यमादयस्तु कर्त्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥ ९ ॥

त्यागाभावे तु योग एव फलसाधकः । सर्वथा अत्यागे योगोऽपि न सिद्ध्येत् । अतो मानसमिति विद्वांस इत्यादिना मानस एव सः । तादृशस्यैव तस्य सात्त्विकत्वात् । योगाः बहुविधाः सबीजनिर्बीजभेदेन । तत्र विविधप्रकारकाणां मध्ये एक एव योगस्तत्स्वरूपाभिज्ञैरादृतः, आत्मबोधकत्वात् । निर्बीजेपि यस्मिन् भगवतो ध्यानं स एव योग आत्मबोधको भवति, स्थूले भगवतो रूप इत्यादिनोक्तत्वात् । तत्र योगसिद्ध्यर्थं यमादयस्तु कर्त्तव्याः, ततः सिद्धे योगे योगसिद्धिं प्राप्य मुक्तिं ते प्राप्नुवन्ति । ततस्ते कृतार्था इत्युच्यन्ते ॥ ९ ॥

द्वितीयकोटिमाहुः, एवं स्वतो मुक्तिप्रकारमुक्त्वा परतोप्याहुः परेति ।

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते ।
ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते ॥ १० ॥

मोक्षे ये मोचकास्तेषामाश्रयेण मोक्षोऽवश्यं भवत्येव । सोपि द्विविधः, सगुणनिर्गुणभेदेन, सात्विकतामसाभ्यां वा । ननु यथा विष्णुशिवौ पालकनाशकौ तथा ब्रह्मा सर्जकः । कथमयं स्वतन्त्रतया मुक्तिं न प्रयच्छतीत्यत आहुर्ब्राह्मणतां यात इति । ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा ब्राह्मणता । ब्रह्म नयति प्रापयतीति तथा । भगवतः सकाशाद्वेदाध्ययनं तेनैव कृतमिति वैदिकेषु च स एव मुख्यः तत्कर्मनिष्णातेषु च । अत एव ब्राह्मणानामपि विध्युक्तप्रकारकर्मानुष्ठातॄणाम्, महोपनिषज्ज्ञानवतामपि जरामर्याग्निहोत्रं कुर्वतामवभृथानन्तरं ब्रह्मसायुज्यं ततस्तन्मुक्त्यवसरे तत्सायुज्यं प्राप्तानां तेनैव सार्द्धं मुक्तिर्भवति । तदुक्तं तैत्तिरीयोपनिषत्सु, 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्ये'त्यारभ्य एतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति, तस्माद्ब्रह्मणे महिमानमाप्नोति, तस्माद्ब्रह्मणे महिमानम्'इत्यन्तेन । यथा ब्रह्मा, तथैव शिवो विष्णुश्च गुणाधिष्ठातारो देवाः, त्रयाणामपि साम्यम् । एका सर्जिका, अपरा पालिका तृतीया संहारिका । एतादृशस्यापि ब्रह्मणो भगवद्रूपत्वेनैव भजनमिष्टसाधनम्, नतु ब्रह्मत्वेन । सरस्वत्याः शापाज्जीवसहकृतेश्वरांशत्वाच्च, स्वतन्त्रतया भजनीयत्वस्यापगमात् ॥ १० ॥

ते सर्वार्था न चाऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् ।
अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ॥ ११ ॥

ये एवं भजनकर्त्तारः ते सर्वार्थाः, सर्वोऽप्यर्थो येषां तादृशाः । न चायेन, ब्रह्मत्वेन भजतामेवं सर्वार्थसिद्धिर्न भवतीत्यर्थः । ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातो, यो ब्रह्मा, सृष्टिकर्तृत्वात्, सृष्ट्यादिकर्तृत्वं हि भगवद्धर्मः, सृष्टिकर्तृत्वेन रूपेण तं ये (ब्रह्माणं) सेवन्ते तेषां मोक्षातिरिक्तसर्वार्थसिद्धिर्भवतीति राजसत्वात् न मोक्षसाधकत्वम् । तत्र प्रमाणम्, शास्त्रमेतदर्थप्रतिपादनेन किञ्चिदुदीरितम् । यतः सर्जकत्वात् वैखानसोक्तपूजाप्रतिपादकत्वात्परमेष्ठित्वादवतारादिवार्त्तासूचकत्वात् सर्वोपकारकत्वं ब्रह्मणः । तथा भजनीयता च ॥ ११ ॥

अतः विष्णुशिवयोरपि भजनीयत्वार्थं लोकोपकारकत्वं वदन्ति वस्तुन इति ।

वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्त्तकौ ।
ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥ १२ ॥

स्थितिसंहारौ मूलेच्छाधीनौ, यादृशी यदा मूलेच्छा तदा तादृशः कालोपि भवति । तथैव मोहकशास्त्रप्रवर्त्तकत्वं शिवकणादगौतमादेः । बुद्धस्य ऋषभस्य च चरित्रादिना लोकव्यामोहः । एवं शास्त्रच्छलैर्मोहितानामुत्पथगामिनां तद्वासनानिवृत्त्यर्थं संहार एव तेषां हितकारकः । एवं शिवस्य लोकोपकारकत्वम् । **स्थितिश्च** सत्त्वाधीना, तदधिष्ठाता विष्णुः, सात्विककालशास्त्रादिप्रवर्त्तकः । एवं विष्णोर्जगद्धितकर्तृत्वं स्पष्टम् । स्थितिसंहाररूपे कार्ये ब्रह्मैव समर्थं भवति, तस्मादुभयविधकार्यकर्तृत्वशक्तिमत्वादुभयोर्ब्रह्मत्वम् । यथा आराग्रमात्रस्य जीवस्य व्यापकत्वश्रुतिर्भगवदात्मकत्वेन युज्यते, एवमेतौ **सर्वात्मकतया** ब्रह्मत्वेन रूपेण श्रुतौ **उदितौ** । तथाहि, 'विश्वं भूतभुवनं चित्रं बहुधा जायमानं च यत्, सर्वो ह्येष रुद्रः तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु । 'यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेपि वा अन्तर्बहिश्च, तत्सर्वं व्याप्य नारायण स्थितः' इत्यादिभिरुभयोस्तथात्वम् । न हि श्रुतयो ब्रह्मातिरिक्तं किञ्चित्स्तुवन्ति, अलौकिकार्थवक्तृत्वात् । श्रुतौ देवतायाः स्तुतिर्ब्रह्मात्मकत्वेन रूपेण, न स्वतन्त्रतया । किञ्च, तामसादिकल्पेषु तामससृष्टे रुद्रः कर्त्ता, पालयिता, संहारकश्च । न हि ब्रह्मणः पालकसंहारकशक्तिमत्त्वं, केवलं सर्जकत्वमेव । विष्णुशिवयोर्विविधशक्तिमत्त्वं श्रुतिसिद्धम् । परं कल्पभेदेन विजातीयसर्जकत्वेन । सात्विकसर्जकत्वं सत्वाधिष्ठातुः । तामससर्जकत्वं तमोधिष्ठातुरिति ॥ १२ ॥

एवं सृष्टिकर्तृत्वेन जगदात्मकत्वेन च निरूप्य प्रकारान्तरेण च तन्निरूपयन्ति निर्दोषेति ।

निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता।
भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥ १३ ॥
भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः।
लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचित् ॥ १४ ॥

सात्त्विकतामसादिषु शास्त्रेषु निर्दोषपूर्णगुणता परमकाष्ठापन्नवस्तुरूपत्वं विष्णुशिवयोरेव प्रतिपादितम्। यत इमौ परमकाष्ठात्वं प्राप्तौ। अतः द्वावपि भोग-मोक्षफले दातुं शक्तौ। भोगः विषयैरिन्द्रियतर्पणम्, मोक्षः सवासनसङ्घातलयः। एतदुभयं सविशेषं दातुमुभावपि समर्थौ यद्यपि, तथापि भोगः शिवेनैव, मोक्षो विष्णुनैवेति निश्चयः। एवं व्यवस्थायां दृष्टान्तत्वेन हेतुमाहुर्लोक इति। लोके ह्येतादृशी व्यवस्था सर्ववादिसिद्धा। यत्प्रभुणा भुज्यते तन्नान्यस्मै कस्मा अपि दीयते, अयोग्यत्वात्। शिवेन समाधौ मोक्षरूपः परमानन्दानुभवः क्रियते, तेन तदनुभावज्ञत्वात् सर्वस्वं दुर्लभमिति मत्वा भगवद्विमुखां ज्ञात्वा 'पत्नी हि सर्वस्य मित्रम्' इति श्रुत्या सर्वात्मना मित्रत्वमापन्नाया अपि यत्र न प्रयच्छति, तत्रान्यस्मै न प्रयच्छतीति किं वाच्यम्?। ये त्वेतद्दानेऽयोग्यास्तेषां तद्दानं ज्वरितस्या न्नदानमिव नाशजनकं भवति न तु योग्यानाम्। तदग्रे वक्ष्यामः। विष्णुरपि श्रियं भुङ्क्ते। तेन न स्वभोग्यामन्यस्मै असमानाय प्रयच्छति। यतो योग्यानामनुग्रहैकस्वभावः। भजतां लक्ष्म्यादिदाने मत्ताः सन्तः प्रच्युता भविष्यन्तीति मुक्तिप्रतिबन्धिकां स्वानु-सन्धानप्रतिबन्धिकां श्रियं प्रत्युत हरति, न तु प्रयच्छति। किञ्च, यथा निःकामं शिवं भजतामेवाल्पप्रसाद्यः शिवः प्रसन्नो भूत्वा ब्रह्मविद्यादानपूर्वकं वैष्णवधर्मोपदेश-पूर्वकं वा मुक्तिं प्रयच्छति, न तथा सकामानाम्। ते यथावत् काम्यं प्राप्य भगवतः प्रच्युता भवन्ति। यतस्ते कृतपुण्यपुञ्जाः। भगवतापि तथैव सकामानां ते यथावत्काम्यं प्राप्य तथैवोक्तं 'चतुर्विधा' इत्यादिना। सकाममपि भगवद्भजनं कर्त्तारः काम्यं भुक्त्वापि भगवद्भजनमाहात्म्याज्जन्मान्तरेपि तथा संस्कारवन्तो भगवदिच्छां प्राप्य यदा ते निःकामा भूत्वा भगवन्तं भजन्ति, तदा कृतार्था भवन्ति। न त्वेवं शैवाः ॥ १४ ॥

एवं विष्णुशिवयोः भजतां प्रत्येकं सर्वथा भोगमोक्षाप्रदाने दानशक्तिरपगता भविष्यतीत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः अत इति।

अतः प्रियाय तदपि दीयते कचिदेव हि।
नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥ १५ ॥

प्रत्येकं साधनश्चैतद् द्वितीयार्थे महान्क्रमः ।
जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥ १६ ॥
श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति ।
मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवत तथा ॥ १७ ॥
समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुवम् ।
अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः ॥ १८ ॥

उभयथा भजनस्य 'अकामः सर्वकामो वा' इत्यादिना विहितत्वात् । यत एतद्-दाने उभयविधापि दानशक्तिरुभयेभ्योऽप्यपगच्छति । अतः क्वचित्तदपि दीयते । अधिकारिणमाहुः प्रियायेति । तादृशेभ्योऽपि क्वचिदेव दीयते । यथा प्रियव्रताम्बरीषादीनां प्रियेभ्यो भगवद्भक्तवत्सलत्वात् स्वभोग्यमपि ददाति । तदपि क्वचिदेव । यत्र दाने सम्प्रदानानाशः, अप्रच्युतिश्च भवति, तत्रैव दीयते । अत एवकारः । उद्धरणैकस्वभावस्य नियतार्थप्रदानं युक्तमित्याहुर्हीति । ननु प्रियेभ्योपि नियतार्थदाने सकृद्दाने दातुरशक्तिः कार्पण्यं भवेदिति चेत्, न, नियतार्थप्रदानेन चित्तविक्षेपाभावात्तदीयत्वं तदाश्रयश्च भवति, तेन नासुरभावप्रदेशः स्यादिति भावः । 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति तेनैव तेषां कार्यसिद्धिः । केवलं तदीयत्वेन तदधीनतया, स्थितौ मुक्तिं दत्त्वा ततः संसारादुद्धृत्य भजनानन्दानुकूलं देहं दत्त्वा, तदपि ददाति । मुक्तोद्धारस्तु मूलेच्छाधीनोऽशक्यश्चेति सोऽप्यशक्येऽर्थे भवति, भारदानमाश्रयः । एवं प्रत्येकं साधनभूते द्वे । तत्रैकं सुसाध्यमपरं कष्टसाध्यं चेति । तत्र हेतुर्जीवा इति । स्वभावतस्ते दुष्टाः, यद्यपि तथाभूतानां निवेदनमप्यशक्यम्, तथापि, तद्दोषयुक्तस्यात्मनिवेदने शक्तिरेव न भवेत् । (निवेदने) क्रियमाणे ते दोषा अपि निवेदिताः स्युः । ततस्तेषामप्यपगमश्च स्यात् । द्वितीये तु दोषे विद्यमाने आश्रयसिद्धिरेव न भवेत्, दोषाणां चित्तविक्षेपजनकत्वात् । तस्मिन् सति भगवदनुसन्धानाभावादाश्रयासिद्धेः । तस्मादात्मनिवेदनतस्तद्दोषनिवर्त्तनद्वाराऽश्रयसाधकं श्रवणादि नवकं कर्त्तव्यम् । एतदेवोक्तं मातरं प्रति कपिलेन । 'यथा यथात्मा परिमृज्यते' इति । एवं कृते प्रेमैव भवति, नासक्तिव्यसने । अत एव प्रेम्णेत्येकवचनम्, तेन तेषामाश्रयः, तत्साध्यं च सर्वमेव कार्यं (आसक्तिव्यसनादिकं च) सिद्ध्यति । (विष्णुशिवयोः) उभयत्रैषा व्यवस्था । तच्च्छास्त्रे तयोर्निर्दोषपूर्णगुणत्वनिरूपणात् । मुमुक्षूणां विष्णुविषयत्वेनैवंकरणमल्पेनैव फलं साधयति । भोगार्थिनां रुद्रविषयकमेवं करणमपि तथैव । एवमेकधा भोगमोक्षसाधनसिद्धिमुक्त्वा प्रकारान्तरेण तन्नि-

रूपयन्ति, 'यथेष्टमुपयोगः कर्त्तव्यः' इति बुद्ध्या आत्मना सह स्वसर्वस्वनिवेदने कृते सति तदीयत्वं भगवदीयत्वं तन्निवेदनेनैव भवतीत्यर्थः । ननु तदीयत्वसहितस्याश्रयस्य मुक्तिसाधकत्वं केवलस्य वा । नाद्यः, मानाभावात् । न द्वितीयः, तदीयत्वसाध्य(फल)स्याश्रयासाध्यत्वादिति चेत् तत्राहुस्तदीयतयेति । यथा तदीयत्वं स्वतन्त्रतया मुक्तिसाधकम् , तथाश्रयश्च । तदाह केवल इति । तदीयत्वव्यतिरिक्तः सम्यक्कृताश्रयः । तथापि कार्यं भवत्येव । तदाश्रितोऽहं तदीयोऽहमिति बुद्ध्या भगवदीयानामुत्पथगामित्वे मार्गे अपवादो मा भवत्विति विचार्य बहुधा करणसामर्थ्येऽपि किञ्चित्सत्कर्माचरणं कुर्यादित्यर्थः ॥ १८ ॥

तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्समाचरेत् ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यमन्यथा ॥
इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥ १९½ ॥

समाप्तो मूलग्रन्थः

यद्वा, निवेदनान्तरमाश्रयानन्तरं वा यदनुष्ठेयं स भ्रमः । तेन स्वधर्मापगमभिया तदनुकूलमेव सत्कर्माचरणीयम् । अत एव, किञ्चिदुक्तम्, तदुक्तं भगवता, 'यावानर्थ उदपाने' इति । अथवा विष्ण्वाश्रितोहं वैष्णवोहमितिबुद्ध्या किञ्चित् साधारणमपि कर्त्तव्यम्, न केवलं पुरुषोत्तमसम्बन्धीययोरिव तदीयत्वाश्रययोरिव विश्वासं कृत्वा सर्वान्धर्मान्त्यक्त्वा स्थेयम् । यत एते भगवदंशा, सत्वाद्यधिष्ठातारो देवाः । अत एव स्वधर्मं वर्णाश्रमधर्ममनुतिष्ठन्नेव स्यात् । अन्यथा एतदुभयमाश्रित्य तदीययोः पुरुषोत्तमसम्बन्धीयभावेन शारीरधर्मत्यागे प्रयात एव भवेदिति । गुणाधिष्ठातारस्तु विद्यमाने पापे मोचका न भवन्ति । धर्मत्यागजन्यं दूरीकृत्य न ते मोचकाः, सामर्थ्याभावात् । तेन यथा शारीरा धर्मास्तथा तदीयत्वतदाश्रयौ । एवं प्रकारेण, इति सर्वं पूर्वं प्रतिज्ञातं कथितम् । विचार्य सारोद्धारः कृतः, यथा औषधीनां क्वाथः । न तु येभ्य एव लीनः सारस्तेभ्यः पृथक् क्रियते, रुग्णानां रोगनिवर्त्तनार्थम् । एवं लौकिकानामलौकिकानामेकीकृत्य निरूपणे लौकिकेभ्यः स्वकीयेभ्योऽलौकिकानां सारोद्धाररूपेण निरूपणे सामान्येभ्यो विशेषाणां निरूपणं भवति, तेनोभयजातीयानामेकविधनाममिनिर्निरूपणेऽपि न ज्ञाने भ्रमो भवतीत्यर्थः ॥ १९½ ॥

इति श्रीद्वारकेश्वरविरचिता बालबोधटीका
सम्पूर्णा ।

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–विरचित–षोडश–ग्रन्थान्तर्गता-तृतीया

सिद्धान्तमुक्तावली

नवटीकाभिः समलंकृता

१. श्रीमत्प्रभुचरणानां विवृतिः

२. श्रीगोकुलनाथानां विवृति टिप्पणी

३. श्रीकल्याणरायाणां ,, ,,

४. श्रीपुरुषोत्तमानां विवृति प्रकाशः

५. श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभानां विवृति टिप्पणी

६. श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथानां ,, ,,

७. श्रीलालूभट्टानां सिद्धान्तमुक्तावली योजना

८. श्रीद्वारकेशानां विवृति टिप्पणी

९. श्रीहरिरायाणां लेखः

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–प्रवर्तित–शुद्धाद्वैत–सम्प्रदायस्य–सप्त-पीठान्तर्गत–द्वितीय–पीठाधिष्ठित–गोस्वामि श्री १००८ श्री कल्याणरायजी–महाराजश्रीत्येतेषां करकमलयोरर्पिता

वि. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दाः ५०२

प्रकाशक :

श्रीवल्लभविद्यापीठ एन्ड श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रष्ट

कोलापुर. महाराष्ट्र ४१६००१ भारत

साधारणसंस्करण २,००० प्रति

राजसंस्करण १,००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द : ५०२

ग्रन्थ–परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडिओ बहार २३ ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिग, चौपाटी,

बम्बई–४०० ००७.

गोस्वामि श्री १००८ श्री कल्याणरायजी–महाराज

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

ग्रन्थ-परिचय

कहा जाता है कि सिद्धान्तमुक्तावली श्रीमहाप्रभुने अच्युतदास सनोढियाके लिए लिखी थी. एक किंवदन्तींके[1] अनुसार यह रचना वि. सं. १५५५ में जतिपुरामें की गई.

बालबोधवाले नारायणदास और इन अच्युतदास के चरित्रमें कई बातोंमें समानता भी है और उल्लेखनीय अन्तर भी. नारायणदासको श्रीमहाप्रभुने स्वरूपसेवा पधारानेसे इन्कार कर दिया था, जबकि अच्युतदासको श्रीगोवर्धनधरकी सेवामें नियुक्त करना चाहते थे. नारायणदासके व्यावृत्तिमय जीवनके कारण उनसे स्वरूपसेवाका निर्वाह सम्भव न था, जबकि अच्युतदासके चरित्रके अवलोकनसे उनकी रुझान सर्वथा अव्यावृत्त जीवन-यापनकी प्रतीत होती है. अतः तनुवित्तजा-सेवा अथवा गृहसेवा के प्रकारके निर्वाहका तो प्रश्न ही नही उठता. सो श्रीगोवर्धनधरकी केवल तनुजासेवा करनेके बजाय इन्होने सीधे ही श्रीमहाप्रभुसे मानसी सेवाका वरदान ही मांग लिया ! नारायणदासको जैसे स्वरूपसेवाके अनुकल्प श्रीहस्ताक्षरकी सेवाद्वारा उत्कट भावका दान मिला, वैसे ही अच्युतदासको प्रथम तनुवित्तजा-सेवा और तब मानसी सेवा के सिद्धान्तसम्मत क्रमके बिना सीधे ही फलरूपा मानसी सेवाका दान श्रीमहाप्रभुने कर दिया !

सिद्धान्तमुक्तावली तथा सम्बद्ध वार्ता के अवलोकन करनेसे प्रतीत होता है कि जैसे विराटरूपके साक्षात्कारके समय श्रीकृष्ण और अर्जुन में कुछ एक मीठा विवाद हो गया था, वैसा ही विवाद श्रीमहाप्रभु और अच्युतदास में भी हुआ होना चाहिए. श्रीकृष्ण अपने विराटरूपकी महत्ता और देवदुर्लभता समझा रहे थे पर अर्जुनका कहना था कि जो भी हो उसे इस स्वरूपके नहीं किन्तु सौम्य मानुष स्वरूपके ही दर्शन सुहाते हैं. वैसे ही अच्युतदासको भी नामनिवेदन

---

१ वैष्णववाणी (अंक ४ वर्ष १९७९) में श्रीनागरदास वांभणिया शास्त्री द्वारा लिखित लेख.

करानेके बाद श्रीमहाप्रभु श्रीगोवर्धनधरकी सेवामें नियुक्त करना चाहते थे– "तुम गोवर्धनधरकी सेवा करो !' तब अच्युतदास श्रीआचार्यजीको दंडवत करि विनती किये– 'महाराज ! मोपर ऐसी कृपा करो जो एकान्तमें बैठिके मानसी सेवामे मन लागे ?' तब श्रीआचार्यजी अपनो चरणामृत दिये. सो अच्युतदास पान करि, हाथ नेत्रनसों लगाय, मस्तकपर लगाय हृदयसों लगायो. तब अच्युतदासके नेत्र अलौकिक हो गये. लीलाको दरसन करन लागे...."

वैसे तो "प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाभ्यभिप्रायसंशयात्. सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेवच" (भक्तिवार्धनी) का सिद्धान्त सभी शरणागत जीवों-पर लागू होता ही है. फिरभी स्नेहके आवेशमें भक्त कभी—कभी कुछ न कुछ मांग ही लेते हैं. भगवान्को भी वह कृपाके आवेशमें देना ही पडना है. क्योंकि "अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः" (सिद्धान्तमुक्तावली) में निरूपित अनुग्रहशीलता अथवा भक्तपरवशता का रहस्य कुछ भक्तोंके हाथ लग जाता है! जो इस तरह प्रभुके स्वभावका लाभ ले लेते हैं, उन अग्रगण्य भक्तोंमें अच्युतदास भी एक हैं.

"तब श्रीआचार्यजीने सिद्धान्तमुक्तावली करि पढ़ायी. ता करि मानसीमें मग्न भये सो गोविन्दकुण्डके पास गुफामें रहते. नेत्र प्रेमरससों भरे रहते. सो श्रीगुसांईजी नित्य दरसन देवे पधारते. ऊपर यह भाव मर्यादा राखन अर्थ परन्तु श्रीगुसांईजी दरसन करवे आवते. सो याते श्रीगुसांईजीकों श्रीआचार्यजीको अनुभव होतो. अच्युतदासके नेत्रनमें श्रीमहाप्रभुजी झलकते" (भावप्रकाश). वस्तुतः पुष्टिमार्गमें अनुग्रह ही नियामक है, भक्तका भी और भगवान्का भी– भक्तिकी साधनामें भी और भक्तिके फलदानमें भी !

अच्युतदासने छीन-झपटकर अपवादरूपसे जो अधिकार प्राप्त कर लिया था उसका कोई गलत अर्थ न लगा ले, अतएव श्रीमहाप्रभु अपनी सैद्धान्तिक स्थिति इस ग्रन्थमें स्पष्ट करते प्रतीत होते हैं.

कृष्णसेवा हम पुष्टिमार्गीय जीवोंका सनातन कर्तव्य है. जब यह कृष्णसेवा मानसीरूपमें फलित हो जाती है तो वह सेवाकी उत्कृष्टतम अवस्था है. क्योंकि चित्तका भगवान् श्रीकृष्णके साथ तन्मय हो जाना ही सेवा है. चित्तको श्रीकृष्णके साथ तन्मय करनेके लिए स्वयम् अपने तन तथा धन को कृष्ण-सेवामें लगाना चाहिए. रही बात सांसारिक दुःखोंके दूर होनेकी या अलौकिक

ब्रह्मानन्दके प्राप्तिकी तो वह तो इस कृष्णसेवामें मिलते भजनानन्दका एक आनुषंगिक लाभ है ही. क्योंकि ब्रह्मानन्दमें अनुभूत होता अक्षरब्रह्म गणितानन्द है जबकि भजनानन्द तो परब्रह्म अगणित—सच्चिदानन्द श्रीकृष्णकी सेवाद्वारा ही मिल सकता है.

यह अक्षरब्रह्म समग्र जागतिक रूपोंका उपादान होनेके कारण सर्वरूप भी है तथा सर्वविलक्षण भी. जगतके कारणके स्वरूपके बारेमें अनेक प्रकारके विवाद दिखलाई देते हैं. उदाहरणतया विवर्तवादी लोग इस जगतको मायिक मानते हैं. प्रकृतिपरिणामवादी इसे प्रकृतिके सत्व-रज-तमोगुणोंका परिणाम मानते हैं. आरम्भवादी सूक्ष्म परमाणुओंसे निर्मित मानते हैं. मीमांसकोंके अनुसार जगत जैसा आज दिखलाई देता है वैसा ही सर्वदा था और रहेगा. अतः इसके कर्ताके रूपमें परमात्माको वे मान्य नहीं करते. श्रौत मतके अनुसार, किन्तु, माया प्रकृति परमाणु अदृष्टकर्म वासना या स्वभाव आदि सभी रूपोंमें अक्षर-ब्रह्म ही जगत्का एकमात्र कारण बनता हैं. अक्षरब्रह्म अतएव सर्वरूप होनेपर भी सर्वविलक्षण है.

जगत और अक्षरब्रह्म के परस्पर स्वरूपोंको आधिभौतिक गंगाजल, जो ग्रीष्म या वर्षा में घटता या बढ़ता है, और आध्यात्मिक तीर्थरूपा गंगा, जिसका ग्रीष्म या वर्षा से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, के समान समझना चाहिए. आधिभौतिक रूपमें गंगा केवल एक नदी है पर आध्यात्मिक रूपमें मर्यादा-मार्गीय विधिके अनुसार तीर्थरूपा गंगाके तटपर तीर्थवास करनेवालेको मनो-वांछित फल देनेवाली मानी गयी है. इसी तरह जगतके सभी नाम-रूप अक्षर-ब्रह्मके आधिभौतिक रूप हैं पर इनसे विलक्षण भी अक्षरब्रह्मका एक आध्या-त्मिक रूप है, जो मर्यादामार्गीय ज्ञानियोंके लिए उपास्य तथा मोक्षप्रापक रूप है.

गंगाके इन दो आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक रूपोंके अलावा एक तीसरा आधिदैविक रूप भी कभी-कभी भक्तोंको उनकी भक्तिके आवेशमें अनुभूत होता है—एक मूर्तिमती देवीके रूपमें. इस आधिदैविक रूपका प्रत्यक्ष सभीको नहीं होता. यह तो उन्हींको दिखलाई देता है जिन्हें गंगाके आधिभौतिक आध्यात्मिक तथा आधिदैविक सभी रूपोंमें तीव्र भक्तिके कारण अभेदबुद्धि घटित हो जाती है. यह घटित होनेपर आधिभौतिक रूपमें भी सर्वत्र आधिदै-विक रूपका सा व्यवहार सम्भव हो जाता है.

गंगाके आधिभौतिक रूप जलकी तरह यह सारा जगत है. गंगाके आध्यात्मिक तीर्थरूपकी तरह अक्षरब्रह्मको समझना चाहिए. गंगाके आधिदैविक रूप मूर्तिमती देवीकी तरह श्रीकृष्णको समझना चाहिए.

जगत जैसे त्रिविध सत्व-रजस्-तमोगुणात्मक है, वैसे उसके नियामक देवता भी त्रिविध विष्णु-ब्रह्मा-शिव माने जाते हैं. इसी तरह अक्षरब्रह्म क्योंकि एकविध है अतः उसके नियामक-अधिदेव भी परब्रह्म श्रीहरि एक ही हैं. अतः अक्षरब्रह्ममें अवस्थित ब्रह्मादि सकल देवताओंके नियामक भी श्रीहरि ही हैं. श्रीहरि द्वारा अधिकृत होनेके कारण ही ये देवता भी मनोवांछित फलदान करनेमें समर्थ बनते हैं. जहांतक पुष्टिभक्तोंका प्रश्न है तो उनके तो सभी मनोवांछित ऐहिक या पारलौकिक फल परमानन्दरूप श्रीकृष्णसे ही निश्चिततया परिपूर्ण हो जाते हैं.

अतः ब्रह्मवादको अच्छी तरह समझकर केवल कृष्णमें ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए.

ब्रह्मवादके अनुसार सभी जीवात्मा अक्षरब्रह्मकी अंश हैं अतएव ब्रह्मात्मक हैं. पर अविद्याजन्य अहन्ता-ममताबुद्धिके कारण स्वयम्की ब्रह्मात्मकताका हमें बोध नहीं हो पाता है. जैसे आकाशको एक चलनीमें से देखा जाय तो चलनीके छिद्र आकाशके अनेक छिद्रोंकी तरह प्रतीत होंगे. ऐंसे ही अहन्ता-ममताकी चलनीमें से अनुभूत होनेके कारण अखण्ड अक्षरचैतन्य भी हमें खण्डशः व्यक्तिचेतनाके रूपमें भिन्न-भिन्न अनुभूत होता है.

व्यक्तिचेतनाकी ब्रह्मात्मकताका बोध केवल अहन्ता-ममताकी उपाधिके दूर होने मात्रसे नही हो जाता, अपितु परब्रह्मके धामरूप व्यापक अद्वैत अखण्ड अक्षरब्रह्मके ज्ञान होनेपर ही वह सम्भव है. अपनी अक्षरब्रह्मात्मकताके बोध होनेपर अक्षरब्रह्ममें विराजमान परब्रह्म पुरुषोत्तम कृष्णके दर्शन सम्भव हो जाते हैं. जैसे गंगातीरपर तीर्थवास करनेवाला भक्त अपनी तीव्र भक्तिके कारण आधिदैविक स्वरूप मूर्तिमती गंगाके दर्शन पा लेता है, वैसे ही आध्यात्मिक अक्षरब्रह्ममें निवास करनेवाला भक्त उसके आधिदैविक स्वरूप श्रीकृष्णके दर्शन पा लेता है.

माहात्म्यज्ञानके बिना सांसारिक वृत्तिसे जो कृष्णभजनमें प्रवृत्त होते हैं उनकी भगवान्‌के साथ दूरी मिटती नही है. जैसे कोई गंगाका भक्त गंगातटसे

दूर रहनेके कारण-गंगाजलके स्नान-आचमन-अर्चनसे वंचित रहनेके कारण दु:खी रहता है, वैसे ही माहात्म्यज्ञान (और/अथवा सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह) के अभावमें कृष्णभजनमें प्रवृत्त होनेपर कुछ न कुछ क्लेश तो होता है. पर कृष्णभजन कभी व्यर्थ नही जाता. अतः जन्मान्तरमें भी कभी न कभी महात्म्यज्ञान और/अथवा सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह प्रकट होगा और जीवात्मा तथा परमात्मा कृष्ण के बीचकी दूरी कम होगी ही यह निश्चित है.

अतः जगतकी सारी झंझटोंको छोडकर पुष्टिके प्रशस्त पथपर चलते हुए पुष्टिजीवको श्रीकृष्णका ही निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए. श्रीकृष्णने अपने आधिदैविक रसात्मक आनन्दमय स्वरूपसे सभी व्रजभक्तोंमें परमानन्दका सागर प्रकट किया है और अपने उस आत्मीय आनन्दके सागरमें श्रीकृष्ण सनातन लीलाविहार करते है. ऐसे व्रजभक्तोंमें लीलाविहार करनेवाले श्रीकृष्णके स्वरूपका ही हमें सर्वदा चिन्तन करना चाहिए.

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें पुष्टिजीवोंके दो अवान्तर भेद शुद्धपुष्टि और मिश्रपुष्टिके दिखलाये गये है. तद्नुसार मिश्रपुष्टिवाले जीवोंमे प्रवाही जीव कभी-कभी किसी लौकिक प्रयोजनके वशीभूत होकर भी कृष्णभजनमें प्रवृत्त हो जाते है. ऐसे प्रवाहपुष्टिवाले जीवोंके लिए कृष्णभजन सर्वथा क्लिष्ट हो जाता है. फिर भी जो सारे क्लेशोंको झेलते हुए कृष्णभजनमें लगे ही रहते है—उसे अधबीचमें छोड़ नहीं देते—उनके सारे लौकिक आवेश सर्वथा नष्ट हो जाते है.

स्वयम् अपने आत्मस्वरूपके तथा अपने भजनीय परमात्माके भी समुचित शास्त्रीय ज्ञानके बिना भजनमें प्रवृत्त हो जानेवाले भक्त पुष्टिजीव भी हो सकते हैं और मर्यादाजीव भी. कभी-कभी मर्यादामिश्रित पुष्टिके जीवको भी 'मर्यादाभक्त' कहा जाता है. वैसे सामान्यतः 'मर्यादाभक्त' का अर्थ केवल मर्यादामार्गीय भक्तिमान् जीव ही होता है.

मर्यादामिश्रित पुष्टिभक्त प्रारम्भिक अवस्थामें भक्तिरहित शास्त्रीय ज्ञानवान् भी हो सकता है तथा शास्त्रीय माहात्म्यज्ञानके अभावमें भी भक्तिमान् हो सकता है.

ज्ञानरहित मर्यादापुष्टिभक्तको अपने चित्तको भगवान्में लगाये रखनेके लिए भगवान्की पूजा-उत्सवादिकी प्रक्रियामें तत्पर रहना चाहिए. भक्तिरहित

ज्ञानवान मर्यादामिश्रित पुष्टिभक्तको दास्यभावप्रदायिनी गंगाके तटपर स्नेहोत्पत्त्यर्थ श्रीभागवतके अनुशीलनमें तत्पर होना चाहिए. इन दोनों प्रकारके मिश्रपुष्टिवाले भक्तोंको जब भगवान्‌के विशेष अनुग्रहका प्रकाश मिलता है तब वे पुष्टिमार्गको खोज पाते है तथा पूर्वोक्त तनुवित्तजा सेवाके क्रमसे अन्तमें उन्हें मानसी सेवा फलित हो जाती है.

जो केवल मर्यादामार्गीय जीव होते है वे भी भक्तिरहित ज्ञानवान् अथवा ज्ञानरहित भक्तिमान् हो सकते है इन दोनों प्रकारके जीवोंको सायुज्य मिलता हैं. पर अन्तर यह है कि भक्तिरहित ज्ञानवान् जीव ज्ञानमार्गीय प्रक्रियासे आध्यात्मिक अक्षरब्रह्ममें सायुज्य-लय प्राप्त करता है, जबकि मर्यादाभक्त दास्यभावप्रदायिनी गंगाके प्रसादसे आधिदैविक स्वरूपमें मर्यादाभक्तिमार्गीय सायुज्य प्राप्त करता है.

मर्यादामार्गीय साधककी साधनामें देश-काल आदिके नियम हैं, परन्तु पुष्टिभक्ति तो देशकालके बन्धनमें नहीं है. पुष्टिमार्गमें तो भगवान्‌का अनुग्रह ही केवल एकमात्र नियम या बन्धन है. अतः जिस देशमें या जिस कालमें भगवान्‌का अनुग्रह मिल जाय सर्वत्र एवम् सर्वदा पुष्टिभक्ति सम्भव है.

हर सूरतमें यों अक्षरब्रह्ममें सायुज्यका दान करनेवाले ज्ञानमार्गकी तुलनामें भक्तिमार्गका उत्कर्ष दिखलाई देता है. अतः भक्तिके बिना सब कुछ व्यर्थप्राय है. गंगातटपर तीर्थवास करनेवाला भी आधिदैविक गंगाके बारेमें यदि भक्तिरहित होता है तो कभी न कभी गंगाके आध्यात्मिक माहात्म्यको भूल कर अथवा उसे केवल आधिभौतिक जल ही समझ कर अपने दुष्ट कर्मोंके कारण अन्तमें उसके आध्यात्मिक लाभसे भी वंचित रह जाता है. इसी तरह आधिदैविक कृष्णके स्वरूपमें सर्वथा भक्तिके अभावमें, आध्यात्मिक स्वरूप अक्षरब्रह्ममें ज्ञानबलसे निवास करनेवाला विमुक्तिमानी साधक भी अरविन्दाक्ष श्रीकृष्णमें भावशून्य होनेके कारण अक्षरमे सायुज्यके लाभसे भी वंचित होकर पुनः भवप्रवाहमें अधःपतित हो जाता है.

यह श्रीभागवतशास्त्रका गुप्त रहस्य श्रीमहाप्रभुने न केवल अच्युतदास के लिए प्रकट किया है, अपितु सभी पुष्टिजीवोंको — श्रीमहाप्रभुके स्वकीयोंको उनके कर्तव्यके उपदेशके रूपमें दिखला दिया है. इसे अच्छी तरहसे एकबार

समझ लेनेपर सभी पुष्टिजीव अपने कर्तव्य-सम्बन्धी सभी प्रकारके संशयोंसे मुक्त हो सकते हैं.

प्रस्तुत सिद्धान्तमुक्तावलीका संस्करण वि. सं. १९७९ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है उस प्रथम संस्करणके सम्पादक थे पुष्टिमार्गीय साहित्यसेवाके द्वितीय श्रीपुरुषोत्तमजी श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधैर्यलाल व्रजदास सांकलिया. प्रकाशनभार भगवद्धर्मपरायण श्रीरामदास रणछोडदास ठाकरसीने वहन किया था. इन सभी महानुभावोके प्रति इस पुनः प्रकाशनके अवसरपर हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं. इतिशम्.

प्रस्तावना.

સિદ્ધાન્તમુક્તાવલીનું અષ્ટ ટીકા સાથે મુદ્રણ–પ્રાકટ્ય સદ્ગત શેઠ માધવજી ઠાકરસી તથા તેમના નાના ભાઇ શેઠ રણછોડદાસ ઠાકરસીના સ્મરણાર્થં તત્પુત્ર ભગવદ્ધર્મપરાયણ શેઠ રામદાસ રણછોડદાસના દ્રવ્યથી થાય છે. શ્રીજીવનલાલજી મહારાજશ્રીના દ્રવ્યાદિ સાહાય્યથી અમે સેવાફલ, નિરોધલક્ષણ, સંન્યાસનિર્ણય, જલભેદ, પંચપદ્ય, અને ભક્તિવર્ધિની એટલા ગ્રન્થોની યાવત્પ્રાપ્યટીકાસમેત પ્રસિદ્ધિ કરી છે. તેજ પદ્ધતિને અનુસરીને સિદ્ધાન્તમુક્તાવલી ગ્રન્થ પણ જેટલી ટીકા અમને મલી તેટલીનો સંગ્રહ કરી, યથાશક્તિ યથામતિ શોધીને પ્રસિદ્ધ કરીએ છીએ. શેઠ રામદાસભાઇની ઇચ્છાથી ગુર્જર ભાષાન્તર પણ શ્રીમત્પ્રભુચરણની ટીકા અને શ્રીપુરુષોત્તમજીના પ્રકાશના છાયારૂપ આપ્યું છે. ભાષાન્તર કરતી વખતે અદ્યાપિ પર્યન્ત પ્રકટ થયલા સિદ્ધાન્તમુક્તાવલીના ભાષાન્તરો–શાસ્ત્રી શ્યામજી, શાસ્ત્રી રાઘવજી, શાસ્ત્રી છગનલાલ અમરજી આદિના–જોયાં છે. અત્ર મુદ્રિત કરેલી ટીકાઓ પણ જોઇ છે. તોપણ આચાર્યશ્રીનો નિગૂઢ આશય બહુ સ્થલે યથાસ્થિત ઉદ્ઘાટન કરવામાં સંદેહ રહે છે. વસ્તુતઃ આચાર્યશ્રીના ગ્રન્થોના ભાષાન્તરનો સમય હજુ આવ્યો નથી. મૂલ ગ્રન્થકારના આશયને યથાસ્થિત સાચવી શકે એવા ભાષાન્તર યોજવાને વાસ્તે વારંવાર શ્રદ્ધાપૂર્વક વાચન અને પઠન પાઠનની અપેક્ષા છે. સંપ્રદાયમાં ભણવાનું તો નેવે મુકાયું છે. એવા સંયોગોમાં શુદ્ધ ભાષાન્તર ત્વરાથી થવાની અપેક્ષા કરવામાં આવે તો તેમાં પ્રયત્નસાધ્યતાં આવતા એ ભાષાન્તરમાં ક્લેશજન્યતાને લઇને પ્રસાદ હોવાનો સંભવ ઓછો રહે છે. સિદ્ધાન્તમુક્તાવલીની અત્ર સંગૃહીત ટીકાઓમાં શ્રીમત્પ્રભુચરણની વિવૃતિ તો આપશ્રીએ 'હૃદયમાં ધરી' એમ કહેવાથી આચાર્યશ્રીના મૂલગ્રન્થની સમાન જ અમારા જેવા અનધિકારીને માટે તો ગૂઢ થઈ પડી છે. શ્રીગોકુલેશ, શ્રીકલ્યાણરાયજી, શ્રીવલ્લભાદિની ટિપ્પણીઓ અતિસૂક્ષ્મ છે. શ્રીપુરુષોત્તમજીનો પ્રકાશ સિદ્ધાન્તમુક્તાવલીના બોધમાં બહુ ઉપયોગી થાય છે, પરન્તુ શ્રીપુરુષોત્તમજી પાસે પણ શ્રીગુસાંઇજીની વિવૃતિની અન્તિમ આવૃત્તિ નહિ હોવાથી, ઘણે સ્થલે આશય સમજવામાં સંદિગ્ધતા રહી છે. લાલૂભટ્ટની સ્વતંત્ર ટીકા છે, છતાં એક બે શાસ્ત્રાર્થના પાંડિત્યદ્યોતક વાદસંગ્રહ વિના મૂલ ગ્રન્થનો આશય સમજવામાં સહાયક બહુ નથી. શ્રીદ્વારકેશજીની ટીકા ત્રુટિત લાગે છે. શ્રીહરિરાયજીનો પ્રકીર્ણ લેખ એક જ પ્રતિ ઉપરથી મુદ્રિત થયલો હોવાથી સંદિગ્ધ જ રહે છે. આ સિવાય બે ટીકાઓ અમારા જોવામાં આવી છે. એક નનામી અન્વયમુખી અને બીજી વિસ્તૃત પણ ધડ માથા વગરની ટીકા મુંબઇના શ્રીગોકુલનાથજીના સંગ્રહમાં જોઈ છે. પરન્તુ ઉભય એટલી તો અશુદ્ધ માલૂમ પડી કે તેને મુદ્રિત કરવાનું સાહસ ઉચિત લાગ્યું નહિ. તેથી અત્ર કરેલા ભાષાન્તરમાં પણ મહાનુભાવોને પગલે ચાલી આચાર્યશ્રીના ચરણરજની આકાંક્ષા કરતાં ક્ષમાની પ્રાર્થના જ કરવા વિના અન્ય કથન વાચોવિગ્લાપન લાગે છે. કારણ કે આ વસ્તુસ્થિતિમાં ભાષાન્તર કરવું એ એક પ્રકારનું ધાર્ષ્ટ્ય લાગે છે. અત્ર એટલું જ કહીશું કે, 'यदत्र सदसद्वापि जीवबुद्ध्या मयोदितम् । तत्क्षमन्त्वपराधं मे कृपया दीनवत्सलाः ।'

पुस्तकसंग्रह अने संशोधन.

૧. શ્રીમત્પ્રભુચરણ–શ્રીગુસાંઇજી–કૃત વિવૃતિ નીચે જણાવેલી ૨૧ પ્રતિના આધારે શોધીને મુદ્રિત કરી છે. આ પ્રતિઓ જોતાં એક અનુમાન જે અમને સ્ફૂર્યું તે અત્ર જણાવવું આવશ્યક છે. શ્રીમત્પ્રભુચરણની વિવૃતિની ત્રણ આવૃત્તિ થયલી દિસે છે. પ્રથમ આવૃત્તિ સક્ષ્મ છે.

દ્વિતીય આવૃત્તિમાં મુદ્રિત પુસ્તકના પૃષ્ઠ પાંચ, પંક્તિ પાંચ, **एवम्**થી **उच्यते** સુધીનો ભાગ આપશ્રીએ ઉમેર્યો છે એમ લાગે છે. અને તૃતીય આવૃત્તિમાં એ જ અધિક ભાગને ફરીથી લખ્યો છે. આ ફરીથી લખેલો ભાગ તેજ પૃષ્ઠ ઉપર અમે ટિપ્પણમાં ધર્યો છે. પરન્તુ આ ભાગ આપશ્રીએ ઉમેર્યો તેની સાથે પૃષ્ઠ ૪૩, ૪૪, ૪૫, ૪૬, ૪૭, ૪૮, ૪૯, અને ૫૨ પૃષ્ઠો ઉપર કૌંસમાં જણાવેલા ભાગો પણ ઉમેર્યા. આ કૌંસમાં જણાવેલા ભાગોની ભાષા તો શ્રીમત્પ્રભુચરણની જ લાગે છે, અને મૂલ ગ્રન્થનો આશય બહુ સ્ફુટ રીતે બોધે છે છતાં, શ્રીગોકુલેશ, શ્રીકલ્યાણરાયજી, શ્રીપુરુષોત્તમજી, શ્રીવલ્લભજી, શ્રીવ્રજનાથજી આદિ કોઇ એ ભાગોનો ઉપન્યાસ પોતાની ટીકામાં કરતા દિશતા નથી. અમે સંગૃહીત કરેલી શ્રીગુસાંઇજીની વિવૃતિની પ્રતોમાં કેટલીક તો અત્યન્ત પ્રાચીન અને પ્રામાણિક દિશે છે. ચાચા શ્રીગોપેશજીના નામની એક પ્રતિ તો છે, પરન્તુ આ પ્રાચીન પ્રતોમાં કોઇનામાં પણ કૌંસમાં જણાવેલા ભાગો નથી. એટલે એ ભાગો શ્રીમત્પ્રભુચરણની વિવૃતિમાં કોઇએ પાછલથી ઉમેર્યા એમ કહેવામાં પ્રતિબંધ એટલો જ રહે છે કે આ ભાગોની ભાષા શ્રીમત્પ્રભુચરણની નથી એમ કહી શકાતું નથી. તેમાં વલી આ ભાગો મૂલ ગ્રન્થનું શ્રીમત્પ્રભુચરણની રીતિથી જ વ્યાખ્યાન કરે છે. અને જ્યાં ટીકાકારકૃત વ્યાખ્યાન અને આ કૌંસમાંના ભાગોમાં આપેલું મૂલગ્રન્થનું વ્યાખ્યાન સરખાવીએ છીએ ત્યાં સર્વત્ર ટીકાકારના સ્વતંત્ર વ્યાખ્યાન કરતાં આ કૌંસમાં કરેલું વ્યાખ્યાન વિશેષ વિશ્વસનીય લાગે છે. આથી ફલિત એ થાય છે કે પ્રથમ શ્રીમત્પ્રભુચરણે આ વિવૃતિ લખી, અને તેની પ્રતિઓ સર્વત્ર પ્રચલિત થઇ ગઇ, ત્યાર પછી કોઈ કૃપાપાત્ર ભગવદીયની ઇચ્છાથી કે નિજેચ્છાથી આપશ્રીએ મૂલગ્રન્થ જ્યાં જ્યાં વિશેષ વ્યાખ્યાનસાપેક્ષ લાગ્યો ત્યાં ત્યાં આ કૌંસમાંના ભાગો ઉમેર્યા. આને લીધે ટીકાકારોની પ્રાચીન પ્રતિઓમાં તે ભાગ ન આવ્યા. પરન્તુ આ પણ અમારે જણાવવું જોઇએ કે આવી તૃતીય આવૃત્તિની કોઈ બહુ પ્રાચીન પ્રતિ અમને મલી નથી. સંગૃહીત કરેલા પુસ્તકો નીચે પ્રમાણે છે.

૧. પં. ગટ્ટૂલાલાજીનું. પ્રાચીન, શુદ્ધ પત્ર ૬. પ્રથમ આવૃત્તિ.

૨. પં. બલભદ્રશર્માનું. મૂલ શ્રીઘનશ્યામાત્મજ શ્રીગોપેશનું. પત્ર ૧૬. પ્રાચીન તથા શુદ્ધ, પ્રથમ આવૃત્તિ.

૩. શ્રીગોપાલાત્મજ શ્રીયદુનાથનું. શુદ્ધ, પ્રાચીન. પ્રથમ આવૃત્તિ. પત્ર ૬. ગટ્ટૂલાલાજીના સંગ્રહમાંથી પ્રાપ્ત.

૪. શાસ્ત્રી ભદ્રશંકર ખંભાતવાલાનું. સંવત્ ૧૮૫૩. માર્ગ. વદિ ૧૧. મૂલ દીક્ષિત મંચ્છારામાત્મજ ઉત્તમરામે શ્રીગૌડમાલવિએ ભરુચમાં લખેલું. પત્ર ૭. સાધારણ. પ્રથમ આવૃત્તિ.

૫. શ્રીજીવનલાલજીના સંગ્રહમાંનું. પત્ર ૫. વાંચેલું. નૂતન. સં. ૧૮૮૧. આશ્વિન વદિ ૪. મંગલ. પ્રથમ આવૃત્તિ.

૬. પં. ગટ્ટૂલાલાજીનું. નૂતન. પ્રથમ આવૃત્તિ. શોધિત. પત્ર ૭.

૭. શ્રીજીવનલાલજીનું. સં. ૧૮૨૦. આશ્વિન સુદિ ૧૩. પત્ર ૪. પ્રથમ આવૃત્તિ.

૮. શ્રીજીવનલાલજીનું. સં. ૧૮૮૮. આશ્વિન સુદિ ૧૧. સોમ. પત્ર ૭. પ્રથમ આવૃત્તિ.

૯. રા. વાડીલાલભાઈ પાસેના વૈષ્ણવપરિષત્સંગ્રહમાંનું. નૂતન. પત્ર ૮. તૃતીય આવૃત્તિ. કૌંસમાં જણાવેલા સર્વે ભાગોવાલું.

૧૦. શ્રીવલ્લભલાલજીનું. સં. ૧૭૫૭. માઘ સુ. ૧૦. બુધ. પ્રથમ આવૃત્તિ.

૧૧. પં. ગટ્ટૂલાલાજીનું. બહુ જૂનું નહિ. પત્ર ૧૨. તૃતીય આવૃત્તિ. સર્વે વધારા સાથે.

૧૨. શ્રીજીવનલાલજીનું. શ્રીગોકુલેશકૃત ટીકાસહિત. પત્ર ૮. પ્રથમ આવૃત્તિ.

૧૩. ગટ્ટૂલાલજીનું. સાધારણ. પ્રથમ આવૃત્તિ.
૧૪. શ્રીવલ્લભલાલજીનું શ્રીગોકુલેશકૃત ટીકાસહિત. પત્ર ૮. પ્રથમ આવૃત્તિ.
૧૫. શાસ્ત્રી મગ્નલાલ ગણપતિરામનું. તૃતીય આવૃત્તિ. સર્વ વધારા સાથે. નૂતન.
૧૬. નડીયાદની ડાહીલક્ષ્મી લાઇબ્રેરીનું સદ્ગત તનસુખરામભાઇદ્વારા પ્રાપ્ત. પ્રાચીન, શુદ્ધ, પત્ર ૪. પ્રથમ આવૃત્તિ.
૧૭. પં. ગટ્ટૂલાલજીનું સાધારણ.
૧૮. નડીયાદની વૈષ્ણવ બાઇ રુક્મિણીનું. નૂતન. દ્વિતીય આવૃત્તિ. વાચેલું અને ટિપ્પણયુક્ત.
૧૯. ભગવદીય મનમોહનદાસ દલાલનું. નૂતન. તૃતીય આવૃત્તિ.
૨૦. નડીયાદ ડાહીલક્ષ્મી લાઇબ્રેરીનું. તનસુખરામભાઇદ્વારા પ્રાપ્ત. પ્રથમ આવૃત્તિ.
૨૧. શ્રીનાથદ્વારનું મુદ્રિત પુસ્તક. શ્યામજી શાસ્ત્રીનું શોધેલું.

આ ઉપર જણાવેલાં ૨૦ હસ્તલિખિત અને એક મુદ્રિત પુસ્તકના આધારે શ્રીમત્પ્રભુચરણની વિવૃતિનું મુદ્રણ થયું છે.

૨ શ્રીગોકુલનાથજીની ટિપ્પણી નીચે જણાવેલા પુસ્તકોને આધારે શોધી છે.

૧ નડીઆદની ડાહીલક્ષ્મી લાઇબ્રેરીમાંથી સદ્ગત તનસુખરામભાઇદ્વારા પ્રાપ્ત. પ્રાચીન. પત્ર ૪.
૨ પં. ગટ્ટૂલાલજીના સંગ્રહમાંનું પત્ર ૨. પ્રાચીન.
૩ પં. ગટ્ટૂલાલજીના સંગ્રહમાંનું નૂતન. પત્ર ૪.
૪ શ્રીજીવનલાલજીનું. નૂતન. પત્ર ૩.
૫ શ્રીજીવનલાલજીનું નૂતન. પત્ર ૨.
૬ વાડીલાલભાઇ પાસેના વૈષ્ણવપરિષત્સંગ્રહમાંનું, નૂતન. પત્ર ૪.
૭ પં. ગટ્ટૂલાલજીના સંગ્રહમાંનું, નૂતન. પત્ર ૪.
૮ પં. ગટ્ટૂલાલજીના સંગ્રહમાંનું, પત્ર ૪.
૯ પં. ગટ્ટૂલાલજીના સંગ્રહમાંનું, પ્રાચીન, શુદ્ધ, પત્ર ૪.
૧૦ પં. ગટ્ટૂલાલજીના સંગ્રહમાંનું. પત્ર ૪. સંવત્ ૧૮૫૪ માઘ સુદ ૧. સાધારણ.
૧૧ શાસ્ત્રી મગ્નલાલનું. નૂતન.
૧૨ પં. બલભદ્રશર્માનું. નૂતન.
૧૩ શ્રીવલ્લભલાલજીનું. નૂતન.
૧૪ શ્રીજીવનલાલજીનું.
૧૫ શ્રીનાથદ્વારનું મુદ્રિત.

ઉપર જણાવેલાં ચૌદ હસ્તલિખિત અને એક મુદ્રિત પુસ્તકને આધારે આ ટિપ્પણીનું શોધન મુદ્રણ થયું છે.

૩ શ્રીકલ્યાણરાયજીની ટિપ્પણીનું મુદ્રણ તથા શોધન નીચે જણાવેલાં ૧૧ પુસ્તકોને આધારે થયું છે.

૧ પં. ગટ્ટૂલાલજીનું. આ પુસ્તક શ્રીહરિરાયજીના નિજ શ્રીહસ્તાક્ષરનું લખેલું દિસે છે. પત્ર ૮. બહુ શુદ્ધ અને સુન્દર.
૨ પં. બલભદ્રશર્માનું, પત્ર ૪.
૩ પં. ગટ્ટૂલાલજીનું, પત્ર ૬.
૪ શ્રીજીવનલાલજીનું, પત્ર ૨.
૫ શ્રીજીવનલાલજીનું, પત્ર ૪. પ્રાચીન.
૬ પં. ગટ્ટૂલાલજીનું, પત્ર. ૧.

૭ સદ્ગત તનસુખરામભાઇદ્વારા પ્રાપ્ત. પત્ર ૫.
૮ પં. ગટ્ટૂલાલજીનું, પત્ર ૪. પ્રાચીન.
૯ પં. ગટ્ટૂલાલજીનું, પત્ર ૩.
૧૦ અસ્મદીય.
૧૧ શ્રીનાથદ્વારનું મુદ્રિત.
ઉપર જણાવેલાં દશ હસ્તલિખિત અને એક મુદ્રિતના આધારે આ ટિપ્પણીનું શોધન-મુદ્રણ થયું છે.

૪ શ્રીપુરુષોત્તમજીનો પ્રકાશ નીચે જણાવેલા પુસ્તકોને આધારે શોધીને મુદ્રિત કર્યો છે.
૧ નડીઆદના વૈષ્ણવબાઈ રુકિમણીનું, પ્રાચીન શુદ્ધ.
૨ કોટાના શ્રીમન્મથુરેશજીના સંગ્રહમાંનું, ત્રુટિત.
૩ શ્રીવલ્લભલાલજીનું. આપશ્રીએ કૃપા કરીને કામવનના સંગ્રહમાંથી મોકલાવેલું. શ્રીપુરુષોત્તમજીના પ્રકાશની આ પ્રતિ દ્વિતીય આવૃત્તિરૂપ લાગે છે. કારણકે આમાં કૌંસમાં મુદ્રિત કરેલા ભાગો અન્ય હસ્તલિખિત પ્રતોમાં અને શ્યામજીશાસ્ત્રીની મુદ્રિત પ્રતમાં જોવામાં આવ્યા નથી. છતાં લેખન પદ્ધતિથી એ ભાગો શ્રીપુરુષોત્તમજીનાજ હોય, એમ દિશે છે. શ્રીગુસાંઇજીની માફક શ્રીપુરુષોત્તમજીએ પણ એકવાર પોતાનો લખેલો પ્રકાશ પ્રચલિત થઈ ગયો હોય, ત્યારપછી આ ભાગ ઉમેર્યા હોય, એમ સંભવિત છે.
૪ શ્રીનાથદ્વારનું મુદ્રિત.

૫ શ્રીવલ્લભજીની ટિપ્પણી નીચે જણાવેલાં પુસ્તકોને આધારે શોધીને છાપી છે.
૧ નડીઆદની ડાહીલક્ષ્મી લાયબ્રેરીનું, આ પુસ્તક મૂલ લાગે છે. પ્રથમ આ ટીકા શ્રીવ્રજનાથજીએ લખેલી અને તે પોતાના ગુરુ શ્રીવલ્લભજી ઉપર મોકલી આપેલી, અને શ્રીવલ્લભજીએ પોતે જ્યાં લાગ્યું ત્યાં સુધારા વધારા કર્યા પછી આ ટીકા પ્રચલિત થઈ હોય, એમ દિશે છે. આ પ્રતિમાં થએલા સુધારા અને ઘટાડા મૂલગ્રંથ-પ્રયોજકે પોતાના શ્રીહસ્તથી કર્યા હોય, એમ દિશે છે. આ પ્રકારની આ શોધેલી આવૃત્તિ શ્રીવિઠ્ઠલેશાત્મજ શ્રીવલ્લભના નામથી સંપ્રદાયમાં પ્રસિદ્ધ થએલી છે. અને મૂલપ્રતિ જેનાઉપર આ શોધ કરવામાં આવેલોછે, તે શ્રીરઘુનાથાત્મજ શ્રીવ્રજનાથજીના નામથી સંપ્રદાયમાં પ્રચલિત છે. આ રીતની આ ગુરુશિષ્યની સેવાફલની બે ટીકાઓ પણ જોવામાં આવી છે. આમાં બાર પત્ર છે.
૨ શ્રીવલ્લભલાલજીનું, પત્ર ૧૦
૩ પં. ગટ્ટૂલાલજીનું, નૂતન. પત્ર ૧૧.
૪ પં. ગટ્ટૂલાલજીનું, ત્રુટિત.
૫ ભગવદીય મનમોહનદાસભાઈનું, નૂતન.
૬ શ્રીનાથદ્વારનું મુદ્રિત પુસ્તક.

૬ ઉપર પ્રમાણે જણાવેલી શ્રીવ્રજનાથજીની ટિપ્પણી નીચે જણાવેલા પુસ્તકોને આધારે શોધીને છાપી છે.
૧ પં. ગટ્ટૂલાલજીનું, પત્ર ૧૧.
૨ શ્રીમન્મથુરેશજીના સંગ્રહમાંનું, પત્ર ૧૫.
૩ પં. ગટ્ટૂલાલજીનું.
૪ ભગવદીય મનમોહનદાસનું.

૭ લાલૂભટ્ટજીની સ્વતંત્ર ટીકાનું મુદ્રણ અને શોધન નીચે જણાવેલા પુસ્તકોને આધારે થયું છે.

૧ શ્રીવલ્લભલાલજીનું, પત્ર ૨૬. નૂતન.
૨ પં. ગટ્ટૂલાલાજીનું, નૂતન. પત્ર ૧૫.
૩ શ્રીવલ્લભલાલજીનું, પત્ર ૧૮.
૪ શ્રીજીવનલાલજીનું, પત્ર ૧૮.
૫ શ્રીનાથદ્વારનું, મુદ્રિત. પત્ર ૬.
૬ પં. બલભદ્રનું, મુદ્રિત.

૮ શ્રીદ્વારકેશજીની ટિપ્પણીનું મુદ્રણ એકજ પુસ્તકને આધારે થયું છે. આ પ્રતિ શાસ્ત્રી મગ્નલાલ ગણપતિરામની છે.

૯ શ્રીહરિરાયજીનો. સ્વતંત્ર. પં. ગટ્ટૂલાલાજીના સંગ્રહમાંથી પ્રાપ્ત થએલા એકજ પત્રને આધારે મુદ્રિત થએલો છે.

ઉપર જણાવેલા ગોસ્વામિબાલકો શ્રીવલ્લભલાલજી, શ્રીરણછોડલાલજી, શ્રીગોકુલનાથજી અને શ્રીગોપિકાવલ્લભજી તથા પં. ગટ્ટલાલાજીની સંસ્થા, સદ્‌ગત તનસુખરામભાઈ, શાસ્ત્રી મગ્નલાલ ગણપતિરામ, મુખ્યાજી ગોકુલદાસજી, શાસ્ત્રી ભદ્રશંકર, ભટ્ટ બલભદ્રશર્મા, વાડીલાલભાઈ, ભગવદીય મનમોહનદાસભાઈ, વગેરેનો અમારા ઉપર પરમ ઉપકાર આ પુસ્તકોના સંગ્રહમાં થયો છે. પં. બલભદ્રનું ઔદાર્ય અમે વારંવાર સ્મરીએ છીએ, અને અમને આશા છે, કે અન્ય વિદ્વાનો પણ એમનું પુસ્તકપ્રદાનના વિષયમાં અનુકરણ કરશે. શ્રીરણછોડલાલજીના શાસ્ત્રીઓ હરિકૃષ્ણ અને ચિમનલાલનો ઉપકાર વિસ્મરણીય નથી. કારણ કે તે લોકોએજ શ્રીરણછોડલાલજીના હસ્તલિખિત પુસ્તકો શ્રીજીવનલાલજીના સંગ્રહમાંથી લાવીને આપ્યા હતા, તેમજ શાસ્ત્રી વસંતરામે પણ ચંદાવાડીના શ્રીવલ્લભલાલજીના સંગ્રહમાંથી સિદ્ધાંતમુક્તાવલીની કેટલીક ટીકાઓ લાવીને આપી હતી; તેથી તેમનો પણ ઉપકાર અમારા ઉપર થયો છે. શ્રીગોપિકાવલ્લભજીએ શ્રીગોકુલાધીશના મંદિરમાંના સંગ્રહને આજ કાર્ય માટે અમને પરમ ઉદારતાથી જોવા દીધો હતો, તેથી તેઓશ્રીનો ઉપકાર પણ અમે માનીએ છીએ. આ સંગ્રહમાં શ્રીરઘુનાથજીકૃત ટીકાનો સમાવેશ કરી શક્યા નથી. આ ટીકાની બે પ્રતિ કાંકરોલીમાં શ્રીદ્વારકાધીશજીના મંદિરસંગ્રહમાં છે. હરીચ્છાથી એ ટીકા પ્રયત્નસાધ્ય થઈ નથી.

ग्रन्थकृत्परिचय.

શ્રીમત્પ્રભુચરણનો પરિચય સાંપ્રદાયિકોને કરાવવો, એ તો સૂર્યનું દર્શન દીપકથી કરાવવા જેવું છે. શ્રીગોકુલેશ, શ્રીકલ્યાણરાયજી શ્રીહરિરાયજી અને લાલૂભટ્ટ એ મહાનુભાવોનો પરિચય અમારાદ્વારા શ્રીજીવનલાલજીના આશ્રયથી પ્રસિદ્ધ થયેલા ષોડશગ્રંથોમાં કરાવેલો છે, એટલે અહીં તેની પુનરુક્તિ કરવાની આવશ્યકતા જોતા નથી. શ્રીદ્વારકેશજી છપ્પન ભોગવાલા થોડા સમય પર થઈ ગયેલા શ્રીમદ્દુજીમહારાજના પિતૃચરણ થાય. શ્રીવલ્લભજી તથા શ્રીવ્રજનાથજી એ ગુરુશિષ્ય ગોસ્વામિબાલકોનું અત્ર સ્થલ સંકોચને લઇને વિશેષ વિવેચન નહિ કરતાં જિજ્ઞાસુઓને વાસ્તે અમારા તરફથી પ્રસિદ્ધ થતા સાંપ્રદાયિક માસિક વેણુનાદમાં હવે પછી યથાવકાશ સવિસ્તર ચર્ચીશું. અહીં એટલુંજ જણાવીશું કે શ્રીવ્રજનાથજી પ્રથમ ગૃહના શ્રીગોપીનાથ દીક્ષિતજીના વંશમાં થયા છે, અને શ્રીવલ્લભજી પંચમગૃહ શ્રીરઘુનાથજીના વંશમાં થએલા છે.

उपसंहार.

શેઠ રણછોડદાસ ઠાકરસી પં. ગટ્ટૂલાલજીના સંસ્થાના એક ટ્રસ્ટી હતા. સંસ્થા પ્રતિ બહુ જ મમતા ધરાવતા હતા, એટલું જ નહિ પરન્તુ સાંપ્રદાયિક કાર્યોમાં પણ સારો ભાગ લેતા હતા. અમને આશા છે કે એમના સત્પુત્ર ભગવદ્ધર્મપરાયણ શેઠ રામદાસ આ ગ્રન્થને વૈષ્ણવોમાં અભીષ્ટ પ્રચાર થાય તેને માટે વિના નોછાવરે યોગ્ય વૈષ્ણવોમાં વાંટી દેશે. અમારી સૂચના સ્વીકારાશે તો સંપ્રદાયને ઘણોજ લાભ થવા સંભવ છે. ઉક્ત દ્રવ્યસહાયકોનું દ્રવ્ય તેજ રીતે ખર્ચ્યું ઉગી નીકલશે, અને પરલોકવાસી શેઠ રણછોડદાસનો આત્મા પણ આ સત્કાર્યથી પ્રસન્ન થશે.

ઉપસંહારમાં પ્રસ્તુત ગ્રન્થ સાંપ્રદાયિકમુદ્રણકાર્યમાં અમારી પ્રથમ પ્રવૃત્તિ કરાવનાર નિત્યલીલાસ્થ શ્રીમદ્‌ગોસ્વામિશ્રીજીવનલાલજીદ્વારા શ્રીમત્પ્રભુચરણકમલમાં સમર્પીએ છીએ.

रासोत्सव,
संवत् १९७८.

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા.
ધૈર્યલાલ સાંકલીઆ.

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटिता ।

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ॥ १ ॥
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥ २ ॥
परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ॥ ३ ॥
अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतंत्रं चेति नैकधा ॥ ४ ॥
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।
द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी ॥ ५ ॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ॥ ६ ॥
तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ।
गंगायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ॥ ७ ॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले ।
विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ॥ ८ ॥
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् ।
यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ॥ ९ ॥
जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः ।
देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ॥ १० ॥
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन्ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा ।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥ ११ ॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ।
आत्मनि ब्रह्मरूपे हि छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ॥ १२ ॥

उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।
गंगातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति ॥ १३ ॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन्ज्ञानी प्रपश्यति ।
संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥ १४ ॥
अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक् ।
तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥ १५ ॥
आत्मानंदसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।
लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥ १६ ॥
क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ।
ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु ॥ १७ ॥
मर्यादास्थस्तु गंगायां श्रीभागवततत्परः ।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥ १८ ॥
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः ॥ १९ ॥
भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः ।
अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति ॥ २० ॥
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ।
एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

प्रणम्य पितृपादाब्जपरागमनुरागतः ।
कृपया विशदीकुर्मस्तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम् ॥ १ ॥

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्[1] ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ॥ १ ॥

स्वसिद्धान्तेति । अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः । तमेवाहुः कृष्णसेवेति । फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो, न त्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते । सेवा हि सेवकधर्मः । तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम् । अत एव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः सदे[2]ति । आवश्यकार्थण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते । सा च फलरूपा साधनरूपा चास्ते । तत्र मानसी सा परा फलरूपेत्यर्थः । यथा व्रजसीमन्तिनीनाम् । तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद' मित्यादिना ॥ १ ॥

श्रीमद्गोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

यद्वाञ्छयैव मोक्षान्ताः पुमर्था अधरीकृताः ।
स कोऽपि पितृपादाब्जरेणुर्मह्यं प्रसीदतु ॥ १ ॥

अग्रे वक्ष्यमाणैरिति । मायिकं सगुणमित्यादिभिरित्यर्थः । तत्र परस्परविरोधस्य स्पष्टत्वात् । साक्षाच्छ्रुतिनिरूपितं वक्ष्यामीति विशब्दार्थः । तस्यैव स्वकीयत्वज्ञापनाय स्वपदम् । अशेषाणामिति । आसुरव्यतिरिक्तानामशेषाणामित्यर्थः । अत एव भगवता गीतं 'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति'मिति । न हि दासः कदापि प्रभुं न प्राप्नोतीति तथार्थ उक्तः । ननु मानससेवायाः सर्वात्मपरत्वे को हेतुरिति चेत्तत्राहुः फलरूपेति । फलरूपत्वमेव विवृतं यथा व्रजसीमन्तिनीनामिति । एतत्प्रकारातिरिक्तप्रकारकमानससेवायाः फलरूपत्वाभावात् तत्परत्वमुक्तमिति भावः । सर्वात्मभावस्य मनोधर्मत्वात्तत्पूर्विकायास्तस्या मानसीत्वमुक्तमिति न काचित्क्षतिः ॥ १ ॥

१. विनिश्चितमिति पाठः । २ काले इति पाठः ।

एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेत इति ।

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥ २ ॥

उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति । वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारितैका । एतादृशेन पुंसा कृता चापरा । एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम् । एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः । एतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुः तत इति । अहन्ताममतात्मकः संसारो, न तु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्याऽनिष्टनिवृत्तिरुक्ता । इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे । स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम् । भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यप्यनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति भावः ॥ २ ॥

इदमेव परं ब्रह्मेति न ज्ञेयमित्याहुः परं ब्रह्म त्विति ।

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ॥ ३ ॥

यशोदोत्सङ्गलालितो, न त्वन्य इति ज्ञापनाय मूलनामोक्तम् । अत्र भेदकं रूपमाहुः सच्चिदिति । एते हि भगवद्धर्मात्मकाः, प्रकटत्रितयात्मकमक्षरं ब्रह्म । अत एव प्रपञ्चस्तदात्मक इति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन्नुच्यते । एतावान्परं विशेषो, जडे सदंशः प्रकटः, इतरावाच्छन्नौ; जीवे त्वाद्यौ प्रकटौ, आनन्दांशस्तिरोहितः; परमात्मनि त्रयं स्फुटमिति । कप्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव, न तु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वमिति ज्ञाप्यते । कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमित्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपमिति । तत् अक्षरं ब्रह्म । तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्यादिति । प्रपञ्चरूपेणाविर्भूतमेकमित्यर्थः । एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपात् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन

श्रीमद्गोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

नन्वेवमाधुनिकैस्तादृशाधिकाररहितैस्तन्मार्गप्रवर्तकाचार्योक्तप्रकारेण क्रियमाणसेवाया अनुपयोगमाशङ्क्याहुः उक्तसेवासाधने इति । तेषां तादृशाधिकाराभावेपि तदुक्तप्रकारेण क्रियमाणत्वात्पूर्वोक्तमेव फलं सम्भवतीत्यर्थः । यथा चैतत्तथा भक्तिहंसे विस्तृतं पितृचरणैरिति नात्र विस्तरः ॥ २ ॥

सच्चिदानन्दकमित्यस्यापि पुरुषोत्तमपरत्वव्यावृत्त्यर्थमाहुः कप्रत्ययेनेति । कुत्सार्थे कप्रत्ययः । कुत्सात्र हीनता, तेनागणितानन्दात् गणितः एव स हीन एवेति स्पष्टमेवाक्षरपरत्वमिति भावः । पूर्वपदे परब्रह्मपदप्रयोगादत्र बृहत्पदप्रयोगादप्यस्य पदस्याक्षरपरत्वमिति ज्ञायते, अन्यथा परब्रह्मबृहत्पदाभ्यां पौनरुक्त्यं स्यात्, पूर्वपदे परपदं च न स्यादित्यर्थः ।

पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः । न च विरुद्धधर्मैर्भेदोत्र शङ्कनीयः । उभयोर्धर्मयोरेकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात् । विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि 'तदेजति तन्नैजती'त्यादिश्रुतिभिर्निरूप्यमाणत्वात् । लोक एव विरोधः शङ्कनीयो, नत्वलौकिके ब्रह्मणि । इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ॥ ३ ॥

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्याहुः अपरमिति ।

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ॥ ४ ॥

वेदमतादपरं भिन्नं मतं पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते । तत्र अक्षरे ब्रह्मणीत्यर्थः । मायिकमिति हि मायावादिनः । सगुणं गुणकार्यमिति साङ्ख्याः । कार्यं द्व्यणुकादिक्रमेणेश्वरकार्यमिति नैयायिकाः । स्वतन्त्रं न कदाचिदनीदृशं जगदिति मीमांसकाः । चकारेण वेदबाह्यमतानि सङ्गृह्यन्ते ॥ ४ ॥

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवादित्याशयेन स्वसिद्धान्तमाहुः तदेवेति ।

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।
द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी ॥ ५ ॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ॥ ६ ॥

'स हैतावानास', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जला'नित्यादिश्रुतिभ्यः तथेत्यर्थः । एकस्यैवाक्षरस्योक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति द्विरूपमिति । प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद्ब्रह्म गङ्गावज्ज्ञेयम् । अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम् । आधिभौतिकं जलरूपमेकम्, यद्वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिह्रासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यं च । अग्रिमा द्वितीयाध्यात्मिकी तीर्थरूपा, योद्धृतजलविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिस्तेन तत्रैव स्नानपूजादिभिः फलदा । एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमप्येकमेव तदक्षरं ब्रह्मेति बुध्यतामित्यर्थः ॥५।६॥

श्रीमद्गोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

विरुद्धधर्मैरिति । प्रपञ्चरूपत्वाप्रपञ्चत्वरूपैरित्यर्थः । दृश्यत्वाव्यवहार्यत्वाद्यैरित्यर्थः । विरोधाभावादिति । ननु विरोधस्य परिदृश्यमानत्वात्कथं तदभाव इति चेत् । न । श्रुत्यैकगम्यत्वाद्ब्रह्मस्वरूपस्य । तत्र च तथैव प्रतिपादितत्वात्तादृशमेव तदिति मन्तव्यम् । अन्यथा श्रुतेरप्रामाणिकत्वापत्तेरिति भावः ॥ ३ ॥

स्वमतनिरूपणेनैवेति । श्रुतिनिरूपितत्वात्स्वमतस्येत्यर्थः । एतदेवोक्तं 'स हैतावा'नित्यादिभिः । पूर्वमक्षरात्मकस्यैव गङ्गादृष्टान्तेन द्विरूपत्वमुपपाद्य तस्याप्यधिष्ठाता पुरुषोत्तम एवेति ज्ञापनायाहुः अस्तीति । त्रिरूपत्वमेव विवृण्वन्ति आधिभौतिकमित्यादि ।

आधिदैविकं रूपमाहुः तत्रैवेति ।

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ।
गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ॥ ७ ॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले ।
विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ॥ ८ ॥
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् ।
यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ॥ ९ ॥
जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः ।
देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ॥ १० ॥
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चाऽन्यथा ।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥ ११ ॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ।

उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्नास्तीत्यर्थः । तत्र मानमाहुः मूर्तिरिति । भक्त्यैव, न तु मर्यादामार्गविधिनोपासनयेत्यर्थः । तदपि क्वचिदेव, भक्त्युद्रेकदशायामेव । अथवा । यत्र क्वचिद्गृहादिष्वपीत्यर्थः । भक्तविशेषे विशेषमाहुः गङ्गायामिति । देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहादभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिस्तस्मै गङ्गायां प्रवाहमध्य एव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः । एतेन प्रपञ्चमध्य एव भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवदभेदबुद्धये तत्र भगवत्प्राकट्यं भवतीति भावः सूच्यते । अग्रिमव्यवस्थामाहुः प्राकाम्यमिति । स्वाभीष्टस्वसर्वस्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानात्तज्जले सर्वत्रानिषिद्धयथेष्टव्यवहारः स्यादित्यर्थः । एवमेवोक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावः स्फुरतीति भावः । विहितेति । भक्त्या गङ्गादर्शनानन्तरं प्रवाहरूपाया अपि दर्शनं विहितात्स्वर्गापवर्गरूपात्फलाद्विशिष्यते । तद्वदीत्यर्थः । यद्वा । येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि तया देवतारूपया सा तत्रास्तीति तत्सम्बन्धानुभा-

श्रीमद्गोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

आध्यात्मिक्यास्तीर्थरूपत्वे प्रमाणमाहुः योद्धृतजलेति । अस्यायमाशयः । यथा प्रवाहोद्धृतजले गङ्गाजलत्वाविशेषज्ञानेपि तत्कृतस्नानादेर्न तदुक्तफलजनकत्वम्, एवमक्षराभिन्नत्वेन ज्ञातस्यापि प्रपञ्चस्य ध्यानादिना न मोक्षादिसिद्धिरित्यर्थः । तत्र हेतुः पुरुषोत्तमेच्छयैवेत्याहुः मर्यादामार्गसम्बन्धीति । भक्त्यैवेति । यथा गङ्गाधिदैविकरूपं भक्त्यैकदृश्यमेव, तथा पुरुषोत्तमस्वरूपमपीति भावः । भक्तविशेष इति । मर्यादामार्गीयभक्तविशेष इत्यर्थः । तस्यैव भाव उक्तः देवतारूपायां गङ्गायामिति । भगवदभेदबुद्ध्यै भक्तायेति शेषः । यथा जलमिति । जलं दृश्यमानप्रवाहरूपम्, शक्ता पापादिनिवारणे शक्तिरस्यास्तीति शक्ता तीर्थरूपेत्यर्थः । बृहदक्षरम् । देवी आधिदैविकीत्यर्थः । कृष्णः पुरुषोत्तम इत्यर्थः । तत्रापि जगद्रूपे एतदग्रे वक्ष्यमाणमित्यर्थः । तदेवाहुर्जगत्त्विति । तत इत्येतस्यैवार्थ उक्तो

१ तथा । देवतारूपा सेति पाठः । २. कामनेति पाठः ।

वेनैव तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो भवतीत्यर्थः । किञ्च । पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यदुक्तं तदनुभवेन महतामन्तःकरणप्रतीत्यापि तज्जलमन्येभ्यो जलेभ्यो विशिष्यत इत्यर्थः । एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते । अत एव 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मिति भगवतोक्तम् । एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तमर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलमित्यादिना । तत्रापीति । साधर्म्येपि । एतदिति । किञ्चित्तारतम्यम् । इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यते । जगत्त्विति । त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं, तेन तत्तद्गुणनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इत्यर्थः । ब्रह्मैकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव । ये तु भगवद्भक्तास्तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके चार्थे श्रीकृष्ण एव कामचार इत्यर्थः । अथवा । भक्तानां स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवतीत्यर्थः ।

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं चाहुः आत्मनीति ।

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ॥ १२ ॥
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।
गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति ॥ १३ ॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ।
संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥ १४ ॥
अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक् ।
तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥ १५ ॥
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।
लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥ १६ ॥
क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ।

आत्मविषय उच्यत इति शेषः । जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वमविद्यान्तरायभूतया न विदन्ति । तेन संसारमापद्यन्ते । इदमेवोपाधिरूपत्वं तस्याः, न

श्रीमद्गोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

भगवतैव कृता इति । तन्मुक्तिप्रकारं जीवमुक्तिप्रकारमित्यर्थः । न तु तत्कृतं जीवत्वमिति । यथा मायावादिनामित्यर्थः । व्योम्नि यथेति । यथोपाधिभिः क्षुद्रैश्छिद्रैरल्पत्वादय एव

---

१. एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुक्तमपि साधर्म्यं यत्र यदंशेन तत्र तथा स्पष्टयन्ति यथा जलं तथा सर्वमिति । तत्राप्येतदिहोच्यत इति । तत्रापि साधर्म्येपि । एतज्जगत् तु त्रिविधमित्यारभ्य न चान्यथेत्यन्तेन वक्ष्यमाणं किञ्चित्तारतम्यम् । इह प्रपञ्चरूपे तद्दृष्टान्तगङ्गाजले त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यत इत्यर्थः । जगदिति पाठान्तरं पुस्तकद्वये । क्वचित् पाठद्वयमपि मूले नास्ति ।

तु तत्कृतं जीवत्वम् । अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः । व्योम्नि यथोपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्राणीव प्रतीयन्ते, तथात्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते । न तु ब्रह्मधर्मा इति बोधनार्थं च । तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुरुद्दिधीर्षुर्भवति, तत्प्रकारकगुरूपदेशादिभिरविद्यालक्षणोपाधेर्ब्रह्मात्मकत्वावबोधनप्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधनलक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रकर्षेण पश्यतीत्यर्थः । तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवेति न तदतिरिक्तमपेक्षते । भजनोपयोग्यर्थापेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यत इति न कदाचिद्दुःखी भवति । एतज्ज्ञापनाय दृष्टान्तः । यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरूपदेशमात्रेण भजने संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, न तु ब्रह्मभावसम्पत्त्या पुरुषोत्तमाविर्भाववान्, स तु गङ्गातो दूरस्थो यथा तां भजते, तत्रापेक्षिततज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति, तथा स्वयं भक्तिमार्गस्थ इति साक्षात्स्वरूपसम्बन्ध्यर्थापेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग्भवतीत्यर्थः । तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभोः । अनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धेपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलिष्यतीति ज्ञेयम् । **आत्मानन्दसमुद्रस्थमिति** । श्रीकृष्णपदात्पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटितनिरवध्यानन्देषु विहरन्तमित्यर्थः । ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः । स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकस्तद्दत्त एव । अत आत्मपदं भगवत्परम् ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

स्वस्वरूपज्ञानप्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः । उभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावायाहुः ज्ञानाभाव इति ।

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु ॥ १७ ॥
मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः ।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥ १८ ॥
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः ॥ १९ ॥

पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति । तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुरनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति तथा । तस्य विधिर्न नियामक

श्रीमद्गोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

प्रतीयन्ते, न तु व्यापकत्वादयः, तथा जीवेष्वपि न व्यापकत्वानन्दांशप्राकट्यादय इत्यर्थः । उक्तरूपाणामपि जीवानां भगवान्मर्यादापुष्टिभेदाङ्गीकारेणैव फलं ददाति, नत्वेकेनैव प्रकारेणेति ज्ञापनायाहुः तेषां मध्य इति । तेषां मध्य इत्यारभ्य ज्ञेयमित्यन्तेन ग्रन्थेनोक्ता व्यवस्था केवलमर्यादामार्गीयमर्यादापुष्टिमार्गीयभक्तानामिति ज्ञेयम् । तत्र ब्रह्मावबोधनरूपविज्ञानस्यापेक्षितत्वात् । पुष्टिपुष्टिमार्गे तु नैतदपेक्षेति न तत्सङ्ग्रहः । पुष्टिभेदेनेत्यत्रापि मर्यादापुष्टिरेवेत्यर्थः । केवलपुष्टस्य भगवत्स्वरूपाज्ञानाभावेन चित्तचाञ्चल्याभावादित्यर्थः । पुष्टिमार्गीय इति । केवलमर्यादामार्गीयत्वाद्विशेष इत्यर्थः । तमेवाहुस्तस्य स्थिताविति ।

इति भावः । मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेदनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इत्याहुः उभयोरिति । यदि मर्यादायामेवाङ्गीकारः, तदोभयोर्मुक्तिरेव फलिष्यतीत्याशयः । एवं निरूपणे तात्पर्यमाहुः ज्ञानाधिक इति । लोकेऽधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं, तस्य मुक्तिरेवेति सर्वे वदन्ति । तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम् । ब्रह्म चाक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च । एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतरः । तस्य अक्षरातीतत्वात् । अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये । गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः । न हि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जल एव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति । तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम् । न हि भक्त्या देवताद्रष्टृसमः पूर्वो भवति । अत एव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजतीति 'यो मामेवमसंमूढ' इत्युपक्रम्य 'भजति मां सर्वभावेने' ति प्रभुरुक्तवान् । अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमितोऽधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वादिति विद्वद्भिर्ज्ञेयम् । ऋग्वेदेपि पठ्यते 'तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन । आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।' हे स्तोतारो मदुत्कर्षवर्णनपराः पूर्व्यं सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः । ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम् । स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण उपदिष्टवानिति तथा । जनुषा स्वजन्मनैव सम्पूर्णेन, न तु क्षणयाममात्रेण पिपर्तन पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत । अत्र यथाविस्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवांस्तदर्थमेव तद्भजनार्थमेवोपयुक्तान् कुरुतेति भक्तिमार्गे विनियोगमुपदिशति । तेन स्फुटमेव ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमवगम्यते । भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थः

श्रीमद्गोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

उभयोरित्यस्याभास उक्तो मर्यादास्थावपीति । अयमाशयः । यदि मर्यादापुष्टिमार्गीययोरप्येकमेव फलं स्यात्, तदा मार्गभेदेनाङ्गीकारोनुपपन्नः स्यात्, मूले च साधारण्येनोभयोरपि फलैक्यप्रतिपादनाद्भवति सन्देहः, तस्मादुक्तं यद्युभावपि अनुगृह्णाति, तदोभयोरपि मर्यादांशं त्याजयित्वा केवलपुष्टिमार्गे प्रवेशं कारयित्वा पूर्वोक्तं सेवारूपं फलं प्रयच्छति, तथा नाङ्गीकरोतीति चेत्, तदोभयोरपि मुक्तिमेव ददातीत्येतदेवोक्तं यदीति । एतेन मर्यादांशत्याजनपूर्वकपुष्टिमार्गेऽङ्गीकार इति स्पष्टमेव ज्ञानमार्गाधिक्यं भक्तिमार्गे । द्वादशेऽध्याये 'येत्वक्षर' मिति 'ये तु सर्वाणि कर्माणी'त्यादिभिरित्यर्थः । ननु ज्ञानभक्त्योः साम्यमेव कुतो नेति चेत् । न । ज्ञानमार्गस्याक्षरपर्यवसायित्वाद्भक्तिमार्गस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वात्तयोः भेदस्य च गङ्गादृष्टान्तेनैव पूर्वमुक्तत्वात्तारतम्येन तत्परयोरपि तारतम्यमिति स्पष्टमेव ज्ञानाधिक्यं भक्तिमार्गे इति । तदेवोक्तं गङ्गायां चेति ॥

सिध्यतीति हृदयेनाहाग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्ताज्ज्ञानन्तोऽखण्डशब्दब्रह्म रूपं, न तु लौकिकशब्दरूपमिति नामस्वरूपं जानन्तस्तदेव विवक्तन विशेषेण वदन्तु। अधिकमाहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रमुत कीर्तयन्तु। एतेनैव भगवत्स्वरूपतन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यतीत्याशयेनाह नामस्वरूपम्। चिदिति। चिदित्युपलक्षणम्। सच्चिदानन्दात्मकमित्यर्थः। नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृगुरूपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह महस्त इत्यादि। ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे। स च स्वतेजसा पराज्ञाननिरासक इत्याह मह इति। तेजोरूपमित्यर्थः। स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येनोत्सवात्मकमिति वा। एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेश एवोपदिष्टो भवति। एवमेव 'तद्विष्णोः' 'तद्विप्रास' इत्यादि श्रुतिसहस्रैर्निगद्यत इति सुष्ठूक्तं ज्ञानमार्गादधिको भक्तिमार्ग इति ॥१७॥१८॥१९॥

गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः भक्त्यभाव इति।

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः।
अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति ॥ २० ॥
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्।
एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ॥ २१ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा ॥

भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवतीति भावः। एतेन भक्तेरावश्यकत्वमुक्तं भवति ॥ २० ॥ २१ ॥

इति श्रीपितृपादाब्जपरागरससिक्तहृत्।
श्रीविठ्ठलस्तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ ॥ १ ॥

श्रीमद्गोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी।

इति श्रीपितृपादाब्जपरागार्द्रकचेतसा।
श्रीवल्लभेन सिद्धान्तविवृतेर्विवृतिः कृता ॥ १ ॥

इति श्रीगोकुलनाथविरचिता सिद्धान्तमुक्तावलीटिप्पणी समाप्ता।

---

१. अदलितनलिनीदलैव वापी यदहृतपल्लव एव काननान्तः।
प्रियसखि न जगाम वामशीलः स्फुटममुना नगरेण नन्दसूनुः ॥ २ ॥
इत्यधिकं पद्यं क्वचित्।
२ सक्तेति पाठः।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्रीमद्विठ्ठलेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

प्रणम्य पितृपादाब्जपरागमनुरागतः । कृपया विशदीकुर्मस्तद्वाब्धुक्ताफलावलीम् ॥१॥

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्¹ ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ॥ १ ॥

स्वसिद्धान्तेति । अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः । तमेवाहुः कृष्णसेवेति । फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो, न त्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते । सेवा हि सेवकधर्मः । तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम् । अत एव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः सदेति । आवश्यकार्थण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते । सा च फलरूपा साधनरूपा चास्ते । तत्र मानसी सा परा फलरूपेत्यर्थः । यथा व्रजसीमन्तिनीनाम् । तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद' मित्यादिना ॥ १ ॥

एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेत इति ।

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥ २ ॥

उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति । वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारि-

---

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी ।

मुक्ताश्रये रत्नविशेषसेव्ये शुकादिवाञ्छ्ये सुमनोधिगम्ये ।
क्षणं गवेन्द्रस्य पदाम्बुजाते विश्रम्यतां मानसराजहंसः ॥ १ ॥
मायातमोनिराकर्त्रे गोभिः सर्वार्थदर्शिने ।
स्वान्तःस्थाय हरेर्नित्यं द्विजराजाय ते नमः ॥ २ ॥

स्वसिद्धान्तरूपमिति । स्वसिद्धान्तस्य शास्त्रार्थनिश्चयरूपत्वं श्रुतिसिद्धत्वादिति भावः । आवश्यकार्थेति । कृत्याश्चेति सूत्रेणावश्यकाधमर्ण्ययोरर्थयोः कृत्यसंज्ञकानां विधानात् कृञोऽप्यावश्यकार्थे ण्यत्प्रत्यय इति भावः । भगवदभजने प्रत्यवायबोधकं महादेववचनं स्कन्दपुराणे श्रूयते 'स कर्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव । स कर्ता सर्वपा-

---

१. विनिश्चितमिति पाठः । २ काले इति पाठः ।

तैका । एतादृशेन पुंसा कृता चापरा । एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम् । एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः । एतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुः तत इति । अहन्ताममतात्मकः संसारो, न तु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्याऽनिष्टनिवृत्तिरुक्ता । इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे । स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम् । भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यप्यनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति भावः ॥ २ ॥

इदमेव परं ब्रह्मेति न ज्ञेयमित्याहुः परं ब्रह्म त्विति ।

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ॥ ३ ॥

यशोदोत्सङ्गलालितो, न त्वन्य इति ज्ञापनाय मूलनामोक्तम्। अत्र भेदकं रूपमाहुः सच्चिदिति। एते हि भगवद्धर्मात्मकाः, प्रकटतत्त्रितयात्मकमक्षरं ब्रह्म । अत एव प्रपञ्चस्तदात्मक इति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन्नुच्यते। एतावान्परं विशेषो, जडे सदंशः प्रकटः, इतरावाच्छन्नौ; जीवे त्वाद्यौ प्रकटौ, आनन्दांशस्तिरोहितः; परमात्मनि त्रयं स्फुटमिति । कप्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव, न तु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वमिति ज्ञाप्यते । कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमित्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपमिति । तत् अक्षरं ब्रह्म । तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्यादिति । प्रपञ्चरूपेणाविर्भूतमेकमित्यर्थः । एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपात् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः । न च विरुद्धधर्मैर्भेदोत्र शङ्कनीयः । उभयोर्धर्मयोरेकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात् । विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि 'तदेजति तन्नैजती'त्यादिश्रुतिभिर्निरूप्यमाणत्वात् । लोक एव विरोधः शङ्कनीयो, नत्वलौकिके ब्रह्मणि । इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ॥ ३ ॥

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी ।

पानां यो न भक्तस्तवाच्युते'ति । तन्निवृत्त्येति । अहन्ताममतात्मकसंसारसम्बन्धिदुःखस्य निवृत्त्या । भक्तानां भगवद्भजनोपयोग्यहन्ताममतात्मकसंसारस्योपादेयत्वादित्यर्थः । तथोक्तं ब्रह्मादिभिर्गर्भस्तुतौ 'त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नी'ति श्लोके । कृष्णशब्देनैवेति । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दः' 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मित्यादिवाक्यैः कृष्णशब्दस्य पुरुषोत्तमवाचकत्वादिति भावः । ज्ञान्युपास्यत्वं तन्मुक्तिस्थानत्वं च 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते' 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' इत्यादिभिर्ज्ञेयम् । अत्रेति । अक्षरप्रपञ्चयोरित्यर्थः । उभयोरिति । प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वे सिद्धे विरुद्धयोर्धर्मयोरक्षरब्रह्मणि प्रमाणसिद्धत्वेन सहानवस्थानलक्षणविरोधाभावादित्यर्थः । विरोधपरिहारायेति । ब्रह्मात्मकत्वे प्रपञ्चस्योच्यमाने मायावादादिभिर्विरोधः स्यात्तत्परिहाराय श्रुतिसिद्धं स्वसि-

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्याहुः अपरमिति ।

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ॥ ४ ॥

वेदमतादपरं भिन्नं मतं पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते । तत्र अक्षरे ब्रह्मणीत्यर्थः । मायिकमिति हि मायावादिनः । सगुणं गुणकार्यमिति साङ्ख्याः । कार्यं द्व्यणुकादिक्रमेणेश्वरकार्यमिति नैयायिकाः । स्वतन्त्रं न कदाचिदनीदृशं जगदिति मीमांसकाः । चकारेण वेदबाह्यमतानि सङ्गृह्यन्ते ॥ ४ ॥

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवादित्याशयेन स्वसिद्धान्तमाहुः तदेवेति ।

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।
द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी ॥ ५ ॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ॥ ६ ॥

'स हैतावानास', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तजला'नित्यादिश्रुतिभ्यः तथेत्यर्थः । एकस्यैवाक्षरस्योक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति द्विरूपमिति । प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद्ब्रह्म गङ्गावज्ज्ञेयम् । अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम् । आधिभौतिकं जलरूपमेकम्, यद्वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिह्रासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यं च । अग्रिमा द्वितीयाध्यात्मिकी तीर्थरूपा, योद्धृतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिस्तेन तत्रैव स्नानपूजादिभिः फलदा । एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमप्येकमेव तदक्षरं ब्रह्मेति बुध्यतामित्यर्थः ॥५।६॥

आधिदैविकं रूपमाहुः तत्रैवेति ।

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ।
गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ॥ ७ ॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले ।
विहिताच्च फलात्सद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ॥ ८ ॥
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् ।
यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ॥ ९ ॥
जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः ।

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी ।

द्धान्तं वक्तुं पूर्वपक्षत्वेन परमतान्याहुरित्यर्थः । अपरमित्येकवचनमेकवदेव तेषां मतानां निराकरणीयत्वेन तुच्छत्वबोधनार्थम् । मूले सेवतामित्यत्रानुदात्तेतां धातूनामात्मने-

देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ॥ १० ॥
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा ।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥ ११ ॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ।

उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्नास्तीत्यर्थः । तत्र मानमाहुः मूर्तिरिति । भक्त्यैव, न तु मर्यादामार्गविधिनोपासनयेत्यर्थः । तदपि क्वचिदेव, भक्त्युद्रेकदशायामेव । अथवा । यत्र क्वचिद्गृहादिष्वपीत्यर्थः । भक्तविशेषे विशेषमाहुः गङ्गायामिति । देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहादभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिस्तस्मै गङ्गायां प्रवाहमध्य एव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः । एतेन प्रपञ्चमध्य एव भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवदभेदबुद्ध्ये तत्र भगवत्प्राकट्यं भवतीति भावः सूच्यते । अग्रिमव्यवस्थामाहुः प्राकाम्यमिति । स्वाभीष्टस्वसर्वस्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानात्तज्जले सर्वत्रानिषिद्धयथेष्टव्यवहारः स्यादित्यर्थः । एवमेवोक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावः स्फुरतीति भावः । विहितेति । भक्त्या गङ्गादर्शनानन्तरं प्रवाहरूपाया अपि दर्शनं विहितात्स्वर्गापवर्गरूपात्फलाद्विशिष्यते । तद्वदीत्यर्थः । यद्वा । येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि तथा[1] देवतारूपया सा तत्रास्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो भवतीत्यर्थः । किञ्च । पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यदुक्तं तदनुभवेन महतामन्तःकरणप्रतीत्यापि

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी ।

पदानित्यत्वात्साधुत्वम् । मूर्तिरिति । देहवतीत्यर्थः । भक्तविशेष इति । प्रेमवति भक्त इत्यर्थः । तत्र भगवदभेदबुद्ध्य इति । तत्र भगवदाकारे भगवद्भक्ते च साक्षाद्भगवानयं मामनेन रूपेणानुगृह्णाति इति बुद्ध्या यो भजते तत्र भगवत्प्राकट्येन तस्य यथोक्तं भजनफलं भवति । 'तं यथा यथोपासते तथैव भवती'ति श्रुतेः । यस्तु नायं भगवान्, किन्तु भगवत्प्रतिमेयमिति बुद्ध्या भजते, तस्य भजनं भस्महोमतुल्यं भवति । अनेनैवाभिप्रायेण कपिलदेवैर्देवहूतिं प्रत्युक्तं 'यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् । हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति स'इति । अत्र सगुणभक्तस्य भेदबुद्धिर्निन्द्यते, न तु प्रतिमादिषु भजनम् । तथा सत्येकादशे श्रीकृष्णोक्तमुद्धवं प्रति प्रतिमादिषु स्वार्चनं विरुध्येत । अस्यार्थः । अहं सर्वत्र तत्तद्रूपः आत्मरूप ईश्वरोन्तर्यामी नियामकश्च वर्ते । एवं सर्वभावेन विद्यमानं भगवन्तं मां हित्वा उपेक्ष्य त्यक्त्वाऽर्चां प्रतिमां यो भजते स भस्मन्येव जुहोति । एतादृशभजने मौढ्यमेव हेतुः, नत्वेवं बोधकं प्रमाणमस्ति । प्राकाम्यमिति । प्रकर्षेणासमन्तात्काम्यं स्यात् सिध्येदित्यर्थः । दार्ष्टान्तिकेऽपि ज्ञातव्यम् ।

[1] तथा । देवतारूपा सेति पाठः ।

तज्जलमन्येभ्यो जलेभ्यो विशिष्यत इत्यर्थः । एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते । अत एव 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मिति भगवतोक्तम् । एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तमर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलमित्यादिना । तत्रापीति । साधर्म्येपि । एतदिति । किञ्चित्तारतम्यम् । इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यते । जगत्त्विति । त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं, तेन तद्गुणनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इत्यर्थः । ब्रह्मैकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव । ये तु भगवद्भक्तास्तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके चार्थे श्रीकृष्ण एव कामचार इत्यर्थः । सर्वत्र नियामकः स एवेति भावः । अथवा । भक्तानां स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवतीत्यर्थः ।

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी ।

अत एवेति । यतो भगवत्प्रतिमाभक्तस्थानेषु भगवत्सान्निध्यमस्ति, ततस्तद्दर्शनस्पर्शनार्चनानि भगवता एकादशस्कन्धे एकादशाध्याये 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मित्यनेन भक्तिकारणत्वेनोक्तानीत्यर्थः । **यथा जलमिति** मूलम् । शक्ता पापनिवारणादौ समर्था । **आध्यात्मिकी** तीर्थरूपा । बृहत् अक्षरम् । देवी मूर्तिमती । आधिदैविकी गङ्गा । **इह** गङ्गायाम्, तत्रापि भगवत्स्वरूपेऽपि, एतत्त्रैविध्यमुच्यत इत्यर्थः । **तद्गुणनियामकत्वेनेति** । जगद्गुणनियामकत्वेन भगवतैव ब्रह्मादयोऽधिकृता इत्यर्थः । एतदुक्तं नारदीयपुराणे 'यस्याज्ञया जगत्सर्वं ब्रह्मा सृजति नित्यशः । विष्णुश्च पालको नित्यं रुद्रः संहारकस्तथा' इति । तेन केवलं प्रपञ्चासक्तानां ब्रह्मादय एव नियामका निग्रहानुग्रहकर्तार इत्यर्थः । **ब्रह्मैकरूपमिति** । ब्रह्माक्षरं तस्य गुणातीतत्वेनैकरूपत्वाच्चरणरूपत्वाच्च ब्रह्मोपासकानां निग्रहानुग्रहकर्ता फलदाता हरिरेवेत्यर्थः । **ये त्विति** । भगवद्भक्तानां निग्रहानुग्रहकर्ता फलदाता श्रीकृष्ण एव, नतु ब्रह्मादयः, कालः, कर्म वा । एतेषां मनोरथपूर्तिः श्रीकृष्णादेव । यतस्ते नाल्पेच्छवः, अतः परमानन्दरूपात् । परमानन्ददायकात् पूर्णानन्दात् पुरुषोत्तमात् कृष्णादेवेष्टसिद्धिरित्यर्थः । अत एव कपिलदेववचनम् 'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नंक्ष्यन्ति नोऽनिमिषो लेढि हेति'रिति । षष्ठे तृतीयाध्याये यमवचनं 'नैषां वयं नच वयः प्रभवाम दण्ड' इति । पदयोजनिका त्वेवम् । जगत्तु त्रिगुणात्मकत्वेन त्रिविधं प्रोक्तम् । ततो हेतोर्ब्रह्मविष्णुशिवा जगतो देवता अधिष्ठातारः प्रोक्ताः । रूपवज्जगद्वत्त्रिगुणयुक्ताः नियामकत्वेन तत्तद्गुणयुक्तत्वमेवैतेषाम्, न तु गुणाधीनत्वम्, अन्यसाधारण्यापत्तेः । एतेषां भगवदंशत्वेन गुणावतारत्वेनान्येभ्यो विशिष्टत्वात् । ब्रह्मण्यक्षरविषये इत्थमधिष्ठातृत्वेन नियामकत्वेन च हरिः पुरुषोत्तमो मतः संमत इत्यर्थः । अस्मिँल्लोके भक्तजने हरिरेव नियामकः । तु पुनः भक्तजने ब्रह्मादिभ्यः कामचारश्चरधातोर्गत्यर्थत्वेन प्राप्त्यर्थत्वाद्वाञ्छितार्थप्राप्तिर्न । च पुनरन्यथा कालकर्मादिभ्योपि न, किन्तु परमानन्दरूपे कृष्णे स्वात्मनि स्वात्मत्वेन स्फुरिते स्वात्मवत् प्रिये सति वा कामचार इति निश्चयः । अतः कारणाच्च पुनस्तुशब्दः प्रकारान्तरव्युदासार्थः । ब्रह्मवादेन प्रकारेण

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं चाहुः आत्मनीति ।

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ॥ १२ ॥
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।
गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति ॥ १३ ॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ।
संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥ १४ ॥
अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक् ।
तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥ १५ ॥
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।
लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥ १६ ॥
क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ।

आत्मविषय उच्यत इति शेषः । जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वमविद्यान्तरायभूतया न विदन्ति । तेन संसारमापद्यन्ते । इदमेवोपाधिरूपत्वं तस्याः, न तु तत्कृतं जीवत्वम् । अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः । व्योम्नि यथोपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्राणीव प्रतीयन्ते, तथात्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते न तु ब्रह्मधर्मा इति बोधनार्थं च । तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुरुद्दिधीर्षुर्भवति, तत्प्रकारकगुरूपदेशादिभिरविद्यालक्षणोपाधेर्ब्रह्मात्मकत्वावबोधनप्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधनलक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रकर्षेण पश्यतीत्यर्थः । तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवेति न तदतिरिक्तमपेक्षते । भजनोपयोग्यर्थापेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यत इति न कदाचिद्दुःखी भवति । एतज्ज्ञापनाय दृष्टान्तः । यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरूपदेशमात्रेण भजने संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, न तु ब्रह्मभावसम्पत्त्या पुरुषोत्तमाविर्भाववान्, स तु गङ्गातो दूरस्थो यथा तां भजते, तत्रापेक्षिततज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति, तथा स्वयं भक्तिमार्गस्थ इति साक्षात्स्वरूपसम्बन्ध्यर्थापेक्षायां

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी ।

श्रीकृष्णो मूलभूतः पुरुषोत्तमोऽक्षरं तत्पदं तस्मात्प्रपञ्चः समुद्रात्तरङ्गवत् श्रीकृष्ण एव स्वेच्छया सर्वं करोति, सर्वरूपश्च भवति, तस्मादेव सर्वं प्राप्यते इति ब्रह्मवादप्रकारः । अनेन कृष्णे सदानन्दे बुद्धिर्विधीयतां निवेश्यतामित्यर्थः । छिद्रा व्योम्नीति । व्योम्नि यथा क्षुद्रैरुपाधिभिः छिद्रप्रदेशाः प्रतीयन्ते, तथाऽविद्यातद्धर्मैरक्षरे चेतना अपि प्रतीयन्त इत्यर्थः । उपाधिनाश इति सार्धश्लोकेन ज्ञानिभक्तावस्थोक्ता । भजनप्रकारमाहुः तस्मादिति । भक्तिमार्गीयो भूत्वा भजने लोकानुरोधं त्यक्त्वा बाललीलादिषु यैव लीला स्वस्यात्यन्तं रोचते तल्लीलासहितं कृष्णमेव, नत्ववतारान्तरमपि विशेषेण चिन्तयेदित्यर्थः । तदभावे बाधकमाहुः लोकार्थी चेदिति । मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्ताविति । अत्र ज्ञानी

तद्प्राप्त्या क्लेशभाग्भवतीत्यर्थः । तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभोः । अनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धेपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलिष्यतीति ज्ञेयम् । आत्मानन्दसमुद्रस्थमिति । श्रीकृष्णपदात्पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटितनिरवध्यानन्देषु विहरन्तमित्यर्थः । ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः । स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकस्तद्रत एव । अत आत्मपदं भगवत्परम् ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

स्वस्वरूपज्ञानप्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः । उभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावायाहुः ज्ञानाभाव इति ।

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु ॥ १७ ॥
मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः ।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥ १८ ॥
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः ॥ १९ ॥

पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति । तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुरनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति तथा । तस्य विधिर्न नियामक इति भावः । मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेदनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इत्याहुः उभयोरिति । यदि मर्यादायामेवाङ्गीकारः, तदोभयोर्मुक्तिरेव फलिष्यतीत्याशयः । एवं निरूपणे तात्पर्यमाहुः ज्ञानाधिक इति । लोकेऽधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं, तस्य मुक्तिरेवेति सर्वे वदन्ति । तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम् । ब्रह्म चाक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च । एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतरः । तस्य अक्षरातीतत्वात् । अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये । गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः । न हि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जल एव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति । तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम् । न हि भक्त्या देवताद्रष्टृसमः पूर्वो भवति । अत एव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजतीति 'यो मामेवमसंमूढ' इत्युपक्रम्य 'भजति मां सर्वभावेने' ति प्रभुरुक्तवान् । अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमितोऽधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वादिति विद्वद्भिर्ज्ञेयम् । ऋग्वेदेपि पठ्यते 'तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन । आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।' हे स्तोतारो मदुत्कर्षवर्णनपराः पूर्व्यं सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः । ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम् । स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण उपदिष्टवानिति तथा । जनुषा स्वजन्मनैव सम्पूर्णेन, न तु क्षणयाममात्रेण पिपर्तन

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी ।

कर्ममार्गस्थो ज्ञेयो, भक्तो मर्यादाङ्गीकारवान् ज्ञेयः । तदोभयोरिति । ज्ञानिनोऽक्षरसा-

पूर्तिर्युक्तं सन्तुष्टं कुरुत । अत्र यथावित्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण-जीवांस्तदर्थमेव तद्भजनार्थमेवोपयुक्तान् कुरुतेति भक्तिमार्गे विनियोगमुपदिशति । तेन स्फुटमेव ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमवगम्यते । भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थः सिध्यतीति हृदयेनाहाग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्ताज्ञानन्तोऽखण्डशब्दब्रह्मरूपं, न तु लौकिकशब्दरूपमिति नामस्वरूपं जानन्तस्तदेव विवक्तन विशेषेण वदन्तु । अधिकमाहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रमुत कीर्तयन्तु । एतेनैव भगवत्स्वरूपतन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यतीत्याशयेनाह नामस्वरूपम् । चिदिति । चिदित्युपलक्षणम् । सच्चिदानन्दात्मकमित्यर्थः । नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृगुरूपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह महस्त इत्यादि । ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे । स च स्वतेजसा पराज्ञाननिरासक इत्याह मह इति । तेजोरूपमित्यर्थः । स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येनोत्सवात्मकमिति वा । एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेश एवोपदिष्टो भवति । एवमेव 'तद्विष्णोः' 'तद्विप्रास' इत्यादि श्रुतिसहस्रैर्निगद्यत इति सुष्ठूक्तं ज्ञानमार्गादधिको भक्तिमार्ग इति ॥१७॥१८॥१९॥

गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः भक्त्यभाव इति ।

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः ।
अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति ॥ २० ॥
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ।
एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ॥ २१ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा ॥

भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवतीति भावः । एतेन भक्तेरावश्यकत्वमुक्तं भवति ॥ २० ॥ २१ ॥

इति श्रीपितृपादाब्जपरागरससिक्तहृत् ।
श्रीविठ्ठलस्तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ ॥ १ ॥

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी ।

युज्यम्, अत्र भक्तस्य पुरुषोत्तमसायुज्यमित्यर्थः । भक्त्यभाव इति । स्नेहमाहात्म्यज्ञानयोरभाव इत्यर्थः ।

श्रीमदाचार्यसिद्धान्तमुक्तावल्याः प्रणम्य तान् ।
श्रीमत्कल्याणरायेण टिप्पणी विवृतेः कृता ॥ १ ॥

इति श्रीमद्विठ्ठलेश्वरचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता
सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिटिप्पणी समाप्ता ।

---

१. अदलितनलिनीदलैव वापी यदहतपल्लव एव काननान्तः ।
प्रियसखि न जगाम वामशीलः स्फुटममुना नगरेण नन्दसूनुः ॥ २ ॥
इत्यधिकं पद्यं क्वचित् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्रीमद्विठ्ठलेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

प्रणम्य पितृपादाब्जपरागमनुरागतः । कृपया विशदीकुर्मस्तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम् ॥१॥

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्[1] ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ॥ १ ॥

स्वसिद्धान्तेति । अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् प्रभून् श्रीविठ्ठलेश्वरान् ।
तत्कृपातो यथाबुद्धि तदुक्तीर्विवृणोत्ययम् ॥ १ ॥

अथ यच्छ्रीमदाचार्यचरणैर्भगवत्प्राप्त्यर्थं निबन्धे वैदिकमार्गभक्तिमार्गौ निरूपितौ, निरोधसुबोधिन्यां च स्वतन्त्रभक्तिमार्गो निरूपितः, तत्किं तदर्थं तेषां विकल्पप्राधान्याय, आहोस्विदेकतरमुख्यत्वायेति स्वीयानां संशयस्य तत्प्रसङ्गानुप्रसङ्गपतितानां सेवास्वरूपतदधिकारादिविषयाणां संशयान्तराणां चोद्भवमवेक्ष्य तन्निवारणाय स्वसिद्धान्तनिष्कर्षं सिद्धान्तमुक्तावलीग्रन्थे श्रीमदाचार्यचरणाः संक्षेपेण प्रकाशितवन्तः । तस्य ग्रन्थस्य दुर्ज्ञेयत्वमालोच्य श्रीमत्प्रभुचरणास्तद्विवरीतुं प्रकृतोपयोगि मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थमुपनिबध्नन्तो विवरणं प्रतिजानते प्रणम्येत्यादि । अत्रानुरागतः प्रणामोक्त्या एतद्ग्रन्थार्थावबोधेपि तस्यैव विघ्नविघातकत्वेन प्रकृतोपयोगित्वं द्योतितम् । कृपयेति । श्रीमदाचार्यकृपया । स्वीयोपरि स्वकृपया वा । अतःपरं मूलं विवरणीयम् । तत्रापि नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामीतिमङ्गलघटितमेव प्रतिज्ञावाक्यम् । तत्रानुबन्धचतुष्टयं यद्यपि वक्तव्यम्, तथापि तत्र स्वसिद्धान्तविनिश्चयमितिपदेन विषयस्योक्तत्वात् विषयविशेषणीभूतेन स्वपदेनैव श्रीमदाचार्यचरणानुरक्तस्य तत्सिद्धान्तजिज्ञासोरधिकारिणोपि लाभाद्विषयोक्त्यैव प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावस्य सम्बन्धस्यापि लाभात्प्रयोजनमेवानुक्तत्वादस्फुटमवशिष्यते । तदप्युपसंहारवाक्ये 'एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशया'दित्यनेन वक्ष्यते । तद् हृदि कृत्वात्र स्फुटीकर्तुं प्रतिज्ञावाक्यमेव व्याख्यातुमुपक्षिप्य व्याकुर्वन्ति अग्रे वक्ष्यमाणैरित्यादि । अग्र इति । 'मायिकं सगुण'मित्यग्रिमग्रन्थे । शास्त्रार्थसन्देह

1. विनिश्चितमिति पाठः ।

तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः । तमेवाहुः कृष्णसेवेति । फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो, न त्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते । सेवा हि सेवकधर्मः । तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम् ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

इति । शास्त्रं काण्डद्वयात्मको वेदः, तदर्थनिश्चायका वेदान्ता वा । अर्थः प्रयोजनं तात्पर्यं च, तद्विषयके सन्देहे । तथा च तैर्वेदप्रयोजनविषयके तत्तात्पर्यविषयके च संशये जाते तन्निरासाय तथेति भावः । स्वसिद्धान्तस्य वेदार्थनिश्चयरूपत्वं च । 'भगवान् ब्रह्मकार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवे'दिति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् । 'वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः । तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ।' 'भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः । निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मन' इत्युद्धवप्रश्ने, 'धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं शमं दमम् । अन्ये वदन्ति वै स्वार्थमैश्वर्यं त्यागभोजनम् । केचिद्यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान् । आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः । दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः । मय्यर्पितात्मनः सम्यङ्निरपेक्षस्य सर्वतः । मय्यात्मना सुखं यत्तत्कुतस्तद्विषयात्मना'मित्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्यात् । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति श्रुते'र्ब्रह्मविद्याश्रुतेश्चा'वगन्तव्यम् । एवं प्रतिज्ञावाक्यव्याख्यानेनाचार्याणां सिद्धान्तस्य वेदार्थनिष्कर्षरूपत्वं बोधयित्वा पूर्वं साधननिष्कर्षं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवाक्यमवतार्य व्याकुर्वन्ति फलात्मकेत्यादि । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।' 'पापकर्षणो' इति श्रुतेः कृष्णपदं परब्रह्मनामत्वेनावगतम् । परं ब्रह्मैव च 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुत्या भूमविद्योक्तनित्यसुखनिरवधिसुखरूपतया च परमफलत्वेनानन्दमयाधिकरणादौ निर्णीतम् । अतः कृष्ण इति फलात्मकस्य भगवतो नाम, तदुक्त्या तत्समभिव्याहारेण तथा सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तः । 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इति वाक्त्योक्तभक्तिलक्षणा सेति सिद्धान्त इति ज्ञाप्यत इत्यर्थः । भक्तिपदमनुक्त्वा यत्सेवापदमुक्तं तत्तात्पर्यमाहुः सेवा हीत्यादि । जीवानाम्, 'एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडशविस्तृतम् । एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत' इति प्राचीनबर्हिषं प्रति नारदवाक्याद्देहविशिष्टानां चेतनानाम् । 'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः प्रभवन्ति याः । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिते'ति गीतावाक्याद्भगवज्जन्यत्वेन तत्पोष्यत्वम्, तेन सर्वेषां तेषां सहजदासत्वं गर्भदासत्वं ज्ञापितम् । तेनासुराणां याऽधोगतिः, सापि 'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनी'त्यत्र मूढा इति विशेषणेन दासधर्माकरणादेवेति सिध्यति । अत एव 'देवोऽसुरो मनुष्यो वे'ति प्रह्लादवाक्ये भजना-

१. '' चिह्नान्तर्गतं पुस्तकद्वये नास्ति । २ भूमविद्येतिपाठः ।

अत एव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः सदेति । आवश्यकार्थण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते । सा च फलरूपा साधनरूपा चास्ते । तत्र मानसी सा परा फलरूपेत्यर्थः । यथा व्रजसीमन्तिनीनाम् । तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद' मित्यादिना ॥ १ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

धिकारस्तेषामुच्यते । तेन सर्वेषां चेतनानां जीवानां दासत्वमक्षुण्णमित्यर्थः । तदेतदभिसन्धाय सदापदाशयमाहुः अत इत्यादि । कार्यपदतात्पर्यमाहुः आवश्यकेत्यादि । आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिरित्यर्थद्वयं प्रस्तुत्य 'कृत्याश्चे'ति सूत्रे कृत्यप्रत्यया विहिताः । तत्रावश्यकत्वं नाम पूर्वं कथञ्चित् ज्ञातस्य पश्चात्तदभावेऽनिष्टजननज्ञानपूर्वकज्ञानविषयत्वं वा, तथा कृतिविषयत्वं वा, नतु विधिविषयत्वमात्रम् । प्रैषानुवादसूत्रेणैव तदर्थलाभेनास्य सूत्रस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अतस्तदर्थकण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवति । प्रत्यवायस्य पातकत्वात्तेन भक्तिमार्गाद्भ्रंश्येतेति भावो ज्ञाप्यते । तथा च स्वस्मिन् भगवद्दासत्वमनुसन्धाय सेवायां च स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वमावश्यकदासधर्मत्वं चानुसन्धाय सर्वकालं सेवाकरणं साधननिष्कर्ष इत्यर्थः । नन्वत्र सेव्यसन्तोषजनिका पूर्वोक्तप्रकारककायादिव्यापाररूपा क्रिया सेवात्वेन विवक्षिता । यथा राजसेवा गुरुसेवेति । तस्याः सर्वदा कार्यत्वकथनमशक्योपदेशरूपमित्याशङ्क्य, तत्र समाधिं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमं वाक्यं व्याकुर्वन्ति सा चेत्यारभ्य इत्यादिनेत्यन्तम् । तथाच कायादित्रितयव्यापाररूपापि विचार्यमाणा बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधा । तयोराभ्यन्तरी मानसी बाह्यायाः फलरूपा । बाह्या तु तत्साधनरूपा । तयोरवान्तरफलरूपत्वं सर्वदा कार्यत्वं च फलाध्यायाद्यपादे 'आवृत्तिरसकृदुपदेशा'दित्यस्य प्रथमवर्णके सिद्धम् । तत्र हि 'द्रष्टव्य' इति पदेन श्रवणादीनां फलरूपं दर्शनं पूर्वमुक्त्वा, 'श्रोतव्य' इत्यादिना तत्साधनानां पश्चात्कथनेनात्मनः परोक्षमपि ज्ञानमवान्तरफलरूपं ज्ञानमार्गे । भक्तिमार्गे तु परमफलरूपज्ञानसजातीयत्वेनापि फलमध्यपात्येव श्रुत्यभिमतम् ।' अत एव 'सूत्रकृदपि फलप्रकरणे साधनविचारं चकारे'ति कथनादसकृदुपदेशकथनाच्च । मानस्याः मुख्यत्वं च साधनाध्याये सहकार्यन्तराधिकरणे । श्रुतौ कायिकं वाचिकं मानसिकं च साधनं विधीयते । तत्र मानसं मुख्यम् । 'मनसैवावासव्य'मिति श्रुतेः । तस्यापि स्नेहोदयपर्यन्तमेव विहितत्वेन कर्तव्यता । तदुत्तरं तु स्वत एव तत्सम्भव इति निर्णयात् । पुष्टिमार्गे तु तस्य या परा काष्ठा, सात्र 'यथा व्रजसीमन्तिनीना'मित्यादिना दर्शिता । यदि हि प्रकारान्तरं तत उत्कृष्टं भगवदभिप्रेतं स्यात्, तदा भगवान् 'अथैतत्परमं गुह्य'मित्यत्र 'सुगोप्यमपि वक्ष्यामी'ति प्रतिज्ञायैतमेव प्रकारं तथात्वेन न वदेत्, अतस्तथा । तेन साधनरूपाया असकृदावर्तनमेव सदा कार्यत्वम् । मानस्यास्तु भगवति मनोगत्यविच्छेदरूपम् । तच्च बाह्याया आवर्तनात्साधनीयम्, अतो नाशक्योपदेशरूपत्वमित्यर्थः ॥ १ ॥

१ काले इति पाठः ।

एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेत इति ।

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥ २ ॥

उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति । वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारि-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

तदेतदग्रिमावतरणेन निगमयन्ति एतदेवेत्यादि । अत्र मूले मानस्याः स्वरूपं 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'त्यनेनोक्तम् । तत्र प्रवणपद तावत् 'प्रवणं क्रमनिम्नोर्व्यां प्रह्वे ना तु चतुष्पथे' इत्यमरात्, 'प्रवणस्तु क्षणे प्रह्वे क्रमनिम्ने चतुष्पथे । आयत्ते चे'त्यनेकार्थानेकार्थेषु रूढम् । मनश्च वेदे अन्नमयत्वेन श्रावणात्पार्थिवं पृथिवीपोषितं चेति सिद्धम् । एवं सति तस्मिन् कृष्णे पूर्वं प्रह्वमीषन्नम्रं तत आयत्तं तदधीनं ततः क्रमेण भगवदेकतानत्वरूपां 'ता नाविद'न्निति वाक्योक्तप्रकारां गभीरतां प्राप्तं यच्चेतस्तदेव सेवारूपम् । समाधाविव भगवति लयं प्राप्तमिति यावत् । नतु वृत्त्यन्तरविशिष्टमित्यर्थः । (न च क्रमनिम्नत्वस्याचार्याशयगोचरत्वे मानाभावः शङ्क्यः । भक्तिवर्धिन्यां बीजदार्ढ्यप्रकारकथने 'ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवे'दित्यत्र तथाङ्गीकारस्य स्फुटत्वादिति)[1] । एवं मानसीं साध्यरूपां निष्कृष्य साधनरूपाया निष्कर्षं वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतार्य व्याकुर्वन्ति उक्तसेवेत्यादि । अत्रेदं बोध्यते । इन्द्रियव्यापारं विना केवलस्य देहस्य न सेवाकर्तृत्वमिति प्रत्यक्षतोऽवसीयते । अत इन्द्रियव्यापारापेक्षायां यथा ज्ञानमार्गे नित्यनैमित्तिककर्मसहकृतं श्रवणादित्रयं पूर्वं साधनं, तत्परिपाकदशायां प्रव्राजसहकृतं केवलमुपासनात्मकं ज्ञानम्; तथा भक्तिमार्गे 'एतान्यपि तु कर्माणी'ति गीतोक्तरीत्या तत्सहकृतं श्रवणादिनवकम्, तदप्येकादशस्कन्धे 'पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं पर'मित्युपक्रम्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्ति'रित्यन्तोक्तरीत्या क्रियमाणं साधनम् । तत्परिपाकदशायां तु स्नेहेन क्रियमाणं तत्साधनम् । तच्चेद्वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते, तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति । यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते, तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति । न च यागो यजमानस्येव वित्तदातुः फलतीति शङ्क्यम् । तत्रार्त्विग्दक्षिणावरणादिवदत्र तद्दानादेर्भक्तिमार्गे भगवतानुक्तत्वात् । अतस्तथा न कार्यम्, किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम् । तदैव साधनरूपा साध्यरूपां मानसीं सेवां जनयन्ती स्वयमपि पश्चात्फलरूपतया व्रजस्थानामिव पर्यवस्यतीति । एतदेव निबन्धे 'विशिष्टरूपं वेदार्थ' इत्यादिना 'एतन्मार्गद्वयं प्रोक्त'मित्यन्तेन सविवरणेन बोधितम् । यत्पुनरादिमे 'सेव्यः सायुज्यकाम्यये'त्युक्तम्, तत्तु मुख्याधिकाराभावपरम् । अत एव सर्वनिर्णये 'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यत' इत्युक्तम्, अतो न दोषः । एवं

१ ( ) क्वचिन्नास्ति ।

तैका । एतादृशेन पुंसा कृता चापरा । एतादृशौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम् । एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः । एतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुः तत इति । अहन्ताममतात्मकः संसारो, न तु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्याऽनिष्टनिवृत्तिरुक्ता । इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे । स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम् । भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यप्यनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति भावः ॥ २ ॥

इदमेव परं ब्रह्मेति न ज्ञेयमित्याहुः **परं ब्रह्म त्विति** ।

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ॥ ३ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

साधननिष्कर्षमुक्त्वा तस्याग्रिमव्यवस्थां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति **एतादृशस्ये**त्यादि । अत्रैतादृशस्येति पदेनेदं ज्ञाप्यते । यदाधुनिकैस्तादृशाधिकारराहित्येऽपि मार्गप्रवर्तकाचार्योक्तप्रकारेण क्रियते, तत्तु भक्तिहंसे विधिमजानता बालेन पित्रादिशिक्षया कृतः सन्ध्यावन्दनादिः प्रत्यवायपरिहारेण यथा आरात् कर्ममार्गीयफलोपकारी भवति, तथैतदपि ।' 'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छती'ति न्यायेनाराद्रुपकरोति, न तु साक्षात् । अतः सद्भिरुपदिष्टेन प्रकारेण शास्त्रार्थं बुद्ध्वा करणीयमिति व्याकुर्वन्ति **अहन्तेत्यादि** । **तन्निवृत्त्येति** । अहन्ताममतात्मकसंसारनिवृत्त्या । **अग्र इति** । ब्रह्मबोधनपदे । तस्य स्वरूपं स्वात्मनीत्यादिनोक्तम् । एतस्यावान्तरफलस्योक्तेः प्रयोजनमाहुः **भगवदित्यादि** । **अभिनिविष्टस्येति** । 'स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः । गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते । यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव ही'ति रीत्या जातव्यसनस्य तदुत्तरं भक्तिवृद्धिमतः । तथाच क्रियमाणा बाह्याभ्यन्तरी यथोक्तरूपा जाता अतः परं परमं फलं साधयिष्यतीति तेन निश्चेयमिति ज्ञापनायेदमवान्तरफलमुक्तमित्यर्थः ॥ २ ॥

एतस्मिन् सम्पन्ने दुःखनिवृत्त्योक्तविधज्ञानमेव मानसीकाष्ठां मन्येत, तदा भक्तिमार्गीयं फलं न भवेत्, अतस्तन्निवृत्त्यर्थं फलनिष्कर्षं प्रमेयनिष्कर्षं च सार्धनवभिर्वक्तुं प्रथममवान्तरप्रमेयं वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति **इदमेवेत्यादि** । **इदमिति** । जीवस्वरूपमक्षरं वा । व्याकुर्वन्ति **यशोदेत्यादि** । अत्र 'परं ब्रह्म तु कृष्णो ही'ति मूलम् । तत्र तुः पूर्वव्यावर्तकः । हिर्हेतौ । तथा च यतो हेतोः । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दः' 'गोपवेशमभ्रामम्' 'गोपवेशो मे पुरुषस्तदा आविर्बभूवे'त्यादितापनीयश्रुतिभिः 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मित्यादिस्मृतिभिरुपनिषदो गोपालतापिनीति नाम्ना च 'यशोदोत्सङ्गलालितः कृष्णः अक्षरात्परतः परः । एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते । परं ज्योतिरुपसंपद्य

यशोदोत्सङ्गलालितो, न त्वन्य इति ज्ञापनाय मूलनामोक्तम्। अत्र भेदकं रूपमाहुः सच्चिदिति। एते हि भगवद्धर्मात्मकाः, प्रकटतत्रितयात्मकमक्षरं ब्रह्म। अत एव प्रपञ्चस्तदात्मक इति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन्नुच्यते। एतावान्परं विशेषो, जडे सदंशः प्रकटः, इतरावाच्छन्नौ; जीवे त्वाद्यौ प्रकटौ, आनन्दांशस्तिरोहितः; परमात्मनि त्रयं स्फुटमिति। कप्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव, न तु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वमिति ज्ञाप्यते। कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमित्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपमिति। तत् अक्षरं ब्रह्म।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः।

स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स उत्तमः पुरुष' इत्यादिश्रुतेः, 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' 'परं ब्रह्म परं धामे'त्यादिस्मृतेश्च परं ब्रह्म, नत्वन्यः 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' 'रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भर'मित्याद्युक्तो विभूत्यादिरूपो न इति ज्ञापनाय मूलस्य परब्रह्मणो नामोक्तम्। यदि हि सोऽवतारः स्यात्, तदा यदुवंशोद्भवो मुख्य इति यादवतापिन्युपनिषत्स्यात्, गोपरूपेण च नाविर्भवेदिति। अतस्तत्रावतारत्वं न ज्ञेयम्। अक्षरं च परब्रह्मत्वेन न ज्ञेयमित्यर्थः। ननु 'सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे' इति तापनीयश्रुतिवत् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति तैत्तिरीयेपि श्रावणादक्षरकृष्णयोः स्वरूपलक्षणैक्यादभेद एवाङ्गीकार्य इत्याशङ्कां निवारयन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति अत्रेत्यादि। सच्चिदानन्दकं बृहदित्यत्रापि देहलीदीपवत् हिशब्दः सम्बध्यत इत्याशयेन व्याकुर्वन्ति एते हीत्यादि, ज्ञाप्यत इत्यन्तम्। हिर्हेतौ। एत इति। सच्चिदानन्दाः। कप्रत्ययश्च प्रतिकृतौ 'इवे प्रतिकृता'वित्यनेन भवति। कुत्सापक्षेऽपि प्रतिकृतित्वादेव हीनताद्योतनम्। तथा चानन्दमीमांसायां शतानन्दिभ्य आधिक्येपि 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्द' इति गणनापरिच्छेदस्य तैत्तिरीये श्रावणात्, बृहदारण्यके च 'ते ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्द' इति तदानन्दिनो लोकत्वेन विशेषितत्वात्, ततः परस्य च 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे'त्यनेनापरिच्छिन्नानन्दत्वश्रावणात्तयोः स्वरूपैक्येपि भेद एव पर्यवस्यति। इदं यथा तथा समन्वयाध्याये अदृश्यत्वाद्यधिकरणे प्रपञ्चितम्। तेनाभेदोऽप्यमित्रादिवत् भेदविरुद्धसम्पद्रूपस्तादात्म्य एव पर्यवस्यति। तेनाक्षरस्य पुरुषोत्तमान्न्यूनत्वमप्यक्षुण्णमिति तदेव भेदकमित्यर्थः। एवमत्र भगवतः कृष्णस्य परब्रह्मत्वकथनेन फलनिष्कर्ष उक्तः।

अतः परमवान्तरप्रमेयनिष्कर्षं वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति कृष्णशब्देनेत्यादि। निरूपितमिति। मुख्यप्रमेयत्वेन फलत्वेन च निरूपितम्। निरूपयन्तीति। अवान्तरप्रमेयत्वेन निरूपयन्ति। व्याकुर्वन्ति तदित्यादि। तत् अक्षरं ब्रह्म द्विरूपम्। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते, यत्तदद्रश्यमग्राह्यम्। एतद्वै तदक्षरं गार्गि अस्थूल-

तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्यादिति । प्रपञ्चरूपेणाविर्भूतमेकमित्यर्थः । एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपात् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः । न च विरुद्धधर्मैर्भेदोत्र शङ्कनीयः । उभयोर्धर्मयोरेकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात् । विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि 'तदेजति तन्नैजती'त्यादिश्रुतिभिर्निरूप्यमाणत्वात् । लोक एव विरोधः शङ्कनीयो, नत्वलौकिके ब्रह्मणि । इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ॥ ३ ॥

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्याहुः अपरमिति ।

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ॥ ४ ॥

वेदमतादपरं भिन्नं मतं पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते । तत्र अक्षरे ब्रह्मणीत्यर्थः ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

मनण्वि' त्यादिश्रुतिषु, 'अक्षरं ब्रह्म परम'मित्यादिस्मृतिषु च यदुक्तं, तत् द्विप्रकारकं कथमित्याकाङ्क्षायामाहुः **तदेवेत्यादि** । एकपदं देहलीदीपवदग्रिमेऽपि सम्बध्यत इत्याशयेनाहुः **एकं रूपमित्यादि** । अत्र पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वं 'तदक्षरे परमे व्योमन्नि'ति श्रुतौ, आदिपदोक्तं चरणादिरूपत्वं च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'ति श्रुतौ स्फुटम् । शेषं 'त्वथ परे'त्युक्तश्रुतेर्ज्ञेयम् । तथाचैवं मूलयोजना । हि यतो हेतोः, सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणमेकमतो द्विरूपमिति । ननु रूपद्वयस्येतरेतरवैलक्षण्येन भेदे रूपिण ऐक्यं न प्रमातुं शक्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः **नचेत्यादि,** ब्रह्मणीत्यन्तम् । **भेद इति,** रूपिणो भेदः । **अत्रेति,** अस्मिन्मते । तथा च लोकतः प्रमातुमशक्यत्वेऽपि श्रुतितः प्रमातुं शक्यत इत्यर्थः । ननु लोकविरोधे श्रुतेः स्तावकत्वं कल्पनीयमित्यत आहुः **इदं यथे-त्यादि** । श्रुतेः स्तुतिपरत्वमुपचारपरत्वं च वारयितुमेव ब्रह्मसूत्रप्रवृत्तेर्भाष्ये प्रतिपादितत्वात्तत्र स्तावकत्वादिकं न कल्पयितुं शक्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु 'एषाऽविद्या जगत्सर्व'मिति नृसिंहतापनीयवाक्यावलम्बनेन मायावादो, 'यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावत'इत्यादिवाक्यावलम्बनेन साङ्ख्यादिवादः प्रवृत्त इति कथं तन्मूलश्रुतिविरोधपरिहार इत्याशङ्कायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति **विरोधपरीत्यादि** । व्याकुर्वन्ति **वेदेत्यादि** । वादिनो बहुधा जगुरित्यर्थः । तथा च श्रुतितात्पर्यस्य तत्र प्रकारान्तरेण सत्त्वात्तेषां भिन्नत्वमित्यर्थः । तदेतद्बोधयितुं मतप्रणेतॄनाहुः **मायिकमि-त्यादिना** । **मायिकमिति,** मायोपादानकं सगुणेश्वरकर्तृकम् । एवमग्रेपि तत्तन्मतरीत्या बोध्यम् । साङ्ख्यपदं पातञ्जलानामप्युपलक्षकम् । नैयायिकपदं च वैशेषिकानाम् । वेदबाह्यमतानीति चतुर्विधबौद्धार्हतलोकायतिकवामशाक्तादिमतानि । मूले इति नैकधेति । इतिः प्रकारे नैकधेति बहुधापदोक्तार्थस्य निगमनम् ॥ ४ ॥

मायिकमिति हि मायावादिनः । सगुणं गुणकार्यमिति साङ्ख्याः । कार्यं द्व्यणुकादि-क्रमेणेश्वरकार्यमिति नैयायिकाः । स्वतन्त्रं न कदाचिदनीदृशं जगदिति मीमांसकाः । चकारेण वेदबाह्यमतानि सङ्गृह्यन्ते ॥ ४ ॥

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवादित्याशयेन स्वसिद्धान्तमाहुः तदेवेति ।

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।
द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी ॥ ५ ॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ॥ ६ ॥

'स हैतावानास', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जला'नित्यादिश्रुतिभ्यः तथेत्यर्थः । एकस्यैवाक्षरस्योक्तं द्विरूपत्व दृष्टान्तेनोपपादयन्ति द्विरूपमिति । प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद्ब्रह्म गङ्गावज्ज्ञेयम् । अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम् । आधिभौतिकं जलरूपमेकम्, यद्वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिह्रासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यं च । अग्रिमा द्वितीयाध्यात्मिकी तीर्थरूपा, योद्धृतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिस्तेन तत्रैव स्नानपूजा-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

तर्हि तानि स्वमतबोधनाय तत्स्थापनाय च दूष्याणीत्याकाङ्क्षायामग्रिममवतारयन्ति तानीत्यादि । श्रुतिबलेन निराकृतानीति । श्रुतितात्पर्यप्रकाशनेन भाष्ये प्रपञ्चेन निराकृतानि । इदं यथा तथाविरोधाध्यायभाष्यप्रकाशादवगन्तव्यम् । व्याकुर्वन्ति स हैतावा'नित्यादि । अत्र प्रथमा श्रुतिर्बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणे । द्वितीया छान्दोग्ये शाण्डिल्यविद्यायाम् । आदिपदेन 'यथा प्रदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः, तथा अक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रवर्तन्ते । तत्र चैवापियन्ती'ति मुण्डकश्रुतिः संगृह्यते । तेन बह्वीषु श्रुतिष्वक्षरस्यैव प्रपञ्चप्रकारेण भवनस्य निरूपणात्, नृसिंहोत्तरतापनीयेऽप्युक्तवाक्योपसंहारे अविद्याया नानाविधक्षेत्रदर्शकत्वस्य परमात्मन एव जगद्योनित्वस्य च निगमनान्न श्रुतीनामितरेतरविरोध इति पूर्वोक्तं सर्वमक्षुण्णमित्यर्थः ॥ ४½ ॥

एवमवान्तरप्रमेयं निरूप्य तस्य बालबोधनार्थं सार्धकारिकया वैशद्यं कुर्वन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति एकस्यैवेत्यादि । व्याकुर्वन्ति प्रपञ्चेत्यादि । मूले चकारोऽनुक्तसमुच्चायक इत्याशयेनाहुः अस्तीत्यादि । अग्रिमेति । माहात्म्यसंयुतेत्यादिग्रन्थेनोक्ता । तत्सत्त्वे मानमाहुः योद्धृतेत्यादि । उद्धृतजलाविशेषेऽपीति । प्रवाहादुद्धृतं यज्जलं तस्य प्रवाहजलादविशेषेऽपि प्रवाहजलसाम्येऽपि । तत्रैवेति । प्रवाह एव न तूद्धृतजले । तथा च यदि तीर्थरूपातिरिक्ता न स्यात्, तदा देशान्तर उद्धृतजलस्नानादिनापि तत्तीर्थस्नानफलं स्यात्, तत्तु न दृश्यत इति तीर्थरूपा जलरूपाद्भिन्नैवेत्यर्थः । दार्ष्टान्तिके सङ्ग-

दिभिः फलदा।एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमप्येकमेव तदक्षरं ब्रह्मेति तथा बुध्यतामित्यर्थः॥५।६॥

आधिदैविकं रूपमाहुः तत्रैवेति ।

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ।
गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ॥ ७ ॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले ।
विहिताच्च फलात्सिद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ॥ ८ ॥
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् ।
यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ॥ ९ ॥
जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः ।
देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ॥ १० ॥
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा ।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥ ११ ॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ।

उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्नास्तीत्यर्थः । तत्र प्रमाणमाहुः मूर्तिरिति । भक्त्यैव, न तु मर्यादामार्गविधिनोपासनयेत्यर्थः । तदपि क्वचिदेव, भक्त्युद्रेकदशायामेव । अथवा । यत्र क्वचिद्गृहादिष्वपीत्यर्थः । भक्तविशेषे विशेषमाहुः गङ्गायामिति । देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहादभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिस्तस्मै

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

मयन्ति एवमेवेत्यादि । प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमिति । प्रपञ्चश्च तद्भिन्नं च प्रपञ्चतद्भिन्ने ते रूपे यस्य तत् । (न चात्र बहुव्रीहिणा रूपिणस्तृतीयत्वं शङ्क्यम् । एकादशव्यूहो रुद्र इतिवत्तदुपपत्तेः ।) तथा बुध्यतामिति । वृद्धिह्रासभावत्त्वतद्राहित्यपूर्वकमाहात्म्ययुक्तत्वाभ्यां बुध्यताम् । तथा चाक्षरोपासनया यत्फलम्, न तत्प्रपञ्चोपासनयेति तयोरैक्येप्येवं भेद इत्यर्थः । मूले सेवतामिति शतुरनुदात्तेल्लक्षणस्यात्मनेपदस्य चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकादनित्यत्वेन बोध्यः । 'त्वां सेवतां सुरकृता बहवोन्तराया' इत्यादिपुराणप्रयोगाच्च ॥ ५,६ ॥

एवमवान्तरप्रमेयरूपमक्षरं दृष्टान्तेन बोधयित्वा मुख्यप्रमेयस्य पुरुषोत्तमस्य कृष्णस्य सर्वसामर्थ्यं सर्वत्र व्याप्तिं च बोधयितुं सपादकारिकां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति आधिदैविकमित्यादि । व्याकुर्वन्ति उक्तेत्यादि । प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थ इत्यन्तम् । अनेन व्याप्तिरुक्ता । तत्र प्रमाणमिति । प्रवाहतीर्थातिरिक्तदेवतासत्त्वे प्रमाणम् । मूर्तिरिति । भीष्मादिमातृत्वेन भगीरथदृष्टत्वादिना पुराणप्रसिद्धशरीरयुक्ता । तेन शब्दः प्रमाणमित्युक्तम् । प्रत्यक्षविशेषस्यापि तत्र प्रामाण्यमाहुः भक्त्येत्यादि । (अयमर्थः । अंशुमद्दिलीपाभ्यां बहुकालं तपःकरणेपि गङ्गा न प्रत्यक्षाऽभूत् । भगीरथस्य तु प्रत्यक्षा प्रसन्ना वरदास्मीत्युवाचेति भगीरथतपसि भक्तिविशेषसाहित्यमेव सुमहत्त्वस्तु महत्त्वम् । अत एव ब्रह्मवैवर्तखण्डे 'भगीरथस्त्वस्य पुत्रो महाभागवतः सुधीः । वैष्णवो विष्णुभक्तश्चे'ति विशेषणमुक्तम् ।

गङ्गायां प्रवाहमध्य एव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः । एतेन प्रपञ्चमध्य एव भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवदभेदबुद्धये तत्र भगवत्प्राकट्यं भवतीति भावः सूच्यते । अग्रिमव्यवस्थामाहुः प्राकाम्यमिति । स्वाभीष्टस्वसर्वस्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानात्तज्जले सर्वत्रानिषिद्धयथेष्टव्यवहारः स्यादित्यर्थः । एवमेवोक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावः स्फुरतीति भावः । विहितेति । भक्त्या गङ्गादर्शनानन्तरं प्रवाहरूपाया अपि दर्शनं विहितात्स्वर्गापवर्गरूपात्फलाद्विशिष्यते । तद्भूदीत्यर्थः । यद्वा । येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि तया देवतारूपया सा तत्रास्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो भवतीत्यर्थः ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

तस्य च तपसत एव प्रकटा बभूव । अतोऽन्यत्रापि तथेत्यर्थः ।) मूले भक्तिपदमात्रकथनात्कचित्पद उद्रेकदशारूपविशेषबोधनमयुक्तमिवाभातीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि । ननु यदि गृहादिष्वपि गङ्गादर्शनं भक्त्यैव स्यात्, सर्वेषां भक्तानां स्यात्, तत्तु नेति कथमेवमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति भक्तविशेष इत्यादि । व्याकुर्वन्ति देवतेत्यादि । प्रवाहमध्य एवेति । प्रवाहसंबन्धिन्येव गङ्गाद्वारादिरूपे क्वचिद्देशे । मूले गङ्गायां चेति । चोऽवधारणे । विशेषपदस्यार्थष्टीकायां भक्त्युद्रेकपदेन विवृतोवगन्तव्यः । एतावत्कथनप्रयोजनमाहुः एतेनेत्यादि । एतेनेति । भौतिक्यां गङ्गायामेवमाधिदैविकगङ्गास्वरूपप्राकट्यबोधनेन । तत्रेति । भगवदाकारे भगवद्भक्ते च । अग्रिमव्यवस्थामिति । आधिदैविकरूपस्थितिकार्यम् । प्राकाम्यमिति । प्राकाम्यं बाहुल्यम् । 'प्रकामसुभगत्वद्गात्रसंश्लेषत' इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । तदत्र किं विवक्षितमित्याकाङ्क्षायां विवृण्वन्ति स्वाभीष्टेत्यादि । तथा च तादृग्भक्तप्रत्यक्षया तया गङ्गया कृत्वा तज्जले भक्तस्यानिषिद्धव्यवहारबाहुल्यरूपं प्राकाम्यं स्यादित्यर्थः । एतत्कथनप्रयोजनमाहुः एवमित्यादि । अग्रिमार्धं व्याकुर्वन्ति भक्त्येत्यादि । तथा चैवं भगवतः कृष्णस्य साक्षात्कारानन्तरं ज्ञानिफलान्मोक्षादपि प्रपञ्चे सर्वत्र भगवदधिष्ठानत्वरूपेण ज्ञानं विशिष्यत इति भावः । मूले चोप्यर्थे । तदिति, गङ्गादर्शनम् । हिर्निश्चये । यथातथापदयोरध्याहारः । तथा च हि निश्चयेन तत्तादृशभक्त्या गङ्गादर्शनं विहितादपि फलात्प्रतीत्यापि यथा विशिष्यते, तथा तया जले प्राकाम्यं स्यादिति मूलयोजना । अस्मिन् व्याख्यानेऽध्याहारादिदोषादरुच्या प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति यद्वेत्यादि । अस्मिन्पक्षे प्राकाम्यं नाम प्रकृष्टः कामः प्रकामस्तस्य कर्म । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि चे'त्यनेन 'भावे कर्मणि चे'त्यर्थद्वयेऽनुशासनादत्र कर्मणि ष्यञ् । तदेव विवृतं प्रकृष्टेत्यादिना । तथाच यथा तयैवं तथा प्रपञ्चेपि यत्र भगवत्सम्बन्धानुभवः, तत्र भगवत्स्वरूपे गुर्वादौ च श्रद्धापूर्वको व्यवहारः श्रद्धालूनामिति भावः । अग्रिमं विवृण्वन्ति

१ तथा । देवतारूपा सेति पाठः ।

किञ्च । पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यदुक्तं तदनुभवेन महतामन्तःकरणप्रतीत्यापि तज्जलमन्येभ्यो जलेभ्यो विशिष्यत इत्यर्थः । एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते । अत एव 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मिति भगवतोक्तम् । ([1]एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तमर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलमित्यादिना । तत्रापीति । साधर्म्येपि । एतदिति । किञ्चित्तारतम्यम् । इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यते ।) जगत्त्विति । त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं,

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

किञ्चेत्यादि । दार्ष्टान्तिके योजयन्ति एवमित्यादि । अत्र प्रमाणमाहुः अत एवेत्यादि । अन्येभ्यो भगवदीयानामाधिक्यादेवैकादशस्कन्धे स्वचिह्नस्वभक्तयोर्दर्शनादिकं भक्तिकारणमध्ये गणितम्, अतस्तथेत्यर्थः । एवं बालान् यत् बोधयितुं दृष्टान्त उक्तो 'द्विरूपं चापी'त्यादिना, तत्र तत्तत्कार्यप्रयोजकता न तयोः, किन्त्वाधिदैविकस्यैवेति बोधितम् । तदेतन्निगमयन्ति मूले यथा जलमित्यादिपादत्रयेण । मूले सर्वमिति, प्रपञ्चः । शक्तेति, समर्था । देवीति, मूर्तिमत्याधिदैविकी । तथा च दृष्टगङ्गाकानां यथा जले तत्स्थानत्वज्ञानादनिषिद्धयथेष्टव्यवहारः, यथा च तीर्थदर्शनेऽन्यस्मादाधिक्यज्ञानविशेषो जलेन तीर्थरूपेण च भवति, तथा दृष्टभगवत्कानां भगवत्स्वरूपगुर्वादिभिः सर्वत्र प्रपञ्चे प्राणिमात्रे भगवद्भावस्फूर्तिः, अक्षरेण च ज्ञानिमोक्षादप्यधिकभगवद्धामत्वादिरूपाक्षरज्ञानात्मकं फलं भवति । अदृष्टगङ्गाकानां च श्रद्धालूनां यथा जलेन श्रद्धापूर्वकः स्नानादिव्यवहारः, तीर्थेन च जलेऽन्येभ्य आधिक्यज्ञानं फलं क्रमेण भवति, तथैवादृष्टभगवत्कानां श्रद्धालूनां भगवत्स्वरूपादौ श्रद्धापूर्वकः सेवादिव्यवहारः, अक्षरे च ज्ञानिमोक्षादाधिक्येन भगद्धामत्वस्य परोक्षज्ञानं भवतीत्यर्थः संपद्यते । ननु 'आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्त' इति द्वितीयस्कन्धवाक्ये एकस्यैवाधिभौतिकाभिमानेन तन्नियमनेन च यथायथमाध्यात्मिकत्वमाधिदैविकत्वं च सिद्धम्, न तु तयोः स्वरूपभेद इति कथमयं दृष्टान्त उपपद्यत इत्यत आहुः मूले तत्रापीत्यादि । तत्रापि आधिदैविकदृष्टान्तविचारेऽपि, एतद्वक्ष्यमाणं, इहास्मत्सिद्धान्ते, उच्यत इत्यर्थः । एवं प्रतिज्ञाय तदाहुः जगदित्यादि । तदेतद्विवृण्वन्ति त्रिविधमित्यादिना । त्रिगुणात्मकमिति । 'आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थ' इत्येकादशस्कन्धीयचतुर्विंशे पञ्चमे सन्दर्भे भगवत्कार्यत्वेन सिद्धाः 'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रय' इत्यत्र द्वितीयस्कन्धवाक्यसुबोधिन्यां सच्चिदानन्दमूलत्वेन ये व्याख्याताः सत्त्वादयो गुणास्तदात्मकम् । तत्र गमकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटमिति ।

१. एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुक्तमपि साधर्म्यं यत्र यदंशेन तत्र तथा स्पष्टयन्ति यथा जलं तथा सर्वमिति । तत्राप्येतदिहोच्यत इति । तत्रापि साधर्म्येपि । एतज्जगत् तु त्रिविधमित्यारभ्य न चान्यथेत्यन्तेन वक्ष्यमाणं किञ्चित्तारतम्यम् । इह प्रपञ्चरूपे तद्दृष्टान्तगङ्गाजले त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यत इत्यर्थः । जगदिति पाठान्तरं पुस्तकद्वये । क्वचित् पाठद्वयमपि मूले नास्ति ।

तेन तद्गुणनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इत्यर्थः । ब्रह्मैकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव । ये तु भगवद्भक्तास्तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके चार्थे श्रीकृष्ण एव कामचार इत्यर्थः । सर्वत्र नियामकः स एवेति भावः । अथवा । भक्तानां

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वा'दिति गीतोक्तलक्षणको यो बन्धकत्वस्वभावो गुणानां, तेन स्वभावेन प्रकटम् । मूले प्रोक्तमिति । भगवच्छास्त्रे, ब्रह्मसूत्रभाष्ये च । तेन हेतुना तत्तद्गुणनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवता सर्वान्तर्यामिणा सर्वनियामकत्वेन कृताः । ततः तस्माज्जगत्त्रैविध्यादेव हेतोः देवतारूपवदाधिदैविकत्वेन कूर्मादौ 'लीलया परमेश्वरा' इत्येवं प्रोक्ताः । वस्तुतस्तु भगवानेक एव नियामक इत्यर्थः । तथा च तेषां गुणाभिमानित्वे 'गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात् । वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचर' मित्युक्तं कालभयम् । गुणावताराणां तु त्रिविधेषु पुराणेषु प्रकृतिपुरुषनियामकतया प्रसिद्धानां न तत् । ते गुणाभिमानितो भिन्ना एव । अतो यथा 'द्वा सुपर्णा'इत्यादौ जीवान्तर्यामिणोः क्वचिद्भेदः, क्वचिच्च 'तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभव'दिति प्रविष्टस्यैव कार्यभेदेन जीवान्तर्यामिभाव इति कल्पभेदेनोभयम्, तथा च यस्मिन्पक्षे भेदस्तं पक्षमादाय दृष्टान्त उपपद्यत इति भावः । एवं दृष्टान्तं व्याकृत्य ब्रह्मणीत्थं हरिर्मत इति दार्ष्टान्तिकं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मैकेत्यादि । तथाच मुण्डके पुरुषाक्षरयोः परापरभावस्य श्रौतत्वादक्षरनियामकत्वं मूलपुरुषे सिद्धम्, तस्य कृष्णत्वं च तापनीये, अतस्तथेति । तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव मतो युक्त्यानुचिन्तित इत्यर्थः । नन्वेवं सति देव्या यथा रूपद्वयनियामकतामात्रम्, न तु भक्तं प्रति स्वतः किञ्चित् फलम्, तथा कृष्णाद्भगवतोऽपीति तत्सेवा कुत उपदिष्टेति शङ्कोत्तिष्ठति, तन्निवृत्त्यर्थमाहुः मूले कामचार इति । तुः उक्तशङ्कानिरासे । अस्मिन् लोके त्रिविधे जगति, ब्रह्मादिभ्योऽधिष्ठातृभ्यः, कामचारः काम इच्छा उपासकादीनां तेन चारः चरणम्, 'चर गतिभक्षणयोः', तत्तल्लोकविषयिणी प्राप्तिर्भोगो वा । न चान्यथा । च पुनः, अन्यथा ब्रह्मादिभ्यो विना, न तत्कामविरुद्धप्रकारेण च न, किन्तु तदिच्छाप्रकारेणैव । यथा भवतीति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकप्रकरणबलादध्याहार्यम् । तु पुनः । तथा स्वात्मनीति तादर्थ्ये सप्तमी, 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ती'त्यादिवत् । तथा च स्वस्य भक्तस्यात्मविषयेऽर्थे । परमानन्दरूपे नित्यनिरवधिसुखरूपे । भूम्नि कृष्ण एव, न तु लोकादौ कृष्णात् निश्चयरूपकामचार इत्यर्थः । तदेतद्व्याकुर्वन्ति ये त्वित्यादि । अत्र निश्चयपदं कामचारपदेन विवृतम् । तेन यौगिकं तदिति बोधितम् । तथा च निष्क्रान्तश्चयात् निश्चयः । चयो हि बहूनामेकीकरणम् । तेन बहूनां कामानामेकीकरणरूपाच्चयान्निष्क्रान्तः । परमानन्दकृष्णैकनिष्ठतया तदेकविषयकः कामचार इत्यर्थः सिध्यति । 'रूढिर्योगमपहरती'त्यरुच्या निश्चयपदं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति अथवेत्यादि । अस्मिन्पक्षे स्वात्मनीति कृष्णपदविशेषणम् । निश्चयपदमेककोटिकत्वाच्छङ्काविरुद्धज्ञानार्थकम् । तद्विषयत्वेन

स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवतीत्यर्थः॥११॥

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं चाहुः आत्मनीति ।

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ॥ १२ ॥
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।
गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति ॥ १३ ॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ।
संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥ १४ ॥
अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक् ।
तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥ १५ ॥
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।
लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥ १६ ॥
क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ।

आत्मविषय उच्यत इति शेषः । जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वम-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

कामचारोन्वेति। तत्प्रार्थन इति, कामचारप्रार्थने । तथा चैवं व्याख्यानद्वयेपि 'सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः' 'अत एव चानन्याधिपति'रित्युक्तरीत्या भगवत एव फलं भवतीति तदर्थं युक्तस्तत्सेवोपदेश इत्यर्थः। तदेतत्सर्वमभिसन्धायाहुर्मूले अतस्त्वित्यादि। अतस्तु उक्तप्रकारेण शङ्काया निरासात्, ब्रह्मवादेन 'सर्वं ब्रह्मैवे'ति श्रीभागवतगीताब्रह्मसूत्रसिद्धेन श्रौतसिद्धान्तस्थापनेन, कृष्णे परब्रह्मण्येव, बुद्धिरन्तःकरणं, विधीयतां विशेषेण धार्यतामित्यर्थः ॥११½॥

एवमत्र पूर्वोक्तसाधनशेषत्वेन प्रमेयं फलं च निरूप्य येषां नैतादृशसाधनाधिकारः, तेषां कथं, का च फलसिद्धिरित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति अथेत्यादि । अथेति, मुख्यसाधनप्रकरणोक्त्यनन्तरम् । तेनास्मिन्प्रकारे जीवस्वरूपज्ञानमावश्यकम्, न तु पूर्वोक्तप्रकारे । तत्र शरीरविशिष्टजीव एव भगवद्दासत्वज्ञानस्यैवापेक्षितत्वादिति बोधितम् । जीवस्वरूपमिति । बद्धजीवस्वरूपम् । व्याकुर्वन्ति आत्मविषय इत्यादि । तेनात्मनीति भिन्नं वाक्यमिति बोधितम् । अत्र मूले पाठद्वयम् । 'ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतना' इत्येकः । 'ब्रह्मरूपे ही'त्यपरः । तत्र प्रथमे तोः प्रकरणभेदकत्वमनुसन्धाय टीकायां प्रकरणभेदप्रतिज्ञा व्याख्यातेति ज्ञायते। द्वितीये तु विषयभेदादेव प्रकरणान्तरावगतिः। हिर्हेतौ, ब्रह्मरूपे[1] ब्रह्मांशत्वेन ब्रह्मात्मके प्रकृतत्वादात्मनि चेतनाः बुद्धयः, 'प्रतिपत्ज्ञप्तिचेतना' इति

१. 'ब्रह्मरूपे साकारब्रह्मस्वरूपे चेतना बुद्धिर्वोक्ते ब्रह्मस्वरूपे अविद्यांशभूताभिः बुद्धिभिरिव भेदप्रतीतिः । पुरञ्जनोपाख्याने 'बुद्धिं तु प्रमदां विद्यात् ममाहमिति यत्कृत'मिति वाक्येन अविद्यावृत्तिरूपाणां तासामेव ब्रह्मप्रदेशावच्छेदकत्वात्, जीवपक्षे तूपपत्त्या विचारे 'बहु स्या'मिति इच्छैव करणादंशांशिभावमभिप्रेत्य जीवस्वरूपं (व्या) कुर्वन्ति' इति 'ब्रह्मरूपे–जीवा ही'त्यत्र पाठान्तरम् ।

विद्ययान्तरायभूतया न विदन्ति । तेन संसारमापद्यन्ते । इदमेवोपाधिरूपत्वं तस्याः, न तु तत्कृतं जीवत्वम् । अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः । व्योम्नि यथोपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्रा इव

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

कोशात् ताः जीवानां संसारित्वापादकोपाधिभूता इति शेषः । पुरञ्जनोपाख्याने 'बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृत'मिति वाक्यात् । तदेतट्टीकायां विशदीकुर्वन्ति जीवा हीत्यादि । हिर्हेतौ । यतो हेतोः जीवाः निबन्धे 'तदिच्छामात्रतस्तस्माद्ब्रह्मभूतांशचेतना' इत्यत्र ब्रह्मभूताः, न तु योगबलेनाविर्भाविताः, अंशाः साकाराः सूक्ष्मपरिच्छेदाः चेतनाः चित्प्रधाना इति व्याख्याततत्वात्, श्रुतौ च बुद्धेर्गुणेनाङ्गुष्ठमात्रत्वमुक्त्वाग्रे 'आत्मगुणेन चैव' 'आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्ट' इत्यादिकथनात्'ममैवांशो जीवलोके' 'एकस्यैव ममांशस्ये'त्यादि-स्मृते'रंशो नानाव्यपदेशा'दिति सूत्राच्चांशत्वेन सिद्धाः । 'उत्क्रान्त्यादि'सूत्रैरणुत्वस्य साधनाच्चाणवोऽणुपरिमाणाः, अक्षरात्मकाः । एवं जीवस्वरूपमुक्तम् । अतःपरं तेषां मोक्षं वक्तुं ब्रह्मरूपे छिद्रा व्योम्नीवेति यद्बद्धत्वमुक्तं तद्व्युत्पादयन्ति तदात्मकत्वमित्यादि । तदात्मकत्वं ब्रह्मात्मकत्वम् । अविद्यया 'एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते । बन्धोस्याविद्ययानादि'रिति भगवद्वाक्ये बन्धकत्वेनोक्त्या ब्रह्मशक्त्या, 'न तं विदाथे'तिश्रुतावज्ञानजनकतयान्तरशब्देनोक्तत्वादन्तरायभूतया स्वात्मानं ब्रह्मात्मकं न विदन्ति, तेन संसार'महं ममे'त्यभिमानरूपमापद्यन्ते । इदं संसारापादकत्वमेव तस्या अविद्याया उपाधिरूपत्वम् । प्रयोजको ह्युपाधिरित्युच्यते । अतः संसारप्रयोजकत्वमेव तथात्वम् । तु पुनस्तत्कृतं जीवत्वम् न, तया दोषरूपया, आभासनेन वा, तस्यां प्रतिबिम्बेन वा, तयाऽवच्छेदकेन वा प्रयुक्तं जीवत्वं न, आभासप्रतिबिम्बपक्षे तत्स्वरूपस्याब्रह्मत्वप्रसङ्गात् । अवच्छेदनस्यापि अंशत्व-कथनोत्तरं बन्धस्मरणेन व्युच्चरणोत्तरभावित्वनिश्चयात् । 'तद्वज्जीवो नभोपम' इति श्रौतोपमाया अपि 'घटो लीयेत नाकाश'मित्यनन्तरमुक्ततया लयाभावमात्र एव पर्यवसितत्वस्य अग्रिममन्त्रे जलचन्द्रदृष्टान्तेन तस्य चांशप्रवेशप्रयुक्तत्वेनापि निश्चयादित्यर्थः । तर्हि व्योमछिद्रदृष्टान्तः किमित्युक्त इत्याकाङ्क्षायां तदेतद्बोधयितुं दृष्टान्त इत्याहुः अणुत्वेत्यादि । नन्वणुत्वं चेद्बोधनीयं स्यात्, 'विस्फुलिङ्गा' इवेत्युक्तं स्यात्, नत्वेवमित्यत उपपादयन्ति व्योम्नीत्यादि । उपाधिभिरिति तितउप्रभृतिभिः । छिद्रा इवेति । 'छिद्र भेदन' इति धातोर्भावे घञि, 'छिदिर् द्वैधीकरण' इत्यतो धातोर्वा 'स्फायी'ति रकि कृते छिद्रपदं रन्ध्रवाचकं सिध्यति । तदत्र नाभिप्रेतम् । किन्तु 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेणे'त्यत्र प्रायोग्रहणात्, संज्ञाभावेपि छिद्यतेऽनेनेति योगाच्छिद्रकरणवाचकमभिप्रेतम् । अथवा 'छेदनं छिदि'ति संपदादि-क्विपि 'आतोनुपसर्गे क' इति कं च कृत्वा छिदं रान्ति ददतीति छिद्रा इत्येवं द्वैधीकरणदायिवाचकमभिप्रेतम् । तथा च व्योम्न्याकाशे तितउप्रभृतिभिराकाशात् क्षुद्रैरुपाधिभिरवकाश-भेदप्रयोजकैः छिद्रा इव रन्ध्राणीव भेददायकाः क्षुद्रत्वादयोऽवास्तवाः प्रतीयन्ते, तथा ब्रह्मरूपे सुवर्णशकलवद्ब्रह्मात्मके आत्मनि जीवे अविद्यांशभूतैरन्यथाबुद्धिभिश्चेतनाख्यैः

प्रतीयन्ते, तथात्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते, न तु ब्रह्मधर्मा इति बोधनार्थं च । तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुरुद्दिधीर्षुर्भवति, तत्प्रकारकगुरूपदेशादिभिरविद्यालक्षणोपाधेर्ब्रह्मात्मकत्वावबोधनप्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधनलक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रकर्षेण पश्यतीत्यर्थः तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवेति न तदतिरिक्तमपेक्षते । भजनोपयोग्यर्थापेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यत इति न कदाचिद्दुःखी भवति । एतज्ज्ञापनाय दृष्टान्तः । यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरूपदेशमात्रेण भजने संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, न तु ब्रह्मभावसम्पत्त्या पुरुषोत्तमाविर्भाववान्, स तु गङ्गातो दूरस्थो यथा तां भजते, तत्रापेक्षिततजलाप्राप्त्या दुःखी भवति, तथा स्वयं भक्तिमार्गस्थ इति साक्षात्स्वरूपसम्बन्ध्यर्थापेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग्भवतीत्यर्थः । तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभोः । अनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धेऽपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलिष्यतीति ज्ञेयम् ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

क्षुद्रत्वदुःखित्वात्यन्तभिन्नत्वादयोऽप्यवास्तवाः प्रतीयन्ते । न तु ब्रह्मधर्माः असङ्गत्वादय इति बोधनार्थं चायं दृष्टान्तः । तथा च यदि स दृष्टान्त उक्तः स्यात्, तदोपाधिकृतो बन्धो न बोधयितुं शक्येत, अतस्तथेत्यर्थः । एतेन तद्बोधितमणुत्वमपि क्षुद्रत्वादिवद्देहपरिच्छिन्नत्वरूपमेव, न तु वास्तवमिति ज्ञापितम् । वास्तवस्य तस्य व्यापकत्वाविरोधित्वात् । एवं बन्धं व्याख्याय मोक्षं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमं उपाधिनाश इत्यादिकं सार्धश्लोकं व्याकुर्वन्ति **तेषां मध्य** इत्यादि । पश्यतीत्यर्थ इत्यन्तम् । अविद्यालक्षणोपाधेरिति । इदं जीवविशेषणम् । अविद्यालक्षणः स्वस्वरूपविस्मारक उपाधिर्यस्येति । शेषं स्फुटम् । दृष्टान्तोक्तिप्रयोजनमाहुः तस्येत्यादि । अग्रिमश्लोके जघन्याधिकारिणो दुःखभाक्त्वकथनात्तत उत्तमस्य मर्यादाभक्तस्य ज्ञानपूर्वकं भजतो दुःखाभाव आर्थिकोऽत्र व्याख्यातो ज्ञेयः । जघन्याधिकारिव्यवस्थां वदन्तीत्याशयेन संसारीति श्लोकं व्याकुर्वन्ति **यस्त्वि**त्यादि, भवतीत्यर्थ इत्यन्तम् । तर्हि तादृशस्य किं फलं स्यादित्याकाङ्क्षायां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'त्यग्रिमग्रन्थानुसन्धानेन फलमाहुः तथापीत्यादि, ज्ञेयमित्यन्तम् । अङ्गीकारादिति । सेवाया अङ्गीकारात् । अनङ्गीकारे त्विति । प्रभुणा तत्कृतसेवाया अनङ्गीकारे । अग्रिमं व्याकुर्वन्तस्तत्र तस्मात्पदोक्तस्य हेतोः (यस्मान्नष्टोपाधिर्ज्ञानी स्वस्मिन्भगवन्तं प्रकर्षेण पश्यति, यस्माच्च संसारी तादृशान्तःकरणस्याभावाद्दुःखी भवतीति) पूर्वश्लोकद्वयार्थसङ्ग्राहकतया प्रकटार्थत्वाद्यत्रास्फुटोऽर्थस्तदेव पदं व्याकुर्वन्ति श्रीकृष्णेत्यादि, भगवत्परमित्यन्तम् । मन्मतिरिति । 'रामेण सार्धं मथुरां प्रणीत' इत्यादिभगवद्वाक्येन स्वानुभवेन च तथा निश्चयान्मन्मतिः । भगवत्परमिति ।

(१) चिह्नान्तर्गतं नास्ति प्रायः ।

आत्मानन्दसमुद्रस्थमिति । श्रीकृष्णपदात्पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटितनिरवध्यानन्देषु विहरन्तमित्यर्थः । ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः । स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकस्तद्दत्त एव । अत आत्मपदं भगवत्परम् ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

स्वस्वरूपज्ञानप्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः । उभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावायाहुः ज्ञानाभाव इति ।

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु ॥ १७ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

स्वप्रतिष्ठस्यैव फलताया भूमविद्यायां सिद्धत्वात्तथाविधतत्परम् । एवमनेनोपदेशवाक्यं व्याख्यातम् ।

लोकार्थीति श्लोकस्तु संसारिमध्येऽपि यो जघन्याधिकारी तत्पर इत्युपेक्षितः, परं तत्रायमर्थः । लाभपूजार्थयत्नस्योपधर्मत्वदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात्तद्व्यतिरिक्तेनानिषिद्धप्रकारेण 'ऐहिकं मे भवत्वि'त्यनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी, तादृशश्चेत्कृष्णं भजेत्, तदा सर्वथा क्लिष्टो भवति, भगवत्प्रियाचार्यमार्गस्थत्वेन तदुपरि कृपया 'यस्यानुग्रहमिच्छामि हरिष्ये तद्धनं शनै'रिति न्यायेन वा, तन्मौढ्येन दुराग्रहादिना भगवदुपेक्षायां दृष्टादृष्टाभ्यां वा सर्वैः प्रकारैर्लोकत एव क्लेशं प्राप्नोति । तत्राद्यस्तु क्लिष्टोऽपि लोकाद्विरज्य चेत् भजेत् कृष्णम्, तदोक्तन्यायेनैव सर्वप्रकारैर्लोको बाह्य आन्तरश्च नश्यति, ततो 'मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रह'मिति न्यायेनेह परत्र वा प्रतिबन्धरहितानुग्रहविषयो भवतीति । अन्त्यस्तु दुराग्रहादिदोषेण तत्सेवायाः प्रभुणा अनङ्गीकारेपि आचार्यदयया 'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्ण' इत्युक्तन्यायेन तत्कृतस्य स्वगामित्वेन भजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे अनुग्रहविषयो भवतीति ।

अत्रैवं मम प्रतिभाति । संसारीत्यस्य व्याख्याने तथापीत्यादिज्ञेयमित्यन्तेन यदुक्तं तदस्यैव श्लोकस्यार्थ इति । तेन संसारी त्रिविधः । संसारनिवृत्तिकामो भक्त एकः । लोकार्थी सेवाग्रही द्वितीयः । सेवानाग्रही तृतीयः । तेषां त्रयाणां तत्फलमुक्तमिति ॥१६॥

एवमत्र जघन्याधिकारिव्यवस्थामुक्त्वा मध्यमाधिकारिणो ज्ञानं सहकारित्वादावश्यकमिति तदभावे तस्य कथं फलमित्याकाङ्क्षायां तस्य फलार्थं प्रकारमुपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति स्वस्वरूपेत्यादि । मूलार्थस्तु स्वस्वरूपभगवत्स्वरूपयोर्ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी श्रीभागवततत्परः सन् पूजोत्सवादिषु, एकादशे ऊनत्रिंशेऽध्याये 'यथाञ्जसा पुमान् सिध्येत्तन्मे ब्रूह्यञ्जसाऽच्युते'ति प्रश्ने, ये भगवता 'हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान् । यान् श्रद्धयाचरन्मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जय'मित्युक्त्वा, 'कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मर'न्नित्यादिना भगवद्धर्मा उक्तास्तेषु तिष्ठेत् । यद्यपि तत्र पूर्वमन्येप्युक्ताः, तथापि तेष्वशक्तौ 'पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवा'नित्यादिनोक्तेषु,

मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः ।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥ १८ ॥
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः ॥ १९ ॥

पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति । तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुरनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति तथा । तस्य विधिर्न नियामक इति भावः । मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेदनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इत्याहुः उभयोरिति । यदि मर्यादायामेवाङ्गीकारः, तदोभयोर्मुक्तिरेव फलिष्यतीत्याशयः । एवं निरूपणे तात्पर्यमाहुः ज्ञानाधिक इति । लोकेऽधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं, तस्य मुक्तिरेवेति सर्वे वदन्ति । तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम् । ब्रह्म चाक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च । एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

पूजायां च 'श्रद्धामृतकथायां म' इत्यत्रोक्तायां तिष्ठेत् । **मर्यादास्थो** मर्यादामार्गीयस्तु गङ्गायां भगवच्चरणसंसर्गवत्यां परीक्षितो विदुरस्य च सिद्धिर्जातेति तत्र श्रीभागवततत्परस्तिष्ठेत् । तथा सति तस्य तस्य तत्तदुपयोगिज्ञानात्मकसहकारिसम्पत्तिर्भवतीति ज्ञेयम् । ननु यथा मर्यादामार्गीयस्य गङ्गायामिति सामीप्यसप्तम्या स्थितिदेश उक्तः, तथा पुष्टिमार्गिणो नोक्त इति स कुत्र तिष्ठेदित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाहुः **पुष्टी-**त्यादि । व्याख्यानं तु स्फुटार्थम् । ननु भवत्वेवम्, तथापि तयोः किं फलमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति **मर्यादास्थावि**त्यादि । **आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्ये**त्यनेन मूलस्थस्य क्रमेणेति पदस्यार्थो बोधितः । **प्राप्नुत** इति द्विवचनम् । तथाच पुष्टिमार्गेऽङ्गीकारे क्रमेण 'चेतस्तत्प्रवण'मित्युक्तमानसीसिद्धौ तस्या यत्फलं तदेव फलम्, यदि मर्यादायामङ्गीकारः, तदा 'भगवान्मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति वाक्याद्भगवत्सायुज्यरूपा मुक्तिरेव । 'हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते' इत्यत्रोक्ता फलिष्यति । 'एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृते'रित्यत्र तथा सिद्धत्वादित्याशय इत्यर्थः । ननु साधनसम्पत्तावनुग्रहाद्भक्तिरेव भवतीति यदुक्तं, तत्र किं बीजमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति **एव**मित्यादि । तात्पर्यमिति । श्रुतिसूत्रादितात्पर्यम् । मूलार्थस्तु । एवं पुरुषोत्तमप्रापकतया भक्तिमार्गो **ज्ञानाधिकः** ज्ञानमार्गादुत्कृष्टस्तस्मात् गङ्गादृष्टान्तेन नितरां व्युत्पादनपूर्वकं निरूपितः कथित इति । तदेतद्व्याकुर्वन्ति **लोकेऽधुने**त्यादि । **ब्रह्मात्मैक्यज्ञान**मिति । ब्रह्मणः स्वात्मनश्च तादात्म्यरूपैक्यज्ञानम् । **सर्वज्ञान**मिति, प्रपञ्चज्ञानम् । **एतावतापी**ति । स्वात्मनः प्रपञ्चस्य च ब्रह्मात्मकत्वज्ञानेनापि । एवं ज्ञानेपि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्य दूरत्वे

दूरतरः । तस्य अक्षरातीतत्वात् । अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये । गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः । न हि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जल एव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति । तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम् । न हि भक्त्या देवताद्रष्टृसमः पूर्वो भवति । अत एव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजतीति 'यो मामेवमसंमूढ' इत्युपक्रम्य 'भजति मां सर्वभावेने' ति प्रभुरुक्तवान् । अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमितोऽधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वादिति विद्वद्भिर्ज्ञेयम् । ऋग्वेदेपि पठ्यते 'तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन । आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।' हे स्तोतारो मदुत्कर्षवर्णनपराः पूर्व्यं सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः । ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम् । स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण उपदिष्टवानिति तथा । जनुषा स्वजन्मनैव सम्पूर्णेन, न तु क्षणयाममात्रेण । पिपर्तन पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत । अत्र यथावित्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवांस्तदर्थमेव तद्भजनार्थमेवोपयुक्तान् कुरुतेति भक्तिमार्गे विनियोगमुपदिशति । तेन

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

मानमाहुः अत एवेत्यादि । तथा च यद्यक्षराहंग्रहोपासनतः 'सर्वं ब्रह्मे'त्युपासनतश्च भक्तेस्तन्मार्गीयोपासनायाः स्वविषयकाया आधिक्यं न स्यात्, तदा भगवान् 'मय्यावेश्य मन' इत्यारभ्य स्वोपासकस्य युक्ततमत्वम्, अक्षरोपासकस्य क्लेशम्, सर्वसंन्यासपूर्वकं ये स्वपरास्तेषां शीघ्रं संसारादुद्धारम्, स्वस्मिन्मनोनिवेशनादिना तेषां स्वस्मिन्निवासम्, तदनुकल्पकथनेन तस्यैवावश्यकत्वं च न वदेत्, अतस्तथेत्यर्थः । एतेन ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवमिति व्युत्पादितम् । तस्मान्निरूपित इति विवृण्वन्ति गङ्गायामित्यादि । अग्रिमं स्पष्टम् । अस्मिन्नर्थे श्रुतिमपि प्रमाणत्वेन वदन्ति व्याकुर्वन्ति च । ऋग्वेदेपीत्यादि, हे स्तोतार इत्यादि च । गर्भरूपमिति । तस्मिन्नर्थरूपतयान्तःस्थितम् । तत्र हेतुः स्वोदरस्थमित्यादि । उपदिष्टवानिति । स्वज्ञापकतया बोधितवान् । एतदुपबृंहितमेकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये 'कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता । मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ते'ति । एकविंशे च 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् । एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदा । मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदती'ति । शेषमतिरोहितार्थम् । एवमत्र मुख्यमध्यमजघन्यातिजघन्याधिकारिकृतसाधनस्य फलपर्यन्तव्यवस्थाकथनेन स्वतन्त्रभक्तिमार्गस्यैवोत्कर्षो व्युत्पादितः । तेन स एव मुख्यः, इतराणि त्वनुकल्परूपाणि जघन्यार्थानि । तत्रापि निष्कपटा तनुवित्तजसेवैव सुगमं साधनमिति साधितम् ।

अतःपरं तनुवित्तजाया यथाकथञ्चित्करणे यदि भक्तिर्न भवति, स्फुटमेव

ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमवगम्यते । भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थः सिध्यतीति हृदयेनाहाग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्ताज्ञानन्तोऽखण्डशब्दब्रह्मरूपं, न तु लौकिकशब्दरूपमिति नाम स्वरूपं जानन्तस्तदेव विवक्तन विशेषेण वदन्तु । अधिकमाहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रमुत कीर्तयन्तु । एतेनैव भगवत्स्वरूपतन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यतीत्याशयेनाह नाम स्वरूपम् । चिदिति । चिदित्युपलक्षणम् । सच्चिदानन्दात्मकमित्यर्थः । नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृगुरूपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह महस्त इत्यादि । ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे । स च स्वतेजसा पराज्ञाननिरासक इत्याह मह इति । तेजोरूपमित्यर्थः । स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येनोत्सवात्मकमिति वा । एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेश एवोपदिष्टो भवति । एवमेव 'तद्विष्णोः' 'तद्विप्रास' इत्यादिश्रुतिसहस्रैर्निगद्यत इति सुष्ठूक्तं ज्ञानमार्गादधिको भक्तिमार्ग इति ॥१७॥१८॥१९॥

गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः भक्त्यभाव इति ।

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः ।
अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति ॥ २० ॥
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ।
एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ॥ २१ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा ॥

भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवतीति भावः । एतेन भक्तेरावश्यकत्वमुक्तं भवति ॥ २० ॥ २१ ॥

ईति श्रीपितृपादाब्जपरागरससिक्तहृत् ।
श्रीविठ्ठलस्तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ ॥ १ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

तदा तस्याः किं फलमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति गङ्गेत्यादि । व्याकुर्वन्ति भगवदित्यादि । तथा भवतीति । दुष्टैर्निजकर्मभिः पाषण्डितामापन्नः सन् । 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथे'ति श्लोकद्वयोक्तरीत्या आरूढपतितो भवतीत्यर्थः । एतच्छ्लोकोक्तितात्पर्यमाहुः एतेनेत्यादि । तथा च भक्त्यभावे सर्वं व्यर्थमिति बोधनार्थमेतदुक्तिरित्यर्थः । उपसंहारश्लोकस्तु प्रसिद्धार्थत्वान्न व्याख्यातः । परं तदारम्भस्थ एवंशब्दस्त्वतिदेशपरत्वेन बोधित इति स देहलीदीपवदुभयत्राप्यन्वेतीति बोध्यम् । एवं सर्वं ग्रन्थं विवृत्योपसंहरन्ति इतिश्रीत्यादिश्लोकेन । अत्र हृदये दधाविति कथनेन स्वयमेव सम्यग्विचारिता, नत्वनधिकारिणः प्रति स्पष्टीकृतेत्यपि बोधितम् ।

---

१. अदलितनलिनीदलैव वापी यदहृतपल्लव एव काननान्तः ।
प्रियसखि न जगाम वामशीलः स्फुटममुना नगरेण नन्दसूनुः ॥ २ ॥

इत्यधिकं पद्यं क्वचित् ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

अत्रेदं सिद्धम् । (यस्य भगवति कृष्णे परब्रह्मत्वेन ज्ञानं भगवदनुग्रहेण दृढम्, तथा विश्वासो भक्तिश्च स्वतःसिद्धा, तस्य) अस्मिन् शास्त्रे तनुवित्तजा सेवैव प्रथमं साधनम् । सा चेन्निबन्धोक्तप्रकारिका भवति, तदा लौकिकविषयवैराग्यादिना संसारदुःखं निवर्तयन्ती भगवदधिष्ठानत्वेनाक्षरं बोधयन्ती 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'त्युक्तसर्वात्मभावरूपां मानसीं साधयति । तस्याः सम्पत्तौ च बहिर्भगवत्प्राकट्ये भगवदेकतानतातः कामचारो भवति, (नान्यथा । अतः साधनसेवां कुर्वता ब्रह्मवादेन भगवति बुद्धिर्विधेयेति मुख्या आद्यसाधनकक्षा ।) एषैव निबन्धे 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः पर' इति सावतारणिकया कारिकयोक्ता । तस्यां च स्वस्य सेवकत्वेन ज्ञानमेवोपयोगीति च । अत्रानधिकारे तु मर्यादापुष्टस्य विविक्तं जीवस्वरूपज्ञानमावश्यकम् । तस्मिन् सति शुद्धस्य स्वात्मनोऽक्षरब्रह्मात्मकत्वे स्वस्मिन्नन्तरेव भक्त्या कृष्णं पश्यति । तेनाग्रे पुरुषोत्तमसायुज्यमिति मध्यमा साधनकक्षा । तेन तादृशा सेवां कुर्वता जीवभगवत्स्वरूपयोर्ज्ञानार्थं पूर्वं यतनीयम् । यस्यात्राप्यनधिकारः, स संसारी स्वशरीरपुत्रवित्तादिष्वभिमानवान् । स तु सेवां कुर्वन् भगवदुपयोगिपदार्थालाभेन दुःखभाग्भवति । तेन सम्यक्सेवानिर्वाहो न भवतीति तेन संसारासक्तिनिवारणार्थं स्वप्रतिष्ठस्य लीलाविशिष्टस्य भगवतश्चिन्तनं विशेषेण कार्यमिति तृतीया जघन्या कक्षा । यस्य पुनः संसारिणो लोकार्थिता न निवर्तते, स चेद्भगवत्सेवां यथोक्तप्रकारेण तनुवित्ताभ्यां करोति, तस्य परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुकृतेन विलम्बेन संसारविषयाल्लोकादेव क्लेशो भवति, तथापि चेत्सेवां न त्यजति, तदा आसक्तिविषयो लोको नश्यति । तादृगधिकारी चेत्पुष्टिमार्गीयः, तदा तेन श्रीभागवतपाठश्रवणपरतया स्थित्वा यत्र कुत्रचिद्देशविशेषे पूजोत्सवादिकं कर्तव्यम् । मर्यादामार्गीयश्चेत्, गङ्गातीरे स्थित्वा तेन श्रीभागवतश्रवणपठनावृत्तिर्यथाधिकारं कर्तव्येति चतुर्थी कक्षा । तयोरुभयोरपि यथाधिकारं स्वल्पेन महता वा क्रमेण तत्प्रवणं चेतश्चेत् यथाधिकारं सिध्यति । तस्य वैकुण्ठादिषु सेवौपयिकदेहप्राप्तिः फलति, न तु सायुज्यम् । यस्य तु तन्वादिभिः सेवाकरणे भक्तिरपि न भवति, स तु पञ्चमः आरूढपतितो जन्म प्राप्नुवन् संसाराभिनिवेशशैथिल्ये बहुजन्मभिर्मुच्यते । संसारात्यन्ताभिनिवेशे तु मुक्तिरपि न भवतीति । तस्मात्संसारावेशं त्यजता भक्त्यर्थं तनुवित्तजसेवायां पूर्वं यतनीयमिति । (तत्रायं प्रकारः । तन्वादिभिः सेवां कुर्वतोऽधिकारभूतमात्मनिवेदनमावश्यकम् । तत्कृत्वा सेवाकरणे पूर्वदोषनिवृत्तिः, अग्रिमदोषासंसर्गश्च । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या असमर्पितवर्जनादिरूपं बहिरंगं साधनं संपत्ताववश्यं करणीयम् । आपत्तौ तु नवरत्नोक्तरीत्या करणीयम् । भगवदपराधे

१. इति मुख्याधिकारिणः फलपर्यन्ताः कक्षाः । यस्य तु न तादृशोऽधिकारः, तेन तु भगवति परब्रह्मत्वज्ञानार्थं साधनसेवां कुर्वता ब्रह्मवादेन भगवति बुद्धिर्विधेया । अतः पूर्वोक्तरीत्या सैव कार्येति ततः किञ्चिन्न्यूना साधनकक्षेति पाठान्तरं भाति ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

जाते त्वन्तःकरणप्रबोधोक्तरीत्या भावनीयम् । विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्या विवेकादिरपि संपादनीयः । ततो विश्वासे दृढे सति भक्तिवर्धिन्युक्तरीत्या भक्तिबीजस्य दार्ढ्यं संपादनीयम् । अदृढबीजभावे तु निबन्धोक्तरीतिकपूजा परिचर्यादिभिः, नामावलीपाठेन च प्रेमासक्तिव्यसनानि संपादनीयानि । ततो व्यसनदार्ढ्ये सिद्धे प्रेम्णि दृढे जाते च संन्यासनिर्णयोक्तरीत्या त्यागो विधेयः । तत्रानधिकारे तत्र प्रतिबन्धे वा भक्तिवर्धिन्युक्ता अनुकल्पा विधेयाः । ततो भगवत्प्रसादे निरोधलक्षणोक्तरीत्या निरोधोत्कर्षसिद्धिः । ततः फलसिद्धिरिति तच्चरणदासैर्विभावनीयम् । अन्येपि ग्रन्था अत्रैव शेषत्वेन यथासंभवं योजनीया इति दिक् ।)

इति श्रीप्रभुपादाब्जैः प्रसादप्रेरणादिह ।
स्वीयसिद्धान्तवाङ्माला कृपया संप्रकाशिता ॥ १ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानस्य श्रीविट्ठलेशप्रसादप्राप्तदृशः पीताम्बरात्मजस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ श्रीमदाचार्यसिद्धान्तवाङ्मालाप्रकाशः संपूर्णः ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्रीमद्विठ्ठलेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

प्रणम्य पितृपादाब्जपरागमनुरागतः । कृपया विशदीकुर्मस्तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम् ॥१॥

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्[1] ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ॥ १ ॥

स्वसिद्धान्तेति । अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी ।

तुमो नतहरीन् स्वीयसिद्धान्तस्य विवक्षया ।
ततो तुमो विशदिततद्वाङ्मुक्ताफलावलीन् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः । प्रणम्येति । अत्र नमने प्रकर्षो भक्तिमार्गीयत्वम्, तच्च सुसेव्यत्वज्ञानपूर्वकत्वे सति भक्तिकरणकत्वम्, तदेव भक्तिमार्गीयतावच्छेदकद्वयं प्रकटयन्ति पितृपादाब्जेति । पितृपदं भक्त्यनपेक्षपुत्रवात्सल्यबोधकम् । हृदयाविष्टस्य घनीभूतानन्दरूपपादपद्मस्य परागस्तस्मात् स्रुत आनन्दः । भगवच्चरणारविन्दे हृदये समागते य आनन्दोऽनुभूयते तत्स्वरूप इत्यर्थः । तथा च पितृपादाब्जपरागमित्यनेन सुसेव्यत्वज्ञानरूपमवच्छेदकमुक्तम् । अनुरागत इत्यनेन भक्तिरूपं द्वितीयमवच्छेदकमुक्तम् । एतादृशनमनाभिव्यञ्जितपदार्थमाहुः कृपयेति । भगवद्धर्माणां नित्यत्वादभिव्यक्तेरेवाङ्गीकारात् कृपायास्तथात्वमिति मन्तव्यम् । अत एवासाधारणकारणतया तदुक्तिः । तादृशनमनोपकारसिद्धां क्रियामाहुः विशदीकुर्म इति । वैशद्यं स्फुटीभावः । कृपाया ग्रन्थवैशद्यकरणत्वकथनेन स्वपितृचरणानां वागधिपतित्वमभ्युक्तम्, तत्कृपाया एव तथा करणसामर्थ्यात् । किमित्याकांक्षायामाहुः तदिति । तद्वाङ्निष्ठमुक्ताफलरूपार्थराशिमित्यर्थः । मुक्ताफलपदस्य कल्पनावृत्त्यार्थबोधकत्वम् । सादृश्यं च नैर्मल्यसामान्यधर्मेण । नैर्मल्यं चात्र प्रोज्झितकैतवत्वम् । वाच एव मुक्ताफलानीत्ययं पक्षस्तु अत्रार्थस्यैव स्फुटभावं प्राप्तत्वादसंभवग्रस्तः । वाग्वैशद्यं तु व्याकृतावुच्चारणे चैव प्रसिद्धम् । मूले स्वसिद्धान्तेति । स्वसिद्धान्तस्य अयमेव शास्त्रार्थ इति विशेषेण निश्चयो यस्मात् तं ग्रन्थमित्यर्थः । इदं च प्रतिज्ञावाक्यम् । महावाक्यमाहुः कृष्णसेवेत्यादि । टीकायां अग्र इति । अस्मिन्नेव ग्रन्थे 'मायिकं सगुणं कार्यं'मित्यादिभिर्वक्ष्यमाणैः । शास्त्रार्थस्य गीताभागवतार्थस्य ।

---

१. विनिश्चितमिति पाठः ।

तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः । तमेवाहुः कृष्णसेवेति । फलात्मकनामोक्त्या स्वतःपुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः [1]स्वसिद्धान्तो, न त्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते । सेवा हि सेवकधर्मः । तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम् । अत एव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः सदेति । आवश्यकार्थण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते । सा च फलरूपा साधनरूपा चास्ते । तत्र मानसी सा परा फलरूपेत्यर्थः । यथा व्रजसीमन्तिनीनाम् । तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद' मित्यादिना ॥ १ ॥

एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेत इति ।

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥ २ ॥

उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति । वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारितैका ।

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी ।

तन्निरासाय शास्त्रार्थसन्देहनिरासाय । सन्देहस्वरूपं तु स्वयमेवाग्रे वक्ष्यन्ति स्वेति । एतन्निरूपकशास्त्रार्थस्य निश्चयो यस्मात्तमित्यर्थः । फलात्मकेति । फलरूपस्य तस्य स्वतः पुरुषार्थत्वधर्मावच्छिन्नसेवाकृतिः स्वसिद्धान्तः । फलसेवनं हि स्वतः पुरुषार्थः, यथा कामिन्याः । **स्वतःपुरुषार्थत्वेन** । कामप्रयत्नयोरेकविषयत्वेनेत्यर्थः । ननु 'मानसी सा परे'-त्यनेन मानस्याः सेवायाः फलत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् तदर्थत्वमेवैतत्सेवायाः सिध्यति, अतो न स्वतः पुरुषार्थत्वम्, किन्त्वन्यशेषत्वमेवेति चेत्, तत्राहुः नत्वन्येति।यत्र विजातीयफलार्थत्वं तत्रैवान्यशेषत्वम्, प्रकृते तस्या एव सेवाया अवस्थाभेदेन मानससेवारूपफलत्वेन विजातीयत्वाभावाददोष इति भावः । हेतुपूर्वकं सदेत्यस्यार्थमाहुः सेवा हीति । सहजेत्यत्र जननं सत्तेति ज्ञेयम् । जीवस्य नित्यत्वेन जननासम्भवात् । तथा च सहसत्ताकमित्यर्थः । यथा जीवसत्ता सार्वदिकी, तथा दासत्वसत्तापि । अत एव जीवस्य सहजदासत्वेन अत्र सेवायां सहजधर्मत्वादेव । कर्मणीवेति । कर्म न सहजधर्मः, तस्यैव जन्मान्तरे शूद्रदेहेऽनधिकारादिति भावः । कालपरिच्छेदोऽस्मिन् काले न कर्तव्येतिरूपः । कालपरिच्छेद्यत्वाभावेपि प्रत्यवायजनकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपधर्मोस्तीत्याहुः आवश्यकार्थेति । सा चेति । सा पूर्वोक्ता । तत्र फलसाधनरूपयोर्मध्ये फलरूपा मानसी सेवा । यथेति । यथा यत्प्रकारिका सेवा व्रजसीमन्तिनीनां सिद्धा, सा मानसी फलरूपा सेवेति शेषः । तदेव मानससेवायाः फलरूपत्वमेव । 'ता' इति, 'मय्यनुषङ्गबद्धधिय' इत्यनेन साधनसेवामनूद्य 'नाविद'न्नित्यनेनान्यानुसन्धानराहित्यमुक्तम् ॥ १ ॥

एतदेव धीबन्ध एव । मूले चेतसस्तस्मिन् भगवति प्रवणं गतिरित्यर्थः । उक्तसेवेति । उक्तसेवा मानसी सेवा । इतरे तनुवित्तजे । एकेति । वित्तजेत्यर्थः ।

१ काले इति पाठः ।

एतादृशेन पुंसा कृता चापरा । एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम् । एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः । एतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुः तत इति । अहन्ताममतात्मकः संसारो, न तु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्याऽनिष्टनिवृत्तिरुक्ता । इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे । स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम् । भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यप्यनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति भावः ॥ २ ॥

इदमेव परं ब्रह्मेति न ज्ञेयमित्याहुः परं ब्रह्म त्विति ।

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ॥ ३ ॥

यशोदोत्सङ्गलालितो, न त्वन्य इति ज्ञापनाय मूलनामोक्तम् । अत्र भेदकं रूपमाहुः

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी ।

एतादृशेन । वित्तग्रहीत्रा पुरुषेण । अपरा तनुजा । **तत्साधिके** इति । फलरूपसेवासाधिके । तथा चैककर्तृक एव ते तत्साधिके इति फलितार्थः । नन्वेवमेककर्तृका भगवदपेक्षितयावद्द्रव्यसमर्पणरूपसेवा शरीरजभगवद्यावत्सेवा च भगवदपेक्षितयावद्द्रव्याभावात्तादृशतनुसामर्थ्याभावाच्चासम्भावितेति चेत्, तत्राहुः **एतेनेति** । एवं सेवाकथनेन । फलाकांक्षारहितयावत्स्वीयद्रव्यादिनिवेदनपूर्वकं कार्यान्तरविनियोगरहितभगवदर्थस्वदेहविनियोगे क्रमप्राप्तप्रेम्णि जाते सा मानसीसेवा भवतीत्यर्थः । क्रमस्त्वग्रे विवेच्यः । **एतादृशस्येति** । निवेदितस्वीयसर्वस्वस्य भगवत्सेवाविनियुक्तदेहस्य पुरुषस्य । **तत इतीति** । उक्तसाधनरूपसेवाद्वयतः । **तन्निवृत्त्येति** । संसारनिवृत्त्या । **अनिष्टेति** । फलप्रतिबन्धकत्वात् संसारस्यानिष्टत्वम् । मूले संसारो दुःखो दुःखजनक इत्यर्थो ज्ञेयः । **इष्टेति** । फलसाधकत्वात् ब्रह्मज्ञानस्येष्टत्वम् । **स्वात्मनीति** । आत्मनि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु । अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानमहन्तानिवृत्तौ, प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानं ममतानिवृत्ताविति विभागः । भक्तस्याक्षरज्ञानं पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन भवतीति तृतीयाध्याये तृतीयचरणे व्युत्पादितम् । तथा चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानं पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन ज्ञानमित्यर्थः । स्वात्मनि प्रपञ्चे च भगवदीयत्वेन ज्ञानमिति यावत् । पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वमनुपदमेव विवेक्ष्यते । ननु तादृशज्ञानहेतुत्वात् सेवायाः स्वतःपुरुषार्थत्वव्याहतिरित्यत आहुः **भगवत्सेवायामिति** । **ते इति** । उक्तब्रह्मात्मकत्वज्ञाने । वस्तुन आत्मसमर्पणस्य स्वभावात् । स्नेहो हि भक्तिः । स च दर्शनं विना भवतीति निबन्धे निरूपितम् । अतः श्रवणं दर्शनं स्नेह इति त्रयं मिलितं एका श्रवणभक्तिर्भवति । एवं नवस्वपि । तथा च ब्रह्मबोधनस्य वक्ष्यमाणरीत्यात्मनि वेदनाङ्गदर्शनयोग्यतासम्पादकत्वात् तत्स्वभावादेव ते ज्ञाने भवत इत्यर्थः । अनभिलषिते सेवाभिनिवेशेनैव सेवा क्रियते, न त्वेतत्फलाभिनिवेशेनेत्यर्थः ।

इदमेवेति । इदं पूर्वोक्तज्ञानविषयमक्षरं ब्रह्म । **अत्रेति** । अक्षरे ब्रह्मणि । रूपं

सच्चिदिति । एते हि भगवद्धर्मात्मकाः, प्रकटतत्रितयात्मकमक्षरं ब्रह्म । अत एव प्रपञ्चस्तदात्मक इति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन्नुच्यते । एतावान्परं विशेषो, जडे सदंशः प्रकटः, इतरावाच्छन्नौ; जीवे त्वाद्यौ प्रकटौ, आनन्दांशस्तिरोहितः; परमात्मनि त्रयं स्फुटमिति । कप्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव, न तु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वमिति ज्ञाप्यते । कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमित्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपमिति । तत् अक्षरं ब्रह्म । तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्यादिति । प्रपञ्चरूपेणाविर्भूतमेकमित्यर्थः । एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपात् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः । न च विरुद्धधर्मैर्भेदोत्र शङ्कनीयः । उभयोर्धर्मयोरेकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात् । विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि 'तदेजति तन्नैजती'त्यादिश्रुतिभिर्निरूप्यमाणत्वात् । लोक एव विरोधः शङ्कनीयो, नत्वलौकिके ब्रह्मणि । इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ॥ २ ॥

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्याहुः अपरमिति ।

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिप्रकाशः ।

धर्मः । ननु सच्चिदानन्दकत्वस्य पुरुषोत्तमेपि सत्त्वात् कथं तस्य भेदकत्वं तत्राहुः एते हीति । सच्चिदानन्दाः । तत्रितयं सच्चिदानन्दत्रयम् । अत एव । अक्षरस्य सच्चिदानन्दात्मकत्वादेव । तदात्मक अक्षरब्रह्मात्मकः । तस्मिन् प्रपञ्चे । एतावानिति । अक्षरब्रह्मणः सकाशात्प्रपञ्चे विशेषः । तमेवाहुः जड इति । इतरौ चिदानन्दौ । आद्यौ सच्चितौ । परमात्मनि अन्तर्यामिणि । ननु भगवद्धर्माणामपि 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति न्यायेन भगवत्त्वमेवेति न भेदसिद्धिरिति चेत्, तत्राहुः कप्रत्ययेनेति । कप्रत्ययस्य हीनार्थकत्वादित्यर्थः । पुरुषोत्तमवदिति । पुरुषोत्तमस्वरूपभूतमुख्याक्षरवदित्यर्थः । कृष्णेति । कृष्णशब्दस्य परब्रह्मवाचकत्वात् तत्स्वरूपं तेनैव निरूपितम् । इतीति । पुरुषोत्तमस्वरूपनिरूपणाकांक्षानिवृत्तिपूर्विकाक्षरनिरूपणाकांक्षारूपाद्धेतोः । एतावद्रूपकमक्षरं ब्रह्मेत्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्तीत्यर्थः । द्विरूपमितीति । अत्रैकपदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्रान्वेति । एकरूपत्वेनेति । प्रपञ्चरूपस्य तस्यानेकरूपत्वं तद्भिन्नरूपस्यैकरूपत्वम् । श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेनेति । प्रपञ्चकारणत्वेन । पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिरिति । लीलाविशिष्टपुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वमित्यर्थः । आदिशब्देन पादत्वादयो धर्मा ग्राह्याः । तत्रायं विवेकः । आधिभौतिकजलस्याक्षरत्वेन ज्ञाने तस्याक्षरत्वात् तत्र सेवोपयोगिलीलासृष्टिस्थपुरुषोत्तमात्मकजलाधिष्ठानत्वम्, एवमक्षरात्मके भगवदाकारादौ पुरुषोत्तमस्वरूपाधिष्ठानत्वमिति । विरुद्धेति । विरुद्धत्वेन प्रतीतिविषयैरित्यर्थः । अत्रेति । प्रपञ्चाक्षरयोः । भेदः क्रियाफलभूतो विरोध इत्यर्थः ।

विरोधेति । भिन्नधर्मत्वात् ब्रह्म कथं जगद्रूपं भवितुमर्हतीति ज्ञानेन प्रतीतो

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ॥ ४ ॥

वेदमतादपरं भिन्नं मतम् । पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते । तत्र अक्षरे ब्रह्मणीत्यर्थः । मायिकमिति हि मायावादिनः । सगुणं गुणकार्यमिति साङ्ख्याः । कार्यं द्व्यणुकादिक्रमेणेश्वरकार्यमिति नैयायिकाः । स्वतन्त्रं न कदाचिदनीदृशं जगदिति मीमांसकाः । चकारेण वेदबाह्यमतानि सङ्गृह्यन्ते ॥ ४ ॥

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवादित्याशयेन स्वसिद्धान्तमाहुः तदेवेति ।

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।
द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी ॥ ५ ॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ॥ ६ ॥

'स हैतावानास', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जला'नित्यादिश्रुतिभ्यः तथेत्यर्थः । एकस्यैवाक्षरस्योक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति द्विरूपमिति । प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद्ब्रह्म गङ्गावज्ज्ञेयम् । अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम् । आधिभौतिकं जलरूपमेकम्, यद्वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिह्रासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यत्वं च । अग्रिमा द्वितीयाध्यात्मिकी तीर्थरूपा, योद्धृतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिस्तेन तत्रैव स्नानपूजादिभिः फलदा। एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमप्येकमेव तदक्षरं ब्रह्मेति तथा बुध्यतामित्यर्थः ॥५।६॥

आधिदैविकं रूपमाहुः तत्रैवेति ।

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ।
गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ॥ ७ ॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले ।
विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ॥ ८ ॥
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् ।
यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ॥ ९ ॥

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिप्रकाशः ।

भेदो विरोधः क्रियाफलरूपः तत्परिहारायेत्यर्थः ।

स्वतन्त्रमिति । स्वभावत एवोत्पत्त्यादिविशिष्टम्, नतु परतः तथाभूतम् । द्विरूपत्वमिति । प्रपञ्चतद्भिन्नरूपत्वम् । एवमेवेति । यथाधिभौतिकी जलरूपा, आध्यात्मिकी तीर्थरूपाप्येकैव गङ्गा । एतत्प्रकारेणैव प्रपञ्चप्रपञ्चभिन्नज्ञान्युपास्यादिरूपमेकमेवाक्षरं ब्रह्म ।

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः ।
देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ॥ १० ॥
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा ।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥ ११ ॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ।

उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्नास्तीत्यर्थः । तत्र मानमाहुः मूर्तिरिति । भक्त्यैव, न तु मर्यादामार्गविधिनोपासनयेत्यर्थः । तदपि क्वचिदेव, भक्त्युद्रेकदशायामेव । अथवा । यत्र क्वचिद्गृहादिष्वपीत्यर्थः । भक्तविशेषे विशेषमाहुः गङ्गायामिति । देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहादभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिस्तस्मै गङ्गायां प्रवाहमध्य एव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः । एतेन प्रपञ्चमध्य एव भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवदभेदबुद्धये तत्र भगवत्प्राकट्यं भवतीति भावः सूच्यते । अग्रिमव्यवस्थामाहुः प्राकाम्यमिति । स्वाभीष्टस्वसर्वस्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानात्तज्जले सर्वत्रानिषिद्धयथेष्टव्यवहारः स्यादित्यर्थः । एवमेवोक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावः स्फुरतीति भावः । विहितेति । भक्त्या गङ्गादर्शे-

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिप्रकाशः ।

उक्तद्विरूपायामिति । आधिभौतिकाध्यात्मिकरूपायाम् । सा गङ्गा । तदिति । उक्तद्विरूपातः । तत्र भेदे । उक्तद्विरूपयोर्मूर्तिमत्त्वाभावादाधिदैविकस्यैव मूर्तिमत्त्वादित्याशयेनाहुः मूर्तिरितीति । 'देवतारूपा न तद्भिन्नास्ती'ति पाठे ततो भेदेन न तिष्ठति, तत्रैव तिष्ठतीत्यर्थः । तत्रेति । भेदेनास्थितौ तस्या एव साधिदैविकी मूर्तिरिति मानमित्यर्थः । तदपीति । दर्शनम् । क्वचिदिति । एतत्पदस्य कालवाचकत्वाशयेनाहुः भक्त्युद्रेकेति । देशवाचकत्वाशयेनाहुः गृहादिष्वपीति । प्रत्यक्षा भवतीति । यथासम्भवं षड्विधप्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः । तथा च दृश्यत इति पूर्वेण न पौनरुक्त्यम् । न सर्वेषामिति । प्रवाहात् भिन्नबुद्धीनामित्यर्थः । यथा गङ्गायामाधिदैविकगङ्गाविर्भावः, न त्वाधिदैविकसरस्वत्यादेः, तथा सर्वत्र तत्तद्वस्तुनि तत्तदाधिदैविकाविर्भाव इति गङ्गादृष्टान्तेन सूचितमित्याशयेनाहुः एतेनेति । गङ्गादृष्टान्तकृतेन तत्तद्वस्तुनि तत्तदाविर्भावसूचनेनेत्यर्थः । प्रपञ्चमध्य एवेति । प्रपञ्चान्तःपातिनोर्भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञाने तत्र भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्भगवता सहाभेदबुद्धिर्यस्य तस्मै तत्र तदाकृतितद्भक्तयोर्भगवत्प्राकट्यमित्यर्थः । आकृतिसाम्यादाकृतेरात्मन्यक्षरब्रह्मात्म(क)त्वाद्भक्तस्य चाधिदैविको भगवानिति ज्ञेयम् । अग्रिमेति । उक्तविधप्रत्यक्षानन्तरव्यवस्थामित्यर्थः । स्वाभीष्टेति । तथाभूतगङ्गायाः । स्थानभूतेति । आधिभौतिकाध्यात्मिकयोरभेदबुद्ध्या तथा ज्ञानात्तथेत्यर्थः । सर्वत्र गृहादिष्वपीत्यर्थः । तत उद्धृतजलादिषु

नानन्तरं प्रवाहरूपाया अपि दर्शनं विहितात्स्वर्गापवर्गरूपात्फलाद्विशिष्यते । तद्वदीत्यर्थः । यद्वा । येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि तथा देवतारूपया सा तत्रास्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो भवतीत्यर्थः । किञ्च । पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यदुक्तं तदनुभवेन महतामन्तःकरणप्रतीत्यापि तज्जलमन्येभ्यो जलेभ्यो विशिष्यत इत्यर्थः । एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते । अत एव 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मिति भगवतोक्तम् । (एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तमर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलमित्यादिना । तत्रापीति । साधर्म्येपि । एतदिति । किञ्चित्तारतम्यम् । इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यते ।) जगत्त्विति । त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं, (तुशब्देन जले तथात्वं व्यावर्तितम् । ततस्तस्माद्धेतोः जगतीति वा । रूपवद्यथा जगतो रूपं त्रिविधम्, तथा तत्रत्यत्रिविधानां देवता उपास्याः ब्रह्मादयः त्रयः प्रोक्ताः, तत्तच्छास्त्रे निरूपिताः । देवतेति स्त्रीलिङ्गप्रयोगात् तेषामस्वातन्त्र्यं द्योतितम् ।) तेन तद्गुणनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इत्यर्थः । (ते तु प्राकृतानामेव नियामकाः, न तु ज्ञानिनामपीत्याहुः ब्रह्मणीत्थमिति ।) ब्रह्मैकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिप्रकाशः ।

वा । एवमेवेति । सर्वत्र प्रपञ्चे इत्यर्थः । प्रवाहरूपाया अपीति । अनेन देवतारूपायास्तथा दर्शनं तथा भवत्येवेति सूचितम् । तद्वदीत्यनेन प्रतीत्यापि तथा दर्शनमुक्तम् । यद्वेति । ग्रन्थार्थस्तु, येषां न प्रत्यक्षा, तेषां का व्यवस्थेत्याकांक्षायामाहुः प्राकाम्यमिति । तेषामपीत्यस्य तथा भवतीत्यनेनान्वयः । अस्मिन्पक्षे विहितादित्यस्यार्थमाहुः किञ्चेत्यादि । अत एवेति । यतस्ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते, अतो हेतोरित्यर्थः । एवं दृष्टान्तेन त्रिरूपत्वमुपपाद्योपसंहरन्ति, मूले यथा जलमिति । सर्वं जगत्, शक्ता तीर्थरूपा, देवी आधिदैविकरूपा मूर्तिमती गङ्गा । तत्रापीति । अहन्ताममतानिवृत्तिरुभयत्राक्षरत्वेन ज्ञानं चेति चतुर्ष्वपि मध्ये एतद्वक्ष्यमाणप्रकारकं ब्रह्मात्मकत्वेन शाब्दं प्रपञ्चज्ञानं इहास्मिन्नेव जन्मन्यपेक्षितत्वेन उच्यते इत्यर्थः । एतदभावे लौकिको भोगो भवेत्, स तु प्रतिबन्धकत्वेनोक्तोस्तीति भावेनाहुः जगदिति । तुशब्देन ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञाते प्रपञ्चे त्रिगुणात्मकत्वं व्यावर्तितम् । तत इति । यतो हेतोस्त्रिगुणात्मकं जगत् । ततो हेतोः । रूपवदिति । यथा जगतो रूपं त्रिविधम्, तथा तद्गुणाभिमानिन्यो देवताः प्रोक्ताः । यदा तु ब्रह्मात्मकत्वेन जगत् ज्ञातम्, तदा ब्रह्मणि इत्थं तद्देवत्वेन हरिः पुरुषोत्तमो

१. एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुक्तमपि साधर्म्यं यत्र यदंशेन तत्र तथा स्पष्टयन्ति यथा जलं तथा सर्वमिति । तत्राप्येतदिहोच्यत इति । तत्रापि साधर्म्येपि । एतज्जगत् तु त्रिविधमित्यारभ्य न चान्यथेत्यन्तेन वक्ष्यमाणं किञ्चित्तारतम्यम् । इह प्रपञ्चरूपे तद्दृष्टान्ते गङ्गाजले त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यत इत्यर्थः । जगदिति पाठान्तरं पुस्तकद्वये । क्वचित् पाठद्वयमपि मूले नास्ति ।

हरिरेव । (तर्हि भक्तानामपि लोकमध्यपातित्वात्तन्नियामकत्वं ब्रह्मादीनां कुतो नेत्यत आहुः कामचार इति । लोके तेभ्य एव कामचारः, त एव नियामका इत्यर्थः । न चान्यथेति । प्रकारान्तरेण नेत्यर्थः । भक्तेषु विशेषमाहुः परमानन्दरूप इति ।) ये तु भगवद्भक्तास्तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके चार्थे जलादिषु श्रीकृष्ण एव कामचार इत्यर्थः । सर्वत्र नियामकः स एवेति भावः । अथवा । भक्तानां स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवतीत्यर्थः । (ब्रह्माद्यपेक्षयात्र विशेषः 'परमानन्दरूप' पदेनोक्तः । एतावदुक्तस्य फलितार्थमाहुः अत इति । अत उक्तरीत्या सर्वापेक्षया श्रीकृष्ण एव भक्तिमार्गे भजनीय इत्युक्तम्, अतो हेतोस्तत्र बुद्धिर्विधीयताम् क्रियतामित्यर्थः । ननु कीदृशी बुद्धिरिति चेत्, तत्राहुः ब्रह्मवादेनेति । ब्रह्मवादे हि परब्रह्मणः साकारत्वं प्रतिपाद्यते, अतस्तदुक्तपरब्रह्मत्वेन श्रीकृष्ण एव बुध्यतामिति भावः । तथात्वं दामोदरलीलायां श्रीशुकेन स्फुटमेवोक्तं, 'न चान्तर्न बहिर्यस्ये'ति 'त्रय्या चोपनिषद्भिश्चे'त्यादिना । तेन ब्रह्मवादो भक्तिमार्गे अनुभवसाक्षिक इति निरूपितं भवति । अत एव तुशब्देन निराकारवादो व्यावर्तितः) ॥ ११ ॥

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं चाहुः आत्मनीति ।

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ॥ १२ ॥
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।
गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति ॥ १३ ॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ।
संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥ १४ ॥
अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक् ।
तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥ १५ ॥

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिप्रकाशः ।

मतः शास्त्र उक्तः । एतन्निरूपणप्रयोजनमाहुः कामचार इति । ब्रह्मादिभ्यो जातकामानां चारो भोगः अस्मिन् लोके भवति, लौकिको भवतीत्यर्थः । हरिकृतभोगस्वरूपमाहुः परमानन्द इति । एतस्यार्थमाहुष्टीकायां ये त्विति । ब्रह्मात्मकः प्रपञ्चो ज्ञानिनि भक्ते च । तत्र ज्ञानिनः कामाभावात् तद्व्यावर्तनाय तुशब्द उक्तः । स्वात्मविषय इति । स्वात्मपदं स्वात्मीयपरम् । कामचार इति । कामचारनिश्चय इत्यर्थः । लक्षणानङ्गीकारेण पक्षान्तरमाहुः अथवेति । अस्मिन्पक्षे आत्मपदं कृष्णविशेषणम् । तत्प्रार्थने 'त्वदुच्छिष्टं भोज्य'मित्यादिभगवत्प्रार्थने । यतो हेतोर्ब्रह्मैकनिष्ठानामेव व्यवहारो ब्रह्मण्येव पर्यवस्यति, अतो हेतोः सर्वं पुरुषोत्तमाधिष्ठानभूतमक्षरं ब्रह्मैवेति ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यमित्यर्थमाहुः मूले अतस्त्विति ।

अथेति । अस्य जन्मान्तरीयत्वाय भिन्नः प्रक्रमः । जीवस्वरूपं तन्मुक्ति-

आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।
लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥ १६ ॥
क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ।

आत्मविषय उच्यत इति शेषः । जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वमविद्यया-न्तरायभूतया न विदन्ति । तेन संसारमापद्यन्ते । इदमेवोपाधिरूपत्वं तस्याः, न तु तत्कृतं जीवत्वम् । अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः । व्योम्नि यथोपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्राणीव प्रतीयन्ते, तथात्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते, न तु ब्रह्मधर्मा इति बोधनार्थं च । उपाधिनाश इति । तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुरुद्दिधीर्षुर्भवति, तत्प्रकारकगुरूपदेशादिभिरवि-द्यालक्षणोपाधेर्ब्रह्मात्मकत्वावबोधनप्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधन-लक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता जातेति तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रकर्षेण पश्यतीत्यर्थः । तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवेति न तदतिरिक्तमपेक्षते । भजनोपयोग्यर्थापेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यत इति न कदाचिद्दुःखी भवति । एतज्ज्ञापनार्थं दृष्टान्तः । (गङ्गातीरस्थित इति । यद्वद् यथा गङ्गातीरस्थितस्तत्र प्रवाहमध्ये देवतामाधिदैविकीं

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिप्रकाशः ।

प्रकारं अहंममतानिवृत्तिप्रकारं स्वात्मन्यक्षरब्रह्मात्मकत्वे ज्ञानं चाहुरित्यर्थः । चतुर्षु मध्ये प्रपञ्चेऽक्षरत्वेन ज्ञानं पूर्वजन्मन्यपेक्षितत्वेनोक्तमिति भावः । तदात्मकत्वमिति । अक्षरात्मकत्वम् । इदमेवेति । अज्ञानजनकत्वमेवेत्यर्थः । येन प्रकारेणेति । त्रिविधमिश्र-पुष्टिमध्ये येन प्रकारेण । अविद्यालक्षणोपाधेरिति । अविद्याः स्वरूपाज्ञानादिपञ्च-पर्वाणि लक्षणानि वृत्तयो यस्योपाधिर्मूलाविद्यात्मकस्येत्यर्थः । ब्रह्मात्मकत्वेति । येन प्रकारेणोद्दिधीर्षा, तत्प्रकारक एव गुरूपदेशोपि संपन्नो भवति, तेन ब्रह्मात्मकत्वमपि तत्प्रकारकमेव भवति । यादृशी लीला अनुभावयिता प्रभुर्भवति, तादृशलीलाधिष्ठानत्वं स्वस्मिन्ननुभवतीत्यर्थः । तस्मिन्निति । पुरुषोत्तमाविर्भावे जाते सतीत्यर्थः । स्वात्मनीति । ज्ञानमार्गे गुहायां परमव्योम्नि लीलाविशिष्टपुरुषोत्तमाविर्भावः । भक्तिमार्गे त्वात्मन्येव तदाविर्भाव इति स्वपदम् । अयमेव च प्रकर्षः । तं लीलाविशिष्टं पुरुषोत्तमं पश्यतीत्यर्थः । इदमेव निवेदनाङ्गभूतं दर्शनं ज्ञेयम् । तस्य स्वात्मनि पुरुषोत्तमदर्शनवतः । तदतिरिक्तं भगवदतिरिक्तम् । अर्थापेक्षायां जलाद्यपेक्षायाम् । प्रभुणैव सर्वमिति । अक्षरात्मकाधिष्ठानभूतजलाभावेपि पुरुषोत्तमात्मकलीलासृष्टिस्थजलाविर्भावो भवतीत्यर्था-भावप्रयुक्तं दुःखं कदापि न भवतीत्यर्थः । एतज्ज्ञापनार्थमिति । स्वपदस्य ज्ञानिभक्तवि-भेदसूचकत्वज्ञापनार्थमित्यर्थः । स देवतां तत्र गङ्गायामेव पश्यति, तथायमपि स्वस्मिन्नेव

१. न तु ब्रह्मधर्मबाधनार्थमितिपाठः ।

ता पश्यति, तथा ज्ञानी स्वस्मिन् आत्मनि परं ब्रह्म कृष्णं पश्यति, परं भक्त्येति विशेष उभयत्र ज्ञातव्यः । तदभावे तु दर्शनमपि दुर्लभम्, कुतस्तरां भजनमिति भावः । 'भक्त्या या दृश्यते क्वचि'दिति पूर्वमुक्तत्वात् 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इति प्रभुवचनाच्च । ननूक्तप्रकारकज्ञानाभावेपि लोके भजनं दृश्यते, तत् कथमित्यपेक्षायामाहुः संसारेति ।) यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरूपदेशमात्रेण भजते, संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, न तु ब्रह्मभावसम्पत्त्या, पुरुषोत्तमाविर्भावाभावात्, स तु गङ्गातो दूरस्थो यथा तां भजते, तत्रापेक्षिततज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति, तथा अयं भक्तिमार्गस्थ इति साक्षात्स्वरूपसम्बन्ध्यर्थापेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग्भवतीत्यर्थः । तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभोः । अनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धेपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलिष्यतीति ज्ञेयम्। (तेन प्रवाहभक्तिमार्गीयोऽयं निरूपितः, अन्यथा मध्येऽनङ्गीकारः, तेन भजनप्रतिबन्धादिकं न स्यात् । ननु पुष्टिमार्गं परित्यज्य किं तत्कथनेनेत्याशंक्याहुः तस्मादिति । यस्मात् प्रवाहस्थभक्तेऽप्येवमङ्गीकारः प्रभोः, यज्जन्मान्तरेपि तं न त्यजति, तस्माद्धेतोः श्रीकृष्णमार्गस्थः पुष्टिमार्गस्थः सर्वलोकतोपि मुक्तो भिन्नो विशिष्टश्चेत्यर्थः । सर्वपदात् ज्ञानितः प्रावा-

---

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिप्रकाशः ।

कृष्णं पश्यतीति मूलार्थः । ज्ञानी स्वस्मिंस्तादृशाक्षरत्वज्ञानवानित्यर्थः । यस्त्विति । तुशब्देन लीलासृष्टिविशिष्टपुरुषोत्तमाविर्भाववतो व्यावृत्तिः । पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन प्रपञ्चज्ञानवान् प्रपञ्चासक्तः । स एव संसारी । न त्विति । तत्राप्येतदिहोच्यत इति संदर्भेणोक्तस्तावन्मात्रवान् । अवशिष्टत्रितयरहित इत्यर्थः । स त्विति । इदं पदं 'क्लेशभाग्भवती'त्यनेन सम्बध्यते । भक्तिमार्गस्थ इति । भजनाकांक्षा प्रतिपादिता । साक्षादिति । सत्य भजनोपयोगिजलाद्यपेक्षायां कदाचित्परीक्षार्थं प्रारब्धभोजनार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते तदा तदधिष्ठानभूतजलाद्यभावेन लीलासृष्टिस्थपुरुषोत्तमात्मकजलाद्यप्राप्त्या क्लेशभाक् भवतीत्यर्थः । ननु सर्वस्यापि सेवोपयोगियावदर्थाप्राप्त्योद्वेगहेतुक्लेशभाक्त्वस्य सिद्धत्वात्तेन न सेवानिर्वाह इति चेत्, सत्यमित्याशयेनाहुः तथापीति । अङ्गीकारात् पुष्टिपुष्ट्यावङ्गीकारात् । अङ्गीकारेण प्रतिबन्धककृतः प्रतिबन्धो न भवतीत्यर्थः । अङ्गीकारे च भजनत्यागाभाव एव मानम् । अनङ्गीकार इति । पुष्ट्यंशे मर्यादास्थित्या, पुष्टिपुष्टावनङ्गीकारे तु मध्ये मध्ये प्रतिबन्धककृतौ भजनप्रतिबन्धो भवति, तदा द्वितीयजन्मनि तद्भजनं फलिष्यति । निर्वक्ष्यतीति ज्ञेयमित्यर्थः । कृतभजनेति। भजनस्य फलं भजनमेव । भजननिर्वाह इति यावत् । तदभावासंभवादित्यर्थः । मूले तस्मादिति । यतो हेतोस्त्रितयरहितस्तत्तदधिष्ठानापेक्षो दुःखभाक् तस्माद् हेतोः शुद्धपुष्टिमार्गस्थः सर्वलोकतो विमुक्तश्चतुष्टयमपि संपाद्याधिष्ठानापेक्षारहितः तथाविधं कृष्णमेव विशेषेण चिन्तयेदिति संबन्धः । श्रीकृष्णेति । रसात्मकनामोक्तेः । पुष्टीति । पुष्टिमार्गीयभक्तेषु प्रकटिता ये तथाविधा

हिकभक्ततः, कैमुतिकन्यायेन साधारणलोकतश्चेति ज्ञेयम्'। ज्ञानिनः संसाराभावात् संसारिणो ज्ञानाभावेन दुःखभाक्त्वम्। पुष्टिमार्गस्यैव प्रभुस्वरूपं ज्ञात्वा सर्वस्वनिवेदनपूर्वकं सर्वात्मभावेन भजनं स्वप्नेपि दुर्लभम्। पुष्टिमार्गीयस्य प्रभ्वनुग्रहैकनियम्यत्वात् सर्वमुपपद्यत इति ततो वैशिष्ट्यम्। एतावत्सर्वं श्रीकृष्णमार्गस्थपदेन द्योतितम्। अतः सर्वमवदातम्। ननु वित्ताद्यभावे पुष्टिमार्गीयस्यापि भजनासंभवे दुःखित्वात् कथमुक्तवैशिष्ट्यमित्यपेक्षायामाहुः) आत्मानन्दसमुद्रस्थमिति। श्रीकृष्णपदात्पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटितनिरवध्यानन्देषु विहरन्तमित्यर्थः। ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः। स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकस्तद्दत्त एव। अत आत्मपदं भगवत्परम्। (बहिरसंभवेप्यन्तरेवं भजेत्। अतो नोक्तानुपपत्तिरिति भावः। ननु कश्चिज्जीविकाद्यर्थमपि भजते, तस्य का गतिरित्यत आहुः लोकार्थीति। लोकपदेन लौकिकोऽर्थ उच्यते, तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत्, तदा व्यापारवदर्थे सिद्धे तस्याप्यनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव। अतः क्लिष्टो भवतीत्यर्थः। न केवलमैहिकः क्लेशः, किन्तु परलोकोपि नश्यति, निषिद्धाचरणादिति सर्वथेत्युक्तम्। यस्य स्वल्पमपि ज्ञानम्, स नैवं करोति, सर्वथा तद्रहितः कश्चिदेवं कुर्यादपीति चेदित्युक्तम्। अत्र मूलनामोक्तिर्भजनकर्तुरभिप्रायेण, अन्यथा तदसंभवात्। तर्हि लोकार्थित्वाभावेपि तद्रहितस्य भजनासंभवात् को विशेष इत्यत आहुः क्लिष्टोपीति। लौकिकार्थाभावेन क्लिष्टोपि गीतायां नवमेऽध्याये 'पत्रं पुष्पं फलं तोय'मिति वचनात् कृष्णं चेत् भजेत्, तदा यथासंभवं भजनमर्थादेव सिध्यति, परं लोको नश्यति। लौकिकं न सिध्यति, न तु स्थितं नश्यति, भजनसिद्धौ न तावता कापि हानिरिति भावः। भगवतस्तथेच्छेति सर्वथेति निरूपितम्। चेदिति तथा भजनमशक्यमिति ज्ञापनाय) ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिप्रकाशः।

आनन्दास्तेषु। तद्दत्त इति। भगवद्दत्तः। अत इति। तथाविधानन्दस्य स्वरूपात्मकत्वादेव। अनेन चिन्तनरूप आत्मनिवेदनाङ्गभूतः स्नेह उक्तः। कृष्णमेवेत्येवकारेण मुख्या प्रेमलक्षणा भक्तिश्चोक्ता। मूले लोकार्थीति। लोकसिद्धा लौकिका येऽर्थास्तद्वान्, प्रपञ्चत्वेनैव प्रपञ्चज्ञानवानित्यर्थः। स यदि लौकिकार्थेनैव कृष्णसेवां कुर्यात्, तदा स प्रारब्धाधीन इति तत्तदधिष्ठानाप्राप्त्या सर्वथा क्लिष्टो भवति। तस्य प्रवाहमिश्रत्वे सर्वथा भजनत्यागो भवति, ततो बहुभिर्जन्मभिस्तत्सिद्धिः। पूर्वोक्तः संसारी तु प्रारब्धाधीनः। परीक्षार्थं प्रारब्धभोजनार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते, तदा तदप्राप्त्या कदाचित् दुःखभाग् भवति। 'स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यती'त्युक्तस्तु चतुष्टयवानधिष्ठानापेक्षः कदाचिदपि दुःखी न भवतीति विभाग इति भावः। पुष्टिमिश्रस्य प्रकारमाहुः क्लिष्टोपीति। तादृशोपि चेद्भजेत्, तदा लोको नश्यति। लोकः स्वत एव दर्शनविषयो न भविष्यतीत्यर्थः। भजनात्यागज्ञापिताङ्गीकारेणैव तत्सिद्धिरिति भावः।

स्वस्वरूपज्ञानप्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः । उभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावायाहुः ज्ञानाभाव इति ।

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु ॥ १७ ॥
मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः ।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥ १८ ॥
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः ॥ १९ ॥

(पुष्टिमार्गी पूजोत्सवादिषु तिष्ठेत्, पुष्टिपुष्टिमार्गे पूजापदं तस्य ज्ञानाभावात् प्रथमप्रवृत्त्यभिप्रायेणोक्तम् । मनसस्तन्निष्ठतायां कृतिरर्थादेव सिध्यतीति तत्कुर्यादित्यनुक्त्वा तत्र तिष्ठेदित्युक्तम् । मर्यादायां प्रकारान्तरमाहुः मर्यादास्थ इति । गङ्गायां गङ्गासमीपे श्रीभागवततत्परस्तिष्ठेदिति पूर्वेण सम्बन्धः । उभयोरन्यतरधर्मव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः । तत्र भेदकं किमित्याकाङ्क्षायां) पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति। तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुरनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति तथा । तस्य विधिर्न नियामक इति भावः । मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेदनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इत्याहुः उभयोरिति । यदि मर्यादायामेवाङ्गीकारः, तदोभयोर्मुक्तिरेव फलिष्यतीत्याशयः । एवं निरूपणे तात्पर्यमाहुः **ज्ञानाधिक इति ।**

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी ।

टीकायाम् स्वस्वरूपेति । पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन स्वस्वरूपज्ञानं, तत्राधिष्ठितत्वेन च प्रभुस्वरूपज्ञानं ज्ञेयम् । पूर्वोक्तः संसारीत्यर्थः । **पुष्टिमर्यादेति** । विशेषणभूतैतद्द्वयभेदेनेत्यर्थः । प्रवाहस्थस्तु लोकार्थीत्यर्थेनोक्त इति भावः । मूले पूजोत्सवादिभूतौ येषु तेषु भगवद्धर्मेष्वित्यर्थः । मर्यादामिश्रस्तु जन्मान्तरे नित्यभजनार्हदेहसिद्ध्यर्थं गङ्गायां तिष्ठेदित्याहुः **मर्यादास्थस्त्विति** । पुष्टिमिश्रस्य त्वनुग्रहो नियामको नित्यभजनसाधकः, अतो योग्यदेहापेक्षाभावात्स्थितिस्थलानाग्रह इत्याशयेनाहुः **अनुग्रह इति** । टीकायां **मर्यादास्थाविति** । मर्यादामिश्रपुष्टिस्थावित्यर्थः । ब्रह्मज्ञानेन परप्राप्तिमान् ज्ञानी, तद्विनैव तद्वान् भक्त इति ज्ञेयम् । **विशेषत इति** । मर्यादांशे पुष्ट्यंशं योजयेचेत्, तदादौ योग्यदेहात् पूर्वमेव पुष्टिरूपमार्गप्राप्त्यर्थः । पुष्टिप्राप्तिर्भगवत्कृततद्योजनेन भवतीति भावः । तन्मार्गीयां भक्तिं आत्मनिवेदनाङ्गस्नेहं प्रेमलक्षणां भक्तिं वा । इदमेव मूले पूर्वोक्तपदेन ग्राह्यम् । **उभयोरितीति** । उभयोर्मर्यादापुष्टिस्थज्ञानिभक्तयोः । **मर्यादायामेवेति** । मर्यादाभेदेष्वित्यर्थः । एवकारः पुष्टिभेदव्यवच्छेदकः । **एवं निरूपण इति** ।

लोकेऽधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं, तस्य मुक्तिरेवेति सर्वे वदन्ति । तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम् । ब्रह्म चाक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च । एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतरः । तस्य अक्षरातीतत्वात् । अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये । गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः । न हि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जल एव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति । तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम् । न हि भक्त्या देवताद्रष्टृसमः पूर्वो भवति । अत एव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजतीति 'यो मामेवमसंमूढ' इत्युपक्रम्य 'भजति मां सर्वभावेने' ति प्रभुरुक्तवान् । अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमितोऽधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वादिति विद्वद्भिर्ज्ञेयम् । ऋग्वेदेपि पठ्यते 'तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन । आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।' हे स्तोतारो भगवदुत्कर्षवर्णनपराः पूर्व्यं सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः । ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम् । स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण उपदिष्टवानिति तथा । जनुषा स्वजन्मनैव सम्पूर्णेन, न तु क्षणयाममात्रेण । पिपर्तन पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत । अत्र यथाविन्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवांस्तदर्थमेव तद्भजनार्थमेवोपयुक्तान् कुरुतेति भक्तिमार्गे विनियोगमुपदिशति । तेन स्फुटमेव ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमवगम्यते । भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थः सिध्यतीति हृदयेनाहाग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्ताज्जानन्तोऽखण्डशब्दब्रह्मरूपं, न तु लौकिकशब्दरूपमिति । नामस्वरूपं जानन्तस्तदेव विवक्तन विशेषेण वदन्तु । अधिकमाहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रमुत कीर्तयन्तु । एतेनैव भगवत्स्वरूपतन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यतीत्याशयेनाह नामस्वरूपम् । चिदिति । चिदित्युपलक्षणम् । सच्चिदानन्दात्मकमित्यर्थः । नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृगुरूपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह महस्त इत्यादि । ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे । स च स्वतेजसा पराज्ञाननिरासक इत्याह मह इति । तेजोरूपमित्यर्थः । स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येनोत्सवात्मकमिति वा । एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेश एवोपदिष्टो भवति । एवमेव 'तद्विष्णोः' 'तद्विप्रास' इत्यादिश्रुतिसहस्रैर्निगद्यत इति सुष्ठूक्तं ज्ञानमार्गादधिको भक्तिमार्ग इति ॥१७॥१८॥१९॥

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी ।

गङ्गादृष्टान्तेन भक्तिमार्गनिरूपणे । तात्पर्यं ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यज्ञापनरूपमाहुरित्यर्थः । गङ्गायामिति । आधिभौतिकादिभेदेन गङ्गायां क्षरादिदृष्टान्तः स्पष्टः । ननु जलतीर्थात्मिकैव गङ्गा, न तु तदतिरिक्ता देवतारूपेति कथं गङ्गादृष्टान्त इत्यत आहुः नहीति । किंत्विति । इदं पदं तदतीतेत्यनेन संबध्यते । यद्दर्शने भक्तत्वं भवति सा देवीति भावः ।

गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः भक्त्यभाव इति ।

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः ।
अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति ॥ २० ॥
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ।
एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ॥ २१ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा ॥

भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवतीति भावः । एतेन भक्तेरावश्यकत्वमुक्तं भवति । (सप्रयोजनमुक्तमुपसंहरन्ति एवमिति । उक्तप्रकारेण स्वशास्त्ररूपं स्वशास्त्रस्य वा सिद्धान्तरूपसर्वस्वं गुप्तं स्वल्पेन बहु निरूपितत्वात् गम्भीरतात्पर्यं बहिर्मुखानामज्ञापनीयं वा । किं तेनेत्यत आहुः एतदिति । एतज्ज्ञानेन स्वमार्गसंबन्धिसर्वसंशयनिवृत्तिर्भवति, अन्यथा 'संशयात्मा विनश्यती'ति बुद्धिरन्यथा भवेदित्यर्थः) ॥ २० ॥ २१ ॥

इति श्रीपितृपादाब्जपरागरससिक्तहृत् ।
श्रीविठ्ठलस्तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ ॥ १ ॥

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिटिप्पणी ।

तात्पर्यान्तरमिति। पूर्वं 'ज्ञानाधिक इत्यनेन भक्तेर्ज्ञानाधिक्यरूपं तात्पर्यमुक्तम्।अनेन भक्तेरावश्यकत्वरूपं तात्पर्यमुच्यते । भक्त्यभाव इतीति । तीर्थात्मकत्वेन जानन्नपि तीरस्थितोपि भक्त्यभावे दुष्टैः कर्मभिः अन्यथा भावं जलत्वेनैव ज्ञानमापन्नस्तस्मात् स्थानातीर्थत्वज्ञानादपि नश्यतीत्यर्थः । तथाभवतीति । अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानवानपि दुष्टैः प्रारब्धैः स्वकर्मभिरन्यथाभावं प्राप्तः प्रपञ्चत्वेनैव जानन् तस्मात् स्थानात् ब्रह्मात्मकत्वज्ञानान्नश्यतीत्यर्थः । न च ज्ञानेन सर्वपापक्षयात् कथमन्यथाभावो वक्तुं शक्य इति शंक्यम् । ज्ञानस्यानारब्धानामेव कर्मणां नाशकत्वात्। प्रारब्धकर्मणां नाशस्तु पुष्ट्यैवेति सिद्धं भक्तेरेवावश्यकत्वम् । मूले एवमिति । पूर्वोक्तप्रकारेण । स्वशास्त्रेति । स्वशास्त्रस्य सेवाप्रकाररूपं सिद्धान्तम् । गुप्तं निरूपितमिति । गुप्ततया निरूपितम् । एतदिति । यन्मया गुप्तं निरूपितम् । एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत । सर्वसंशयादेतद्ग्रन्थनिवर्त्याद्विमुक्तो भवतीत्यर्थः । पुनः कदापि संशयं न प्राप्नोतीति विशब्दार्थः ॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभविरचिता सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिटिप्पणी ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्रीमद्विठ्ठलेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

प्रणम्य पितृपादाब्जपरागमनुरागतः । कृपया विशदीकुर्मस्तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम् ॥१॥

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ॥ १ ॥

स्वसिद्धान्तेति । अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः । तमेवाहुः कृष्णसेवेति ।

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

श्रीकृष्णाय नमः । प्रणम्येति । अत्र नमने प्रकर्षो भक्तिमार्गीयत्वम्, तच्च सुसेव्यत्वज्ञानपूर्वकत्वे सति भक्तिकारणकत्वम्, तदेव भक्तिमार्गीयतावच्छेदकद्वयं प्रकटयन्ति पितृपादाब्जेति । पितृपदं भक्त्यनपेक्षपुत्रवात्सल्यबोधकम् । हृदयाविष्टस्य घनीभूतानन्दरूपपादस्य परागस्तस्मात् स्रुत आनन्दः । भगवच्चरणारविन्दे हृदये समागते य आनन्दोऽनुभूयते तत्स्वरूप इत्यर्थः । तथा च पितृपादाब्जपरागमित्यनेन सुसेव्यत्वज्ञानरूपमवच्छेदकमुक्तम् । अनुरागत इत्यनेन भक्तिरूपं द्वितीयमवच्छेदकमुक्तम् । एतादृशनमनाभिव्यञ्जितपदार्थमाहुः कृपयेति । भगवद्धर्माणां नित्यत्वादभिव्यक्तेरेवाङ्गीकारात् कृपायास्तथात्वमिति मन्तव्यम् । अत एवासाधारणकारणतया तदुक्तिः । तादृशनमनोपकारसिद्धां तत्कृपामाहुः, नमनस्य करणत्वं तत्क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकत्वादिति भावः । स उपकारः, तत्सिद्धां कृपामित्यर्थः । कृपया ग्रन्थवैशद्यकरणकथनेन स्वपितृचरणानां वागधिपतित्वमप्युक्तम्, तत्कृपाया एव तथाकरणसामर्थ्यात् । नमनजन्यपदार्थमाहुः विशदीकुर्म इति । वैशद्यं स्फुटीभावः । किमित्याकांक्षायामाहुः तदिति । तद्वाङ्निष्ठमुक्ताफलरूपार्थराशिमित्यर्थः । मुक्ताफलपदस्य कल्पनावृत्त्यार्थबोधकत्वम् । सादृश्यं च नैर्मल्यसामान्यधर्मेण । नैर्मल्यं चात्र प्रोज्झितकैतवत्वम् । वाच एव मुक्ताफलानीत्ययं पक्षस्तु अत्रार्थस्यैव स्फुटभावं प्राप्तत्वादसंभवग्रस्तः । वाग्वैशद्यं तु व्याकृतावुच्चारणे चैव प्रसिद्धम् । मूले स्वसिद्धान्तेति । स्वसिद्धान्तस्य अयमेव शास्त्रार्थ इति विशेषेण निश्चयो यस्मात् तादृशं ग्रन्थरूपं निश्चायकं वाक्यम् । इदं च प्रतिज्ञावाक्यम् । महावाक्यमाहुः कृष्णसेवेत्यादि । टीकायां अग्र इति । अस्मिन्नेव ग्रन्थे'मायिकं सगुणं कार्य'मित्यादिभिर्वक्ष्यमाणैः । शास्त्रार्थस्य गीताभागवतार्थस्य । तन्निरासाय शास्त्रार्थसन्देहनिरासाय ।

फलात्मकनामोक्त्या स्वतःपुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो, न त्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते । सेवा हि सेवकधर्मः । तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम् । अत एव न कर्मणीवात्र कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः सदेति । आवश्यकार्थण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते । सा च फलरूपा साधनरूपा चास्ते । तत्र मानसी सा परा फलरूपेत्यर्थः । यथा व्रजसीमन्तिनीनाम् । तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद' मित्यादिना ॥ १ ॥

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

सन्देहस्वरूपं तु स्वयमेवाग्रे वक्ष्यन्ति स्वेति । एतन्निरूपकशास्त्रार्थस्य निश्चयो यस्मात्तमित्यर्थः । फलात्मकेति । फलरूपस्य तस्य स्वतः पुरुषार्थत्वधर्मावच्छिन्नसेवाकृतिः स्वसिद्धान्तः । फलसेवनं हि स्वतः पुरुषार्थः इति, अत एव धर्मार्थयोः काममोक्षद्वारा पुरुषार्थता । काममोक्षयोरेव साक्षात् सुखहेतुत्वात् स्वतः पुरुषार्थत्वम्, 'पुंप्रीतिहेतुर्हि पुरुषार्थ' इति जैमिनिनिद्धान्तात् । यथा कामिन्याः । स्वतःपुरुषार्थत्वेन । कामप्रयत्नयोरेकविषयत्वेनेत्यर्थः । ननु एवं 'मानसी सा परे'त्यनेन मानस्याः सेवायाः फलत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् तदर्थत्वमेवैतत्सेवायाः सिध्यति, न तु स्वतःपुरुषार्थत्वम्, किन्त्वन्यशेषत्वमेवेति चेत्, तत्राहुः न त्वन्येति । यत्र विजातीयफलार्थत्वं तत्रैवान्यशेषत्वम्, यथा विजातीययोर्धर्मार्थयोः शेषशेषिभावः, प्रकृते तस्या एव सेवाया अवस्थाभेदेन मानससेवारूपफलत्वेन विजातीयत्वाभावाददोष इति भावः । नन्वेवं मानससेवारूपमोक्षजनकतया सेवाकृतिरित्यागतम्, तत्र मोक्षजनकता तु भगवत्संबन्धेनैवावच्छिद्यते इति भगवद्विषयकं कामक्रोधादिकं ज्ञानमेव वा तत्साधनमस्तु, किं नूतनसेवाविधानेनेत्यत आहुः सेवा हीति । स्वधर्मत्वात् सेवाकृतिरुचिततरैव । किञ्च, सेवोक्त्या च जीवानां दासत्वं ज्ञापितम् । सहजेति । अत्र सहजातमिति विग्रहस्थजातपदं सत्तापदं, जीवस्य नित्यत्वेन जननासम्भवात् । तथा च सहसत्ताकमित्यर्थः । यथा जीवसत्ता सार्वदिकी, तथा दासत्वसत्तापि । अत एव जीवस्य सहजदासत्वेन अत्र सेवायां सहजधर्मत्वादेव । कर्मणीवेति । कर्म न सहजधर्मः, तस्यैव जन्मान्तरे शूद्रदेहेऽनधिकारादिति भावः । कालपरिच्छेदोऽस्मिन् काले न कर्तव्येतिरूपः । सेवायां कालपरिच्छेद्यत्वादिधर्माभावेपि प्रत्यवायजनकीभूता भावप्रतियोगित्वरूपधर्मोस्तीत्याहुः आवश्यकार्थेति । सा चेति । सा पूर्वोक्तैव सेवा । दास्यधर्मविशिष्टा साधनरूपा, सर्वांशेन कृष्णसंबन्धविशिष्टा फलरूपा । मानसी सेवा । यथेति । यथा यत्प्रकारिका सेवा व्रजसीमन्तिनीनां सिद्धा, सा सेवेति आशयः । तदेव मानससेवायाः स्वरूपमिति । 'मय्यनुषङ्गबद्धधिय' इत्यनेन साधनसेवानुवादपूर्वकमन्यानुसन्धानराहित्यरूपं 'नाविद'न्नित्यनेनोक्तम् । अथवान्यानुसंधानरहितभगवत्येव

एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेत इति ।

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥ २ ॥

उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति। वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारितैका । एतादृशेन पुंसा कृता चापरा । एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम् । एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः । एतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुः तत इति । अहन्ताममतात्मकः संसारो, न तु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्याऽनिष्टनिवृत्तिरुक्ता । इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे । स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम् । भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यप्यनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति भावः ॥ २ ॥

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

निष्ठत्वरूपम् । एतदेव वक्ष्यमाणे उक्तसेवेति । उक्तसेवा मानसी सेवा । **इतरे** तनुवित्तजे । **एकेति** । वित्तजेत्यर्थः । **एतादृशेन** । वित्तग्रहीत्रा पुरुषेण । **अपरा** तनुजा । **तत्साधिके इति** । फलरूपसेवासाधिके । तथा चैककर्तृक एव ते तत्साधिके इति भगवदपेक्षितयावद्द्रव्यसमर्पणरूपसेवा शरीरजभगवद्यावत्सेवा च तत्साधिकेत्यागतम् । तच्च भगवदपेक्षितयावद्द्रव्याभावात्तादृशतनुसामर्थ्याभावाच्चासम्भावितमिव भातीति चेत्, तत्राहुः **एतेनेति** । एवं सेवाकथनेन । फलाकांक्षारहितयावत्स्वीयद्रव्यादिनिवेदनपूर्वकं कार्यान्तरविनियोगरहितभगवदर्थस्वदेहविनियोगे भगवत्सेवाकरणे क्रमप्राप्तप्रेम्णि जाते **सा मानसी** सेवा । क्रमस्त्वग्रे विवेच्यः । **एतादृशस्येति** । निवेदितस्वीयसर्वस्वस्य भगवत्सेवाविनियुक्तस्य पुरुषस्य । **तत** इतीति । उक्तसाधनरूपसेवाद्वयतः । **तन्निवृत्त्येति** । संसारनिवृत्त्या । **अनिष्टेति** । फलप्रतिबन्धकत्वात् संसारस्यानिष्टत्वम् । (मूले संसारो दुःखो दुःखजनक इत्यर्थो ज्ञेयः ।) **इष्टेति** । फलसाधकत्वात् ब्रह्मज्ञानस्येष्टत्वम् । **स्वात्मनीति** । आत्मनि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणेषु । अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानमहन्तानिवृत्तौ, प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानं ममतानिवृत्ताविति विभागः । (भक्तस्याक्षरज्ञानं पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन भवतीति तृतीयाध्याये तृतीयचरणे व्युत्पादितम् । तथा चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानं पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन ज्ञानमित्यर्थः । स्वात्मनि प्रपञ्चे च भगवदीयत्वेन ज्ञानमिति यावत् । पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वमनुपदमेव विवेक्ष्यते ।) ननु तादृशज्ञानहेतुत्वात् सेवायाः स्वतःपुरुषार्थत्वव्याहतिरित्यत आहुः **भगवत्सेवायामिति** । **ते** इति । उक्तब्रह्मात्मकत्वज्ञाने । वस्तुन आत्मसमर्पणस्य स्वभावात् । स्नेहो हि भक्तिः । स च दर्शनं विना न भवतीति निबन्धे निरूपितम् । अतः श्रवणं दर्शनं स्नेह इति त्रयं मिलितं एका श्रवणभक्तिर्भवति । ध्यानं तु फलान्तरीयकत्वात् फलमध्यपात्येव । एवं नवस्वपि । तथा च ब्रह्मबोधनस्य वक्ष्यमाणरीत्यात्मनिवेदनाङ्गदर्शनयोग्यतासम्पादकत्वात् तत्स्वभावादेव ते ज्ञाने भवत इत्यर्थः ।

इदमेव परं ब्रह्मेति न ज्ञेयमित्याहुः परं ब्रह्म त्विति ।

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ॥ ३ ॥

यशोदोत्सङ्गलालितो, न त्वन्य इति ज्ञापनाय मूलनामोक्तम्। अत्र भेदकं रूपमाहुः सच्चिदिति। एते हि भगवद्धर्मात्मकाः, प्रकटतत्त्रितयात्मकमक्षरं ब्रह्म । अत एव प्रपञ्चस्तदात्मक इति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन्नुच्यते। एतावान्परं विशेषो, जडे सदंशः प्रकटः, इतरावाच्छन्नौ; जीवे त्वाद्यौ प्रकटौ, आनन्दांशस्तिरोहितः; परमात्मनि त्रयं स्फुटमिति । कप्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव, न तु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वमिति ज्ञाप्यते । कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमित्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपमिति । तत् अक्षरं ब्रह्म । तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्यादिति । प्रपञ्चरूपेणाविर्भूतमेकमित्यर्थः । एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपात् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः । न च विरुद्धधर्मैर्भेदोत्र शङ्कनीयः । उभयोर्धर्मयोरेकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात् । विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि 'तदेजति

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

पूर्वोक्तज्ञानविषयीभूतमेव परं ब्रह्मेति कस्यचिच्छङ्का स्यादिति तां वारयितुमाहुः इदमेवेति । इदं पूर्वोक्तज्ञानविषयमक्षरं ब्रह्म । अत्रेति । अक्षरे ब्रह्मणि । रूपं धर्मः । ननु सच्चिदानन्दकत्वस्य पुरुषोत्तमेपि सत्त्वात् कथं तस्य भेदकत्वं तत्राहुः एते हीति । सच्चिदानन्दाः । तत्त्रितयं सच्चिदानन्दत्रयम् । अत एव अक्षरस्य सच्चिदानन्दात्मकत्वादेव । तदात्मक अक्षरब्रह्मात्मकः । तस्मिन् प्रपञ्चे । अत एवेत्यस्य उच्यत इत्यनेनान्वयः । तथा च यतो हेतोरक्षरस्य सर्वकारणरूपस्य तत्त्रितयात्मकत्वम्, अतस्तत्कार्यरूपप्रपञ्चस्यापि तत्त्रितयात्मकत्वमित्यर्थः । एतावानिति । अक्षरब्रह्मणः सकाशात्प्रपञ्चे विशेषः । तमेवाहुः जड इति । इतरौ चिदानन्दौ । आद्यौ सच्चितौ । परमात्मनि अन्तर्यामिणि । ननु भगवद्धर्माणामपि 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति न्यायेन भगवत्त्वमेवेति न भेदसिद्धिरिति चेत्, तत्राहुः कप्रत्ययेनेति । कप्रत्ययस्य हीनार्थकत्वादित्यर्थः । पुरुषोत्तमवदिति । प्रजापतिवद्गणितानन्दत्वम् । कृष्णेति । कृष्णशब्दस्य परब्रह्मवाचकत्वात् तत्स्वरूपं तेनैव निरूपितम् । इतीति । पुरुषोत्तमस्वरूपनिरूपणाकांक्षानिवृत्तिपूर्विकाक्षरनिरूपणाकांक्षारूपाद्धेतोः । एतावद्रूपकमक्षरं ब्रह्मेत्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्तीत्यर्थः । द्विरूपमितीति । अत्रैकपदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्रान्वेति । एकरूपत्वेनेति । प्रपञ्चरूपस्य तस्यानेकरूपत्वं तद्भिन्नरूपस्यैकरूपत्वम् । श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेनेति । प्रपञ्चकारणत्वेन । पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिरिति । लीलाविशिष्टपुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वमि-

तन्नैजती'त्यादिश्रुतिभिर्निरूप्यमाणत्वात् । लोक एव विरोधः शङ्कनीयो, नत्वलौकिके ब्रह्मणि । इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ॥ ३ ॥

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्याहुः अपरमिति ।

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ॥ ४ ॥

वेदमतादपरं भिन्नं मतम् । पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते । तत्र अक्षरे ब्रह्मणीत्यर्थः । मायिकमिति हि मायावादिनः । सगुणं गुणकार्यमिति साङ्ख्याः । कार्यं द्व्यणुकादिक्रमेणेश्वरकार्यमिति नैयायिकाः । स्वतन्त्रं न कदाचिदनीदृशं जगदिति मीमांसकाः । चकारेण वेदबाह्यमतानि सङ्गृह्यन्ते ॥ ४ ॥

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवादित्याशयेन स्वसिद्धान्तमाहुः तदेवेति ।

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।
द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी ॥ ५ ॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ॥ ६ ॥

'स हैतावानास', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जला'नित्यादिश्रुतिभ्यः तथेत्यर्थः । एकस्यैवाक्षरस्योक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति द्विरूपमिति । प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद्ब्रह्म गङ्गावज्ज्ञेयम् । अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम् । आधिभौतिकं जलरूपमेकम्, यद्वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिह्रासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यत्वं च । अग्रिमा द्वितीयाध्यात्मिकी तीर्थरूपा, योद्धृतजलविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिस्तेन तत्रैव स्नानपूजादिभिः फलदा।एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमप्येकमेव तदक्षरं ब्रह्मेति तथा बुध्यतामित्यर्थः ॥५।६॥

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

त्यर्थः । आदिशब्देन पादत्वादयो धर्मा ग्राह्याः । तत्रायं विवेकः । आधिभौतिकजलस्याक्षरत्वेन ज्ञाने तस्याक्षरत्वात् तत्र सेवोपयोगिलीलासृष्टिस्थपुरुषोत्तमात्मकजलाधिष्ठानत्वम्, एवमक्षरात्मके भगवदाकारादौ पुरुषोत्तमस्वरूपाधिष्ठानत्वमिति । अत्रेति । प्रपञ्चाक्षरयोः ।

विरोधेति । भिन्नधर्मत्वात् ब्रह्म कथं जगद्रूपं भवितुमर्हतीत्याकारको विरोधः भेदः तत्परिहारायेत्यर्थः ।

स्वतन्त्रमिति । स्वभावत एवोत्पत्त्यादिविशिष्टम्, न कदेति नतु परतः तथाभूतम् । द्विरूपत्वमिति । प्रपञ्चतद्भिन्नरूपत्वम् । उद्धृतजले जलत्वाविशेषेपि मर्यादया स्वस्थाने एव फलदा । एवमेवेति । यथाधिभौतिकी जलरूपा, आध्यात्मिकी तीर्थरूपाप्येकैव गङ्गा । एतत्प्रकारेणैव प्रपञ्चतद्भिन्नप्रपञ्चभिन्नज्ञान्युपास्यादिरूपमेकमेवाक्षरं ब्रह्म ।

आधिदैविकं रूपमाहुः तत्रैवेति ।

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ।
गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ॥ ७ ॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले ।
विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ॥ ८ ॥
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् ।
यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ॥ ९ ॥
जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः ।
देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ॥ १० ॥
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा ।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥ ११ ॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ।

उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्नास्तीत्यर्थः । तत्र मानमाहुः मूर्तिरिति । भक्त्यैव, न तु मर्यादामार्गविधिनोपासनयेत्यर्थः । तदपि क्वचिदेव, भक्त्युद्रेकदशायामेव । अथवा । यत्र क्वचिद्गृहादिष्वपीत्यर्थः । भक्तविशेषे विशेषमाहुः गङ्गायामिति । देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहादभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिस्तस्मै गङ्गायां प्रवाहमध्य एव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः । एतेन प्रपञ्चमध्य एव भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवदभेदबुद्धये तत्र भगवत्प्राकट्यं भवतीति भावः सूच्यते । अग्रिमव्यवस्थामाहुः प्राकाम्यमिति । स्वाभीष्टस्वसर्व-

---

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

उक्तद्विरूपायामिति । आधिभौतिकाध्यात्मिकरूपायाम् । सा गङ्गा । तदिति । उक्तद्विरूपातः । तत्र भेदे । उक्तद्विरूपयोर्मूर्तिमत्त्वाभावादाधिदैविकस्यैव मूर्तिमत्त्वादित्याशयेनाहुः मूर्तिरितीति । तदपीति । दर्शनम् । क्वचिदिति । एतत्पदस्य कालवाचकत्वाशयेनाहुः भक्त्युद्रेकेति । देशवाचकत्वाशयेनाहुः गृहादिष्वपीति । प्रत्यक्षा भवतीति । यथासम्भवं षड्विधप्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः । तथा च दृश्यत इति पूर्वेण न पौनरुक्त्यम् । न सर्वेषामिति । प्रवाहात् भिन्नबुद्धीनामित्यर्थः । (यथा गङ्गायामाधिदैविकगङ्गाविर्भावः, न त्वाधिदैविकसरस्वत्यादेः, तथा सर्वत्र तत्तद्वस्तुनि तत्तदाधिदैविकाविर्भाव इति गङ्गादृष्टान्तेन सूचितमित्याशयेनाहुः) एतेनेति । (गङ्गादृष्टान्तकृतेन तत्तद्वस्तुनि तत्तदाविर्भावसूचनेनेत्यर्थः) । भक्तविशेषे तथाविधप्रत्यक्षकथनेन । प्रपञ्चमध्य एवेति । प्रपञ्चान्तःपातिनोर्भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञाने । तत्र भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्भगवता सहाभेदबुद्धिर्यस्य तस्मै । तत्र तदाकृतितद्भक्तयोः । अग्रि-

स्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानात्तज्जले सर्वत्रानिषिद्धयथेष्टव्यवहारः स्यादित्यर्थः । एवमेवोक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावः स्फुरतीति भावः । विहितेति । भक्त्या गङ्गादर्शनानन्तरं प्रवाहरूपाया अपि दर्शनं विहितात्स्वर्गापवर्गरूपात्फलाद्विशिष्यते । तद्भूदीत्यर्थः । यद्वा । येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि तया देवतारूपया सा तत्रास्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो भवतीत्यर्थः । किञ्च । पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यदुक्तं तदनुभवेन महतामन्तःकरणप्रतीत्यापि तज्जलमन्येभ्यो जलेभ्यो विशिष्यत इत्यर्थः । एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते । अत एव 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मिति भगवतोक्तम् । (एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तमर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलमित्यादिना । तत्रापीति । साधर्म्येपि । एतदिति । किञ्चित्तारतम्यम् । इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यते ।) जगत्त्विति । त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं, (तुशब्देन जले तथात्वं व्यावर्तितम् । ततस्तस्माद्धेतोः जगतीति वा । रूपवद्यथा

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

मेति । उक्तविधप्रत्यक्षानन्तरव्यवस्थामित्यर्थः । स्वाभीष्टेति । तथाभूतगङ्गायाः । **स्थानभूतेति** । आधिभौतिकाध्यात्मिकयोरभेदबुद्ध्या तथा ज्ञानात्तथेत्यर्थः । **सर्वत्र** गृहादिष्वपीत्यर्थः । तत उद्धृतजलादिषु वा । एवमेवेति । तथाभूतगङ्गायाः प्रवाहरूपायास्तथा दर्शनं तथा भवत्येवेति सूचितम् । तद्भूदीत्यनेन प्रतीत्यापि तथा दर्शनमुक्तम् । ग्रन्थस्वारस्यात्पक्षान्तरमाहुः यद्वेति । ग्रन्थस्वरसस्तु, येषां न प्रत्यक्षा, तेषां का व्यवस्थेत्याकांक्षायामाहुः प्राकाम्यमिति । तेषामपीत्यस्य तथा भवतीत्यनेनान्वयः । अस्मिन्पक्षे विहितादित्यस्यार्थमाहुः किञ्चेत्यादि । अत एवेति । यतस्ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते, अतो हेतोरित्यर्थः । एवं दृष्टान्तेन त्रिरूपत्वमुपपाद्योपसंहरन्ति, यथा जलमिति । सर्वं जगत्, शक्ता तीर्थरूपा, देवी आधिदैविकरूपा मूर्तिमती गङ्गा । ननु साधनरूपसेवाद्यतः संसाररूपाहन्ताममतात्मकदुःखस्य निवृत्तिरनभिलषितमप्युभयविधब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानं स्वत एव भविष्यतीति किं सोपपत्तिकोपपादनेनेत्यत आहुः तत्रापीति । उक्तोभयविधज्ञानेपि । एतद्वक्ष्यमाणप्रकारकं ब्रह्मात्मकत्वेन शाब्दं प्रपञ्चज्ञानम् । इहेति । निमित्तसप्तमीयम् । तथा चैतज्जन्मार्थं निरूप्यत इत्यर्थः । जगदितीति । तुशब्देन ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञाते प्रपञ्चे त्रिगुणात्मकत्वं व्यावर्तितम् । तत इति । यतो हेतोस्त्रिगुणात्मकं जगत् ।

---

१. एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुक्तमपि साधर्म्यं यत्र यदंशेन तत्र तथा स्पष्टयन्ति यथा जलं तथा सर्वमिति । तत्राप्येतदिहोच्यत इति । तत्रापि साधर्म्येपि । एतज्जगत् तु त्रिविधमित्यारभ्य न सान्यथेत्यन्तेन वक्ष्यमाणं किञ्चित्तारतम्यम् । इह प्रपञ्चरूपे तद्दृष्टान्ते गङ्गाजले त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यत इत्यर्थः । जगदिति पाठान्तरं पुस्तकद्वये । क्वचित् पाठद्वयमपि मूले नास्ति ।

जगतो रूपं त्रिविधम्, तथा तत्रत्यत्रिविधानां देवता उपास्याः ब्रह्मादयः त्रयः प्रोक्ताः, तत्तच्छास्त्रे निरूपिताः । देवतेति स्त्रीलिङ्गप्रयोगात् तेषामस्वातन्त्र्यं द्योतितम् ।) तेन तद्गुणनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इत्यर्थः । (ते तु प्राकृतानामेव नियामकाः, न तु ज्ञानिनामपीत्याहुः ब्रह्मणीत्थमिति ।) ब्रह्मैकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव । (तर्हि भक्तानामपि लोकमध्यपातित्वात्तन्नियामकत्वं ब्रह्मादीनां कुतो नेत्यत आहुः कामचार इति । लोके तेभ्य एव कामचारः, त एव नियामका इत्यर्थः । न चान्यथेति । प्रकारान्तरेण नेत्यर्थः । भक्तेषु विशेषमाहुः परमानन्दरूप इति ।) ये तु भगवद्भक्तास्तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके चार्थे जलादिषु श्रीकृष्ण एव कामचार इत्यर्थः । सर्वत्र नियामकः स एवेति भावः । अथवा । भक्तानां स्नेहातिशयेन आत्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवतीत्यर्थः । (ब्रह्माद्यपेक्षयात्र विशेषः 'परमानन्दरूप'पदेनोक्तः । एतावदुक्तस्य फलितार्थमाहुः अत इति । अत उक्तरीत्या सर्वापेक्षया श्रीकृष्ण एव भक्तिमार्गे भजनीय इत्युक्तम्, अतो हेतोस्तत्र बुद्धिर्विधीयताम् क्रियतामित्यर्थः । ननु कीदृशी बुद्धिरिति चेत्, तत्राहुः ब्रह्मवादेनेति । ब्रह्मवादे हि परब्रह्मणः साकारत्वं प्रतिपाद्यते, अतस्तदुक्तपरब्रह्मत्वेन श्रीकृष्ण एव बुध्यतामिति भावः । तथात्वं दामोदरलीलायां श्रीशुकेन स्फुटमेवोक्तं, 'न चान्तर्न बहिर्यस्ये'ति 'त्रय्या चोपनिषद्भिश्चे'त्यादिना । तेन ब्रह्मवादो भक्तिमार्गे अनुभवसाक्षिक इति निरूपितं भवति । अत एव तुशब्देन निराकारवादो व्यावर्तितः) ॥ ११ ॥

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

ततो हेतोः । रूपवदिति । यथा जगतो रूपं त्रिविधम्, तथा तद्गुणाभिमानिन्यो देवताः तिस्रः प्रोक्ताः । यदा तु ब्रह्मात्मकत्वेन जगत् ज्ञातम्, तदा ब्रह्मणि इत्थं तद्देवत्वेन हरिः पुरुषोत्तमो मतः शास्त्र उक्तः । इति मूलव्याख्या । त्रिस्वभावत्वेनेति । राजसादिस्वभावत्वेन । तेन त्रिस्वभावत्वेन हेतुना । ब्रह्मणीत्यस्यार्थमाहुः ब्रह्मेति । तन्निष्ठानां ब्रह्मैकनिष्ठानाम् । एतन्निरूपणफलमाहुः मूले कामचार इति । अस्मिन् लोके कामचारः, स ब्रह्मादिभ्य एव, न प्रकारान्तरेणेति लोकनिष्ठानां व्यवस्था, भगवन्निष्ठानां व्यवस्थामाहुः परमानन्द इति । एतस्यार्थमाहुष्टीकायां ये त्विति । स्वात्मविषय इति । स्वात्मपदस्य स्वात्मीयपरत्वम् । कामचार इति । कामचारनिश्चय इत्यर्थः । लक्षणानङ्गीकारेण पक्षान्तरमाहुः अथवेति । अस्मिन्पक्षे आत्मपदं कृष्णविशेषणम् । तत्प्रार्थने 'त्वदुच्छिष्टं भोज्य'मित्यादिभगवत्प्रार्थने । यतो हेतोर्ब्रह्मैकनिष्ठानामेव व्यवहारो ब्रह्मण्येव पर्यवस्यति, अतो हेतोः सर्वं पुरुषोत्तमाधिष्ठानभूतमक्षरं ब्रह्मैवेति ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यमित्यर्थमाहुः मूले अतस्त्विति ।

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं चाहुः आत्मनीति ।

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ॥ १२ ॥
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।
गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति ॥ १३ ॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ।
संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥ १४ ॥
अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक् ।
तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥ १५ ॥
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।
लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥ १६ ॥
क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ।

आत्मविषय उच्यत इति शेषः । जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वमविद्यया-न्तरायभूतया न विदन्ति । तेन संसारमापद्यन्ते । इदमेवोपाधिरूपत्वं तस्याः, न तु तत्कृतं जीवत्वम् । अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः । व्योम्नि यथोपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्राणीव प्रतीयन्ते, तथात्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते, न तु ब्रह्मधर्मा इति बोधनार्थं च । उपाधिनाश इति । तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुरुद्दिधीर्षुर्भवति, तत्प्रकारकगुरूपदेशादिभिरवि-द्यालक्षणोपाधेर्ब्रह्मात्मकत्वावबोधनप्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधन-लक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता जातेति तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

अथेति । ब्रह्मावबोधप्रकारनिरूपणानन्तरं प्रसङ्गसंगत्या जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्र-कारं अहंममतानिवृत्तिप्रकारं च निरूप्यते, पूर्वं तु प्रपञ्चस्वरूपं ममतानिवृत्तिप्रकारश्चोक्तः । तदात्मकत्वमिति । अक्षरात्मकत्वम् । इदमेवेति । अज्ञानजनकत्वमेवेत्यर्थः । तत्कृत-मिति । अविद्यया जीवत्वं ब्रह्मणि जन्यत इति नार्थः । चित्प्रधानब्रह्मांशतया जीव-स्यावच्छेद्यत्वात् । येन प्रकारेणेति । कर्मज्ञानभक्तिमार्गोक्तप्रकारेण । अविद्यालक्ष-णोपाधेरिति । स्वरूपाज्ञानादिपञ्च मूलाविद्याकार्यभूताविद्यालक्षणमभिज्ञापकं यस्य । अविद्यात्मकस्य मूलाविद्यात्मकस्य । तथा कृष्णमित्यस्यार्थमाहुः तस्मिन्निति । पुरुषोत्तमाविर्भावे जाते सतीत्यर्थः । तं लीलाविशिष्टं पुरुषोत्तमं पश्यतीत्यर्थः । इदमेव निवेदनाङ्गभूतं दर्शनं ज्ञेयम् । तस्य विज्ञाने जाते स्वात्मनि पुरुषोत्तमदर्शनवतः ।

१. न तु ब्रह्मधर्मबोधनार्थमितिपाठः ।

प्रकर्षेण पश्यतीत्यर्थः । तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवेति न तदतिरिक्तमपेक्षते । भजनोपयोग्यर्थापेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यत इति न कदाचिद्दुःखी भवति । एतज्ज्ञापनार्थं दृष्टान्तः । (गङ्गातीरस्थित इति । यद्वद् यथा गङ्गातीरस्थितस्तत्र प्रवाहमध्ये देवतामाधिदैविकीं तां पश्यति, तथा ज्ञानी स्वस्मिन् आत्मनि परं ब्रह्म कृष्णं पश्यति, परं भक्त्येति विशेष उभयत्र ज्ञातव्यः । तदभावे तु दर्शनमपि दुर्लभम्, कुतस्तरां भजनमिति भावः । 'भक्त्या दृश्यते क्वचि'दिति पूर्वमुक्तत्वात् 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इति प्रभुवचनाच्च । ननूक्तप्रकारकज्ञानाभावेपि लोके भजनं दृश्यते, तत् कथमित्यपेक्षायामाहुः संसारेति ।) यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरूपदेशमात्रेण भजते, संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, न तु ब्रह्मभावसम्पत्त्या, पुरुषोत्तमाविर्भावाभावात्, स तु गङ्गातो दूरस्थो यथा तां भजते, तत्रापेक्षिततज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति, तथा अयं भक्तिमार्गस्थ इति साक्षात्स्वरूपसम्बन्ध्यर्थापेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग्भवतीत्यर्थः । तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभोः । अनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धेपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलिष्यतीति ज्ञेयम् । (तेन प्रवाहभक्तिमार्गीयोऽयं निरूपितः, अन्यथा मध्येऽनङ्गीकारः, तेन भजनप्रतिबन्धादिकं न स्यात् । ननु पुष्टिमार्गं परित्यज्य किं तत्कथनेनेत्याशंक्याहुः तस्मादिति । यस्मात् प्रवाहस्थभक्तेऽप्येवमङ्गीकारः प्रभोः, यज्जन्मान्तरेपि तं न त्यजति, तस्माद्धेतोः श्रीकृष्णमार्गस्थः पुष्टिमार्गस्थः सर्वलोकतोपि मुक्तो भिन्नो विशिष्टश्चेत्यर्थः । सर्वपदात् ज्ञानितः प्रावा-

---

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

तदतिरिक्तं भगवदतिरिक्तम् व्यवहार्यं वस्तु । अर्थापेक्षायां जलाद्यपेक्षायाम् । प्रभुणैव प्रभुरेव लीलासृष्टिविशिष्टप्रचुरलीलासृष्टिस्थपदार्थान् प्रकटयतीत्यर्थः । अक्षरात्मकाधिष्ठानभूतजलाभावेपि पुरुषोत्तमात्मकलीलासृष्टिस्थजलाविर्भावो भवतीत्यर्थाभावप्रयुक्तं दुःखं कदापि न भवतीत्यर्थः । एतदिति । वक्ष्यमाणैतद्विभागज्ञापनाय संसारी यस्त्विवति दृष्टान्तः । यस्त्विवति । तुशब्देन लीलासृष्टिविशिष्टपुरुषोत्तमाविर्भाववतो व्यावृत्तिः । पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन अक्षरत्वेन च प्रपञ्चज्ञानवान् प्रपञ्चासक्तः । स त्विति । इदं पदं 'क्लेशभाग्भवती'त्यनेन सम्बध्यते । भक्तिमार्गस्थ इति । भजनाकांक्षा प्रतिपादिता । साक्षादिति । सत्यां भजनोपयोगिजलाद्यपेक्षायां कदाचिदधिष्ठानभूताक्षरात्मकजलाद्यभावेन पुरुषोत्तमात्मकजलाप्राप्त्या क्लेशभाक् भवतीत्यर्थः । ननु ब्रह्मभावसंपत्तिर्हि पूर्वावस्था, सा च सर्वेषां समाना, तत्र च सर्वस्यापि सेवोपयोगियावदर्थाप्राप्त्योद्वेगहेतुक्लेशभाक्त्वस्य सिद्धत्वात्तेन न सेवासिद्धिः इति चेत्, सत्यमित्याशयेनाहुः तथापीति । अङ्गीकारात् पुष्ट्यवङ्गीकारात् । अङ्गीकार एव शीघ्रं सर्वफलसाधक इत्यदोषः । अङ्गीकारे च भजनत्यागाभाव एव मानम् । अनङ्गीकार इति । केवलपुष्ट्यनङ्गीकारे । मूले तस्मादिति । यतो हेतोरङ्गीकृत एव न दुःखभाक् तस्माद् हेतोः शुद्धपुष्टिमार्गस्थः तद-

हिकभक्ततः, कैमुतिकन्यायेन साधारणलोकतश्चेति ज्ञेयम् । ज्ञानिनः संसाराभावात् संसारिणो ज्ञानाभावेन दुःखभाक्त्वम् । पुष्टिमार्गस्यैव प्रभुस्वरूपं ज्ञात्वा सर्वस्वनिवेदनपूर्वकं सर्वात्मभावेन भजनं स्वप्नेपि दुर्लभम् । पुष्टिमार्गीयस्य प्रभ्वनुग्रहैकनियम्यत्वात् सर्वमुपपद्यत इति ततो वैशिष्ट्यम् । एतावत्सर्वं श्रीकृष्णमार्गस्थपदेन द्योतितम् । अतः सर्वमवदातम् । ननु वित्ताद्यभावे पुष्टिमार्गीयस्यापि भजनासंभवे दुःखित्वात् कथमुक्तवैशिष्ट्यमित्यपेक्षायामाहुः) आत्मानन्दसमुद्रस्थमिति । श्रीकृष्णपदात्पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटितनिरवध्यानन्देषु विहरन्तमित्यर्थः । ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः । स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकस्तद्दत्त एव । अत आत्मपदं भगवत्परम् । (बहिरसंभवेप्यन्तरेवं भजेत् । अतो नोक्तानुपपत्तिरिति भावः । ननु कश्चिज्जीविकाद्यर्थमपि भजते, तस्य का गतिरित्यत आहुः लोकार्थीति । लोकपदेन लौकिकोऽर्थ उच्यते, तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत्, तदा व्यापारवदर्थे सिद्धे तस्याप्यनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव । अतः क्लिष्टो भवतीत्यर्थः । न केवलमैहिकः क्लेशः, किन्तु परलोकोपि नश्यति, निषिद्धाचरणादिति सर्वथेत्युक्तम् । यस्य स्वल्पमपि ज्ञानम्, स नैवं करोति, सर्वथा तद्रहितः कश्चिदेवं कुर्यादपीति चेदित्युक्तम् । अत्र मूलनामोक्तिर्भजनकर्तुरभिप्रायेण, अन्यथा तदसंभवात् । तर्हि लोकार्थित्वाभावेपि तद्रहितस्य भजनासंभवात् को विशेष इत्यत आहुः क्लिष्टोपीति । लौकिकार्थाभावेन क्लिष्टोपि गीतायां नवमेऽध्याये 'पत्रं पुष्पं फलं तोय'मिति वचनात् कृष्णं चेत् भजेत्, तदा यथासंभवं भजनमर्थादेव सिध्यति, परं लोको नश्यति । लौकिकं न सिध्यति, न तु स्थितं नश्यति, भजनसिद्धौ न तावता कापि हानिरिति भावः । भगवतस्तथेच्छेति सर्वथेति निरूपितम् । चेदिति तथा भजनमशक्यमिति ज्ञापनाय) ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

स्वस्वरूपज्ञानप्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः ।

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

धिष्ठानापेक्षारहितः तथाविधं कृष्णमेव विशेषेण चिन्तयेदिति संबन्धः । श्रीकृष्णेति । रसात्मकनामोक्तेः । पुष्टीति । पुष्टिमार्गीयभक्तेषु प्रकटिता ये स्वरूपात्मकास्तथाविधा आनन्दास्तेषु भक्तेषु प्रकटितः । तद्दत्त इति । भगवद्दत्तः । अत इति । तथाविधानन्दस्य स्वरूपात्मकत्वादेव । ज्ञानमार्गे एव जीवानन्दसंभवात् । अनेन चिन्तनरूप आत्मनिवदेनाङ्गभूतः स्नेह उक्तः । मूले लोकार्थीति । प्रपञ्चत्वेनैव प्रपञ्चज्ञानवान् लोकार्थीत्यर्थः । स यदि लौकिकार्थेनैव कृष्णसेवां कुर्यात्, तदा सेवाया असिद्ध्या तथा भवतीति । तादृशोपि चेद्भजेत्, तदा लोको नश्यति । लोकः अक्षरत्वेन ज्ञातो भविष्यतीत्यर्थः ।

स्वस्वरूपेति । पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन स्वस्वरूपाज्ञानं, तत्राधिष्ठितत्वेन च प्रभुस्वरूपाज्ञानं ज्ञेयम् । पुष्टिमर्यादेति । अत्र पुष्टौ मर्यादांशः । स्वल्पमर्यादायां च पुष्ट्यं-

उभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावायाहुः ज्ञानाभाव इति ।

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु ॥ १७ ॥
मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः ।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥ १८ ॥
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः ॥ १९ ॥

(पुष्टिमार्गी पूजोत्सवादिषु तिष्ठेत्, पुष्टिपुष्टिमार्गे पूजापदं तस्य ज्ञानाभावात् प्रथमप्रवृत्त्यभिप्रायेणोक्तम् । मनसस्तन्निष्ठतायां कृतिरर्थादेव सिध्यतीति तत्कुर्यादित्यनुक्त्वा तत्र तिष्ठेदित्युक्तम् । मर्यादायां प्रकारान्तरमाहुः मर्यादास्थ इति । गङ्गायां गङ्गासमीपे श्रीभागवततत्परस्तिष्ठेदिति पूर्वेण सम्बन्धः । उभयोरन्यतरधर्मव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः । तत्र भेदकं किमित्याकाङ्क्षायां) पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति। तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुरनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति तथा । तस्य विधिर्न नियामक इति भावः । मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेदनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इत्याहुः उभयोरिति । यदि मर्यादायामेवाङ्गीकारः, तदोभयोर्मुक्तिरेव फलिष्यतीत्याशयः । एवं निरूपणे तात्पर्यमाहुः ज्ञानाधिक इति । लोकेऽधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं, तस्य मुक्तिरेवेति सर्वे वदन्ति । तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम् । ब्रह्म चाक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च । एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतरः । तस्य अक्षरातीतत्वात् । अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

शस्तथेति ज्ञेयम् । उभयोरिति पूर्वोक्तयोस्तयोः । ज्ञानाभाव इतीति । अनेनोद्वेगनिवृत्त्युपाय उक्तः । ज्ञानिभक्ताविति । ज्ञानी च भक्तश्च ज्ञानिभक्तौ । तत्र ज्ञानी ज्ञानमार्गप्रकारेण प्राप्तज्ञानः । अनुगृह्णाति विशेषत इति । मर्यादात्यागपूर्वकमनुग्रहं करोतीत्यर्थः । तन्मार्गीयामिति । पुष्टिमार्गीयां । भक्तिमिति निवेदनाङ्गभूतं स्नेहं प्रेमलक्षणां भक्तिं वा । इदमेव मूले पूर्वोक्तपदेन ग्राह्यम् । क्रमेणैवेति मूले । क्रमस्त्वत्र विशेषांगीकारेणैव मानससेवारूपफलसिद्धिः । एवकारेण विशेषांगीकाररूपक्रमाभावे तु न फलसेवासिद्धिः । तदा मर्यादाप्रचुरस्य श्रीभागवततत्परस्य गंगासेविनोऽक्षरसायुज्यम् । पूजोत्सवादिस्थितपुष्टिमार्गिणश्च पुरुषोत्तमसायुज्यमिति स्वगर्भकृतोर्थो ज्ञेयः । तमेव चार्थं प्रकाशयन्ति भक्तजनवाञ्छाकल्पतरुश्रीमद्वल्लभतनयश्रीविठ्ठलचरणास्तदोभयोरित्यादिना । उभयोरितीति । उभयोर्मर्यादापुष्टिस्थज्ञानिभक्तयोः । मर्यादायामेवेति । एवकारः पुष्टिभेदव्यवच्छेदकः । एवं निरूपण इति । गङ्गादृष्टान्तेन भक्तिमार्गनिरूपणे । तात्पर्य-

स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये । गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः । न हि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जल एव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति । तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम् । न हि भक्त्या देवताद्रष्टृसमः पूर्वो भवति । अत एव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजतीति 'यो मामेवमसंमूढ' इत्युपक्रम्य 'भजति मां सर्वभावेने' ति प्रभुरुक्तवान् । अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमितोऽधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वादिति विद्वद्भिर्ज्ञेयम् । ऋग्वेदेपि पठ्यते 'तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन । आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।' हे स्तोतारो भगवदुत्कर्षवर्णनपराः पूर्व्यं सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः । ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम् । स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण उपदिष्टवानिति तथा । जनुषा स्वजन्मनैव सम्पूर्णेन, न तु क्षणयाममात्रेण । पिपर्तन पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत । अत्र यथाविस्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवांस्तदर्थमेव तद्भजनार्थमेवोपयुक्तान् कुरुतेति भक्तिमार्गे विनियोगमुपदिशति । तेन स्फुटमेव ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमवगम्यते । भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थः सिध्यतीति हृदयेनाहाग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्ताज्जानन्तोऽखण्डशब्दब्रह्मरूपं, न तु लौकिकशब्दरूपमिति । नामस्वरूपं जानन्तस्तदेव विवक्तन विशेषेण वदन्तु । अधिकमाहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रमुत कीर्तयन्तु । एतेनैव भगवत्स्वरूपतन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यतीत्याशयेनाह नामस्वरूपम् । चिदिति । चिदित्युपलक्षणम् । सच्चिदानन्दात्मकमित्यर्थः । नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृगुरूपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह महस्त इत्यादि । ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे । स च स्वतेजसा पराज्ञाननिरासक इत्याह मह इति । तेजोरूपमित्यर्थः । स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येनोत्सवात्मकमिति वा । एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेश एवोपदिष्टो भवति । एवमेव 'तद्विष्णोः' 'तद्विप्रास' इत्यादिश्रुतिसहस्रैर्निगद्यत इति सुष्ठूक्तं ज्ञानमार्गादधिको भक्तिमार्ग इति ॥१७॥१८॥१९॥

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

मिति । ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यज्ञापनरूपम् । गङ्गायामिति । आधिभौतिकादिभेदेन गङ्गायां क्षरादिदृष्टान्तः स्पष्टः । ननु जलतीर्थात्मिकैव गङ्गा, न तु तदतिरिक्ता देवतारूपेति कथं गङ्गादृष्टान्त इत्यत आहुः नहीति । किंत्विति । इदंपदं भक्तत्वमित्यनेन संबध्यते । तदातीतेति । जलतीर्थात्मिकातिरिक्ता तद्दर्शनेन भक्तत्वं भवति, भक्तत्वं अभिज्ञातं भवतीत्यर्थः । तथाच भक्त्यभिज्ञापिकत्वरूपादेवीति फलितार्थो ज्ञेयः ।

गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः भक्त्यभाव इति ।

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः ।
अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति ॥ २० ॥
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ।
एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ॥ २१ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा ॥

भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवतीति भावः । एतेन भक्तेरावश्यकत्वमुक्तं भवति । (सप्रयोजनमुक्तमुपसंहरन्ति एवमिति । उक्तप्रकारेण स्वशास्त्ररूपं स्वशास्त्रस्य वा सिद्धान्तरूपसर्वस्वं गुप्तं स्वल्पेन बहु निरूपितत्वात् गम्भीरतात्पर्यं बहिर्मुखानामज्ञापनीयं वा । किं तेनेत्यत आहुः एतदिति । एतज्ज्ञानेन स्वमार्गसंबन्धिसर्वसंशयनिवृत्तिर्भवति, अन्यथा 'संशयात्मा विनश्यती'ति बुद्धिरन्यथा भवेदित्यर्थः ।) ॥ २० ॥ २१ ॥

इति श्रीपितृपादाब्जपरागरससिक्तहृत् ।
श्रीविठ्ठलस्तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ ॥ १ ॥

श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

तात्पर्यान्तरमिति। पूर्वं 'ज्ञानाधिक' इत्यनेन भक्तेर्ज्ञानाधिक्यरूपं तात्पर्यमुक्तम् । अनेन भक्तेरावश्यकत्वरूपं तात्पर्यमुच्यते । **भक्त्यभाव इतीति** । तीर्थात्मकत्वेन जानन्नपि तीरस्थितोपि भक्त्यभावे दुष्टैः कर्मभिः अन्यथाभावं जलत्वेनैव ज्ञानवान् तस्मात् स्थानात्तीर्थत्वज्ञानादेव नश्यतीत्यर्थः । **तथा भवतीति** । अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानवानपि दुष्टैः प्रारब्धैः स्वकर्मभिरन्यथाभावं प्राप्तः प्रपञ्चत्वेनैव जानन् तस्मात् स्थानात् ब्रह्मात्मकत्वज्ञानान्नश्यतीत्यर्थः । न च ज्ञानेन सर्वपापक्षयात् कथमन्यथाभावो वक्तुं शक्य इति शंक्यम् । ज्ञानस्यानारब्धानामेव कर्मणां नाशकत्वात् । प्रारब्धकर्मणां नाशस्तु पुष्ट्यैवेति सिद्धं भक्तेरेवावश्यकत्वम् । **एवमिति** । पूर्वोक्तप्रकारेण । **स्वशास्त्रेति** । स्वशास्त्रस्य सेवाप्रकाररूपं सिद्धान्तम् । **गुप्तं निरूपितमिति** । गुप्ततया निरूपितम् । **एतदिति** । यन्मया गुप्तं निरूपितम् । एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत । सर्वसंशयाद्विमुक्तो भवतीत्यर्थः । पुनः कदापि संशयं न प्राप्नोतीति विशब्दार्थः ॥

इति श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथविरचिता सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिटिप्पणी ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

दीक्षितश्रीलालूभट्टकृतव्याख्यासमेता ।

श्रुत्येकसिद्धशृङ्गारमूर्तिमानन्दविग्रहम् । गोवर्धनधरं वन्दे श्रीराधाप्राणवल्लभम् ॥ १ ॥
नमामि श्रीमदाचार्यान् प्रभूञ्छ्रीविठ्ठलेश्वरान् । यत्कृपातो व्रजाधीशसेवनं प्राप्नुयान्नरः ॥२॥

अथ सकलसच्छास्त्रसारज्ञाः श्रीवल्लभाचार्यचरणा दैवजीवानामज्ञानान्यथाज्ञाननिष्ठानां भगवत्सेवनाप्रवृत्तिं तया च तदकृतार्थतामवलोक्य परमकृपालवस्तज्जनुस्साफल्याय श्रुतिगीताव्याससूत्रसमाधिभाषासिद्धं स्वसिद्धान्तं निरूपयन्ति नत्वा हरिमित्यादिना ।

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ॥ १ ॥

कृष्णसेवेति । 'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः' 'नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः' 'मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुरि'त्यादिवचस्सहस्रैः सेवाया मोक्षादप्युत्कृष्टत्वेन परमपुरुषार्थत्वम् । अतः सैव कार्या । तत्र कीदृशी सेवा विवक्षितेति तामाहुः मानसी सेति । यथा मर्यादाभक्तिमार्गे मुक्तिः फलं, तथात्र सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपा मानसी फलमित्याशयः ॥ १ ॥

सेवां लक्षयन्ति चेतस्तत्प्रवणमिति ।

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥ २ ॥

तच्छब्देन पूर्वोक्तः कृष्णः परामृश्यते, 'पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहे'त्यादाविवैकदेशान्वयस्वीकारात् । तथाच कृष्णप्रवणं चेतः सेवा । 'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या । अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'ति लक्षणवाक्ये मनोवृत्तेरेव भक्तित्वेन कथनाद्वृत्तेश्च कारणानतिरेकात् । अतस्तादृशी चित्तवृत्तिर्मानसी सेवेति फलितम् । अत एव चेतस्तत्प्रवणमित्यस्याभासे श्रीमत्प्रभुचरणैरुक्तं यथेत्यारभ्यैतदेव सेवास्वरूपमित्याहुरित्यादि । अत एवाथर्वणे 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येन मनःकल्पनमि'ति श्रूयते । अत्रापि मनसः कल्पनं भक्तिरित्युक्त्या तादृक्चित्तस्यैव भक्तित्वमायाति । भक्तिमीमांसासूत्रेपि 'सा परानुरक्तिरीश्वर' इति लक्षणेन चित्तधर्मस्यानुरागस्यैव भक्तित्वमुक्तम् । धर्मधर्मिणोरभेदात् । भक्तिशब्देन च सेवैव विवक्षिता । 'भज सेवायामि'ति धात्वर्थात् । 'विना मत्सेवनं जना' इत्युक्त्वा 'स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत'

इत्युदीरितत्वाच्च । पूर्वमपि 'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे' इत्युक्तम् । अतो भक्तिशब्देन मुख्यतया मानसी सेवैवायाति । सा केन साधनेन सम्पद्येत इत्याकाङ्क्षायामाहुः तत्सिद्ध्या इति । 'गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया' 'तव परि ये चरन्ति' 'आदरः परिचर्यायाम्' 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्' 'करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु' 'शवौ करौ नो कुरुतः सपर्याम्' 'करौ च तत्कर्मकरौ मनश्चे'त्यादिवाक्यैस्तनुजसेवायाः 'सर्वलाभोपहरणमि'त्यादिवचोभिर्वित्तजायाश्च 'तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः । नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः' 'मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न' इत्यादिवाक्यैरुभयोश्च तथात्वावगतेः । इह ग्रन्थे विधेयांशः सेवा, शिष्टो ग्रन्थस्तदुपपादनार्थः । ननु 'ब्रह्मविदाप्नोति परमि'ति श्रुत्या पुरुषोत्तमप्राप्तौ ब्रह्मवित्त्वस्य कारणत्वोक्तेर्ज्ञानमवश्यं सम्पादनीयम् । तच्च वेदान्तश्रवणमननादिसाध्यम् । तानि च बहुकालसाध्यानि । इह तु सदा कृष्णसेवा कार्येत्युपदेशादवकाशाभावान्मननादिसाधनासिद्धेर्ज्ञानासिद्धिरित्याशङ्क्योत्तरं ब्रुवन्ति ततः संसारदुःखस्येत्यादि । ततस्तनुवित्तजसेवात एव संसारदुःखस्याज्ञानकार्यस्य नाशो, ब्रह्मज्ञानं चावान्तरफलं भवति । 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पत' इति वाक्यात् । 'इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोध'इत्यादिवचनाच्च । अत एवोक्तं तत इत्यस्याभासे टीकायां श्रीमत्प्रभुचरणैरेतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुरित्यनेन ॥ २ ॥

ज्ञानविषयस्य ब्रह्मणो रूपभेदानभिदधतः कृष्णे मूलरूपत्वं वदन्ति परं ब्रह्म त्विति ।

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ॥ ३ ॥
अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ॥ ४ ॥
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।
द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी ॥ ५ ॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ॥ ६ ॥

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत' इति निर्वचनात् । इयं हि श्रुतिरेव । नारायणकृतौ गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्दीपिकायाम्—तत्रादौ कृष्णशब्दार्थनिर्णयमाह—कृषिर्भूवाचकः शब्द इति । कृष् विलेखने । कृष्यते विलिख्यत इति कृष् भूमिः । सत् । णश्च निर्वृतिवाचक इति । निर्वृतिरानन्दः सुखम् ।

१. आगतेति पाठः । २. स्यादिति क.

शुद्धं ब्रह्मेति यावत्—एवमियं श्रुतिर्व्याख्याता। ततः 'सच्चिदानन्दाये'ति श्रुतिर्व्याख्याता। अतः 'कृषिर्भूवाचकः शब्द' इति गोपालतापिन्यारम्भेऽस्तीति बोध्यम्। 'परं ब्रह्मैतद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवती'त्यादिश्रुतेश्च। 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जये'ति भगवद्वाक्याच्च। तुशब्देनाक्षरस्य ब्रह्मत्वेपि परत्वाभावात् परस्य पुरुषोत्तमस्यैव सेव्यत्वम्। अनेन पूर्वोदितः कृष्णसेवाविधिः समर्थितः। सच्चिदानन्दकमिति। बृहत् अक्षरं ब्रह्म सच्चिदानन्दकम्। अल्पार्थे कन्। 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्द' इति तैत्तिरीये गणितानन्दत्वात्। तदक्षरं द्विरूपमित्याहुः द्विरूपं तद्धीत्यादि। एकं सर्वं निखिलप्रपञ्चात्मकं कार्यरूपम्। अपरं तस्मात्पूर्वस्माद्विलक्षणं प्रापञ्चिकधर्मरहितं 'अस्थूलमनण्वि'त्यादिश्रुतिविषयः, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'यो वेद निहितं गुहायाम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्' 'तदाहुरक्षरं ब्रह्म' 'तद्धाम परमं ममे'त्यादिश्रुतिस्मृतिविषयश्च। इदं तु ब्रह्मणो भौतिकं प्रपञ्चात्मकं रूपं नाशोत्पत्तिमत्त्वेन भासमानत्वान्मायिकं सगुणमित्याद्यज्ञानविलासैर्विकल्प्यते। वस्तुतस्तु 'स हैतावानास' 'स आत्मानꣳस्वयमकुरुत' 'ऐतदात्म्यमिदꣳ सर्वम्' 'यदयमात्मा तत्सत्यम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' 'कथमसतः सज्जायेत' 'सत्त्वाच्चावरस्य' 'असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' 'पटवच्च' 'नाभाव उपलब्धेः' 'आत्मकृतेः परिणामादि'त्यादिश्रुतिन्यायशतैरक्षरात्मकमुररीकार्यम्। तत्र नाशोत्पत्तिप्रतीतिर्भ्रान्त्या। आविर्भावतिरोभाववत्त्वेन नित्यत्वात्। ननु 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि'ति श्रुत्या विकारभूतस्य प्रपञ्चस्य कुतो न मिथ्यात्वमिति चेत्। न। 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इति सूत्रेण वाचारम्भणमित्यादिशब्दानां प्रपञ्चे ब्रह्मानन्यत्वप्रतिपादनार्थताया निर्णीतत्वात्। अपि च। घटे मृद्विकारत्वमिव प्रपञ्चे ब्रह्मविकारत्वं नास्ति। अविकृतपरिणामवादस्वीकारात्। यत्र हि कार्यस्य पुनः पूर्वभावापत्तिः सोऽविकृतपरिणामः। यथा कनककुण्डलस्य पूर्वभावापत्तिः कर्तुश्चिकीर्षया, तथा प्रपञ्चस्यापि चिदानन्दप्राकट्ये पूर्वभावापत्तिः। अतो विकारत्वाभावाद्वाचारम्भणश्रुतेर्न प्रपञ्चे प्रवृत्तिः। किञ्च। मायिकं जगदिति वदन् वादी प्रष्टव्यः कथमसत्प्रतीयत इति। शुक्तौ रजतमिवेति चेत्। न। चक्षुषोपलभ्यमानायां हि शुक्तिकायां रजतभ्रान्तिः। ब्रह्मणस्तु 'पराञ्चि खानी'ति श्रुत्या सकलेन्द्रियागोचरत्वेन न तदधिष्ठानकभ्रमसम्भावनापि। भ्रमोत्पत्तेः सादृश्यसापेक्षत्वेन ब्रह्मप्रपञ्चयोः सादृश्याभावाद्भ्रमाभावः। न हि रज्जौ भुजङ्गभ्रम इव रजतभ्रमोऽपि सूपपादः। सादृश्याभावात्। ननु नीरूपत्वेन चक्षुरगोचरेऽपि व्योम्नि सादृश्यानपेक्षो नीलमिदं गगनमिति भ्रमो भवत्येव, अज्ञानकलुषितबुद्धीनामिति चेत्, न। शृणु। तत्र हि नभसो मनोगोचरत्वेन व्यवहारविषयत्वाद्भ्रमोद्भूतिः सम्पद्यते। ब्रह्मणि तु निर्विशेषे भ्रमो नास्त्येव। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे'ति श्रुतेर्मनोवागगोचरत्वेन सर्वथा ज्ञानाविषये भ्रमस्योपपादयितुमशक्यत्वात्। भवन्मते निरुपाधिके ब्रह्मणि सर्वथा ज्ञानाविष-

यत्वमभिमतम् । विषयत्वेन जडत्वेन व्याप्तेः स्वीकारात् । नन्वारोपे ह्यधिष्ठानसामान्यज्ञानं कारणं, न तु विशेषतो ज्ञानम् । अहंवित्तौ भासमानस्यात्मनो भवत्येव सामान्यज्ञानमिति चेत्, न । उपाध्यवच्छिन्नस्यैवाहम्प्रत्यये भासमानत्वात् । एवं सत्यात्मनो निरुपाधिकस्य ज्ञानाभावान्न तत्र जगदारोपः सम्भवतीति विद्वद्भिर्ज्ञेयम् । केचित्तु निषेधमुखेन ज्ञानं सामान्यज्ञानमित्याहुः । तन्न । शास्त्रोत्पाद्यस्य तस्यासर्वजनीनत्वे मूर्खाणां जगत्प्र[1]त्ययाभावप्रसङ्गात् । सर्वव्यावृत्तताज्ञानस्य त्वधिष्ठानविशेषज्ञानत्वेन प्रत्युत भ्रमनिवर्तकत्वाच्च । न च कस्यचिद्गगनज्ञानाभाववतोऽपि बालादेर्गगने नीलिमभानान्नाधिष्ठानसामान्यज्ञानस्य भ्रमकारणत्वम् । तथा सति निर्विशेषस्याधिष्ठानस्य सामान्यज्ञानाभावेऽपि तदधिष्ठानको जगद्भ्रमः स्यादेवेति वाच्यम् । इदं किञ्चिन्नीलमित्याकारकस्य किञ्चित्त्वेन रूपेणाधिष्ठानज्ञानस्य तत्रापि सत्त्वात् । अन्यच्च । यद्यधिष्ठानज्ञानरहितस्यापि नीलिमप्रतीतिरङ्गीक्रियेत, तदा तत्प्रतीतेर्भ्रमत्वमेव न स्यात् । नीलिमज्ञानस्य सर्वदा सर्वेषां जायमानत्वादुपाधिजन्यत्वाभावेनोपाधिनाशनाश्यत्वाभावाच्च । मायिकस्य नीलरूपस्य विद्यमानस्यैव विषयत्वेन तदवगाहिज्ञानस्य भ्रमत्वायोगात् । न च तस्यानिर्वचनीयत्वं, सदसद्भिन्नतयेति वाच्यम् । नीलिम्नः सर्वदैव विद्यमानत्वेन प्रतीतिविषयतया ज्ञानबाध्यत्वाभावेन गगनवत्स्थिरतयाऽनिर्वचनीयकल्पनायाः प्रवेशानवसरात् । अधिष्ठानभूतं गगनमनवगाह्यैव इदं नीलमिति प्रत्ययात् । गगनस्य नीरूपत्वान्नीलरूपारोपे भ्रमत्वस्य [2]सुवचनत्वात् । तथा गगनं नीलमिति प्रतीतावेव भ्रमत्वं न तु केवलं नीलमिदमिति प्रतीतौ । तत्र गगनावगाहाभावात् । तदभाववति तदारोपाभावात्, प्रतीतिविषयतया ह्यसत्त्वस्यापि भवन्मतेऽनङ्गीकारात् । अतः सत्त्वमेवोररीकार्यं स्यात् । तथा सति तदवगाहिज्ञानस्य प्रमात्वमेवापद्येत । अत एतद्दूषणपरिहृतयेऽधिष्ठानस्य वियतः केनचिद्रूपेण ज्ञानं बालादीनामप्यस्तीति मन्तव्यम् । तथाच यदा शास्त्रसमुत्पन्नबुद्ध्या नीरूपत्वेन वियतः केनचिद्रूपेण ज्ञानं बालादीनामप्यस्तीति मन्तव्यम् । तथा च यदा शास्त्रसमुत्पन्नबुद्ध्या नीरूपत्वेन वियतो ज्ञानं समभूत्, तदा रूपरहिते वियति नीलरूपस्यासम्भवं जानन् नीलिमानमसन्तमेव निश्चिनोति । एवं बाधविषयत्वेन सत्त्वाभावादविद्यमाननीलरूपावगाहिज्ञानस्य भ्रमत्वं सुवचमिति सन् पन्थाः । एतावता सिद्धमेतत् । अधिष्ठानसामान्यज्ञानं भ्रममात्रे कारणम् । तथा सति परमतेऽधिष्ठानत्वेनाभिमतस्य निर्विशेषब्रह्मणः केनापि प्रकारेण ज्ञानविषयत्वाभावान्न तस्मिन्नधिष्ठाने भ्रमः सम्भवतीति दिक् । यद्यपि सत्तारूपेण सर्वत्र तदस्ति, तथापि न ज्ञातुं शक्यम् । घटः सन् पटः सन्नित्यादौ तु न निर्विशेषरूपा सत्ता प्रतीयते, अपि त्वधिष्ठेयनिष्ठसत्ताया एव प्रतीतिरिति भ्रमोऽधिष्ठानरूपब्रह्मणि निरूपयितुमशक्य एवेति प्रपञ्चमिथ्यात्वं विद्वद्भिर्नादर्तव्यम् । किञ्च । जगदभिपश्यतः परमेश्वरस्यापि भवन्मते भ्रान्तत्वापातः । भ्रमप्रतिपन्नस्य रजता-

---

१ जगत्प्रतीत्यभावेति ख. २ सुवचत्वादिति स्यात् ।

देर्भ्रान्तित्वेनैवाध्यक्षीकरणात् । 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदि'ति तत्त्वसूत्रे आदिशब्देनासत्त्वप्रतिपादकानां सर्वेषामेव निषेधात्प्रपञ्चसत्यत्वमेवाभिप्रेतं व्यासचरणानाम् । 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरमि'ति जगदसत्यत्ववादिनां भगवता निन्दितत्वाच्च । अन्यच्च । ब्रह्मणो यथार्थज्ञानं हि जगद्भ्रमं निवर्तयति, शुक्तिबोधो रजतभ्रममिव । तच्च मननादिजन्यत्वेन प्रपञ्चमध्यपातितया नाज्ञानरूपं प्रपञ्चं दूरीकर्तुमीष्टे । यावज्ज्ञानानां जगदन्तःपातित्वेनाज्ञानरूपत्वात् । प्रपञ्चोपशामकज्ञानस्योपशान्त्यै साधनान्तरस्य मृग्यत्वाच्च । न च चरमवृत्तिरज्ञानकार्यमखिलं नाशयित्वा स्वयं नश्यति, कतकरेणुवदिति वाच्यम् । चरमवृत्तिजन्यस्याज्ञानध्वंसस्य नाशकान्तराभावेनावशिष्टस्य सत्तयाऽद्वैतसिद्धिव्यघातात् । चरमवृत्तिनाशक्षण[1]स्य विद्यमानतया द्वैतापत्तेश्च । अपि च । चरमवृत्तेर्जगन्नाशं प्रति कारणत्वम् । तच्च कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वम् । पूर्वत्वं तु कालकृतमिति कारणतानिर्वाहकः कालोऽवशिष्यत एव । तथाच चरमवृत्तिः स्वयं नश्यतीत्युक्तावपि कालस्य कारणतानिर्वाहकस्योर्वरितत्वान्नाद्वैतसिद्धिरिति ज्ञेयम् । न च ब्रह्मानतिरिक्तः कालः सुखेनावशिष्यताम्, अद्वैताबाधकत्वादिति वाच्यम् । चरमवृत्तिनाशरूपकार्यपरिच्छेद्यकालस्य सर्वापरिच्छेद्येन ब्रह्मणा सहाभेदस्य वक्तुमशक्यत्वादिति दिक् । न च वृत्तिरूपाणां तथात्वेऽपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति श्रुतेः स्वरूपभूतं ज्ञानं प्रपञ्चभ्रमापहारीति वाच्यम् । स्वरूपभूते ज्ञाने प्रपञ्चनाशकत्वाङ्गीकारे निर्विशेषवादबाधापत्तेः । ब्रह्मण्येव प्रपञ्चनाशकत्वपर्यवसानात् । तस्य सर्वदैव विद्यमानत्वेन सदा सर्वेषां बन्धाभावप्रसङ्गाच्च । मननादिविधीनामानर्थक्यापत्तेश्च । मननादिविधीनां तदभिव्यक्तौ साफल्यमिति चेत्, न । तस्मिन्स्वरूपभूते ज्ञानेऽभिव्यक्त्यात्मकधर्माङ्गीकारे धर्मत्वावच्छेदकावच्छिन्नाभाववादहानिप्रसङ्गात् । असत्त्ववादे ब्रह्मणि व्यापकत्वमपि दुरुपपादम् । व्याप्यानामज्ञानकल्पितत्वेनापार्थकतया तत्सापेक्षस्य व्यापकत्वस्यापि सुतरामवास्तवत्वात् । अस्तु तथात्वमिति चेत्, न । 'बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च ब्रह्मे'ति श्रुतिव्याकोपात् । जगदसत्यत्वे तदन्तःपातिनीनां श्रुतीनामपि तथात्वेन व्यवहारमात्रे प्रामाण्याङ्गीकारात्तदुक्तानां निर्विशेषत्वाज्ञेयत्वनिराकारत्वादीनां पारमार्थिकत्वेन त्वन्मतेऽभिमतानामपि व्यवहृतिमात्रैकसत्यत्वापातात्[2] । मनोव्यापारविजृम्भितत्वाच्च । त्वन्मते शुद्धब्रह्मणो मनोग्राह्यत्वेन मनोगम्यस्य ब्रह्मातिरेकादित्यलमुक्तिभिः । यदप्याहुः—सच्चेन्न बाध्येत । असच्चेन्न प्रतीयेत । अतः सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयं जगदिति । तत्र असच्चेन्न प्रतीयेतेति यदुक्तम् । तन्न । 'अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः । तां चापि युष्मच्चरणसेवयाऽहं पराणुदे' इति मैत्रेयवाक्यात् 'छायाप्रत्याह्वयाभासा असन्तोप्यऽर्थकारिण' इति वाक्यान्तराच्च असतोऽपि प्रतीतिस्वीकारात् । अतोऽसत्पदार्थ एव भेदद्वयमस्ति । एकमसन्न प्रतीयते, शशशृङ्गादिवत् । एकमसत्प्रतीयते शुक्तिरजतादिवदिति व्यवस्था । न त्वनिर्वचनीयं कल्पनीयम् । मानाभा-

---

१ लक्षणेति पाठः । २ व्यवहृतिमात्रैकसत्यत्वाभावादिति. ख.

वात् । ननु 'त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रम' इत्यादिवाक्येष्वसत्यता दृश्यत इति चेत्, न । भ्रमः अज्ञानमसदित्यादिशब्दानामहन्ताममतात्मकसंसारविषयत्वात् । एतच्चाकरे स्पष्टम् । किञ्च । अनादिरयं भ्रम इति प्रवादोऽपि चिन्त्यः । भ्रमत्वस्य ज्ञानत्वव्याप्यत्वात् यावज्ज्ञानानां जन्यत्वनियमात् । न च 'बन्धोऽस्याऽविद्ययाऽनादिरि'ति वाक्यादनादित्वम् । अविद्यायाः कारणत्वव्याघातापत्तेः । तथाचेह सादित्वनिषेधो घटपटादिसाधारणापेक्षकः । देवेष्वमरपदेन मरणनिषेधवत् । अतः सर्वथा प्रपञ्चभ्रमे अनादित्वकथनमयुक्तमेव । अन्यच्च । ज्ञानबाध्यत्वं मिथ्यात्वमित्याहुः । तन्न । चरमवृत्तिरूपे ज्ञाने ज्ञानबाध्यत्वाभावादव्याप्तेः । चरमवृत्तेः कतकरेणुदृष्टान्तेन स्वत एव नाशाङ्गीकारात् । न चाज्ञानजन्यत्वं मिथ्यात्वमिति वाच्यम् । मूलाज्ञानेऽज्ञानजन्यत्वविरहेण लक्षणाव्याप्तेः । मूलाज्ञानस्य भवत्सिद्धान्तेऽनादित्वाङ्गीकारात् ।

प्रकृतमनुस्रियते । ब्रह्मणो रूपत्रयम् । तत्राधिदैविकं परं ब्रह्म कृष्णाख्यं प्रथमम् । आध्यात्मिकमक्षरात्मकं द्वितीयम् । आधिभौतिकं प्रपञ्चात्मकं तृतीयम् । तत्र स्पष्टार्थं गङ्गां दृष्टान्तीकुर्वन्ति द्विरूपं चापि गङ्गावदित्यादिना । माहात्म्यसंयुतेति । मर्यादामार्गविधिना सेवतां भोगमोक्षदात्री द्वितीया तीर्थरूपेत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

आधिदैविक्याः स्वरूपमाहुः तत्रैवेति ।

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ।
गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ॥ ७ ॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले ।
विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ॥ ८ ॥
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् ।
यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ॥ ९ ॥

तृतीये भौतिके रूपे भेदमाहुः जगत्त्विति ।

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः ।
देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ॥ १० ॥
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा ।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥ ११ ॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ।

त्रिविधं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटम् । आधिदैविके अंशभेदानाहुः । ब्रह्मविष्णुशिवाः देवतारूपवत्प्रोक्ता इत्यन्वयः । अत्रायमर्थः । देवताया आधिदैविकरूपाया गङ्गाया रूपाणि अंशभूतानि भीष्मजनन्यादीनि मूर्तिमन्ति तत्तत्पुराणादौ प्रोक्तानि, तद्वद्देवतारूपस्य कृष्णस्य ब्रह्मविष्णुशिवरूपाणि अंशभूतानीत्यर्थः । तान्येव रूपाणि

१ करणत्वेति पाठः ।

राजसादिस्वभावप्रकाशकानि जगतो नियामकत्वेनोत्पत्त्यादौ कार्यें व्यापृतानि । तदंशी कृष्णस्तु नित्यनिरवध्यानन्दात्मको गुणातीतो रसात्मकलीलामात्रैककार्य इति भावः । ब्रह्मविष्णुशिवानां कृष्णांशत्वेन आधिदैविकरूप-भेदमध्ये गणना । 'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते । स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति संज्ञाः' 'न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते' इत्यादिवाक्यात् । ब्रह्मवैवर्ते स्पष्टमेव त्रयाणां कृष्णांशत्वप्रतिपादनाच्च । अत एव निबन्धे श्रीमदाचार्यचरणैरवादि 'गुणाभिमानिनो ये वै तदंशाः सगुणाः स्मृता' इति । अग्रे च 'अन्तर्याम्यक्षरं कृष्ण' इत्यारभ्य 'स्वभावकर्मकालाश्चे' त्यनेनाक्षरभेदानुक्त्वा 'रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथे' ति वाक्येन कृष्णभेदा उक्ताः । तथाच सिद्धमेतत् । 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत' इत्यत्र क्षराक्षरपुरुषोत्तमा उक्ताः, तेऽत्र 'परं ब्रह्म तु कृष्णो ही'त्यारभ्य 'देवतारूपवत्प्रोक्ता' इत्यन्तेन प्रपञ्चाक्षरकृष्णशब्दवाच्या विवेचिताः । न च गीतासु त्रयाणां पृथगुक्त्या द्वैतं शङ्क्यम् । 'वासुदेवः सर्वमिती'त्यनेन शुद्धाद्वैतस्यैव भगवदभिप्रायविषयत्वस्फुरणात् । ब्रह्मणीति । स्थितानामिति शेषः । यथा जगतो नियामकाः कृष्णांशा ब्रह्मादयः, इत्थमक्षरब्रह्मभूतानां नियामको हरिरेव न तु ब्रह्मादयः । तेषां ज्ञानिनां जगदतीतत्वादिति भावः ॥ कामचारस्त्विवति । अस्मिन् क्षररूपे लोके प्रपञ्चे कामचारः तत्फलप्रेप्सया प्रवृत्तानां मनोरथप्राप्तिप्रवाहो ब्रह्मादिभ्यः कृष्णांशभूतेभ्यो भवति । दृष्टान्तेऽपि गङ्गांशभूताया एव लौकिकव्यवहारः स्मर्यते भारते शन्तनुप्रसङ्गे, न तु साक्षादंशवत्या गङ्गाया आधिदैविक्याः सकाशात् । तस्याः केवलभक्तिलभ्यायाः प्रवाहे सर्वदैव विद्यमानत्वात् । ननु लोके कामचारो ब्रह्मादिभ्य इत्युक्ते भक्तानामपि लोकमध्यपातितया तथैव भविष्यतीत्याशङ्क्य तेषां भिन्नप्रकारमाहुः परमानन्दरूपे त्विति । लोकविशेषणमेतत् । परमानन्दो रूप्यते व्यवह्रियते यत्रेत्यर्थात् । तुशब्दः पूर्वप्रक्रियां व्यावर्तयति । परमानन्दरूपे लोके लीलायोग्यप्रपञ्चे तु पुष्टिभक्तानां स्वात्मनि स्वात्मत्वेन स्फुरिते कृष्ण एव निश्चयो मनःस्थैर्यं स्वसकलमनोरथपूरकत्वबुद्धिस्वच्छन्दप्रवृत्तिप्रवाहो, न तु ब्रह्मादिभ्यः । 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्' 'अहं भक्तपराधीनः' 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् । तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरादि'त्यादिवाक्येषु साधारणेभ्यः पृथक्तया भक्तानां चतुर्विधपुमर्थसाधकत्वस्य स्वस्मिन्नेव भगवताङ्गीकृतत्वात् । एवं साधारणजीवानां पुष्टिस्थानामंशांशिभेदेन कामचारव्यवस्थामुक्त्वा वस्तुतः साधारणानामंशेभ्यो जायमानमपि फलं भगवत एवेति भगवानेव सर्वेषां सर्वफलदायक इति प्रतिपादयन्ति अतस्त्वित्यादिना । वस्तुविमर्शे सर्वस्य कृष्णात्मत्वं तदधीनत्वम्, अतो ब्रह्मवादेन तु कृष्ण एव बुद्धिः फलप्रदत्वबुद्धिर्विधीयताम् । 'फलमत उपपत्तेरि'ति न्यायेन कृष्णस्यैव

१ व्यावृत्तानीति ख. २ स्वच्छन्दवृत्तिरूपः कामचार इति पाठः ।

फलदत्वम् । 'यो यो यां यां तनुं भक्त' इत्यारभ्य 'मयैव विहितान् हि तानि'त्यन्तेन स्वस्यैव फलदातृत्वोक्तेश्च ।

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ॥ १२ ॥
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।
गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति ॥ १३ ॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ।
संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥ १४ ॥
अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक् ।
तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥ १५ ॥
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।
लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥ १६ ॥
क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ।
ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु ॥ १७ ॥
मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः ।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥ १८ ॥
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः ॥ १९ ॥
भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः ।
अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति ॥ २० ॥
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ।
एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ॥ २१ ॥

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतना इति । आत्मनि आत्मविषये । उच्यत इति शेष इति प्रभुचरणाः । तथाच आत्मनीति प्रतिज्ञायां ज्ञेयम् । ब्रह्मरूपे जीवे छिद्राश्चेतना व्योम्नि छिद्राश्चेतना इवेत्यन्वयः । छिद्राणि विषयत्वेन विद्यन्ते यासु चेतनासु ताः छिद्राश्चेतनाः । अर्शआद्यच् । चेतनाशब्दो बुद्धिवाचकः । 'प्रतिपज्ज्ञप्ति-चेतना' इति कोशात् । तथाच छिद्राश्चेतनाश्छिद्रवत्यो बुद्धय इत्यर्थः । बुद्धीनां छिद्र-वत्त्वं तु विषयत्वेन छिद्राणां तत्र स्फुरणात् । एवञ्च व्योम्नि अविद्यमानानां छिद्राणां बुद्धिवृत्तिषु स्फुरणाच्छिद्राश्चेतना विपर्यासबुद्धय इति फलितम् । 'संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च । स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथगि'ति कपिल-वाक्याद्विपर्यासस्य बुद्धिवृत्तित्वात् । तत्र दोषविशेषवद् दृशा व्योम्नि छिद्राणि प्रतीयन्ते । अतश्छिद्रवत्यो बुद्धयो व्योम्नि यथा मिथ्याभूतपदार्थावगाहिन्यः, तथा ब्रह्मरूपे जीवे छिद्राश्चेतनाः सदोषत्वादिबुद्धयो मिथ्याभूतसंसारावगाहिन्यो, न तु यथार्थावगाहिन्यः । 'जीवसंसार उच्यत' इति निबन्धे संसारस्य मिथ्याभूतत्वेन सिद्धान्तितत्वात् । 'उच्यते,

न तु जायत' इति व्याख्यानात् । व्योम्नि यथा छिद्राश्चेतनाः, तथा जीवे छिद्राश्चेतनाः । पूर्वत्र छिद्रशब्दस्य विवरविशेषवाचकत्वम्, उत्तरत्र तु छिद्रशब्दो दोषवाचकः । 'खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यती'त्यादौ दोषाणां छिद्रपदवाच्यत्वात् । तथाच जीवो ब्रह्मांशत्वेन वस्तुतो ब्रह्मरूप एव, न तु संसारी । संसारित्वं त्वौपाधिकम् । तच्च पूर्वोक्तकृष्णसेवानाश्यमित्यभिप्रायः । इदमेवानुपदमुपपाद्यते उपाधिनाश इत्यादिना । स्वसिद्धान्ते यादृशं जीवस्वरूपं तद्बन्धमुक्तिस्वरूपं च प्रभुचरणैरेतट्टीकायां विवृतमेव 'जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मका' इत्यादिनेति न मया लिख्यते । ननु जीवस्याणुत्वं निरूपितं, तन्मास्तु । किन्त्वविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीव इत्युररीकार्यम् । पूर्वं बहुभिरादृतत्वादिति चेत्, न, नीरूपस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बासम्भवात् । न च गुणे गुणानङ्गीकारान्नीरूपस्य रूपस्य प्रतिबिम्बदर्शनाद्रूपरहितस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बः सुलभ इति वाच्यम् । रूपवतो घटादेः प्रतिबिम्बिततया तन्निष्ठरूपप्रतीतौ सिद्धायां पृथग्रूपप्रतिबिम्बे मानाभावात् । स्वाश्रयातिरेकेण रूपोपलब्धेः सर्वतन्त्रविरुद्धत्वात् । किञ्च । दर्पणादौ प्रतिबिम्बितं घटनिष्ठरूपं पश्यन् स्वयं प्रतिबिम्बितमिति रूपं च नीरूपमिति नीरूपस्य ब्रह्मणोपि प्रतिबिम्ब इति मनुषे । तथैव रूपशून्यं रूपं चाक्षुषमिति नीरूपः परमात्मापि चक्षुर्ग्राह्य इति मन्यस्व । ननु नीरूपस्य गगनस्य प्रतिबिम्बान्नीरूपस्य ब्रह्मणोऽपि स्यादिति चेत्, न, जलादावौपाधिकस्य प्रतिबिम्बितरूपस्य दर्शनादौपाधिकेन तेन च वियतः संबन्धाभावादाकाशप्रतिबिम्बस्य वक्तुमयोग्यत्वात् । अन्यथा नीलमिदं गगनमितिप्रतीत्या गगनचाक्षुषत्वमङ्गीकृत्य ब्रह्मचाक्षुषत्वमङ्गीकार्यं स्यात् । न च कल्पितरूपवतो जगज्जन्मादिकारणस्य भवत्येव चाक्षुषत्वमिति वाच्यम् । सोपाधिके ब्रह्मणि भवन्मते मायिकरूपाङ्गीकाराच्चाक्षुषत्वप्रतिबिम्बितत्वयोः सुवचत्वेऽपि शुद्धे नीरूपे ब्रह्मणि द्वयोरप्यसम्भवेन विवक्षितप्रमेयालाभात् । अपि च । चक्षुर्ग्रहणयोग्यस्यैव प्रतिबिम्बसम्भवं जानन्नप्ययोग्यस्य शुद्धस्य प्रतिबिम्बं प्रतिपादयन्नयोग्यस्य चाक्षुषत्वं किमिति न मनुषे । अन्यच्च । अवयवेऽवयवानङ्गीकाराच्चरणरहितयोरपि चरणयोर्गमनदर्शनाच्चरणरहितस्याऽपि कस्यचिद्देवदत्तादेर्गमनसम्भवः स्यात्, स चाखिलप्रमाणविरुद्ध इति चरणविशिष्ट एव पुंसि गतिरङ्गीकार्या । एवं नेत्रादावपि । तथा च रूपविशिष्ट एव प्रतिबिम्बते, न तु रूपं पृथक्तयेति न रूपशून्यस्य प्रतिबिम्ब इत्यविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीव इति नादर्तव्यं सुधीभिः । ननु जपाकुसुमारुणगुणो द्रव्यं विहायैव स्फटिके प्रतिस्फुरति । अन्यथा दर्पणादौ मुखान्तरप्रतीतिवत् स्फटिके जपाकुसुमान्तरप्रतीतिः स्यात् । सा तु नास्ति । किन्तु केवलमरुणिमैव प्रतीयते । तत्र च नीरूपत्वमेव । गुणे गुणानङ्गीकारात् । अतो नीरूपस्याप्यरुणस्य प्रतिबिम्बदर्शनान्नीरूपस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्ब उपपन्न इति प्राप्ते— समाधिरुच्यते । रूपमात्रस्यापि प्रतिबिम्बे रूपवतो जपाकुसुमादेः कारणत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धम् । रूपवज्जपाकुसुमादि विना रूपप्रतिबिम्बाभावात् । एवं सर्वत्र ज्ञेयम् । न हि रूपवन्तं विना रूपमात्रप्रतिबिम्बो लभ्यते कुत्रापि । तथाच प्रतिबिम्बत्वावच्छिन्ने रूपवद्वस्तुनः कारणत्वाद्ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो नोपपद्यते । अत एवाचार्यवर्यैर्निबन्ध उक्तं 'न प्रतिस्फुरणं रूपरहितस्य कदाचने'ति । अत एव न वायोः प्रतिबिम्बः । एवं सति रूपवान्

घटादिर्दर्पणादौ धार्मिरूपेण प्रतिबिम्बते । रूपवान् जपाकुसुमादिः स्फटिके धर्मरूपेणारुणगुणेन प्रतिस्फुरति । एवमुभयथा रूपवत एव प्रतिबिम्बसम्भवान्नीरूपस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो न युक्तिसह इति सुधियो विदन्तु । अत एव प्रतिबिम्बत्वावच्छिन्ने रूपवतः कारणतामवगत्य विद्वन्मण्डन उक्तम्—'रूपवत एव प्रतिबिम्बनियमादि'ति । उपाधिनाश इति । भगवज्जीवयोरन्तरायभूताऽविद्या तस्याः कार्यस्य नाशे सति । 'अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूवे'ति श्रुतेर्ज्ञानं प्रत्यविद्यानाशस्य प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणतयाऽवश्यमपेक्षणात् । विज्ञान इति । ब्रह्मणो विशेषतः सर्वात्मकत्वेन सर्वातिरिक्तरूपत्वेन च ज्ञाने सति । ब्रह्मात्मत्वावबोधन इति । ब्रह्मज्ञानानन्तरं जडजीवयोस्तदात्मकतया स्वस्यापि ब्रह्मात्मत्वेनावबोधे सति वक्ष्यमाणं फलं भवति । सिद्धान्ते हि ब्रह्मज्ञानं पुमर्थाय । 'यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती' ति श्रुतेः । न त्वेकदेशभूतं पराभिमतं जीवमात्रे ब्रह्मत्वेन ज्ञानम् । एवं सत्यविद्यानाशे ब्रह्मस्वरूपज्ञानं तस्मिन् सति सर्वस्यापि पदार्थजातस्य बोधः, तेन स्वस्यापि सर्वमध्यपातितया निर्विकाराक्षरत्वेनापरोक्षस्फूर्तिः, ततो 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतेरक्षरात्मकतायां सिद्धायां 'तद्धाम परमं मम' 'विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मन' इत्यादिवाक्यैरक्षरस्य भगवदधिष्ठानत्वात्तत्र स्थितमक्षरातीतं पुरुषोत्तमं कृष्णं ज्ञानी भक्तः पश्यति । तदाहुः **तथा कृष्णं परं ब्रह्मे**त्यादि । तत्र दृष्टान्तः **गङ्गातीरस्थित** इति । यथा प्रवाहसन्निधौ वर्तमानस्तन्मध्यवर्तिनीं मूर्तिमतीं गङ्गां श्रद्धाधिक्ये पश्यति, तथा ज्ञानी भक्तोऽपि भगवदधिष्ठानत्वेन निकटस्थायिन्यक्षरात्मके स्वस्वरूपे भक्त्या कृष्णं पश्यतीति भावः । अत एव भगवता 'चतुर्विधा भजन्ते मामि'ति सन्दर्भे ज्ञानी भक्तः प्रशंसितः । निबन्धेऽपि 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः पर' इत्युक्तम् । ननु भक्त्या केवलयैव सर्वपुरुषार्थसिद्धौ किमर्थं ज्ञानाग्रह इत्याशङ्क्य प्रेमवतस्तदनपेक्षत्वेप्यनुत्पन्नस्नेहस्य भजनाङ्गत्वेनास्त्येव ज्ञानापेक्षेति तद्रहितस्य दोषमाहुः **संसारी**ति । अनिवृत्ताहन्ताममताकोऽनुत्पन्नबोध इति यावत् । स तु कृष्णं भजन् दिदृक्षाया आधिक्यादविद्ययाऽन्तरायभूतया दर्शनाभावाद्दुःखभाग्भवति । अत्र दृष्टान्तः **दूरस्थ** इति । यथा गङ्गाभक्तः स्नानपानाद्यर्थं तज्जलमभिलषन्नादिशब्देनाधिदैविकीं दिदृक्षन् दर्शनाभावात्प्रवाहरूपगङ्गाविप्रकर्षेणाधिदैविकीविप्रकर्षादुभयमलभमानो दुःखी भवति तद्वदित्यर्थः । सिद्धमुपदिशन्ति **तस्मा**दिति । **श्रीकृष्णमार्गस्थ** इति । भक्तिमार्गस्थ इत्यर्थः । **सर्वलोकतः** संसारतः विमुक्तो भूत्वा शुद्धपुष्टिमार्गीयव्रजसुन्दरीवृन्दविहारिणं कृष्णमेव निरवध्यानन्दं विशेषेण चिन्तयेत्, मानसीसिद्ध्यर्थं लीलाविशिष्टभावनं कुर्यादिति भावः । अयमेवार्थः श्रीमत्प्रभुचरणैष्टीकायां विवृतः 'कृष्णपदा'दित्यारभ्य, 'आत्मपदं भगवत्पर'मित्यन्तेन । ननु ज्ञानरहितो भक्तो भगवद्दर्शनावरोधकसंसारस्य विद्यमानत्वाद्दुःखी भवतीत्युक्तम् । तथा सति केवलज्ञानवत् तादृग्भक्तेरप्यप्रयोजकत्वमित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमनूद्य केवलभजनेनापि निर्वाहमाहुः **लोकार्थी**ति । लोकार्थी पशुपुत्रादिविषयकाङ्क्षावान् । अनुत्पन्नज्ञानः संसारीति यावत् । भजनं कुर्वन् पूर्वोक्तप्रकारेण दिदृक्षाधिक्याद्दर्शनाभावात्क्लिष्टो भवति । तादृगपि आग्रहं कृत्वा भजनं चेन्न त्यजति, तदा भगवत्कृपया लोकः संसारोऽहन्ताममतात्मको भगवत्साक्षात्कारप्रतिबन्धकतो नश्यती-

त्यर्थः । अत्र प्रपञ्चवाचिना लोकशब्देन तदन्तःस्थितः संसारो लक्ष्यते । नाशस्योक्तत्वादर्थस्वारस्याच्च लक्ष्यार्थ एव ग्राह्यः । एवं केवलया भक्त्या भगवद्भजनं निर्वहतीत्युक्तम् । तत्कथमित्याकाङ्क्षायां प्रमेयबलेन तद्भवतीति वदन्ति अनुग्रह इति । पुष्टिमार्गस्यानुग्रहैकनियम्यत्वात्प्रमाणविरुद्धमपि प्रेमयबलेन भवेत् । 'नेमं विरञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया । प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदादि'त्यादिवाक्येभ्य इति भावः । पुष्टिमार्ग इति । पुष्टिजन्ये भक्तिमार्ग इत्यर्थः । पुष्टिश्च 'पोषणं तदनुग्रह' इति वाक्यादनुग्रहरूपो भगवद्धर्मः । स च लौकिकालौकिकोत्तमफलसाधकः । विशेषानुग्रहस्तु विरलजनविषयो भगवद्रूपात्मकफलसाधकः । तज्जन्यत्वं पुष्टिभक्तौ । अत्र पुष्टिशब्देन पुष्टिविशेषो ग्राह्यः, न तु साधारणानुग्रहः । तस्य लौकिकफलं प्रति कारणत्वात् । अत एव पुष्टिस्कन्धे साधारणेनैव कृष्णानुग्रहेणेन्द्रादीनां दैत्यानां च तादृग्भक्तिरहितानामपि स्वाभिलषितलौकिकफलसिद्धिः । तथोक्तं निबन्धे 'एवमिन्द्रे महापुष्टिः सर्वबाधा निरूपिता । सर्वबाधकरूपा हि दैत्ये पुष्टिरथोच्यत' इति । इन्द्रे महापुष्टिरित्यत्रानुग्रहे महत्त्वं तु बलवत्प्रतिबन्धनिवृत्त्या मनोरथपूरकत्वं, न तु भक्तितत्सम्बन्धिसाधकत्वम् । लौकिकफलस्यैव दृश्यमानत्वात् । अतः साधारणानुग्रहो लौकिकफलसाधकः । विशेषानुग्रहस्तादृग्भक्तिहेतुरिति निष्कर्षः । सा च नवमस्कन्धसूर्यसोमवंशीयवृत्तान्तकथनेन प्रपञ्चिता, मर्यादापुष्टिभेदेनेशानुकथाशब्देन व्यवह्रियते । ईशस्य अनुगामिनां भक्तानां कथा भक्तिरित्यर्थः । पुष्टिजन्या भक्तिः पुष्टिभक्तिः । अत एवोक्तं श्रीमत्प्रभुचरणैः 'तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिं च नुम' इति भक्तिहेतुनिर्णये । एवं सति भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाकाङ्क्षारहिता भक्तिः पुष्टिभक्तिरिति पुष्टिभक्तेर्लक्षणं ज्ञेयम् । न च निष्काममर्यादाभक्तावतिव्याप्तिः । अत्र मोक्षात्मकफलस्याकाङ्क्षितत्वात् । न च मोक्षः स्वरूपात्मक एवेति वाच्यम् । 'न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे' इति वृत्रवाक्ये स्वरूपातिरेककथनात् । अत एव पुष्टिमार्गीया नैनं कामयन्ते । एतच्च 'अक्षण्वतामि' ति श्लोकविवृतौ, 'वीक्ष्यालकावृतमुखमि'त्यस्य सुबोधिन्यां स्पष्टम् । अत एव मोक्षकामनापि काम्यमध्ये विमृष्टा । तथोक्तं निबन्धे 'तप्तमुद्राधारणं काम्यम् । हरिसालोक्यकाम्ययेति वाक्यादि' ति । अतः स्वरूपातिरिक्तफलाकाङ्क्षारहिताः पुष्टिभक्ता एवेति सुधीभिर्विभावनीयम् ॥ १२ ॥

यदुक्तं श्रीमदाचार्यैर्विवृतं विठ्ठलेश्वरैः । कृतं तदनुसार्येतद्बालकृष्णाङ्घ्रिसेविना ॥ १ ॥

यदत्र बुद्धिदोषेण चेष्टितं बालचापलम् । क्षम्यतां श्रीमदाचार्यचरणैः कृपया मयि ॥ २ ॥

श्रुतिसिद्धरसात्मत्वकृष्णप्रेमप्रकाशकाः । दासे मयि प्रसीदन्तु प्रभवो विठ्ठलेश्वराः ॥ ३ ॥

कालिन्दीपुलिने शरच्छशिकरैः शुभ्रीकृते मल्लिकाकुन्दामोदमदोन्मदालिनिनदे घोषाङ्गनाभूषिते ।
रासे राधिकया समं विहरतो मोदैर्मुहुर्नृत्यतः श्रीगोवर्धनधारिणो भगवतः सेवेय पादद्वयम् ४

यश्चिन्त्यो ब्रह्मरुद्राद्यैर्बल्लवीजनचिन्तकः । अस्मत्कुलपतिः श्रीमद्बालकृष्णः प्रसीदतु ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविठ्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामविदितबालकृष्णेन विरचिता सिद्धान्तमुक्तावलीयोजना सम्पूर्णा ।

परिशिष्टम् ।

श्रीकृष्णाय नमः । श्रीगोपीजनवल्लभाचार्यवर्यचरणपाथोजनितयुगलाय नमः । श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः । श्रीमदाचार्यवर्यश्रीविट्ठलेशैः प्रचोदितः । कुरुते मथुरानाथगोस्वामितनयोऽद्भुतां । श्रीमदाचार्यसिद्धान्तमुक्तावल्या विवेचने । टिप्पण्या विवृतिं दासो द्वारिकेशः सविस्तरम् । अथ श्रीमद्गोकुलनाथाः श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितां सिद्धान्तमुक्तावल्या विवृतिं विवरीतुं निर्विघ्नतायै प्रार्थनात्मकं मङ्गलमाचरन्ति 'यद्वाञ्छये'ति । यस्य श्रीमद्विट्ठलेश्वरपादरजसो वाञ्छया प्राप्तिमनोरथेन पुंसः अर्थाः प्रयोजनाः जन्मप्रभृतियावत्कृतिविषयाः धर्मादयो भक्त्यन्ता वा मोक्षान्ता इति व्युच्चरणमारभ्य अक्षरप्रवेशपर्यन्तं यावज्जन्मकृताः अधरीकृताः हस्तागता भवन्ति सः कोपि अनिर्वचनीयः पितृपद्रेणुः मह्यं श्रीगोकुलनाथाय प्रसीदतु प्रसन्नो भवतु, तत्प्रसादं विना तद्वाण्यभिप्रायो हृदये न समायाति,यतः अतः प्रार्थ्यते । स इति पितृपद्रेणोः परोक्षत्वकथनेन श्रीमद्गोस्वामिनां कन्दराप्रवेशानन्तरं टिप्पणी कृतेति । अथ श्रीमद्वल्लभनंदनाः सिद्धान्तमुक्तावलीं विवरिषवः श्रीमदाचार्यचरणाब्जपरागनमनात्मकं मंगलं विधाय ग्रन्थविवरणं प्रतिजानते प्रणम्येति । पितुः श्रीमदाचार्यस्य पादयोः अब्जयोः परागाब्जरेणुर्मह्यं प्रसीदतु अनुरागतः प्रकर्षेण नत्वा तत्कृपया तद्वाङ्मुक्तावलीं विशदीकुर्मः । नमने प्रकर्षः भूमिपर्यन्तं साष्टाङ्गप्रणामः पितुः पालनकर्तुः रूढ्या । श्रीमदाचार्यस्य पादयोरब्जयोर्निजभक्ततापहारकानंददायकयोर्यत् परागं रजः अनुरागः अनुरागश्च रागेण पूर्वं भगवता वरणे कृते तं अनुलक्षीकृत्य जायमानभक्त्या तत्कृपया श्रीमदाचार्यवाग्रूपां मुक्ताफलानामावलीं विशदीकुर्मो, धारणयोग्यां कुर्मो, मुक्तानां वर्तुलत्वेन दोरके प्रवणं विना तेषां वलेर्विशदीकरणं न संभवति यतः । अत एव समाप्तौ वक्ष्यन्ति 'श्रीविट्ठलस्तद् वाङ्मालां हृदये दधौ' इति । अथ सा माला कालबाहुल्येन मलिना शिथिला च जातेति तद्गुरुजलादिनोज्ज्वलां कृत्वा धारणयोग्यां कर्तुं प्रकाशोद्यमः तत्र साधनं तेषां कृपा । अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां स्वकीयसिद्धान्ताज्ञानजन्यतापं निवारयितुं नमनात्मकं मंगलं विधाय स्वकीयसिद्धान्तविनिश्चयं प्रतिजानते । नत्वेति । स्मर्तॄणामखिलाघहरं श्रीहरिं श्रीकृष्णं नत्वा, णम प्रह्वत्वे शब्दे चेत्यनुशासनात् । अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथोविरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसंदेहे तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामि —श्रीगोकुलाधीशाः प्रतीकमाहुरग्रे इति । सिद्धान्तमुक्तावल्यां चतुर्थश्लोके । अथ प्रभवः प्रतीकमाहुः स्वसिद्धान्तेति । अग्रे वक्ष्यमाणैरिति । मायिकं सगुणमित्यादिभिरित्यर्थः । तत्र परस्परविरोधस्य स्पष्टत्वात् साक्षाच्छ्रुतिनिरूपितं वक्ष्यामीति विशब्दार्थः । तस्यैव स्वकीयत्वज्ञापनाय स्वपदं, साक्षाच्छ्रुतिरिति । ननु श्रुतौ सेवाप्रकारः कुत्रोक्त इति चेच्छृणु । 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः' । कर्णेभिरिति वैदिकपदोक्त्या कर्णानां दिव्यत्वं बहुवचनेन 'विधत्स्व कर्णायुतमेष इति प्रार्थनया प्राप्तत्वं भद्रं स्वं स्वं स्वं शृणुयाम, ततो जागरणानंतरं भद्रं

भगवद्रूपं पश्येम, अक्षभिः अलौकिकनेत्रैः, भो यजत्राः सेवाकर्तारः ततो नीरांजनसमये तनूभिः कोमलैः स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसः यदायुस्तदेव हितं भगवदर्थं व्यशेम समर्पयावः, यावज्जीवं सेवां कुर्मः इत्यादिभिः सर्वोपि षड्ऋतुसेवाप्रकार उक्तः । स एव श्रीमदाचार्याणां सिद्धान्तविनिश्चयः श्रुत्यर्थानंदसंदोहः श्रीव्रजाभरणदीक्षितैः कृतः । तत्र सेवाप्रकारो विस्तरेण विवृतः । प्रकृतमनुसरामः। टीकायां कर्मणीति यथा 'अनुदिते सूर्ये जुहोति' 'उपस्थायार्कमुद्यन्त' मित्यादि तथा सेवायां नास्ति, अत्र तु 'किमपि क्वाप्युपाहर्तुमिच्छत्यद्धा तद्रोपिकेश' इति स्वेनैवोक्तम् । 'ण्य अवश्यके' इति सूत्रात् यद्यपि मानसी सेवा न जीवकृतिसाध्या, यथा तत्फलं अलौकिकसामर्थ्यं भगवता दाने कृते सिध्यति, तथापि मूले कार्येति विधिवाक्येन टीकायां अकरणे प्रत्यवायीभवतीति विवरणेन च श्रीमदाचार्यगोस्वामिभ्यां स्वशरणगतेभ्यो वरत्वेन दत्तेति मम प्रतिभाति, मूले कृष्णसेवेति कृष्णसेवयोः समासेन कार्यकारणान्नित्यसंबंधः सूचितः । श्लोकान्वयस्तु अहं श्रीमदाचार्यः हरिं नत्वा स्वसिद्धान्तविनिश्चयं प्रवक्ष्यामि किं च तत् कृष्णसेवा सदा कार्या, तेन यथा कृष्णः फलात्मा, तथा कृष्णसेवापि फलात्मिका । प्रतीकमवतारयन्ति प्रभवः एतदेवेति । एतदिति यदेकादशे श्रीकृष्णेनोद्धवं प्रति द्वादशाध्याये रामेण सार्धमिति संदर्भे उक्तम्, प्रुङ्गतौ, प्रवणं गमनं, तस्मिन् प्रवणं तत्प्रवणं चेतसः तत्प्रवणं तदेव सेवास्वरूपं, चेत इति, चेतस्तत्प्रवणे यथा मणिच्छिद्रे दोरकस्य प्रवणं तथा भगवदीयचेतसो भगवति तत्प्रसादोत्पादनानुकूलव्यापारे वा प्रवणं यथा स स्वाधीनो भवेत्तथा करणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजास्ति, ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनं च भवतः,..........विवक्ष्यामि त्वं मे भक्तः सुहृत् सखेति दुर्लभत्वं प्रतिज्ञाय द्वितीयपादविवरणमवतारयन्ति श्रीगोकुलनाथा मानथायत्वं ? । यद्वा फलमत उपपत्तेरित्यारभ्य भाष्यकर्तृत्वेनाचार्यत्वं, अत एवास्मिन् मार्गे आचार्यद्वयम्, उत्तरार्धमवतारयन्ति प्रभवः एतादृशस्येत्यादि, टीकायां समस्तपदमिति तनुवित्तजेति समस्तं । तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते ताभ्यां जाता कृता स्वतः प्रादुर्भूता वा तनुवित्तजा । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च, तत्सिद्धौ, ते इति संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मबोधनं, वस्तुस्वभावादिति मानसीपूर्वरूपवस्तुस्वभावात्, मानसीसेवासिद्ध्यै तनुवित्तजा, सृष्टिः दैवी आसुरी च पुष्टिं कायेनेति वाक्याद् दैवी तनुजा, वित्तं माया तदुद्भूता आसुरी, उभे मानसी सेवार्थके दैवी सेवा कर्त्री, द्वितीया तद्रूपज्ञापिका । तृतीयश्लोकमवतारयन्ति प्रभवः इदमेवेति, इदमित्यक्षरं ब्रह्म, परं ब्रह्मेति पुरुषोत्तम इति अत्रेति अक्षरब्रह्मेति, भेदकमिति पुरुषोत्तमाद्भेदकम्, एते हीति 'सच्चिदानंदा इति, तदात्मक इति अक्षरब्रह्मात्मकः, प्रपञ्चेति श्रीभागवते प्रपञ्चवर्णनं कृत्वा एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मन' इत्युपसंहारात्, एकरूपत्वेनेति 'अतःपरं यन्महतो महान्तं यदेकमव्यक्तमनंतरूपं । विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् परात्परं नान्यदणीयसो हि' परात् परम्, श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेनेति । सर्वे वेदा यत् पदमामनंतीति, ज्ञान्युपास्यत्वेनेति । ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः । क्लेशोधिकतरस्तेषामिति गीतावाक्येन ज्ञान्युपास्यत्वमक्षरब्रह्मणः, तन्मुक्तिस्थानत्वेनेति । न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा

पश्यति कश्चनैनं । हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्तीति श्रुत्या ज्ञानिमुक्तिस्थानत्वम् । पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वं तु तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं । विष्णोर्धाम परं साक्षात् इति तृतीयस्कन्धे एकादशाध्यायवाक्यात् । इत्यादिभिरित्यत्रादिपदेन अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः अणोरणीयान् महतो महीयान् करोत्यकर्तैव निहंत्यहन्तेत्यादयः परिगृहीताः । इदमिति ब्रह्मणि विरोधाभावनं, ब्रह्मसूत्रभाष्य इति फलमत उपपत्तेरित्यतः स्वकृते, अत्र सिद्धान्तमुक्तावलीविवरणे, एतद्भाष्यकरणानंतरमेतत्करणमिति लक्ष्यते । श्लोकान्वयस्तु कृष्णस्तु हि निश्चयेन परं ब्रह्मास्ति, बृहत् सच्चिदानंदकमस्ति, तद्धि द्विरूपमस्ति, एकं सर्वं स्यात्, एकं तस्माद् विलक्षणमपरमस्ति । स्वमते श्रुतिसंमतत्वनिरूपणार्थं परमतनिरूपणमित्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति प्रभवः विरोधेति । विरोधपरिहारस्तु भगवतः सर्वभवनसमर्थत्वेनाचिंत्यानन्तशक्तिमत्त्वेन वा । अत एव विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि विचारितं । सांख्यमतानुसारिणः प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेप इति सिद्धान्तमाश्रित्य मायागुणकार्यं जगदिति वदन्ति, नैयायिकास्तर्किकाः, गौतमकणादाक्षचरणादयः, ते हि परमाणवो नित्या अन्यत् सर्वमीश्वरकार्यमप्यनित्यमिति वदन्ति, मीमांसकाः जैमिनिमतानुवर्तिनः, स्वभाववादिनः जगत् स्वभावत एव भवति, न कोप्यस्य कर्तेति वदन्ति, वेदबाह्या जैनाः कौला वामाः शाक्ता इत्यादयः । श्लोकान्वयस्तु तत्र पूर्वस्मिन्नपरं वादिनः मायिकं सगुणं कार्यं स्वतंत्रं चेति नैकधा बहुधा जगुः । स्वमतस्य सर्वमूर्धन्यबोधनायाहुः मूले तदेवेति । ब्रह्मैवेति, एतत् परिदृश्यमानं जगत्, प्रकारेण भवतीति वर्तते नतूपद्यते, नित्यत्वात्, यतो वेत्यादिश्रुतयस्तु आविर्भावतिरोभावपराः, स्वमतेति प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत् इत्यादि रूपस्य, श्लोकान्वयस्तु तदेवैतत् इति स्पष्टं, अस्तीत्यध्याहारः, द्विरूपमपि च गङ्गावत् ज्ञेयं, सा जलरूपिणीत्युत्तरेणान्वेति, सा गङ्गा जलरूपं शीलं यस्या एतादृश्येका आधिभौतिकी प्रथमा । पूर्वमक्षरात्मकस्यैवेति परमतनिराकरणासंभवात्, सेवां कुर्वाणानां भोगमोक्षप्रदाध्यात्मिकी द्वितीया, सा च यथा अक्षरं ब्रह्म पुरुषोत्तमाधिष्ठानं, यथाधिदैविकं गङ्गारूपाधिष्ठानं, यतः प्रसन्ना गङ्गा आधिदैविकी स्वं स्वामिनीरूपं निजभक्तेभ्यो दर्शयति, यथा भगीरथाय प्रदर्शितं, तदुक्तं श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे नवमाध्याये 'दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदास्मि ते' इत्यादिना, माहात्म्यमपि तत्रैव 'भगीरथः स राजर्षिः निन्ये भुवनपाविनीं । यत्र स्वपितॄणां देहा भस्मीभूताः स्म शेरते । रथेन वायुवेगेन प्रयांतमनुधावती । देशान् पुनन्ती निर्दग्धानासिञ्चत् । सगरात्मजान् यजलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदंडहता अपि । सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मभिः । भस्मीभूतांगसंगेन स्वर्याताः सगरात्मजाः । किं पुनः श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः ।

श्लोकान्वयस्तु सा जलरूपिणी मर्यादामार्गविधिना सेवां कुर्वतां नृणां माहात्म्यसंयुता भक्तिमुक्तिदा तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ॥ ६ ॥

स्वतन्त्रः ।

श्रीकृष्णाय नमः । **तस्मादिति** । यस्मात् ज्ञानयुक्तस्य भक्तस्यात्मनि भगवदाविर्भावो न बहिरितिलोकस्फूर्तिराहित्येन तदपरित्यागो । यस्माद्वा प्रपञ्चासक्तस्य तन्निष्ठतयैव तदसम्भवस्तस्माद्धेतोर्यः श्रीकृष्णमार्गस्थः आविर्भूतसदानन्देन 'तस्मात्त्वम्' 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'त्यादिना प्रोक्तो मार्गो, गोपिका मनसि निधाय, """पुष्टिमार्गस्तस्मिन् स्थितः सर्वलोकत उदासीनः स्वीयरूपतः स्वयमेव विमुक्तो, न तु ते स्वस्मान्मोचनीयाः, अभिसारिकाभिरिव व्याजेन । तथा सति सर्वथा सर्वपरित्यागाभावेन सर्वात्मभावो न भवेत् । एतादृश आत्मानन्दसमुद्रस्थं बहिः स्वामिनीसंबंधिलीलारसाब्धिनिमग्नमितरस्फूर्तिरहितं कृष्णमेव तद्भावरूपमेव, न तु स्वात्मनि स्वभावरूपं विचिन्तयेत्, विशेषेण लीलाविशिष्टतया भावयेत् । ननु लोकपरित्यागाभावेपि कामिनीनामिव भजनसंभवात्किमर्थं स उक्त इति चेत् । तत्राहुः **लोकार्थी चेदिति** । तदपरित्यागे यत्किञ्चित्तत्संकोचसंभवेन तदर्थित्वमेव तादृशस्य भजने कामिनीनाम्, मनःसत्त्वेप्यवसराप्राप्त्या क्लेशवत् क्लेशः स्यात् । ननु तथाप्यभिसरणादौ रसविशेषोस्तीति किं क्लिष्टोपीति चेत्तत्राहुः **क्लिष्टोपीति** । क्लिष्टोपि चेद्भजेत्तदातिभजने लोकप्रसिद्ध्या कामिनामिव लोकनाशः । अतो भजने प्रतिबन्धं संपाद्य वृथालोकानुरोधः पुष्टिमार्गीयैर्न विधेयो, रसस्वरूपात्मकत्वात्सर्वात्मभावसिद्धौ विशेषत एव तत्सिद्धिरितिभावः । इति श्रीहरिदासोक्तः सिद्धान्तमुक्तावलीस्थतस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो लोकार्थीचेत्यत्र लेखः ।

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गता-चतुर्थी

पुष्टि प्रवाह मर्यादा

चतसृभिष्टीकाभिः समलंकृता

१. श्रीगोकुलनाथानां विवरणम्

२. श्रीरघुनाथानां विवरणम्

३. श्रीकल्याणरायाणां विवृतिः

४. श्रीपीताम्बराणां विवरणम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-सप्त-पीठान्तर्गत-तृतीय-पीठाधिष्ठित-गोस्वामिश्री १००८ श्रीव्रजभूषणलालजी-महाराजश्रीत्येतैः प्रकाशिता.

वि. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दाः ५०२

प्रकाशक :

गोस्वामिश्री १००८ श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज
(तृतीय पीठाधीश्वरः कांकरोली-बडौदा)
बैठकमंदिर, केवडाबाग, बडौदा. गुजरात-३९० ००१ भारत

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्दः ५०२

ग्रन्थ-परिचय लेखकः गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रकः

स्टूडिओ बहार २३ ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,
मुम्बई-४००००७

गोस्वामिश्री १००८ श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभु दैवी तथा आसुरी जीवोंके भिन्न-भिन्न होनेके गीताप्रतिपादित सिद्धान्तको तो मान्य करते थे पर दैवी जीवोंके अवान्तर भेद—पुष्टिजीव और मर्यादाजीव के भिन्न-भिन्न होनेका सिद्धान्त श्रीमहाप्रभुने अपनी वयके उत्तरार्धमें स्थापित किया था. अतएव पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थका रचनाकाल श्रीमहाप्रभुके अडैलमें स्थिर निवासके समयके आसपास निर्धारित किया जाता है.

इस विषयमें यह दृष्टव्य है कि निबन्धका शास्त्रार्थप्रकरण श्रीमहाप्रभुकी प्रथम रचना है यह तो प्रायः सर्वमान्य हैं. इस ग्रन्थकी कारिका ४५-५२ के अवलोकन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि निबन्धके रचनाकालमें भी पुष्टिजीव मर्यादाजीव और प्रवाहजीवों के भिन्न-भिन्न होनेकी धारणा श्रीमहाप्रभुकी दार्शनिक मान्यताओंमें स्थान ले चुकी थी. एतदर्थ कुछ शब्दप्रयोगोंपर लक्ष्य-पात अपेक्षित है.

यथा :

(१) तत्त्वसृष्टिप्रवृत्तानां देवानां मुक्तियोग्यता.(का.४६)

(२) ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा, संघातस्य विलीनत्वाद्, भक्तानां तु विशेषतः, सर्वेन्द्रियैस्तथाचान्तःकरणैरात्मनापि हि ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते (का. ५०-५१)

(३) तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित् कस्यचिद् भवेत् कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चयः(का. ४७)

यहां स्पष्टतया मुक्तियोग्य जीवोंमें से किसीको ब्रह्मानन्द और किसीको भजनानन्द मिलता है यह निश्चित हुआ है. मर्यादाविधिके अनुसार तीर्थ आदिद्वारा जिन्हें मुक्ति मिलती है वह भी कृष्णकी मुक्तिदानकी इच्छापर अवलम्बित है यह भी कहा गया है. इन कारिकाओंपर लिखे गये प्रकाशके अध्ययन करनेपर भी मर्यादाजीव और पुष्टिजीओं के प्रभेदकी धारणा स्फुट हो जाती है. यथा—"ये सात्त्विका दैव्यां सम्पदि जाता विध्युपजीविनः सर्वदा तेषां मुक्तिर्भविष्यति" (प्रका. ४६) तथा "स्वतन्त्रभक्तानां तु गोपिकादितुल्यानां सर्वेन्द्रियैस्तथान्तःकरणैः स्वरूपेण चानन्दानुभवः अतो भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहितगृहाश्रम एव विशिष्यते" (प्रका. ५०—५१).

इन उद्धरणोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि दैवीजीव तथा आसुरीजीव का भेद और इसी तरह विध्युपजीवी मर्यादाजीव तथा स्वतन्त्र पुष्टिजीव का अवान्तर प्रभेद भी श्रीमहाप्रभुको निबंधमें भी विवक्षित है ही. ऐसी स्थितिमें इस पूर्वोक्त आधारपर ग्रन्थका रचनाकाल निर्णीत कर पाना कठिन है. यह ग्रन्थ किस अवसरपर तथा किस अनुयायीके लिए लिखा गया था यह पता नहीं चलता. इसके अलावा यह ग्रन्थ पूर्णतया उपलब्ध नहीं होता है. यह ग्रंथके प्रारम्भमें की गयी प्रतिज्ञासे स्पष्ट हो जाता है. विभिन्न व्याख्याकार भी इस बातका उल्लेख करते है.

सर्गभेद—कारणभेद, फलभेद, मार्ग या साधनभेद तथा जीवोंके स्वरूपादिभेद के आधारपर पुष्टिमार्ग मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्ग परस्पर भिन्न-भिन्न हैं. यह श्रीमहाप्रभु इस ग्रन्थके द्वारा हमें समझाना चाहते हैं. उपलब्ध ग्रन्थके पूर्ण न होनेके कारण यह कह पाना अब कठिन हैं कि इदमित्थतया श्रीमहाप्रभुने किस प्रकारसे पूर्वोक्त मार्गोका पृथक्करण विश्लेषण एवम् वर्गीकरण किया था. उपलब्ध अंशके अध्ययनसे तीन तरहकी सम्भावनायें प्रकट होती है. यह सब समानन्यायकी सामान्य युक्तिपर की गयी सम्भावनायें है, जिनका तुलनात्मक प्रामाण्य अन्य ग्रन्थोमें श्रीमहाप्रभुके द्वारा इस विषयके बारेमें किये गये विधानोंके साथ संवादपर अवलम्बित है.

प्रथम सम्भावित वर्गीकरण

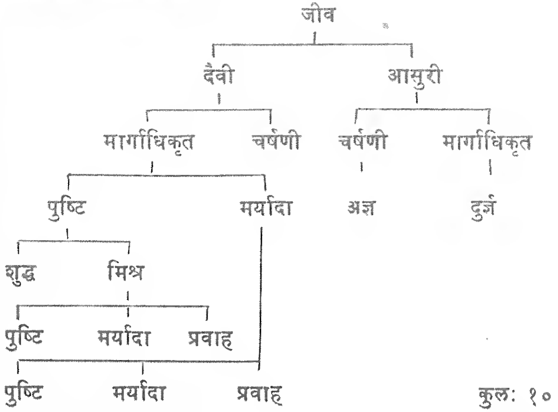

कुल: १०

द्वितीय सम्भावित वर्गीकरण

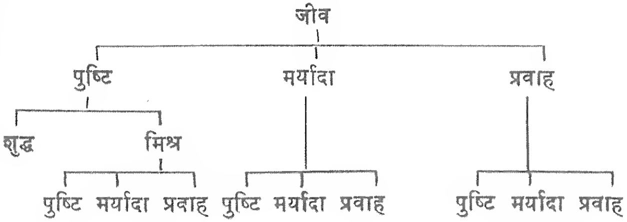

कुल: १०

तृतीय सम्भावित वर्गीकरण

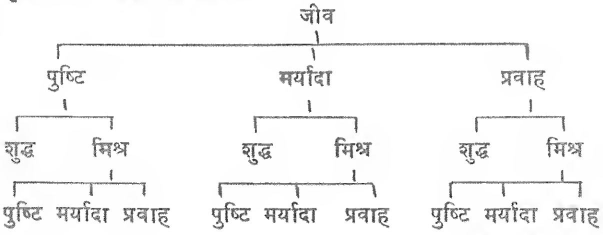

कुल: १२

इनमें श्रीमहाप्रभुको अभिप्रेत वर्गीकरण कौन सा है यह केवल पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थके आधारपर निर्विवाद निर्णीत नहीं हो पाता.

जीवोंके उपर्युक्त वर्गीकरणके अलावा मार्गभेद सर्गभेद एवम् फलभेद के आधारपर अन्य विशेषताओंका भी निरूपण यहां श्रीमहाप्रभुको अभिप्रेत है.

१) मार्गभेद

पुष्टिमार्ग मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्ग इन तीनों मार्गोंकी कुछ अपनी-अपनी विशेषतायें हैं. तदनुसार ये तीनों मार्ग परस्पर भिन्न-भिन्न हैं. तत्तत् मार्गोंमें जीवोंके स्वरूप, उनके देह, उनकी रुचि, उनके व्यवहार तथा अन्तमें उन्हें मिलनेवाले फलके तारतम्यको दृष्टिगत करनेपर मार्गभेदको भलीभांति समझा जा सकता है.

यह मार्गभेदकी धारणा शास्त्रीय प्रमाणोंपर अवलम्बित है. शास्त्रके अनुसार सारे लौकिक कर्मोंका उत्स कर्मकर्ता जीवके प्राकृत स्वभावमें तथा लौकिक प्रयोजनोंकी पूर्तिके प्रयासमें निहित रहता है. वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान स्वभावसे प्राप्त नहीं होता. किन्तु शास्त्रीय आज्ञाओंके अनुसरण करनेकी मनोवृत्तीसे प्राप्त होता है. फिर भी शास्त्रीय आज्ञायें स्त्री-पुरुष बालक-वृद्ध या ब्राह्मण-शूद्र आदिके देह और उनसे सम्वधित विविध अभिमानों को लक्ष्यमें रख दी गयी हैं. अतएव "त्रैगुण्यविषया: वेदा:" कहा जाता है.

इन लौकिक तथा वैदिक कर्मोंसे ऊपर उठनेकी ज्ञानमार्गमें जैसी सन्यासकी एक शास्त्रीय प्रक्रिया है, वैसी ही निर्गुण भक्तिमार्गीय सर्वसमर्पणकी भी एक शास्त्रवर्णित प्रक्रिया है. इसी अलौकिक निर्गुणा भक्तिके प्रकारको 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है. गीतामें दैवी सृष्टिसे भिन्न एक आसुरी सृष्टि दिखलायी गयी है वह प्रवाहमार्ग है. वेदोंमें वैदिक धर्मकी विभिन्न मर्यादाओं के निरूपण मिलते ही हैं और वह मर्यादामार्ग है.

इससे सिद्ध होता है कि जैसे प्रवाहमार्ग और मर्यादामार्ग परस्पर भिन्न हैं, वैसे ही इन दोनोंसे पुष्टिमार्ग भी एक भिन्न मार्ग ही है. सभी जीव अत: पुष्टिमार्गीय नहीं माने जा सकते हैं. लौकिक या वैदिक सभी तरहकी कामनाओं और प्रयोजनों से ऊपर उठकर जो जीवत्मा केवल भगवान्‌की ही भक्तिमें परायण हो जाती हैं उन्हें प्रवाहमार्गीय या मर्यादामार्गीय नहीं गिना जा सकता

है. "आत्मभावित भगवान् जिस जीवपर अनुग्रह करते हैं वही जीव लोक-वेदोंमें अपनी परिनिष्ठत बुद्धिसे छुटकारा पा सकता है"(भागवत) तथा "वेद-तप-दान-याग आदि किसी भी साधनसे मेरा दर्शन इस तरह कर पाना शक्य नहीं है, जैसा तुमने पाया है. अर्जुन! यह तो केवल अनन्य भक्तिके कारण ही मुझे इस तरह जाना जा सकता है, तत्त्वतः देखा जा सकता है और अन्त में मुझमें प्रवेश भी पाया जा सकता है" (गीता) इन दो वचनोंसे क्रमशः विशेष अनुग्रह और तज्जन्य भक्तिका सुस्पष्ट निरूपण हमें मिलता है. इस तरह अन्यत्र भी ऐसी उत्कृष्ट भक्तिके निरूपणके बलपर उसके कारणभूत अनुग्रह या पुष्टिमार्ग का अनुमान किया जा सकता है.

यहां यह शंका उ़ठ सकती है कि मार्ग भिन्न-भिन्न नहीं मानने चाहिये किन्तु इनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होनेके सोपानोंका सा सम्बन्ध मानना चाहिये प्रवाहके सोपानसे उत्कृष्ट मर्यादाका सोपान है तथा सर्वोत्कृष्ट सोपान निर्गुणावस्थाका है. यह शंका उचित नहीं है. क्योंकि श्रौत युक्ति तथा ब्रह्मसूत्र दोनोंसे उक्त धारणा विपरीत है.

जैसे आसुरी जीव तथा दैवी जीवों का नित्यभेद श्रुतिसिद्ध है. उनके देह तथा कर्मों की भिन्नता भी श्रुतियोंमें वर्णित है. इसी तरहसे दैवी जीवोंके अन्तर्गत पुष्टिजीव और मर्यादाजीवों के स्वरूप देह तथा कर्मों में भी परस्पर भिन्नता स्वीकारनी चाहिये. अतः पुष्टिमार्ग मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्ग का भेद प्रमाणसिद्ध ही है.

२) सर्गभेद

पुष्टिमार्ग मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्ग के प्रमाणसिद्ध भेदके विचारके बाद अब इन मार्गोंकी सृजनप्रक्रियाके भेदको भी समझ लेना चाहिये.

भगवान् स्वयम्के मनके द्वारा प्रवाहमार्गका सृजन प्रवर्तन तथा नियमन करते हैं. अतः प्रवाहमार्गीय जीवोंके विशिष्ट स्वरूप देह तथा व्यवहार की नियति केवल ब्रह्माकी इच्छापर ही निर्भर है. वैदिक मर्यादामार्गीय जीवोंके विशिष्ट स्वरूप देह तथा व्यवहार का भगवान् वेदरूपा वाणीके द्वारा सृजन प्रवर्तन तथा नियमन करते हैं. पुष्टिमार्गीय जीवोंके विशिष्ट स्वरूप देह तथा व्यवहार का सृजन प्रवर्तन तथा नियमन श्रीकृष्ण अपने प्रकट आधिदैविक स्वरूपके द्वारा करते हैं.

इस तरह इन मार्गोंमें सर्गभेद अथवा सृजनकी प्रकियामें भी भेद है.

३) फलभेद

प्रवाहमार्गीय जीवोंकी कामना एवम् आचरण के अनुकूल या प्रतिकूल फल प्रभु स्वयम् अपनी इच्छानुसार निर्धारित करते हैं तथा उन्हें प्रदान करते हैं. मर्यादामार्गीय जीवोंके वेदविहित धर्मार्थकामरूप पुरुषार्थोंके अनुष्ठानका फल वेदादि शास्त्रोंमें निरूपित विविध मोक्षोंके रूपमें प्रभु देते हैं. पुष्टिमार्गीय जीवोंके भजनानन्द-सम्बन्धी मनोरथोंकी पूर्ति श्रीकृष्ण अपने आधिदैविक स्वरूपके द्वारा करते हैं.

"मैं उन आसुरी जीवोंको निरन्तर अशुभ योनिमें डालता रहता हूं" (गीता). इस वचनके आधारपर निरन्तर अशुभ भवप्रवाहमें वहनेवाले प्रवाही जीवोंसे मर्यादामार्गीय जीव तथा पुष्टिमार्गीय जीवों के फलको भिन्न मानना पड़ता है. क्योंकि इन्हें भवप्रवाहमे छुडाया जाता है तथा मोक्ष प्रदान किया जाता है.

(क-१) पुष्टिमार्ग

इस तरह मार्गभेद सर्गभेद एवम् फलभेद के आधारपर पुष्टिमार्गीय जीवोंको अन्य जीवोंसे भिन्न मानना ही चाहिये.

यह पुष्टिसृष्टि भगवान्के आधिदैविक स्वरूपकी सेवाके लिए ही प्रकट की गयी हैं. अतः भगवत्सेवाके अतिरिक्त अन्यत्र किसी कर्म या प्रयोजन में पुष्टिसृष्टिके जीवोंका तत्पर होना भगवानको अभिप्रेत नहीं है. बाह्य दृष्टिसे पुष्टिमार्गीय जीवोंके स्वरूप देह स्वभाव एवम् व्यवहार तो सभी जीवोंके समान ही प्रतीत होते हैं. परंतु अन्ततः आधिदैविक स्वरूपके भजनानन्दमें ही इन पुष्टिजीवोंको आकर्षण और संतोष का अनुभव होगा. क्योंकि इनसे यही काम प्रभु लेना चाहते हैं.

(क—२) पुष्टिसर्ग

इस पुष्टिसृष्टि के पुनः दो अवान्तर भेद होते हैः

१) शुद्ध पुष्टिसृष्टि

२) मिश्र पुष्टिसृष्टि

मिश्र पुष्टिसृष्टिके तीन अवान्तर भेद होते हैं. यथा :

१) पुष्टि–पुष्टिसृष्टि

२) मर्यादा–पुष्टिसृष्टि

३.) प्रवाह–पुष्टिसृष्टि

१) पुष्टि-पुष्टिसृष्टिके जीव सर्वविध माहात्म्यज्ञानयुक्त तथा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहपूर्वक कृष्णसेवामें परायण होते हैं.

२) मर्यादा-पुष्टिसृष्टिके जीव भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथाओंके द्वारा भगवान्के गुणोंके प्रेमपूर्वक चिन्तन (श्रवण-स्मरण-कीर्तन) में परायण हो जाते हैं.

३) प्रवाह–पुष्टिसृष्टिके जीवोंमें न तो भलीभांति माहात्म्यज्ञान ही होता है और न उत्कट स्नेह ही. फिर भी कृष्णभजनके क्रियात्मक बाह्यरूपमें इनकी रुचि एवम् तत्परता होती है.

मिश्र पुष्टिसृष्टिके इन तीनों प्रकारोंसे विलक्षण शुद्ध पुष्टिसृष्टिके जीव होते हैं. इन्हें भगवान्के प्रति स्नेह किसी प्रमाणबलके आधारपर नही होता किन्तु भगवान् इनके समक्ष स्वयम् प्रकट होकर अपने आधिदैविक स्वरूपके प्रमेयबलसे इन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं. इनका भगवान्के प्रति स्नेह उत्कृष्ट सहज एवम् शुद्ध अर्थात् अन्य किसीभी भाव या प्रयोजन से अमिश्रित रहता है. यह अतिदुर्लभ प्रकारकी पुष्टिसृष्टि है.

(क–३) पुष्टिफल

पुष्टिमार्गीय जीवोंका साधन जैसे भगवान्की पुष्टि या अनुग्रह है वैसे ही फल एकमात्र स्वयम् भगवान ही हैं.

तत्तद् भक्तोंके लिए गुण और स्वरूप के भेदोंके अनुसार जैसे-जैसे रूप धारण कर भगवान् प्रकट होते हैं, उन-उन निजी भगवद्-रूपोंके साथ पुष्टिसृष्टिके विभिन्न जीवोंकी फलानुभूति सम्पन्न होती है. इन निजी भगवद्-रूपोंसे अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी पुष्टिमार्गीय जीवकी आसक्ति जब भगवान् देखते हैं तो शाप भी दिलवाते हैं. कभी-कभी इन्हें साहंकार देखकर भी भगवान् शाप दिलवाते हैं. और तब ये पुष्टिजीव भूतलपर प्रकट होते हैं. कभी-कभी भूतलपर पुष्टिमार्गको प्रकट करनेके लिए भी पुष्टिजीवोंको भूतलपर प्रकट किया जाता है, लोकमें आनेपर भी ये दैहिक रोगादिके उपद्रव

अथवा मानसिक पाषण्डता आदिके उपद्रवसे ग्रस्त नहीं हो जाते. इन महानुभावोंका भूतलपर प्राकटच, चाहे शापवश भी क्यों न हो, होता है प्रायः शुद्धताके लिए ही. भगवान् इन जीवोंके लिए अपने स्वरूप तथा अपनी लीला में जैसा तारतम्य प्रकट करते हैं तदनुसार इन भक्तोंमें भी तारतम्य घटित हो जाता है. लौकिक व्यवहारका निर्वाह तथा वैदिक कर्तव्योंका पालन ये महानुभाव लोकमें बुद्धिभेद न पैदा हो जाये. एतदर्थ अर्थात् लोकसंग्रहार्थ ही करते हैं. इनकी सहज तथा उत्कट रूचि तो अपनी वैष्णवताके निर्वाहमें ही ही होती है—लौकिकता या वैदिकता के निर्वाहमें नहीं.

इस तरह पुष्टिजीवोंके मार्ग सर्ग एवम् फल का निरूपण सम्पूर्ण हुआ.

कभी-कभी इन पुष्टिमार्गीय जीवोंके साथ सदा-सर्वदा भटकते रहनेवाले चर्षणी जीव भी सम्मिलित हो जाते हैं. अतः उनके स्वरूपका भी थोडा-वहुत निरूपण यहां अप्रसंगोपात्त न होगा.

चर्षणी जीव

दैवी जीवोंके संगके कारण कुछ अदैवी जीवोंमें भी कभी-कभी तात्कालिक रूपमें दैवी लक्षण दिखलायी देने लगते है. पर ये लक्षण उन जीवोंमें चिरस्थायी नहीं होते. ऐसे जीवोंको 'चर्षणी जीव' कहा जाता है. चर्षणी प्रतिदिन नये-नये मार्गोपर भटकते रहते हैं—नये नये रंग बदलते रहते है. इनका अपना कोई स्थायी रंग अथवा स्वभाव नहीं होता. जिनके साथ सम्मिलित हो जाते है, उतने समयके लिए उनके गुण-धर्मोको अपना लेते हैं. अपने नित्यनूतन बदलते हुए रंगोमें कुछ न कुछ तात्कालिक फल अथवा अनुभूतियां इन्हें होती रहती हैं. दैवी जीवोंका संग पाकर दैवी शील प्रकट करते हैं तथा आसुरी जीवोंका संग पाकर ये आसुरी शील प्रकट करते हैं. स्थिर ये कहीं भी नहीं हो पाते.

(ख—१) प्रवाहमार्ग

प्रवाहमार्गीय जीवोंके स्वरूप देह एवम् व्यवहार का अब निरूपण किया जाता हैं.

सभी आसुरी सृष्टिके जीवोंको प्रवाहमार्गीय समझना चाहिये. गीतामें इनका निरूपण—"इन्हें न उचित प्रवृत्तिका और न उचित निवृत्तिका ही बोध होता है." कहकर किया गया हैं. प्रवाही जीवोंके दो अवान्तर भेद होते हैं.

यथा :

१) अज्ञ प्रवाही जीव

२) दुर्ज्ञ प्रवाही जीव

१) आसुरी सृष्टिके जिन जीवोंका वर्णन भगवान्‌ने गीतामें किया हैं उन्हें दुर्ज्ञ प्रवाही जीव समझना चाहिये.

२) इन दुर्ज्ञ प्रवाही जीवोंके संगवशात् प्रवाही स्वभाव या लक्षण प्रकट करनेवाले जीवोंको 'अज्ञ प्रवाही जीव' कहा जाता है.

पुष्टि जीव जैसे प्रवाहमार्गीय कुलमें जन्मग्रहण करनेपर भी प्रवाहमार्गीय वातावरणमें अपना तालमेल नहीं बैठा पाता, ठीक उसी तरह प्रवाहमार्गीय जीव पुष्टिमार्गीय कुलमें भी जन्मग्रहण करले परन्तु पष्टिमार्गीय वातावरणके साथ वह अपना तालमेल नहीं बैठा पायेगा... (यहांसे ग्रन्थ त्रुटित हो जाता हैं.)

ग्रन्थके प्रारूपके अनुसार अधोलिखित विषयोंपर प्रकाश अपेक्षित हैं.

(ख—१) प्रवाहमार्गीय जीवोंके देह एवम् व्यवहार का निरूपण.

(ख--२) प्रवाहसर्ग

(ख--३) प्रवाहफल

(ग--१) मर्यादामार्ग

(ग--२) मर्यादासर्ग

(ग--३) मर्यादाफल

(घ) तथा उपसंहार

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९८१ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उस संस्करण के सम्पादक तथा प्रकाशक श्रीमूलचंद्र तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सांकलिया महानुभावोंका हम इस पुनर्मुद्रणावसरपर कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं. इतिशम्.

S'RĪMAD VALLABHACHARYA

AND

HIS MISSION.

S'rīmad Vallabhacharya, the author of this little treatise 'Pushti-Pravāha-Maryādā', was born on the 11th day of the dark half of Chaitra, 1535 Samvat, (1479. A. D,) in the forest of Champa near Raipur. His father was Lakshmaṇa Bhatta, and Yallammagaru was his mother. He was a Telagu Brahmin studying the Taitiriya S'ākhā of the Black Yajur-Veda. Vallabha's birth is shrouded in the mysteries of the devotional beliefs of his followers, but one thing is certain that his followers believed that he was commissioned by God to inaugurate a great religious revival in India. From the writings of Vallabha which are available now, we can say that this belief was shared by himself also. It is not an uncommon phenomenon in India. Ramanuja, Madhva, Nimbarka, Chaitanya, and several other great teachers did believe in their special messages to the world. Vallabha's ancestors were Deekshītas, and were devoted to Krishṇa in the form of Gopāla. The Swarūpa of Madana Mohanaji in the Seventh Pītha is the one which came to him from his Sixth ancestor Yajna Narayana Bhatta. It is possible that Vallabha's father Lakshamana Bhatta and his ancestors were the Upāsakas of Gopāla according to the cult of Vishṇu-swami. The early years of Vallabha were passed by him with his father at Benares, where he is said to have mastered all the Vedas, Six Dars anas, and all schools of Āstika and Nāstika thinkers. He studied the S'aiva and Vaishṇava Āgamas. When Vallabha was comparatively young, his father died. Vallabha wanted to study the Vaishṇava systems of Madhva, Ramanuja, Nimbarka and others, and seeing that they were not prevalent there, in order to have direct knowledge, he is said to have proceeded to the south. Vallabha's desire to go to the south of India was very natural. During that time there was the powerful Hindu kingdom of Vijaya Nagar or Vidya-Nagar, over which ruled the mighty monarch Krishnadeva-Raya, himself a great Vaishṇava. During his time, it seems a convention was held of the representatives of all the existing Sampradāyas. The session seems to have been going on when Vallabha visited Vijaya-Nagar. The main dispute seems to have been between Vyāsa Tirtha, the Mādhva, and some representative of Mayavadins. It seems also clear that the Dwaita philosophy of the Mādhvas could not hold its own

against the attacks of S'ānkaras. At this juncture Vallabha seems to have baffled all by his great learning and powerful arguments. We see no reason to doubt this fact. The author of a rcently discovered work Vyāsa-Yoga-Charitam, from Vyāsa Raya Matha, does chronicle the fact that Vallabhacharya was honoured by the king Krishṇadeva Raya under the presidentship of the then famous Mādhva Swami Vyasa Tīrtha. Vallabha's position was peculiar. He accepted Adwaita pure and simple without the interference of the Mayavada of S'ankara; hence all the attacks advanced by Mādhvas and others against Advaita lost their force as against him. His acceptance of 'अद्वैतपूर्वकभक्ति' disarmed the opposition of both Vaishṇavas and S'ānkaras. The position taken up by Vallabha was not altogether singular. We believe that Narayana Bhatta, the author of the famous drama Veṇisanhara, was the follower of a system of Philosophy which combined in itself the Pure Adwaita of the Upanishads and the Bhakti Mārga. Whatever that may be, it is certain that Vallabha made a very great impression on king Krishnadeva, Vyasa-Tirtha and others who were present there. In consequence of this session, the king performed a 'Kanakābhisheka' with hundred Maunds of Gold. It is said that Vallabha did not accept this gold and began to commence his travels. This abstinence on the part of Vallabha added to the admiration of all those present for him. Vyāsa Tirtha, the Madhva, actually requested him to be the head-priest of his matha after him. Vyasa-Tirtha with king Krishna-deva again approached Vallabha and presented him with a good many valuables. From these presents Vallabha is said to have prepared a gold Mekhala set with diamonds, rubies etc., and presented the same to S'ri Vitthala in the Vitthala Swami Temple at Vijaya-Nagara. Ultimately, it appears, Vallabha could not conscientiously accept the offer of Vyasa-Tirtha, but from this time Vallabha came to be regarded as a great Acharya.

Before this, he seems to have met with great opposition from the Mayavadi Pandits of Benares. In order to silence them for ever, Vallabha wrote out a pamphlet in mixed verse and prose and affixed the same to the doors of Kās'hi Vis'vanātha, with a challenge to Benares Pandits to refute the same, if they could. One Upendra was the leader of the opposition. It seems this discussion ended into threats of personal violence, as a consequence of which Vallabha left Benares and moved over to Adel on the opposite bank of the Ganges. This work seems to have created a great stir in the world of Scholars then living. One Ayyanna Dikshita actually mentions it by name in his Vyasa-Tatparya-Nirṇaya. Ayyanna's seems to be a veiled attempt

to belittle the achievement of Vallabhacharya by propounding a principle though novel, far from convincing, for finding out the true view of Vyasa. It is would be rather hazardous to say that the true view of Vyasa can be determined from the statement of the opponents. Assuming however that it is so, the opponents mention both Parinama and Vivarta as the view of Vyasa. Hence from the statements of opponent Sankhyas and Naiyayikas it is impossible to come to the conclusion that Vyasa teaches Vivarta alone in his Brahma sūtras.

The last portion of his life was passed at Adel, where he finished his works which were begun by him during his travels, and served Lord Krishna with the love and devotion of Gopees, and founded his system on it. At the age of 52 he left his Parnas'āla, joined the Sannyasa Ās'rama and came to Benares. For a month he observed fast, and for the last eight days he observed मौनव्रत, and on the 2nd day of the bright half of Āshadha Samvat 1587, he left this world mid-day.

Vallabha married one Maha Lakshmi. By her he had two sons, Gopinatha and Vitthales'wara. Gopinatha had one son named Purushottama, after whom his line became extinct. Vitthales wara lived over seventy years. He had seven sons. During his time the Sampradaya flourished very considerably. Todarmal, Birbal, and Ray Purushottam seem to have come under his influence. Akbar also presented him with Gokula and Jatipura villages in Vraja. All the present Maharajas are direct agnate descendants of Vitthales'wara.

While he was staying in the north of India, Vallabhacharya came into contact with Kes'ava Kashmirin, the famous Nimbarka scholar, and Chaitanya, the Bengal Saint. They were both Krishnopasakas, and it seems from Sampradayika gathas that their relations were very cordial. Kes'ava presented his pupil Madhava Bhatta Kashmirin to Vallabha in Dakshina of भागवतकथाश्रवण. He became his devout disciple, and during his whole life acted as the scribe of S'ri Vallabha. It seems that during Madhava Bhatta's stay with him at Adel, Vallabha composed his numerous works. During that interval Vallabha wrote Purva Mimānsā Bhashya, Brahma-Sūtra Bhashya, Tattvadipa-Nibandha with his own commentary, Sūkshma tıka and Subodhini on Srimad Bhagavata, and the sixteen Prakarana Granthas giving in brief the essence of his views. It is really unfortunate that only a fragment of his Purva Mimansā Bhashya is available now. Aṇu Bhashya, as we have it now, is not wholly written by him.

Krishnās'raya. The country surrounding the holy rivers the Jamuna and the Ganges was overrun by mahomedans. The kingdom of the great Krishnadeva-Ray in whose court at Vijayanagar Vallabhacharya gained distinction as one of the greatest Acharyas then living, was under the perpetual terror of neighbouring mahomedan kingdoms of the Bahamany dynasty, and its disruption appeared to him to be a question of time. After the death of Krishnadev-Ray, such a time did arrive, and during the regime of weaklings who succeeded Krishnadeva, we find that the five mahomedan kings of the Bahamani Dynasty did combine to overthrow the Hindu kingdom of Vijaya-Nagar, and they actually succeeded in destroying the same in 1565 A. D. in the battle of Talikota. This being the condition of India the very existence of the Vedic civilisation seemed to Vallabhacharya to be in peril. Numerous writers before him had painted the picture of Vedic religion in colours which made it difficult, if not imposible, to be recognized. Even then, after removing all the false colours and showing it in true perspective, it was a great problem to put the same in practice in an acceptable form, having regard to the disturbed state of society then existing in India. Vallabhacharya seems to have devoted much anxious thought to this problem. The problem before him was two-fold, first how he was to present the true picture of Vedic religion, and secondly how he was to save mankind, degenerated and distracted as it was, on the basis of the same. These questions seem to have troubled him most. He found it impossible to solve this problem through human agency. It was in the moments of holy communion and devine inspiration, that a mode of worship was revealed to Vallabha. Divine grace was the essence of this mode of worship. Hence following 'पोषणं तदनुग्रहः' a sentence in the Bhagavata, he named this mode as पुष्टिमार्ग.

The conception of this Pushti-Marga was based on a very broad basis. Traivarṇikas and Non-Traivarṇikas, males and femals can equally be Adhikari in this path. The position of the female was elevated to an extent unknown to Vedic times. The conceptions of the Highest Deity, human soul, universe etc. were accepted on the basis of the Vedic doctrine of Brahmavāda, but the process of Sādhanā was based purely on love generated by the singular grace of the Supreme Deity. The Grace Divine was to act in inverse ratio of the individual's attachment to Veda and Loka. The lesser the attachment to Loka and Veda, the deeper became the attachment to the Supreme Deity. Such love devoid of Upadhi and Avadhi was the index of the Divine Grace. Without love the mode of worship was not Sevā, but a Pūjā. Hence the first requisite

The last Adhyaya and a half of the Bhashya is finished by his son Vitthales'wara. Sūkshma tika is almost lost. Even Pushti-Pravaha-Maryada Bheda, one of the minor Prakaraṇas, here printed, is not available as a whole. The Bhagavata Subodhini is available only on the 1st, 2nd, 3rd, 10th and a portion of 11th Skandhas. It is possible that Vallabha wrote on all the Skandhas. The loss of these valuable works seems to have been due partly to the apathy of his descendants and followers. It is a pity that no one seems to take care to preserve even those of the writings of Vallabhacharya and his descendants which are available at present. Stray efforts like ours are hardly commensurate with the task which is of immense magnitude, requiring the collaboration of Scholars, Maharajas, and rich Vaishnavas coupled with earnestness of purpose.

During his visit to Vraja, Vallabha set up the Shrine of S'rī Nathaji on the holy hill Govardhan in a temple built for that purpose by one Purṇa Malla Kshatriya. There Vallabhacharya used to pass his Chātura-Māsa *i. e.* Āshādha S'ukla eleventh to Kārtik S'ukla eleventh every year. Here he developed the asthetic side of Vaishṇavism by refining and perfecting the mode of worship Sevā Mārga. During his stay in Vraja, on the midnight of 11th day of the bright half of S'rāvana, he says he had holy communion with Lord Krishna, who commanded him to initiate Jivas in his service. This initiation consists of two parts: one is the formula to be repeated by the aspirant before the deity by holding Tulasi-leaves in hand and afterwards placing the same at the feet of the deity through Acharya, and the other part is the effect of the same, on the devotee, by which he becomes the Adhikari in the Sevā Marga of Lord S'rī Krishna.

In the introduction to Siddhānta-Rahasya we have at length explained the ceremony of initiation and philosophical reasoning on which it was based. A person so initiated was considered to be a member of the Pusti-Marga, a path to approach God through his singular grace alone. In this Prakaraṇa Grantha Vallabhacharya tries to distinguish this Pushti-Marga from the so-called Maryada-Marga and Pravaha-Marga. By a description of the characteristic features of these Margas, he tries to bring out the excellences of the Pushti-Marga as compared with the Maryādā and Pravāha. The conditions political social and religious then prevailing in India seem to have made Vallabhacharya very sceptical and nervous as to the future of the Veda-Marga or Maryada-Marga as he calls it here. A vivid picture of this degredation is drawn by him in another of his Prakarana Grantha

was the Grace Divine, which in its turn generated love towards the Supreme Deity and non-attachment towards the allurements of Veda and Loka. This could be achieved only by a complete self-surrender to the Supreme Deity. Hence this vow of 'Samarpaṇa' the Sadhaka had to take at the time of initiation. Taking this vow was the beginning, and realisation of the Supreme was the end of this Pushti-Mārga, while the stage between the two ends was to be passed through the process of what are called तनुजा and वित्तजा सेवा. This process gradually eliminates the objectionable features of अहन्ता and ममता, and generates a mental attitude in which the presence of the Supreme Deity is always experienced.

To distinguish this Pushti-Marga from the Marya'da' and the Prava'ha, Vallabhacharya first explains the existence of these Margas. The existence of Bhaktimarga-Path of devotion, pre-supposes the existence of Pushti which itself is the finest flower of the Bhakti-Marga. The observance of the Vedic rites and Vedic Jnana proves the existence of Maryada-Marga. Those who follow only worldly pursuits are said to follow the Prav'aha-Marga. 'अत्रैवं स्वरूपनिश्चायनेन यावन्तः पुष्टिप्रयुक्ता मार्गा भक्तिरूपास्ते पुष्टिमार्गेऽन्तर्भवन्ति, ये लौकिकाः सर्गपरंपरां न विच्छन्दन्ति, ते प्रवाहेऽन्तर्भवन्ति, ये वेदनियमं नातिवर्तन्ते, ते मर्यादायामन्तर्भवन्ति ।'. The bhajana in Pushti-Marga is due to love alone. This bhajana is not based on the injunctions of the Veda, nor on worldly selfishness. Hence the devotee who becomes the recipient of the singular grace of the Supreme Deity gives up his faith (A'stha') both in Loka and Veda. The soul elect attains his status through Divine Grace alone un-fettered by Vedic rules and worldly demands. Such a soul is the specially favoured one and naturally he is considered to have reached the highest stage. The difficulty to reach this stage is emphasized by Krishṇa in 'कश्चिदेव हि भक्तो हि'.

Thus the Pushti Soul is distinct from the Maryada Soul as well as Pravaha Soul. The distinction was first inferred from the fact that the Pushti Soul's sole dependance is on the grace of the Supreme Deity, that of Mary'ad'a Soul on Vedic injunction, that of Pravaha Soul on worldly pursuit. This distinction is due to difference in the mode of creation of each of these Souls. The Highest Deity is Sat-Chit-Ananda. He creates Pravaha Sṛishti through Manas, Maryada Sṛishti through Vachas, and Pushti Sṛishti through Kaya or Ānanda S'rianga. Pravaha Sṛishti is Sadans'a-Pradhana, Maryada Srishti Chidans'a Pradhana, while Pushti Sṛishti is Anandāns'a Pradhana. The Pushti Soul is guided by the dictates of love of God, Maryada Soul by

Vachas, Words of God spoken in Veda, and Pravaha Soul by the will, manas of Lord. The phala of Pravaha Soul depends on Mulechha will of God, that of Maryādā Soul on the Vedic words, and that of Pushti Soul on Purushottama-Ananda-Kaya. The Pravaha Soul gets only birth and death, the Maryada Soul Vedic Moksha, and the Pushti Soul Praves'a-entrance in Līlā Srishti. From this it appears that Vallabhacharya regards the Pushti soul as different both from Maryada Soul and Pravaha Souls. The Pushti Soul is meant for the service of the Swarupa of Lord, and for no other object. Between the Pushti Soul who has reached the highest stage and the Supreme Deity there, is no तारतम्य so far as Swarupa, avatara, external sign, attributes, actions or Vigraha except that which is absolutely essential for the perfection of the Divine play. Such a soul being created from काय (कः आनन्दः) आनन्दस्वरूप essentially resembles the Lord in स्वरूप. He is like Him अतिरोहितसच्चिदानन्द. Just as the Lord comes down in the world (अवतार) making सत्त्व as His अधिष्ठान or basis, so also has he in this world सत्त्व as his basis. Like the Lord he has also marks such as कमल, ध्वज, वज्र, अंकुश etc. Like the Lord he has six गुणs ऐश्वर्य etc. श्रुतिs like एकोऽहं बहु स्याम्, स एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, पतिश्च पत्नी चाभवताम् refer to such a soul. The पुष्टि Soul is मुक्त and शुद्ध. He is लीलासृष्टिस्थ. He is the true recipient of the Divine Grace पुष्टि. आविर्भाव manifestation of the Lord is his फल and not मोक्ष.

The Pushti Soul of this pure type is an extremely rare thing. In the mass we find Souls whose inclinations are mixed. Such mixed Souls have also their scope in the Divine Fair. Pushti Souls with Pushti become Sarvajna, Pushti souls with Pravaha become engrossed in actions pertaining to God, and those with Maryādā devote themselves to Gunas of God, while a Pushti Soul with love alone is rare.

To the Pushti Soul God manifisted is phala in this and the next life. A Pushti Soul very often becomes subjected to other influences, then he is called Mis'ra Pushti Soul. He does not ultimately suffer even when there is a curse in case of egotism. He has to suffer for a purpose and when that purpose is served, he also becomes pure. His Parinishtha being in God alone, the Laukika and Vedic activities followed by him are without Astha. He is placed in that position, so he seems to follow those activities, though his goal is Bhagavatprapatti alone. His Vaishnavatva is sahaja natural, while his other activities are due to the circumstances in which he is somehow placed. A Pushti Soul having come in Pravaha does not ultimately suffer from the shortcomings of Pravaha; the grace of Lord on which he depends, saves him there also.

After describing the characteristics of a Pushti Soul, Vallabhacharya describes who are called Sambandhi Souls. They wander always. They don't really belong to any class, but become such on account of their contact with Souls of such a class. They are known as Charshani. They have no definite inclination. They have their fruits according to their actions.

Pravaha Souls are described by Krishna in 'प्रवृत्ति च'. They are known as Āsuras. They are of two sorts. One class is known as दुर्ज्ञ and other as अज्ञ. The दुर्ज्ञs are real Āsuras, while अज्ञs are those who follow दुर्ज्ञs. The Asuratva of अज्ञs being due to an extraneous cause, may disappear, while the दुर्ज्ञs being मायिक disappear into Māyā.

Incomplete as this work is, we are not in a position to exactly understand the views of Vallabhacharya as regards the Maryada and Pravaha Souls, but the characteristics of the Pushti Soul—Soul who is the subject of Lord's Varana, are fully set out. The Soul elect is a peculiar Soul who though appearing sometimes different, never ceases to be as such. His Pramaṇa, Prameya, Sadhana and Phala is Lord Krishna alone. Such a Soul may belong to any sex, class, or race, but if he has the requisite Prapatti-sole dependendce of God,—He alone saves him. Such dependence is not possible in the absence of the purest love, and such love is impossible in the absence of the Grace of God. For this reason Vallabhacharya declares that the sine quo non of the Adhikara in Pushti Marga is the Aṇugraha of the Supreme Deity. Aṇugraha of Lord controls the Pushti Soul from the व्युच्चरण to नित्यलीलाप्रवेश and nothing else. श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

Bombay,
28th-3-1925.

M. T. Telivala.

EDITORS' NOTE.

In this volume are printed four commentaries with the text of the Pushti-Pravāha-Maryādā of S'rī Vallabhāchārya. The four commentaries printed here are those of S'rī Gokulanathaji, S'rī Raghunāthaji, S'rī Kalyanarayji and S'rī Pitambarji. The first two are grand-sons of S'rī Vallabhacharya, the third his great-grand-son and the fourth is 6th agnate descendant. The last Commentary though it is published in the name of S'rī Pitambarji, we have no doubt, is actually written by his learned son S'rī Purushottamji. S'rī Purushottamji seems to have written this and dedicated it to his father by ascribing the authorship of the same to him. Whatever that may be, the style is evidently familiar one which we meet in other writings of S'rī Purushottamji.

Pushti-Pravāha-Maryādā is one of the so-called 'Shodas'a Grantha' sixteen works of S'rī Vallabhacharya. Though this is a Prakaraṇa grantha, the whole of it is unfortunatily not available. The last portion of it seems to have been lost by the time S'rī Gokulnāthaji came to write his commentary on it. S'rī Gokulnathaji remarks at the end of his commentary thus:—'यद्यप्यत्र ग्रन्थोपसंहारदर्शनाभावादग्रेपि ग्रन्थोऽस्तीति ज्ञायते, तथाप्यग्रिमग्रन्थस्याप्रसिद्धत्वाद्यावत्प्रसिद्ध एव व्याख्यात इति नानुपपत्तिः काचित्'. S'rī Raghunathaji another commentator also remarks at the end of his commentary 'इत ऊर्ध्वं ग्रन्थत्रुटिः'. S'rī Gokulnathaji and S'rī Raghunathaji are both grandsons of S'rī Vallabhacharya, and from the above we come to know that they were unable to trace the whole of the present Prakaraṇa Grantha and therefore they had to satisfy themselves by commenting on that portion of Pushti-Pravāha-Maryādā which was available to them during their times. Though we are not informed exactly as to what was lost from this work by these commentators, we do learn from the last commentator S'rī Pitambaraji or S'rī Purushottamji that the portion of this work dealing with the प्रयोजन, साधन, अङ्ग, क्रिया and फल of प्रवाहमार्ग and प्रयोजन, स्वरूप, अङ्ग, क्रिया, साधन and फल of मर्यादामार्ग, seems to have been lost. Whatever that may be, we have also to satisfy ourselves by publishing the portion which is available. Inspite of our efforts we have not been able to trace the whole of it anywhere. How the last portion of the present work came to be lost as early as the time of S'rī Gokulnathaji is a question which is not possible for us to answer definitily. In the absence of any reliable information whatever we may say would be nothing more than speculation. It is not absolutely impossible that this work in the original with others of S'rī Vallabhacharya, was consigned to oblivion by the wife of S'rī Gopinathaji (elder son of S'rī Vallabhacharya) when differences arose between her and her brother-in-law S'rī Vitthala Dikshita, on the death of her husband, as to the succession to the seat of Acharya between her son Purushottamaji and S'rī Vitthala Dikshita. It does not seem to be probable that S'rī Vallabhacharya himself left it incomplete. Possibly this work as it is available deals fully with the Pushtimarga, while the rest of the portion dealing with Pravāha and Maryādā being uninteresting to the exclusive tendencies of S'rī Vitthala Dikshita became neglected with the result that by the time Gokulanathaji came to write his commentary, he was unable to trace it. In those days the means of communication were few. Whatever might have been the reason for the loss, the fact is that we have now to satisfy ourselves with the fragment as is available.

There is not much difference in the text of the present work except a slight variation in the order of the verse 4 and 5. S'rī Raghunathaji and Pitambarji read the 5th verse after the first half of the 4th. In the 6th verse Raghunathaji reads मार्गैकत्वेन instead of मार्गैकत्वेपि. In 16th verse instead of फलं त्वत्र, Kalyanarayji and others read फलमत्र. In 19th verse रोगाद्युपद्रवः is read in plural by Pitambarji. Some read लौकिकत्वं वैदिकत्वं in inverse order. In verse 25th Pitambarji reads तैन युज्यते instead of तैर्न युज्यते. Besides these there does not appear to be any material difference in the readings of the text. None of the commentaries except the last has been printed before. No other commentary is known to exist other than the four which are printed here. The text of all the four commentaries is based on old and reliable MSS. The text of S'rī Vallabha alias Gokulnathaji commentary is chiefly based on six MSS, two of which were recieved from Pandit Gattulalaji's Library, one from S'rī Vallabhalalji Maharaja of Kāmā, one from S'rī Gokulnathaji Maharaja of Bombay, one from S'rī Ranchhodlalji of Bombay, one from Bhandarkar Research Institute. Raghunathaji's tika is based on three MSS; one from Gattulalaji's Library, one from Bhandarkar Research Institute and one from S'rī Mathuros'aji's Temple at Kotah. S'rī Kalyanrayaji's tika is similarly based on six or seven MSS. derived from the sources mentioned above. Pitambarji's tika is based on six MSS; and one printed copy of Pandit Balabhadra S'arma. Out of these six two were recioved from S'rī Gokuladhis'aji's Mandir of Bombay, the remaining were received from sources mentioned above. A perusal of the six MSS. of S'rī Pitambarji's commentary reveals the fact that the learned author has revised his tīka some time after he wrote the same. Purushottamji was a great authority in the Sampradaya, hence both the original and revised versions of this tika became current in the Sampradaya. Many of the readings noticed by Pandit Balabhadra in tho foot-notes of his edition are due to this fact. We have however not thought it fit to perpetuate those readings of the original draft which the learned author himself did not retain in the revised version. On the whole the MSS. were tolerably good. We are much obliged to all gentlemen and institutions who have been kind enough to help us as above.

As the concluding portion of this work is missing, we are not in a position to know the exact name given by the author to this work. Some Scholars have named this work पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, and there is great plausibility in that selection, but the invariably uniform 'इतिश्रीपुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृति' in all the MSS. seen has inclined us to adopt पुष्टिप्रवाहमर्यादा as the name of this work without the addition of the word भेद.

The funds for the publication of this work have been supplied by one of our collaborators Mr. Dhirajlal Vrajdas Sankalia in the happy memory of the Wedding-Ceremony of his eldest son Mr. Natvarlal.

With feeling of Joy we offer this fruit of our labour of love at the Lotus-feet of Lord S'rī Krishna.

Bombay,
3rd-3-1925.

M. T. Telivala.

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥ १ ॥
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।
भक्तिमार्गस्य कथनात्पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ २ ॥
द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेः प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः ।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥ ३ ॥
कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त इतीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात्पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ ४ ॥
न सर्वोऽतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ।
यदा यस्येति वचनान्नाहं वेदैरितीरणात् ॥ ५ ॥
मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥ ६ ॥
जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यताश्रुतेः ।
यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥ ७ ॥
प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः ।
सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥ ८ ॥
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥ ९ ॥
मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेऽपि च ।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकता ॥ १० ॥
तानहं द्विषतो वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः ।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥ ११ ॥
तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥ १२ ॥
स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ॥ १३ ॥
तथापि तावता कार्यं यावत्तस्य करोति हि ।

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः ॥ १४ ॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥ १५ ॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः ।
एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते ॥ १६ ॥
भगवानेव हि फलं स यथाऽऽविर्भवेद्भुवि ।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥ १७ ॥
आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ।
अहङ्कारेऽथ वा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥ १८ ॥
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवाः ।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥ १९ ॥
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ।
वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥ २० ॥
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः ।
सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥ २१ ॥
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।
क्षणात्सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥ २२ ॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ।
प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान् ॥२३॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे प्रवृत्तिं चेति वर्णिताः ।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ॥ २४ ॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः ।
प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते ।
सोऽपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ॥ २५ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितः पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ।

श्रीश्रीवल्लभकृतविवरणसमेता ।

श्रीमत्पितृपदाम्भोजं नत्वा सर्वार्थसिद्धिदम् ।
आचार्यदर्शितं मार्गत्रयं व्याख्यातुमुद्यतः ॥ १ ॥
हरिवागीशवागर्थो न स्वतो बुद्धिगोचरः ।
तत्कृपैव तदीयं मां ज्ञात्वार्थं बोधयिष्यति ॥ २ ॥
इति निश्चित्य मनसि स्वाशक्तिं तत्कृपाबलम् ।
विवृतिः कर्तुमारब्धा तत्पदाब्जप्रसादतः ॥ ३ ॥

यद्यपि पुष्टिप्रवाहमर्यादामार्गाः गीताश्रीभागवतादावुक्ता एव, तथापीयदवधि विविच्य केनापि न प्रकटीकृता इति श्रीमदाचार्याः प्रमाणपूर्वकं विविच्य प्रकटीकर्तुं प्रतिजानते **पुष्टिप्रवाहमर्यादा** इति ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥ १ ॥

मार्गा इति शेषः । विशेषेणेति । तत्र विशेषा मार्गत्रयेपि प्रत्येकं पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदकृता विशेषाः । ते साङ्कर्याभावाय पृथक् निरूप्यन्ते । तत्र पूर्वं मार्गत्रयविभेदज्ञापकान् विशेषानाहुः जीवदेहेति । पुष्टिमार्गीया जीवाः वक्ष्यमाणमार्गद्वयजीवेभ्यो भिन्नाः । तेषां देहाः पुष्टिमार्गानुकूला भिन्ना एव । तन्मार्गदेहसम्बन्धिक्रिया अपि भिन्नाः । निरन्तरं तदनुसारिक्रियाप्रवहणं प्रवर्तनं प्रवाहः तेनापि भेदः । फलेन च । वक्ष्यमाणमार्गद्वयफलातिरिक्तफलेनापि भेदः । एवं प्रवाहमर्यादयोरपि । चकारात् साधनैरपि भेदः ॥ १ ॥

एवं प्रकारभेदैर्वक्ष्यामीति कथनं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञायाः प्रयोजनमाहुः सर्वेति ।

वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।

सर्वेषां मार्गत्रयाणां सन्देहाः संशयाः यस्य प्रकारभेदस्य श्रुतेः श्रवणात् कदापि कस्यापि न भविष्यन्ति ।

एवमुद्देशेन मार्गत्रयभेदमुक्त्वा लक्षणैराहुः । तत्र प्रथमं पुष्टिमार्गसद्भावे प्रमाणमाहुः भक्तिमार्गस्येति ।

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ २ ॥

यद्यपि भक्तिमार्गा मर्यादादिभेदेन बहव एव श्रीभागवतादावुक्ताः सन्ति, तथाच, कपिलदेवैरुक्तं 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यत' इत्यादि। तथा चैकादशेपि योगेश्वरैर्भक्तभेदकथने भक्तिभेदा उक्ता एव। तथापि शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैर्भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय इति यदुक्तं तस्यायमाशयः। तत्र कपिलयोगेश्वराद्युक्तप्रकारेषु शुद्धपुष्टिलक्षणाभावात् न शुद्धपुष्टिभक्तित्वम्। अत एव शुद्धपुष्टिलक्षणमाहुः। 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा' इति नारदपञ्चरात्रकथनात्। यद्यपि 'स्नेहो भक्ति'रित्येतावदेव मुख्यं भक्तिलक्षणम्, तथापि 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्त्वि'ति विशेषणकथनस्यायमभिप्रायः। प्रथमत एवाचार्यप्रकटितभक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य यावत्सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो भवति, तावत्सेवादिकरणे अपराधाभावार्थं माहात्म्यज्ञानस्योपयोगः। सुदृढस्नेहोत्पत्त्यनन्तरं तस्य स्वत एव निवृत्तेः। अत एव पूर्णमाहात्म्यज्ञानवतां श्रीदेवकीमातृचरणानामपि शुद्धपुष्टिमार्गस्नेहोत्पत्त्यनन्तरं माहात्म्यज्ञानतिरोभावात् 'समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधी'रिति वचनम्। अन्यच्च। तत्रैव व्रजवासिनां सुदृढस्नेहवतामवस्थासाधनविरुद्धसर्वाशक्यश्रीगोवर्धनोद्धरणम्, तेन च क्षुत्पिपासाद्यसह्यशारीरधर्मविनिवृत्तिपूर्वकं सपरिकरसर्वव्रजरक्षाकरणम्। आत्मयोगानुभावेन श्रीगोवर्धनोपरिस्थितपक्षिपश्वादिरक्षाकरणरूपात्यद्भुतानिर्वचनीयमाहात्म्यं दृष्ट्वापि वृष्टिनिवृत्त्यनन्तरं श्रीगोवर्धनच्छायातः सर्वान् बहिरानीय, श्रीगोवर्धनं यथास्थानं सम्यक् स्थापयित्वा, बहिरागमनानन्तरं दृष्टमाहात्म्यस्मरणसम्भावनारहितैर्व्रजवासिभिर्व्रजसीमन्तिनीभिश्च भगवति दध्ना तिलकं विधाय, तदुपरि अक्षतान् स्थापयित्वा, जलं श्रीभगवदुपरि भ्रामयित्वा, तज्जलपानेन तदनन्तरमाशीर्योजनेन सुदृढस्नेहवत्त्वात् स्नेहकार्यमेव सर्वैर्व्रजवासिभिः कृतम्, न तु माहात्म्यदर्शनजनितगौरवेण नमनविज्ञप्त्यादिकमपि। तदेवोक्तम्, 'तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकस' इत्यादिना। अतो यावत् सुदृढः स्नेहो भवति, तावदेव माहात्म्योपयोगः, न तु सुदृढस्नेहोत्पत्त्यनन्तरमपीति सर्वमनवद्यम्। एतदेव भक्तिमीमांसायां शाण्डिल्यैरपि 'अथातो भक्तिजिज्ञासे'त्युक्त्वा 'सा परानुरक्तिरीश्वर'इत्येव भक्तिलक्षणमुक्तम्। नतु माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वमपि। अत एव यत्र परानुरक्तिः, तत्र परानुरक्तेरेव सर्वात्मना प्राबल्यम्, न तु माहात्म्यज्ञानसहभावस्यापि। अत एव श्रीगोकुले मृत्स्नाभक्षणप्रस्तावे श्रीमुखव्यादानानन्तरं सम्पूर्णब्रह्माण्डदर्शनानन्तरं पूर्णमाहात्म्यज्ञाने जातेपि श्रीमातृचरणानां परमानुरक्तिवशात् माहात्म्यज्ञानस्यैव तिरोभावः, न तु पुत्रत्वभावस्यापि। तस्मात् माहात्म्यज्ञानाद्युपाधिरहितः साक्षाद्धर्मिस्वरूपपर्यवसायी सुदृढः ज्ञानादिसर्वानपनोद्यः सर्वतोधिकः अगणितानन्दरूपः अतुल्यातिशयः एतादृशः स्नेह एव भक्तिपदवाच्यः। एतादृग्भक्तिमार्गस्य कथनात् प्रमाणपूर्वकं निरूपणात् पुष्टिमार्गोस्तीति निश्चयः, यथा श्रीगोकुले। अत एव

१. निवृत्ति। २. दध्नादितिलकम्।

श्रीमदाचार्यैरुक्तं 'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले'इति । अत एव श्रीगोवर्धनोद्धरणप्रस्तावे 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रह'मित्यादिना भगवता सप्तदिवसधारणेन लोके जीवानां देवऋषिपितृआत्माआत्मीयऐहिकपारलौकिक इति सप्त रक्षकाः प्रसिद्धाः, तद्रक्षातः पृथक्कृत्य स्वसम्बन्धस्थापनेन स्वयमेव रक्षाकरणेन केवलस्वीयत्वसम्पादनं पुष्टिस्वरूपमिति ज्ञापनायाचार्यैरुक्तं **पुष्टिरस्तीति निश्चय** इति ॥ २ ॥

एवं पुष्टिस्वरूपमुक्त्वा प्रवाहस्वरूपमाहुः ।

'द्वौ भूतसर्गा'वित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः ।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥ ३ ॥

गीतासु 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मि'न्नित्यारभ्य 'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति'मित्यन्तं प्रवाहलक्षणस्योक्तत्वात् आसुरजीवा एव प्रवाहपदवाच्याः । तेषां कदापि कुत्रापि 'मामप्राप्यैवे'ति भगवद्वाक्यात् भगवत्सम्बन्धाभावात् आनन्दराहित्याच्च प्रावाहिकत्वमेव । नदीप्रवाहपतिततृणकाष्ठादिवत् कुत्रापि स्थितिगतिपर्यवसानाभावात् प्रवाहरूपत्वमेव । यद्यपि तेषां अन्धतमःप्रवेशरूपा आसुरी मुक्तिरस्ति, तथापि तस्याः सुखदुःखात्यन्ताभावरूपत्वेनानन्दशून्यत्वात् प्रवाहरूपतैवेति ज्ञापनाय भगवतोक्तम्, 'ततो यान्त्यधमां गति'मिति । तस्या मुक्तेरधमत्वात् प्रवाहरूपैवेत्याचार्यैरुक्तं **'द्वौ भूतसर्गा-वित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थित** इति । एवं प्रवाहलक्षणमुक्त्वा मर्यादालक्षणमाहुः **वेदस्येति** । वेदस्येति सामान्यकथनात् काण्डद्वयात्मको वेद उक्तः, तत्र काण्डद्वयेपि मर्यादाया निरूपितत्वात् । तत्र पूर्वकाण्डे कर्ममर्यादा निरूपिता, उत्तरकाण्डे ज्ञानमर्यादा निरूपितेति वेद एव मर्यादाद्वयसत्त्वे प्रमाणमित्युक्तम् । एवं कर्ममर्यादाज्ञानमर्यादासत्त्वे वेद एव प्रमाणमिति ज्ञापनायाचार्यैरुक्तं वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थितेति ॥३॥

एवं मर्यादासत्त्वे प्रमाणं निरूप्य कर्ममार्गज्ञानमार्गयोरपि भक्तित्वमाशङ्क्य निराकुर्वन्ति **कश्चिदेवेति** ।

'कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त' इतीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ ४ ॥
न सर्वोतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ।
'यदा यस्ये'ति वच'न्नाहं वेदै'रितीरणात् ॥ ५ ॥

अस्यायमर्थः । कर्ममार्गस्य सकामनिःकामभेदेन द्विरूपत्वम् । तथाचोक्तं भगवद्गीतायां, 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते । ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् । ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते' इति भगवद्वाक्यात् सकामकर्ममार्गीयाणां लौकिककामासक्तत्वान्न भक्तिगन्धोपि । निःकामकर्ममार्गीयाणामपि

चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन ज्ञानमार्गपर्यवसायित्वमेव, न तु भक्तिपर्यवसायित्वमिति न भक्तित्वम्। ननु मर्यादामार्गीयज्ञानस्य 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति ब्रह्मविषयत्वात् भक्तित्वमस्तु, इति चेत्, सत्यम्। यद्यपि मर्यादामार्गीयज्ञानस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति, तथापि शुद्धज्ञानमार्गे ब्रह्मपदस्याक्षरपर्यवसानात् न भक्तिरूपत्वम्। यथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्,' 'तदेषाभ्युक्ता, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुत्या। श्रुत्यन्तरेणापि 'न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्यादिश्रुतिभिर्मुक्तिफलत्वेन ब्रह्मस्वरूपज्ञानमुक्तम्। ज्ञानमार्गे 'यो वेद निहितं गुहाया'मित्युक्तत्वात् हृदयाकाश एव अक्षरब्रह्मस्वरूपचिन्तनं मुक्तिसाधनत्वेनोक्तम्। श्रुत्यन्तरेऽपि 'हृदा मनीषां मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदु'रिति कथनात् ब्रह्मस्वरूपं प्रादेशमात्रमङ्गुष्ठमात्रं वा हृद्येव कल्पयित्वा हृद्येव दर्शनम्, न तु भक्तिमार्गवत् बहिरपीति। अत एवाचार्यैरुक्तं वेदस्य विद्यमानत्वात् मर्यादापि व्यवस्थितेति। एतावत्येव वेदोक्तज्ञानमार्गमर्यादा।

एवं मर्यादाव्यवस्थामुक्त्वा अग्रे कश्चिदेव हि भक्तो हीति कथनस्यायमाशयः। पूर्वोक्तमर्यादामार्गीयस्यापि कदाचिद्भगवदनुग्रहेण भगवद्भक्तसङ्गेन वा यदि भगवति स्नेहोत्पत्तिर्भवेत्, तदा तस्यापि मर्यादामार्गीयभक्तत्वेन भगवत्प्रियत्वं भवति। अत एव गीतायां श्रीभगवतोक्तं 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी। सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रिय' इति। कश्चिदेवेतिकथनात् ज्ञानमार्गीयभक्तिप्राप्तौ दुर्लभत्वमुक्तम्। हीति युक्तश्चायमर्थः। एकवारं हिशब्दस्य युक्तार्थत्वमुक्त्वा पुनर्हिशब्दकथनस्यायमाशयः। मर्यादामार्गीयो यदा मर्यादामार्गीयभक्तसङ्गत्या भक्तः स्यात्, तदा जडभरतवत् प्रसिद्ध एव भवेदिति प्रसिद्धत्वज्ञापनार्थं हिशब्दः। ननु मर्यादामार्गेऽपि भक्तिकथनान्मर्यादामार्गीयभक्तेः पुष्टिभक्तेश्च समत्वं भवत्वित्याशङ्कानिरासायाहुः सर्वत्रोत्कर्षकथनादिति। श्रीभागवतगीतादिषु 'भक्तियोगो बहुविध' इति यावन्तो भक्तिभेदा उक्तास्तेभ्यः सर्वेभ्यः उत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः सिद्धः। उत्कर्षश्च यथा गीतायां 'तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुने'त्युक्त्वा 'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत' इति भजनस्यैव सर्वोत्कर्षकथनात्। साक्षाद्भजनं पुष्टिमार्ग एव, न तु मर्यादाभक्तावपि। श्रीभागवते भगवद्वचनं 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति। तथा श्रुतिरपि 'तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन। आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो

१. सर्वस्मिन् भक्तिमार्गेऽस्य स्नेहभक्तिरूपस्योत्कर्षकथनात्।

सुमतिं भजामहे' इति श्रुतावपि भजनस्यैवोक्तत्वात् तद्भजनं पुष्टिमार्ग एवेति सर्वत्र पुष्टिमार्गस्यैवोत्कर्ष उक्त इति ज्ञापनायोक्तं सर्वत्रोत्कर्षकथनात् । सर्वमार्गेभ्यः पुष्टिरुत्कृष्टेति ज्ञापनायोक्तं पुष्टिरस्तीति निश्चयः निर्गलितार्थः । तथा च गीतायां 'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते'ति कथनात् सर्वभावेन भजनं पुष्टिमार्ग एव, न त्वन्यत्रापीति । सर्वोपि । प्रकारभेदभिन्नः सर्वोपि भक्तिमार्गः मिलितः कदाचिदेतत्समो भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः न सर्व इति । एतत्पुष्टिमार्गसमः सर्वः सर्वोपि कोपि मार्गो न । अतः पुष्टिमार्गः प्रवाहाद्भिन्नः । वेदादपि वेदनिरूपितमर्यादामार्गादपि भिन्नः ।कुतः । भेदतः । स्वरूपसाधनफलभेदतः । भेदादित्यर्थः । अत्र भेदे प्रमाणान्तरमप्याहुः यदा यस्येतिवचनादिति । 'यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता'मिति । यदा यस्यानुगृह्णाति भगवान् पुष्टिमार्गे, 'अनुगृह्णाति' इति पदाद्यदा अनुग्रहं करोति, तदैव पुष्टिमार्गे प्रवेशो भवति, तदा प्रवाहतो मर्यादातोपि पृथक्करोति । अत एव सिद्धान्ते 'अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक' इत्याचार्यवचनम् । गीतास्वपि 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा । भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'ति । 'अनन्यभक्त्ये'ति वचनात् पुष्टिरूपया भक्त्या द्रष्टुं शक्य इति भक्तिमार्गस्य साक्षाद्दर्शनहेतुत्वम्, न तु ज्ञानमार्गवत् मनस्येवेति नियमः । इत्याद्यनेकहेतुभ्यः सर्वोत्कृष्टत्वात् प्रवाहमार्गान्मर्यादामार्गाच्च भेद उक्तः॥ ५ ॥

अत्र कश्चित् पूर्वपक्षी शङ्कते मार्गैकत्व इति ।

मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥ ६ ॥

त्रयाणां पुष्टिप्रवाहमर्यादामार्गाणां एकत्वमेव, भक्तिरूपत्वमेव । अस्यायमर्थः । यद्यपि पुष्टिमार्गस्य भक्तित्वमुभयवादिसम्मतमेव, तथापि अन्त्यौ प्रवाहमर्यादे तनू भक्त्यङ्गभूते। एवं सति ते अपि भक्त्यागमौ भक्तिप्रतिपादकशास्त्ररूपे मताविति तयोर्भक्त्यङ्गत्वं यद्ब्रवीषि, तन्न प्रमाणसिद्धम् । तत्प्रमाणपूर्वकं तयोर्भक्त्यङ्गत्वं निराकुर्वन्ति न तद्युक्तमिति । तत्र प्रवाहमार्गस्य भक्त्यङ्गत्वनिराकरणे प्रमाणमाहुः सूत्रतो हीति । सूत्रं भक्तिमीमांसासूत्रम् । तद्यथा । 'तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्' । अस्यार्थस्तु, तत्संस्थस्य भक्तिमार्गप्राप्यपुरुषोत्तमनिष्ठस्य अमृतत्वम् । तन्मार्गीयस्य साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्यामृतत्वोपदेशात्। अमृतत्वकथनादिति भक्तिमार्गीयसाधनफले निरूपिते । उपदेशस्तु, 'अनिमित्ता

१. प्रवाहात् । अस्यैव व्याख्यानं प्रकारभेदभिन्नः सर्वोपि । २. पूर्वपक्षोट्टंकनं तु श्रीमत्कल्याणरायपादैर्दर्शितमत्रापि बोध्यम् । तथाहि । ननु प्रवाहमर्यादामार्गयोरपि व्यवहारशुद्धिसाधकत्वे भक्त्युपयोगात् अङ्गाङ्गिभावेनैको भक्तिमार्ग एवास्त्विति । ३. सूत्रं फलपरत्वेन व्याख्याय साधनपरत्वेनापि व्याकुर्वन्ति तन्मार्गीयस्येत्यादि । ४. पुरुषोत्तमनिष्ठस्यामृतत्वं फलम् । साक्षाद्भगवदनुग्रहलक्षणस्तत्सम्बन्धः साधनं च निरूपितमित्यर्थः ।

भागवती भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी' । 'राजन्पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किंकरो च' । 'अस्त्वेवमेव भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मित्यादि । प्रवाहमार्गस्य 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्यारभ्य 'मामप्राप्यैवे'त्यन्तेन सर्वात्मना स्वसम्बन्धाभावकथनेन । अथ च भक्तिमार्गीयमुक्तेरमृतत्वकथनेन च प्रवाहमार्गीयमुक्तेरधमगतित्वकथनेन च प्रवाहमार्गस्य न भक्त्यङ्गत्वमिति त्वदुक्ताङ्गत्वशङ्का निरस्ता । एवं प्रवाहमार्गस्य भक्त्यङ्गत्वं निराकृत्य मर्यादामार्गस्यापि भक्त्यङ्गत्वं निराकुर्वन्ति युक्त्या हि वैदिक इति । भिन्न इति शेषः । युक्त्येत्येकवचनं जात्यभिप्रायेण । तत्रैता युक्तयः । भगवद्गीतासु द्वादशाध्याये, 'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा' इति अर्जुनेन भक्तिज्ञानयोस्तारतम्यप्रश्ने कृते सति, भगवता 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते । श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता' इति भक्तिमार्गोत्कर्षमुक्त्वा, तदनन्तरं ज्ञानमार्गस्य अक्षरपर्यवसायित्वेन तारतम्यज्ञापनार्थं 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् । सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः । क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' । अत्र भगवता 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'ति यदुक्तम्, तदक्षरस्य पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वात् ज्ञानमार्गस्याक्षरपर्यवसायित्वज्ञापनार्थम् । तत्रापि 'सन्नियम्येन्द्रियग्राम'मित्यारभ्य 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यत' इत्यन्तेन साधनानां क्लेशसाध्यत्वमुक्तम् । एतदग्रे 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय' इति भक्तिमार्गसाधनानां सुखरूपत्वकथनेन अनायासेन स्वप्राप्तिहेतुत्वमुक्तम् । 'मय्येवे'त्येवकारेण पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वं च । यद्यपि पूर्वं 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'त्यत्रैवकारेण पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वमपि सम्भवति, तथापि तत्र 'ये त्वक्षर'मित्येवोद्दिश्य 'मामेवे'त्युक्तत्वात् 'मा'मितिपदस्याक्षरपर्यवसायित्वमेव, अत्र तु 'मय्येव मन आधत्स्वे'ति सुखरूपभक्तिमार्गमुद्दिश्य कथनेन 'मय्येव'पदं पुरुषोत्तमपरमेव । एवं मर्यादामार्गविभेदिकामेकां युक्तिमुक्त्वा अन्यां युक्तिमाहुः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति । यत्र भक्तियुक्तस्य मर्यादामार्गीयज्ञानस्य श्रेयस्त्वेनापि नोपयोगः, तत्र मर्यादामार्गीयज्ञानस्य तदुत्तराङ्गस्य वैराग्यस्यापि भक्त्यङ्गत्वाभावे किं वाच्यमित्यपि युक्तिः । युक्त्यन्तरमपि । 'नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः । ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिहे'त्यत्र 'गोपिकासुत' इति भगवति पूर्णपुरुषोत्तमत्वमुक्त्वा तस्य भक्तिमतां सुखावाप्तिकथनेन ज्ञानिनामक्षरप्राप्तौ क्लेशयुक्तसाधनत्वकथनेन भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमः प्राप्यः, स च अनायासेनैव प्राप्यः । ज्ञानमार्गे अक्षरप्राप्तिः, सापि तु अधिकतरक्लेशेनेति भक्ति-

१ 'एव'मित्यारभ्य 'आहु'रित्यन्तं 'तस्मान्मद्भक्ती'त्यादिग्रन्थस्य केनचिल्लिखित आभासो लेखकदोषान्मध्ये पतित इति भाति, असङ्गतत्वात् । इति टिप्पणं एकप्राचीनादर्शे । भगवत्कर्तृकत्वं वा कल्प्यं क्रियायाम् ।

मार्गभेदिका युक्तयः किमतोधिकं वाच्या इति ज्ञापनायोक्तं भिन्नो युक्त्या हि वैदिक इति । पूर्वं सूत्रतो हीति हिशब्देन सूत्रप्रामाण्येन प्रवाहमार्गस्य भक्तिमार्गाङ्गत्वाभावस्य युक्तत्वं ज्ञापितम् । युक्त्या हि वैदिक इत्यत्र युक्तीनां गीताश्रीभागवतादिषु मर्यादा मार्गस्य भक्तिमार्गाङ्गत्वाभावप्रसिद्धिद्योतनाय हिशब्दः ॥ ६ ॥

एवं सूत्रयुक्तिभ्यां प्रवाहमर्यादयोः पुष्टिमार्गाङ्गत्वाभावं निरूप्यातः परं पुष्टिमार्गस्थानां जीवदेहकृतीनां मार्गद्वयापेक्षया सर्वात्मना सर्वप्रकारकोत्कर्षज्ञापनाय मार्गद्वयस्थजीवदेहकृतीनां स्वरूपं निरूपयन्ति जीवदेहकृतीनामिति ।

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः ।
यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥ ७ ॥
प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः ॥ ७½ ॥

प्रवाहमार्गे जीवा आसुराः, दैवजीवेभ्यो भिन्नाः, तेषां देहा भगवद्भजनप्रातिकूल्यात् दैवदेहेभ्यो भिन्नाः । तेषां कृतिरपि स्वार्थं पशुहिंसादिरूपा दैवजीवकृतेः सकाशाद्भिन्ना एव । एवं मर्यादामार्गेपि मर्यादामार्गीया दैवजीवाः प्रवाहमार्गीयासुरजीवेभ्यो भिन्नाः । तेषां देहा अपि वैदिकधर्मभगवत्पूजाद्यानुकूल्यात् आसुरजीवदेहेभ्यो भिन्नाः । तेषां कृतिरपि अग्निहोत्रादिश्रौतकर्मकरणेन मर्यादामार्गोक्तभगवत्पूजादिकरणेन ज्ञानोत्पत्त्यनुकूलत्यागादिकरणेन च भिन्नैव । ननु भवता प्रवाहमर्यादयोर्जीवदेहकृतीनां भिन्नत्वं निरूपितम्, तत्र यथा मार्गद्वयेपि देहकृतीनामनित्यत्वं प्रतीयते, तथा मार्गद्वयजीवानामप्यनित्यत्वं भवत्वित्याशङ्कां निराकुर्वन्ति नित्यतेतिपदेन । तत्र हेतुः श्रुतेः । तत्रेयं श्रुतिः । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इतिश्रुत्या अन्तर्यामिनित्यत्ववत् जीवस्य नित्यत्वं साधितमिति न जीवानामनित्यत्वम् । अथवा । एवं मार्गद्वये जीवदेहकृतीनां भिन्नत्वं निरूप्य मार्गद्वयजीवदेहकृतीनां नित्यत्वकथनस्यायमाशयः । तत्र जीवानां नित्यत्वं सर्ववादिसम्मतमस्त्येव, परं यद्यपि देहकृतीनां नित्यत्वं न प्रतीयते, तथापि देहकृतीनां नित्यता श्रुतेरिति नित्यत्वकथनस्यायमाशयः । प्रवाहमार्गीयो जीवो यदा उत्पद्यते, देहान्तरं गृह्णाति, तदा पूर्वदेहलक्षणयुक्तमेव देहं गृह्णाति, प्राचीनदेहकर्मानुसारेणैव कर्म करोति, न तु पूर्वदेहपरावृत्तौ देहान्तरं प्राप्तमिति पूर्वदेहधर्मपरावृत्तिरपि भवति । एवमेव पूर्वकर्मणोपि । एवं प्रतिजन्मनि देहधर्मकर्मणां तादृशत्वम् । न तु विपर्यासः । एवं देहकृतीनां प्रावाहिकरीत्या नित्यत्वज्ञापनायोक्तं नित्यतेति । तत्र हेतुः श्रुतेरिति । श्रुतिश्च 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्', 'यदिदं किंच तत्सत्यमित्याचक्षते'इति । अथवा । देहकृतीनां नित्यता लिङ्गशरीराभिप्रायेण । एवं मर्यादामार्गेपि जीवदेहकृतीनां नित्यता ज्ञेया । एवं यथा प्रवाहमर्यादामार्गीययोर्जीवदेहकृतीनां भिन्नत्वं नित्यत्वं चोक्तम्, तथा पुष्टिमार्गेपि

१. ज्ञानोत्पत्त्यनुकूलेति पाठः । २. परावृत्तिरिति शेषः ।

जीवदेहकृतीनां भिन्नत्वं नित्यत्वं चाहुः तद्वत्पुष्टिमार्ग-इति । यद्यपि पुष्टिमार्गे जीवा दैवा एव, तथापि तेषां मर्यादामार्गीयदैवजीवेभ्यो वैलक्षण्यं दर्शयन्ति । यद्यपि मर्यादामार्गीयजीवा दैवाः, पुष्टिमार्गीया जीवाश्च दैवा एव, तथापि द्वयोरपि दैवजीवत्वेपि मर्यादामार्गीयजीवादीनां निषेधपूर्वकं पुष्टिमार्गीयजीवादीनां भिन्नत्वं चाहुः द्वयोरपि निषेधत इति । तत्र भेदप्रकारः । दैवत्वेपि पुष्टिमार्गे 'अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक' इति वचनात् पुष्टिमार्गीयजीवानामनुग्रहविशिष्टत्वम्, न तु मर्यादामार्गीयजीववद्विध्यधीनत्वमपि । किञ्च । पुष्टिमार्गीयजीवानां 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्या साक्षात्पुरुषोत्तमवरणात् साक्षात्पुरुषोत्तमप्राप्तिरेव । मर्यादामार्गीयाणां तदभावादक्षरप्राप्तिरेव । यथा मर्यादामार्गीयदेहस्याग्निहोत्राद्यनुकूलत्वम्, तथा पुष्टिमार्गीयदेहस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यप्रकटितभगवत्सेवापरत्वमेव, न त्वन्यपरत्वमिति देहभेदः । देहभेदनिरूपणेन कृतेरपि देहाधीनत्वात् कृतीनां भेदः सिद्ध एवेति नानुपपन्नं किञ्चित् । अथवा । यद्यपि पुष्टिमार्गीयजीवदेहकृतीनां पूर्वोक्तप्रावाहिकरीत्या नित्यत्वमस्त्येव, तथापि प्रकारान्तरेणापि नित्यत्वमुच्यते । साक्षात्पुष्टिपुष्टिभक्तानां साक्षात्पुरुषोत्तमसंबन्धिफलानुभवयोग्यदेहानां नित्यत्वमेव । अन्यथा श्रीगोकुलवासिनां 'ते तु ब्रह्महृदं नीता' इति मुक्त्यनुभवकालेपि तेनैव देहेन मुक्त्यनुभवः। तदनन्तरं तेनैव देहेन सर्वेषां यथायोग्यं भक्तिमार्गीयफलानुभवः । यदि पुष्टिमार्गीयसाक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धिफलानुभवयोग्यदेहानां नित्यता न स्यात्, तदा मुक्त्यनुभवकाले स्थितिर्न स्यात् । तस्मात् पुष्टिमार्गीय[3]देहानां नित्यत्वमेवेति नानुपपन्नं किञ्चित् । एवं फलोपयोगिदेहनित्यत्वनिरूपणेनैव साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धिफलानुभवयोग्यकृतीनां नित्यत्वमनुक्तसिद्धमितिदिक् । एवं पुष्टिमार्गीयजीवदेहकृतीनां स्वरूपं निरूप्योपसंहरन्ति प्रमाणभेदादिति। 'अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक' इत्याद्युक्तप्रमाणैर्भेदनिरूपणात् प्रवाहमर्यादाभ्यां भिन्नः सर्वोत्कृष्टः शुद्धपुष्टिमार्गो निरूपितः । हि युक्तश्चायमर्थः । न हि साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धोपयोगिनो धर्माः मार्गान्तरेपि सम्भवन्तीति पुष्टिमार्गस्यैव सर्वोत्कृष्टत्वं युक्तमेवेति ज्ञापनाय हीत्युक्तम् ॥ ७½ ॥

एवं प्रमाणभेदेन मार्गत्रयभेदं निरूप्य एतदग्रे मार्गत्रयस्य सर्गान्तरसादृश्यनिराकरणपूर्वकं सर्गमारभ्य फलपर्यवसानपर्यन्तं भेदं निरूपयन्ति सर्गभेदमित्यादि ।

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥ ८ ॥
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमं प्रवाहमार्गसर्गभेदमाहुः इच्छामात्रेणेति । हरिः इच्छामात्रेण कांश्चिज्जीवानासुरान् करिष्यामीतीच्छया मनसा प्रवाहमार्गसृष्टिं कृतवान् । एवं प्रवाहमार्गसृष्टिमुक्त्वा

---

१. ऐक्यनिषेधपूर्वकमित्यर्थः । २. कृतिभेदः । ३. जीवदेहानाम् ।

मर्यादामार्गसृष्टिप्रकारमाहुः वचसेति । वचसा वेदरूपवाण्या मर्यादामार्गं सृष्टवान् । मर्यादामार्गस्य वेदमूलकत्वप्रसिद्धिद्योतनार्थं हिशब्दः । एवं शरीरैकदेशाभ्यां मार्गद्वयसर्गमुक्त्वा पुष्टिमार्गसृष्टेः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञापनाय पुष्टिमार्गसृष्टिमाहुः पुष्टिं कायेनेति । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण सम्पूर्णकायेन पुष्टिमार्गसृष्टिं कृतवान् । मार्गत्रयप्रयोजनमग्रे वक्ष्यन्ति । सम्पूर्णदेहेन पुष्टिसर्गस्य कथनात् पुष्टिसर्गस्य सर्वोत्कृष्टत्वं निर्धारितमिति ज्ञापनायोक्तं निश्चय इति ॥ ९ ॥

एवं मार्गत्रयसर्गस्वरूपं निरूप्य मार्गभेदेन मार्गत्रयफलस्वरूपमाहुः मूलेच्छात इति ।

मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च ।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकता ॥ १० ॥

सृष्ट्यन्तर्गतानां केषाञ्चित् जीवानामासुरत्वसम्पादिका या भगवदिच्छा सा **मूलेच्छा**, ततः तदिच्छया **लोके** प्रवाहमार्गे **फलं** अन्धंतमःप्रवेशरूपं भवतीत्यर्थः । एवं प्रावाहिकाणां फलं निरूप्य मर्यादामार्गीयाणां फलं निरूपयन्ति **वेदोक्तं वैदिकेपि** चेति । **वैदिके** मर्यादाज्ञानमार्गे 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति' इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यमक्षरप्राप्तिरूपं फलमुक्तम् । एवं कर्ममार्गेपि 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यादिश्रुत्या सकामस्य स्वर्गलोकप्राप्तिरूपं फलम्, निःकामयागकर्तुरपि स्वर्गलोककामनाभावात् स्वर्गलोके च 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं यत् तत्पदं स्वःपदास्पद'मिति स्वःपदलक्षणाभावात् आत्मसुखे च स्वःपदलक्षणयोगात् निःकामयागकर्तुरात्मसुखरूपं फलं भवति । चकारात्तादृशस्यापि भगवदनुग्रहेण भगवद्भक्तसङ्गेन भक्तिप्राप्तौ सत्यां मर्यादामार्गीयभक्तस्यापि मुक्तिरूपा पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवतीति ज्ञापनाय चकारः । एवं द्विविधमर्यादामार्गीयाणां द्विविधं वेदोक्तं फलं निरूप्य पुष्टेः फलं निरूपयन्ति **कायेन तु फलं पुष्टा**विति । **कायेन** आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण, सर्वेन्द्रियास्वाद्यस्वरूपानन्ददानरूपं फलम् । एतदतिरिक्तप्रकारस्य फलत्वाभावार्थे **तु**शब्दः । अत एव पुष्टिश्रुतिरूपाभिर्व्रजसीमन्तिनीभिः 'अक्षण्वता'मिति श्लोके सर्वश्रुतिविरोधपरिहारेण सर्वेन्द्रियास्वाद्यपुरुषोत्तमस्वरूपस्यैव फलत्वं निरूपितम् । ननु मर्यादामार्गीयभक्तेरपि पुरुषोत्तमप्रापकत्वात् पुष्टिमार्गीयभक्तेरपि पुरुषोत्तमप्राप्तिहेतुत्वात् उभयोरपि फलैक्यं भवत्वित्याशङ्कां परिहरन्ति भिन्नेच्छातोपि नैकतेति । तस्यायमर्थः । यद्यपि मर्यादामार्गीयभक्तस्यापि अन्ते पुरुषोत्तमप्राप्तिरस्ति, तथापि तस्य मुक्तिरूपैव प्राप्तिः, न तु पुष्टिमार्गीयभक्तवत् साक्षात्सम्बन्धरूपप्राप्तिः, यतो मर्यादामार्गीयभक्तस्यान्ते स्वप्राप्तौ तादृश्येव भगवदिच्छा । अत एव श्रीभागवते 'अनिच्छतोपि गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते' इति । पुष्टिमार्गीयस्य साक्षात् स्वरूपसम्बन्धानुभवरूपफलप्राप्तावेव भगवदिच्छा । यदि मार्गद्वयेपि एकमेवं फलं स्यात्, तदा मार्गभेदवैयर्थ्यमेव स्यादित्यत उक्तं 'भिन्नेच्छातोपि नैकते'ति ॥ १० ॥

---

१. गोपीभिरित्यधिकं क्वचित् ।
२ पु. प्र. म.

एवं मार्गत्रयस्य सर्गभेदं फलभेदं च निरूप्यैतेषां त्रयाणां स्वरूपाङ्गक्रिया निरूपयन्ति । तत्र प्रथमं प्रवाहमार्गीयाणां स्वरूपमाहुः तानहं द्विषतो वाक्यादिति ।

'तानहं द्विषतो' वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः ।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥ ११ ॥
तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥ १२ ॥

'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमसुरानासुरीष्वेव योनिषु । आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति'मिति प्रवाहमार्गीया जीवा मर्यादामार्गीयपुष्टिमार्गीयजीवेभ्यो भिन्ना आसुरा इत्यर्थः । **अत एवेतरौ** मर्यादामार्गीयपुष्टिमार्गीयजीवौ प्रवाहमार्गीयजीवेभ्यो भिन्नौ दैवावित्यर्थः । भेदप्रकारमाहुः सान्ताविति । तत्तन्मार्गीयफलपर्यवसानान्तौ । फलस्वरूपमाहुः **मोक्षप्रवेशत** इति । स्वस्वमार्गीयमोक्षप्रवेशत इत्यर्थः । ननु प्रावाहिकाणां जीवानामपि तन्मार्गीयमोक्षप्राप्त्या सान्तत्वसम्भवेपि उभयोरेव सान्तत्वकथने को हेतुरिति चेत्, सत्यम्, यद्यपि तन्मार्गीयमुक्त्या तस्यापि सान्तत्वं सम्भवति, तथापि तन्मुक्तेरानन्दराहित्यान्मोक्षलक्षणाभावात्, किञ्च, 'ततो यान्त्यधमां गति'मिति तन्मुक्तेरधमगतित्वनिरूपणात् आनन्दरूपफलपर्यवसानाभावान्न सान्तत्वेन गणना, न सान्तत्वमिति उभावेव सान्तौ गणितौ, न तु प्रवाहोपि, इति ज्ञापनायोक्तं **सान्तौ मोक्षप्रवेशत** इति ।

ननु 'मोक्षप्रवेशत' इति सामान्योक्त्या मोक्षस्य मार्गद्वयेपि एकरूपता भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः **तस्मादिति** । यस्मात् पूर्वमेव पुष्टिमार्गीयाणां 'कायेन तु फलं पुष्टा'वित्यत्र फलभेदोपि निरूपित एव, तथापि पुनरपि यत् 'मोक्षप्रवेशत' इति सामान्योक्त्या फलैकत्वशङ्का तन्निरासाय विशेषतस्तेषां पुष्टिमार्गीयजीवानां स्वरूपमाहुः **तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना** इति । मर्यादामार्गीयेभ्यो भिन्ना एव, अत्युत्कृष्टा एवेत्यर्थः । तेषां कदाचिन्मार्गान्तरीयसङ्गेपि मार्गान्तरप्रवेशो न भवतीति ज्ञापनाय **न संशय** इत्युक्तम् । अतः परं केवलपुष्टिसृष्टेः सर्वात्मना सर्वतो भेदेन सर्वोत्कृष्टत्वनिरूपणस्य प्रयोजनमाहुः **भगवद्रूपसेवार्थमिति** । यथा मर्यादासृष्टेः तन्मार्गीयधर्मकरणं प्रयोजनम्, तथा पुष्टिसृष्टेः भगवत्सेवाकरणमेव प्रयोजनमिति, अत उक्तं **भगवद्रूपसेवार्थमिति** । यद्यपि मर्यादामार्गे सेवा वर्तते, परं तत्र मनस्येव अङ्गुष्ठमात्रादिरूपकल्पनेन, न तु साक्षादानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकटस्येति ज्ञापनाय स्वरूपपदमुक्तम् । **नान्यथेति** । एतत्प्रयोजनातिरिक्तप्रयोजनाभावार्थमुक्तं नान्यथेति । यदीदं प्रयोजनं न भवेत्, तदा पुष्टिसृष्टिरेव न भवेत्, अत उक्तं **नान्यथा भवेदिति** ॥ १२ ॥

सेवाकरणप्रकारमाहुः स्वरूपेणेति ।

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ॥ १२ ॥
तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि ॥ १३½ ॥

यद्यपि केवलस्वरूपपदं केवलजीवपरमपि भवति, तथाप्यत्र फलरूपसेवाकरणप्रकारनिरूपणे देहरहितकेवलजीवस्वरूपेण सेवाकरणासम्भवात् स्वरूपपदं लीलोपयोगिदेहपरमेव। देहस्य फलरूपसेवोपयोगिफलोपयोगिफलरूपभजनोपयोगित्वकथनेन अविकृतत्वमानन्दमयत्वं नित्यत्वं च ज्ञापितम्। एवं साक्षाद्भजनोपयोगिदेहस्वरूपं निरूप्याविर्भावप्रकारमाहुः अवतारेणेति । अवतारणे साक्षात् फलरूपभजनोपयोगिसमाजमध्ये प्राकट्येन । भजनोपयोगिप्रकारान्तरमाहुः लिङ्गेनेति । भजनोपयोगिदेहचिह्नैरित्यर्थः । चकारस्तदुपयोगिवयःसमुच्चयार्थः । पुनः प्रकारान्तरमाहुः गुणेनेति । गुणाः सौन्दर्यरसोद्बोधकचातुर्यभावादयः । फलभोगस्य सर्वाज्ञातत्वप्रकारज्ञापनाय चकारः । (यतोऽयं रसः सर्वात्मना गोपनीय एव, भगवतो रसपोषाय । अत एव फलप्रकरणीयलीलारम्भे मुख्यभक्तानां भगवन्निकटागमनसमये 'ता वार्यमाणा' इति भर्त्रादीनां तदागमनज्ञानानन्तरमपि रसपोषाय योगमायाद्वारा तथा प्रभुः सम्पादितवान्, यथा तेषां 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्था'निति वचनात् तदागमनज्ञानसम्भावनापि नाभूत् । यदि तेषां तदागमनज्ञानसम्भावनापि स्यात्, तदा रसाभासः स्यात्। अतः सर्वाज्ञानमावश्यकम्।)[1] ननु पुष्टिमार्गीयफलानुभवः भोक्तृभोग्यसाम्ये सति सम्पूर्णो भवति, न तु यत्किञ्चित्तारतम्येन । प्रभोरगणितानन्दस्वरूपत्वेन भजनरसानुभवकर्तॄणां तत्समत्वाभावात् पूर्णरसानुभवो[2] न भविष्यतीत्याशङ्कापरिहाराय स्वरूपेणेत्यादिना भजनरसानुभवकर्तृयोग्यताप्रकारं निरूप्य पूर्णरसानुभवसिद्धिहेतुमाहुः **तारतम्यं न स्वरूप** इति । पूर्वोक्तरसानुभवकर्तृयोग्यताप्रकारैः पूर्णस्वरूपरसानुभवसिद्धिप्रतिबन्धहेतुतारतम्याभाव उक्तः । **तारतम्यं न स्वरूप** इति । स्वरूपे । यथा आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादेर्भगवतः आत्मनि देहे वा आनन्दमयत्वेन तारतम्याभावः, तथा साक्षात्फलानुभवकर्तृभक्तेष्वपि आत्मनि आत्मस्वरूपे देहे वा आनन्दमयत्वादिना तारतम्याभावः । ननु प्राकृतदेहवत् देहात्मनोस्तारतम्यमपि । अत एव जन्मोत्सवाध्याये शुकदेवैरपि 'गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता' इतिश्लोके एतासां देहस्यालौकिकानन्दमयत्वज्ञापनाय 'आत्मानं भूषयाञ्चक्रु'रित्युक्तम्, न तु देहं भूषयाञ्चक्रुरिति । तेनात्मपदोपादानात् यथा आत्मा नित्य आनन्दमयः अविकृतः, तादृश एवैतासां देह इति ज्ञापितम्। यद्येवं न स्यात्, तदा 'ते तु ब्रह्महृदं नीता' इत्यत्र मुक्तिसुखानुभवसमये तद्देहस्थितिर्न स्यात् । मुक्त्यनुभवानन्तरमपि तेनैव देहेन मुक्त्यधिकपूर्णभजनानन्दानुभवो न स्यात् । एतदेवाभिप्रेत्याचार्यैरुक्तं तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वेति । अन्यथा उभयत्र पूर्ण-

---

१. चिह्नान्तर्गतं नास्ति क्वचित् ।   २. पूर्णरसः ।

रसानुभवो न स्यात् । एवं देहात्मनोस्तारतम्याभावमुक्त्वा तत्क्रियास्वपि तारतम्याभावमाहुः तत्क्रियास्विति। क्रियासु तारतम्याभावप्रकारविशेषः । यथा भगवत्कर्तृकरसोपयोगिक्रियाविशेषैर्भक्तेषु परमानन्दरसानुभवः, तथा भक्तकर्तृकरसोपयोगिक्रियाविशेषैर्भगवति परमानन्दरसानुभव इति तारतम्याभावः, तथा सर्वत्र तारतम्याभावज्ञापनाय वाशब्दः । यद्यपि सर्वत्र तारतम्याभावोऽस्त्येव, तथापि भगवान् ततोपि अनिर्वचनीयपरमकाष्ठापन्नरसानुभवार्थं तारतम्यमपि करोतीत्याहुः तथापि यावतेति । यथा फलप्रकरणीयप्रथमाध्याये 'बाहुप्रसारपरिरम्भे'ति श्लोके 'उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकारे'ति स्वरमणेन पूर्णरसानुभवं कारयित्वा, अग्रिमश्लोके 'आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योभ्यधिकं भुवी'ति स्वरूपपरावृत्तिरूपेण[1] पूर्णरसानुभवं कारयित्वापि, पुनश्च फलप्रकरणीयचतुर्थाध्याये 'तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुज' इतिश्लोके 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रित्यनेन भक्तमनोरथागम्यमपि पूर्वानुभूतपूर्णरसतारतम्यं ज्ञापयितुं स्वरूपानन्दं दत्तवानितिप्रकारं ज्ञापयितुमुक्तं यावतेति । यावता तारतम्येन तस्य भक्तस्य कार्यं मनोरथान्तरूपं स्वरूपानन्दानुभवं सिध्यति, तावत्तारतम्यं करोति । यत्र पूर्णरसदानार्थं तारतम्याभावं येषु भक्तेषु सम्पादितवान्, तेषु मनोरथान्तं स्वरूपानन्ददानं युक्तमेवेति ज्ञापनार्थं हिशब्दः ॥ १३½ ॥

एवं प्रकारभेदेन शुद्धमार्गत्रयाणां फलपर्यवसानमुक्त्वा शुद्धमिश्रभेदेन मार्गत्रयेपि द्वैविध्यमाहुः ते हि द्विधेति ।

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः ॥ १४ ॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥ १५ ॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः ॥ १५½ ॥

एवं द्वैविध्ये शुद्धभेदप्रकारस्य पूर्वोक्तत्वादतः परं मिश्रभेदस्य भेदत्रयमाहुः मिश्रास्त्रिधा पुनरिति । मिश्रेषु त्रैविध्यं दर्शयन्ति प्रवाहादिविभेदेनेति । त्रैविध्यदर्शनप्रयोजनमाहुः भगवत्कार्यसिद्धय इति। भगवत्कार्यं मार्गत्रयसर्गरूपम्, तत्सिद्धये मार्गत्रयविवेकज्ञानसिद्ध्यर्थमित्यर्थः । अथवा। भगवत्कार्यं लीलारूपम्, तत्सिद्धये क्रीडारससिद्ध्यर्थमित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते विन्ध्यावल्याप्युक्तं 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्यु'रिति । मिश्राणां त्रैविध्यं दर्शयन्ति पुष्ट्या विमिश्रा इति । ये सर्वज्ञास्ते सर्वज्ञत्वेन पुष्टिमार्गोत्कर्षं ज्ञात्वा पुष्ट्या विमिश्रा भवन्ति, यथा नारदप्रह्लादादयः, ये पूर्णज्ञानफलनिष्ठाः सन्तः पुष्टिस्वरूपाभिज्ञास्ते पुष्ट्या विमिश्रा भवन्ति । पुष्टिमार्गाभिज्ञत्वे हेतुः सर्वज्ञा इति । 'ज्ञाननिष्ठा तदा ज्ञेया सर्वज्ञो हि यदा भवेत्' । ये स्वभावतः पूर्णज्ञाननिष्ठाः सन्तः सर्वज्ञत्वात् पुष्टिमार्गस्वरूपाभिज्ञास्त एवोक्ताः पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा इति । अतः परं प्रवाहविमिश्रणप्रकारमाहुः

---

१. स्वरूपाद्भगवद्रूपादपि परावृत्तिः पूर्वरूपापेक्षया स्वस्वरूपपरावृत्तिर्वा तत्पूर्वकमित्यर्थः ।

प्रवाहेण क्रियारता इति । ये स्वभावतः काम्यकर्मरताः काम्यकर्मनिष्ठाः सन्तः प्रवाहेण मिश्रा जाताः, तदा विशेषेण काम्यकर्मनिष्ठाः काम्यकर्मरताः काम्यकर्मजडा एव भवन्ति । यथा सर्वज्ञाः पुष्ट्या विमिश्रा भवन्ति, तद्वदेव प्रवाहेण विमिश्रास्ते कर्मजडा एव भवन्ति । न तु मार्गान्तरविमिश्रा भवन्ति । त एवोक्ताः प्रवाहेण क्रियारता इति । एवं प्रवाहविमिश्रणप्रकारमुक्त्वा मर्यादाविमिश्रणप्रकारमाहुः मर्यादया गुणज्ञा इति । ये शुद्धमर्यादामार्गीयास्ते मर्यादामार्गीयभक्तसङ्गविमिश्रणेन भगवद्गुणपरा भवन्ति भगवद्गुणज्ञा इति । एवं मिश्रभेदान्निरूप्य सर्वतः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञापनाय केवलपुष्टिमार्गीयान् निरूपयन्ति शुद्धाः प्रेम्णेति । शुद्धाः प्रेम्णा पुष्टिमार्गीयभावातिरिक्तभावान्तररहितास्ते अतीव दुर्लभाः । अतीव दुर्लभाः इत्यत्रातीवशब्दात् भगवदनुग्रहैकलभ्या इत्यर्थः । एवं मिश्रभेदप्रकारेण मार्गत्रयं निरूप्य शुद्धपुष्टिप्रकारनिरूपणेन पुष्टिमार्गस्य सर्वोत्कृष्टत्वं निरूपितम् ॥ १५½ ॥

एवं तेषां मार्गत्रयाणां सर्गभेदप्रकारमुपसंहरन्ति एवं सर्ग इति ।

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते ॥ १६ ॥
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि ।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥ १७ ॥
आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥ १८ ॥
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवः ।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥ १९ ॥
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ।
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥ २० ॥
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोन्यत्र विपर्ययः ॥ २०½ ॥

एवं अनेन प्रकारेण सर्गभेदमुपसंहृत्य तेषां फलनिरूपणं प्रतिजानते फलं त्वत्र निरूप्यत इति । अत्र मार्गत्रयनिरूपणप्रस्तावे मार्गत्रयस्य फलं निरूप्यते । तत्र पूर्वं पुष्टिमार्गस्य फलमाहुः भगवानेव हि फलमिति । अत्र भगवत्पदेन साक्षात्पुरुषोत्तम उक्तः । एवकारेण साक्षात् स एवानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकट एव फलम् । स यथा पूर्वोक्तस्वरूप एव भुवि पुष्टिमार्गीयभक्तस्थितिस्थाने आविर्भवेत् प्रकटो भवेत् । कदाचित् ज्ञानिभक्तन्यायेन हृद्येव भावनाप्रकारेण प्राकट्यं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः गुणस्वरूपभेदेनेति । गुणाः ईक्षणभाषणादिलीलारूपाः, स्वरूपं तु पूर्वोक्तमेव, तद्भेदेन तत्तत्प्रकारभेदेन यथा प्रकटो भवेत्, तथा तेन प्रकारेण प्रकारभेदेन तेषां फलानुभवहेतुर्भवेदित्यर्थः । पुष्टिमार्गीयाणां साक्षात्सम्बन्धस्यैव फलत्वमेव युक्तमिति

१. जीवाः । २. त्रयभेदम् ।

ज्ञापनाय हिशब्दः। ननु पुष्टिमार्गस्य सर्वोत्कृष्टत्वं यद्यपि सर्वप्रमाणसिद्धम्, तथापि तन्मार्गीयस्यापि वृत्रस्यासुरयोनिप्रवेशे को हेतुरित्याशङ्कानिरासायाहुः आसक्तावपीति । पुष्टिमार्गीयस्य स्वमार्गीयभगवत्स्वरूपातिरिक्तासक्तेरनुचितत्वात् वृत्रस्य पूर्वजन्मनि सङ्कर्षणस्वरूपासक्तत्वात् तस्य च साक्षात् पुरुषोत्तमत्वाभावात् तदासक्तिनिवृत्त्यर्थं शापं दापितवान् । अथवा । अहङ्कारे सत्यपि क्वचित् लोके भक्ताय शापं दापयति । यथा परीक्षिति। क्वचिदितिपदात् अहङ्काराभावेपि क्वचित् शापो दृश्यते। यथेन्द्रद्युम्ने अगस्त्यशापः। शापायोग्येष्वपि भगवद्भक्तेषु शापानिमित्तोद्गमनदर्शनेन यत् शापदानम्, तद्भगवदिच्छयैव, नतु प्रकारान्तरेणेति ज्ञापनाय भगवानेवेत्यत्र एवकारः । तत्र शापदाने हेतुमाहुः तन्मार्गस्थापनाय हीति । यस्य यस्मिन् मार्गे अङ्गीकारः, तस्य शापानन्तरमपि तन्मार्गाङ्गीकारस्य नित्यत्वेन तन्मार्गे एव स्थापनम्, न तु मार्गान्तरसम्बन्धस्तदर्थमित्यर्थः। नित्यपदार्थस्य परावृत्त्यभावो युक्त इति ज्ञापनायोक्तं हीति । अतःपरं शापानन्तरमपि मार्गाङ्गीकारस्थितिनित्यत्वज्ञापनप्रकारमाहुः न ते पाषण्डतां यान्तीति। यदि भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वं न स्यात्, तदा तेषां भगवत्सम्बन्धाभावात् पाषण्डित्वमेव स्यात्। यदि तेषां भगवदङ्गीकारो न स्यात्, तदा कल्माषपादवत् ब्रह्मद्रोहरूपं दुष्टकर्माचरणं स्यात् । अत एवोक्तं न ते पाषण्डतां यान्तीति । ते पाषण्डमार्गप्रविष्टा न भवन्तीत्यर्थः । एवमेकं मार्गाङ्गीकारनित्यत्वज्ञापकलक्षणमुक्त्वान्यान्यपि लक्षणान्याहुः । शापस्य क्लेशहेतुत्वमाशङ्क्याङ्गीकारनित्यत्वेन तदभावमाहुः न च रोगाद्युपद्रव इति । तेषां व्याध्याद्युपद्रवो न भवति । अत एव वृत्रस्य सर्वाभिभावुकत्वम्, न तु केनाप्यभिभाव्यत्वम् । लक्षणान्तरमाहुः महानुभावा इति । महान् अनुभावो येषाम् । यद्यपि शापयुक्तास्तथापि ते महानुभावा एव । अत एव भगवन्मार्गतत्त्वज्ञैर्महादेवैः शापदानानन्तरं पार्वतीं प्रति तेषामनुभाव उक्तः । 'दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः । माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम् । नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति । ननु यदि तेषां महानुभावत्वं तर्हि कथं शापसम्भव इत्यत आहुः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे इति । शास्यते अनेनेति व्युत्पत्त्या शास्त्रमिति, शापस्य शास्त्ररूपत्वात् पूर्वजन्मापराधनिवृत्तिहेतुत्वेन शुद्धिहेतुत्वमुक्तम् । प्रायेणेति सम्भावना । एवं भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वं मर्यादामार्गेपि ज्ञेयम् । नित्यत्वज्ञापका धर्माः 'न ते पाषण्डतां यान्ती'त्यादयो मर्यादामार्गेपि ज्ञेयाः । परीक्षिति गजेन्द्रे च । ननु यदि शापानन्तरमपि भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वेन त्रिष्वपि पूर्वधर्मसमानत्वम्, तर्हि फलेपि साम्यं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः भगवत्तारतम्येनेति । भगवत्स्वरूपतद्भजनप्रकारतारतम्येन फलेपि भक्तास्तारतम्यं भजन्ति हि । तत्र भजनतारतम्यप्रकारः । पुष्टिमार्गभजने स्नेह एव नियामकः । मर्यादामार्गीयभक्तभजने मर्यादामार्गीयभक्तस्य यद्यपि भजनीयः पुरुषोत्तम एव, तथापि तत्र विधिरेव नियामकः, न तु स्नेहोपीति तारतम्यम् । इन्द्रद्युम्नस्य

पूजापरत्वात्, तत्र पूज्यस्य पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वात् पूजायाश्च कर्ममार्गत्वात् तत्रापि विधिरेव नियामक इति । भगवत्स्वरूपतद्भजनप्रकारतारतम्येन तारतम्यं भजन्ति । भजनतारतम्येन फलतारतम्यस्य युक्तत्वज्ञापनाय हिशब्दः । फलतारतम्यं तु 'गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात् । प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुज'मित्यादिवाक्येषु प्रसिद्धमिति नात्र विचारः । ननु यदि तेषां केवलं भगवत्परत्वमेव, तर्हि श्रौतस्मार्तकर्माचरणे को हेतुरिति चेत्, तत्राहुः लौकिकत्वं वैदिकत्वमिति । यद्यपि ज्ञानमार्गीयस्यापि भक्तस्य 'तावत्कर्माणि कुर्वीते'त्यनेन श्रौतस्मार्तकर्माचरणस्यानावश्यकत्वं श्रूयते, पुष्टिमार्गीयाणामपि 'यानास्थाये'तिवाक्यात् । अत्र 'आस्थाये'ति, आस्थानं नाम कायवाङ्मनसां तदेकपरत्वम्, तादृशानामपि श्रौतस्मार्तकर्माचरणानावश्यकत्वेपि यत्कर्माचरणं तत्र को हेतुरित्याशङ्क्य हेतुमाहुः वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यादिति । वैदिकत्वं वैदिककर्माचरणम्, लौकिकत्वं लौकिकव्यवहारादिप्रतिपालनम्, तत्तेषु कापट्यात् कापट्याद्धेतोरित्यर्थः । कापट्यं नाम लोकसङ्ग्रहः । अत एव भगवताप्युक्तं 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् । न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्' इति भगवद्वाक्यात् तत्तन्मार्गीयपूर्णभक्तिमतां लौकिकवैदिककर्माचरणं लोकसङ्ग्रहार्थमेव, न तु कर्मासक्तानामिव परमपुरुषार्थरूपत्वेन । यद्यपि तेषां पूर्वोक्तकर्मकरणमनासक्तिपूर्वकं लोकसङ्ग्रहार्थमेवेत्युक्तम्, तर्हि तेषां कस्मिन् कर्मणि आसक्तिपूर्वकं करणमिति चेत्, तत्राहुः वैष्णवत्वं हि सहजमिति । वैष्णवत्वं नाम पुष्टिमर्यादामार्गप्रवर्तकाचार्योपदेशपूर्वकं तदुक्तप्रकारेण तन्मार्गानुवर्तित्वम्, तदेव तेषां सहजो धर्मः स्वाभाविको धर्मः, सहजमिति । तेन तन्मार्गीयाणामेव धर्माणामासक्तिपूर्वकं करणम्, ततोऽन्यत्र ततः वैष्णवधर्मातिरिक्तधर्मेषु विपर्ययः पूर्वोक्तप्रकारः अनासक्तिपूर्वकं करणम्, लोकसङ्ग्रहार्थं करणमित्यर्थः ॥ २०½ ॥

एवं मार्गद्वयजीवानां फलपर्यवसानान्तां कृतिं निरूप्य पुष्टिमर्यादामार्गाङ्गीकाररहितानां दैवजीवानां साधारणानां स्वरूपं कृतिं चाहुः सम्बन्धिनस्त्विति ।

> **सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥ २१ ॥**
> **चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।**
> **क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥ २२ ॥**
> **तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ॥ २२½ ॥**

सम्बधिनः दैवजीवत्वेन पुष्टिमर्यादामार्गाङ्गीकृतजीवसम्बन्धिनो, न तु तन्मार्गप्रवृत्ताः । तथा अपरे प्रवाहस्थाः । ते सर्वे चर्षणीशब्दवाच्याः सर्वमार्गेषु परिभ्रमणशीलाः । त एव सर्ववर्त्मसु मार्गत्रयेष्वपि क्षणात् कालविशेषं प्राप्य सर्वत्वं तत्तन्मार्गीयत्वं प्राप्नुवन्ति, तत्तन्मार्गीयधर्मानुकरणं कुर्वन्ति । ते मार्गत्रयधर्मानुकरणमेव कुर्वन्ति ।

न तु तेषां कुत्रचित् रुचिः । रुचिः क्वापि न भवतीत्यर्थः । न तु क्वापि श्रद्धेत्यर्थः । तेषां फलपर्यवसानमाहुः तेषां क्रियानुसारेणेति । तेषां तत्तन्मार्गीयक्रियानुकरणेन सर्वत्र सकलं कामितं कामनाविषयं फलं भवतीत्यर्थः । तेषां भगवदङ्गीकृतानां साधारणानां कामासक्तत्वात् तत्तत्क्रियानुसारेण सकलं तत्तत्कामितं फलं भवतीत्यर्थः ॥ २२½ ॥

एवं सम्बन्धिनां स्वरूपमुक्त्वा केवलप्रवाहस्थानां स्वरूपमाहुः प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामीति ।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान् ॥ २३ ॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे 'प्रवृत्तिं चे'ति वर्णिताः ।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ॥ २४ ॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्तानु ये पुनः ।
प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते ॥ २५ ॥
सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ॥ २५½ ॥

कथनप्रकारमाहुः स्वरूपाङ्गक्रियायुतानिति । तेषां स्वरूपमाहुः जीवा इति । ते प्रवाहस्था जीवा आसुराः, ते सर्वे भगवतैव 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'ति वर्णिताः । आसुरेष्वपि प्रकारभेदमाहुः ते द्विधेति । द्वैविध्यमेव प्रदर्शयन्ति ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदत इति । यथा दैवजीवेष्वपि केचन पण्डिताः, केचन न, तद्वत् केचन आसुरेष्वपि दुर्ज्ञाः, केचन अज्ञाः । दुर्ज्ञानां लक्षणमाहुः दुर्ज्ञास्त इति । 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'ति भगवत्प्रोक्त-लक्षणा दुर्ज्ञाः । अज्ञानाहुः तानन्विति । ये तान् अनु तदुक्तप्रकारानुवर्तिनस्ते अज्ञाः । नन्वासुरेष्वपि जीवेषु म्लेच्छादिषु कस्यचिद्भगवत्परतादर्शने को हेतुरित्याशङ्काया-मुच्यते । वस्तुतस्तु स नैवासुरजीवः, शुद्ध आसुरजीवे भगवद्भावस्यासम्भवात् । किन्तु भगवदपराधाद्भगवद्भक्तापराधाद्वा सोपि पुष्टिमार्गीयः प्रवाहे समागत्य प्रवाहस्थैः सङ्गं प्राप्यापि, तत्कुले जन्म वा प्राप्यापि, तैर्न युज्यते, आसुरभावैर्योगं न प्राप्नोति । ननु यदि स आसुरभावैर्न युज्यते, तर्हि तस्यासुरकुलोत्पत्तौ को हेतुरिति चेत्, तत्राहुः कर्मणा जायते यत इति । कर्मणा पूर्वोक्तभगवदपराधरूपेण, अथवा, तज्जनितप्रारब्धकर्मणा, जन्मनः प्रारब्धकर्माधीनत्वात् । तत्रासुरकुले जन्मानन्तरमपि तद्भावसम्बन्धाभावः कथं सम्भवतीति चेत्, उच्यते । तस्य पूर्वजन्मनि पुष्टिमार्गीयत्वेन भगवदङ्गीकृतत्वात् । भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वात् । अत एव गीतायां भगवताप्युक्तम् 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भया'दिति । तस्य पूर्वजन्मनि भगवद्धर्माचरणाख्यसंस्कारस्य बलिष्ठ-त्वात् आसुरकुले जन्मानन्तरमपि नासुरभावप्रवेशः । किञ्च । गीतायां 'अयतिः श्रद्धयो-पेतो योगाच्चलितमानस' इत्यारभ्य 'त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते' इत्यन्तेन पार्थपृष्टेन भगवता 'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते । न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति । प्राप्य पुण्यकृतान् लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां

श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभिजायते । अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् । एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् । तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन । पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि सः । जिज्ञासुरपि योगस्य परं ब्रह्मातिवर्तते'इत्यन्तेन पार्थसंशयो निवारितः । यत्र योगभ्रष्टस्यापि पूर्वजन्मयोगधर्माचरणसंस्कारानिवृत्तिः, तत्र भगवदङ्गीकृतस्य पुष्टिमार्गीयस्य पूर्वजन्माचरितभगवद्धर्मस्य सर्वतोधिकप्राबल्यात् आसुरसङ्गेन तत्कुलजन्मनापि पूर्वजन्मसंस्कारनिवृत्त्यभावात्, यावज्जीवं तत्संस्कारवत्त्वेन अन्तकालेपि तत्संस्कारस्य विद्यमानत्वात् 'अन्ते या मतिः सा गति'रिति शास्त्रात् 'यं यं वापि स्मरन् भाव'मिति भगवद्वाक्याच्च तस्य भगवत्प्राप्तिरेव, न तु आसुरभावजनितः कोप्यन्तराय इति सर्वमनवद्यम् ॥ २५½ ॥

यद्यप्यत्र ग्रन्थोपसंहारदर्शनाभावादग्रेपि ग्रन्थोस्तीति ज्ञायते, तथाप्यग्रिमग्रन्थस्याप्रसिद्धत्वाद्यावत्प्रसिद्ध एव व्याख्यात इति नानुपपत्तिः काचित् ।

श्रीमत्कृष्णास्यवागर्थो दुर्बोधः सर्वथा स्वतः ।
तत्कृपातस्तदीयस्य बुद्धिगम्यो न चान्यथा ॥ १ ॥
नत्वा पितृपदाम्भोजं कृपामधुसुपूरितम् ।
तदालोडितबुद्ध्यैव श्रीमदाचार्यभाषितम् ॥ २ ॥
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदकं शास्त्रमद्भुतम् ।
श्रीवल्लभेन व्याख्यातं तत्कृपातो यथामति ॥ ३ ॥
तेनाचार्याः प्रसीदन्तु मयि निःसाधने स्वतः ।
तेनैव मम नैश्चिन्त्यमैहिके पारलौकिके ॥ ४ ॥

इति श्रीपितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचितं पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरणं समाप्तम् ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ।

श्रीरघुनाथकृतविवरणसमेता ।

नमो भक्तभयाभावभाविने भक्तिदायिने[1] ।
श्रीमदग्निकुमाराय पारावाराय[2] सत्कृते ॥ १ ॥

इदानीं भगवत्प्राप्तिलक्षणमुख्यफलतदभावौ किंनिबन्धनाविति संशयं निवारयितुं मार्गभेदविचारमारभन्ते पुष्टिप्रवाहमर्यादा इति ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥ १ ॥
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।

पुष्टिरनुग्रहो धर्म्यैकनिष्ठः, स एको मार्गः । प्रवाहो 'जायस्व म्रियस्वे'त्येवंरूपः । मर्यादा वेदोक्तवचनोत्थो मार्गः । एतान् पृथक् पृथक् प्रत्येकं तेषामसाधारणलक्षणैर्जीवदेहप्रवाह[3]क्रियाफलरूपैर्विशिष्य यथा ज्ञायन्ते, तथा वक्ष्यामि, यतो[4] यच्छ्रवणानन्तरं पूर्वसन्देहाः सर्वविषयका न भविष्यन्तीत्यर्थः । अत्र जीवप्रवाहयोर्विशेषणविशेष्यभावेनैक्यं ज्ञेयम्, न भेदः । देहक्रिययोरप्येवमेव ज्ञेयम् । भेदानग्रे स्वयमेव वदिष्यन्ति ॥ १ ॥

मार्गत्रयसद्भावं प्रमाणयन्ति भक्तिमार्गस्येति ।

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ २ ॥
'द्वौ भूतसर्गा'वित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः ।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥ ३ ॥

कथनादिति । श्रीभागवतगीतादौ । अत्र भक्तिरूपकार्येण कारणं पुष्टिरस्तीति निश्चीयते । इदं धर्मिनिष्ठं पुष्टिमार्गे प्रमाणमुक्तम् । 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन् दैव आसुर एव चे' त्याद्युक्तेः प्रवाहाख्योपि मार्गः प्रमाणसिद्धोस्तीति निश्चीयते । काण्डत्रयात्मकवेद[5]स्य विद्यमानत्वाच्छ्रूयमाणत्वान्मर्यादामार्गेपि सप्रमाणत्वं सिद्धम् ॥ ३ ॥

त्रयाणामसङ्कीर्णमितरेतरभेदकं लक्षणमाह कश्चिदिति ।

कश्चिदेव हि भक्तो हि 'यो मद्भक्त' इतीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ ४ ॥

---

१. मुक्तिदायिने । २. पारः संसारस्तदुत्तारकायेत्यर्थः । ३. प्रवाहेतिनास्ति ४. अतः । ५. वेदेति नास्ति क्वचित् ।

न सर्वोतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ।
'यदा यस्ये'ति वचना'न्नाहं वेदै'रितीरणात् ॥ ५ ॥

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रिय' इति वचनाद्भक्तिमार्गीया विरला एव भवन्ति । न हि भगवत्प्रियत्वं स्वल्पसाध्यम्, अतः प्रवाहाद्भिन्नः पृथगेव । प्रवाहस्य सर्वसाधारणत्वाद्भक्तेरनुग्रहैकलभ्यत्वान्महानेव भेदोस्तीति मन्तव्यम् । मर्यादयाप्यसङ्कीर्णत्वं वेदाच्च भेदत इत्यारभ्य निश्चय इत्यन्तेनाह । 'यदा यस्ये'ति श्रीभागवते । 'नाहं वेदैर्न तपसे'ति गीतायाम् । सर्वत्र भगवच्छास्त्रादौ भक्तिमार्गस्य कर्माद्यपेक्षयोत्तमत्वकथनात् पुष्टिमार्गो भिन्नोस्तीति निर्धारितम् । अभेदे तूत्कर्षवैयर्थ्यात् ॥ ५ ॥

मर्यादाप्रवाहयोर्भक्तावन्तर्भावमाशङ्क्य निषेधन्ति मार्गैकत्वेनेति ।

मार्गैकत्वेन चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥ ६ ॥
जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः ।
यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥ ७ ॥
प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः ।

अन्त्यौ प्रवाहमर्यादे । तनू भक्तिः प्रत्यङ्गभूते, साधने इति यावत् । एवंविधे भूत्वा भक्त्यागमौ भक्तिशास्त्ररूपौ मतौ चेत्, तन्न युक्तमिति योजना । तत्कुतो नेत्याशङ्क्याह **सूत्रतो हीति** । वैदिको मर्यादामार्गो भिन्नः, भक्तेः पृथगित्यर्थः । अत्र प्रमाणं ब्रह्मसूत्राणि । द्वितीयं तदर्थानुरुद्धा युक्तयः साधकवाक्यानि । तत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादिषु जीवब्रह्माभेदः प्रतिपाद्यते । भक्तौ तु तवाहमिति स्वस्वामिसम्बन्धः प्रतिपाद्यते, अतः स्फुटो भेदः । युक्तयस्तत्तर्कास्ते च शास्त्र(प्र)सिद्धा ज्ञेयाः । भक्तेरपि शाण्डिल्यसूत्रतो वैलक्षण्यं श्रूयते । तथाहि । 'अथातो भक्तिजिज्ञासा' इत्युपक्रम्य 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' 'द्वेषप्रतिपक्षाद्रसभावाच्च राग' इति द्वितीयतृतीयसूत्राभ्यां स्नेहरूपत्वमुक्तम् । तच्च कर्मज्ञानकाण्डादिविरुद्धमेव । अतोपि मर्यादायाः पृथक्त्वम् । हिशब्द उभयत्रापि प्रसिद्ध्यर्थः । भेदकान्तरमप्याह जीवेति । आसुरजीवानां दैत्यदानवप्रभृतीनामपि वेदेधिकारप्रवृत्ती[2] दृश्येते । भक्तिमार्गे तेषां गन्धोपि न । प्रत्युत तद्वत्सु द्वेष एव, अतो जीवभेदः स्फुटः । वेदे स्त्रीशूद्रादीनामनधिकारः श्रूयते । भक्तौ तु ब्राह्मणादिसाधारण्येन सं[3] दैवजीवमात्रस्य । 'देवोऽसुरो मनुष्यो वे'ति वचनात् । 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य' इत्यादौ तथैवाम्नानात् । भक्तौ स्नेहनिबन्धनकृतेरियत्ताया अभावाद्देहवत् कृतिभेदोपि स्फुटः । किञ्च । श्रुतेर्वेदस्य नित्यता । अकरणे प्रत्यवायजनकत्वात् । श्रुतिपदेन तदुक्तधर्मा उच्यन्ते । उक्तप्रकारेण वेदे अन्यमार्गापेक्षया यथा भेदः, तद्वत् तथैव पुष्टिमार्गे

१. भक्त्या त्वनन्ययेति गीतायाम् । २. अधिकारवृत्ती अधिकारप्रवृत्तिरिति, पाठद्वयम् । ३. दैवेति पाठः ।

भेद इति शेषः । कथमित्यपेक्षायां द्वयोरपीति । द्वयोर्मर्यादाप्रवाहयोर्निषेधतः तल्लक्षणाप्रवेशादित्यर्थः । प्रमाणभेदादिति । वस्तुसाधकं प्रमाणमित्युच्यते । वेदे तु स्वतःप्रामाण्यम् । तद्विरोधिप्रत्यक्षादीनामप्यतथात्वम् । पुष्टौ तु धर्मितदनुग्रहभक्तानुभवातिरिक्तप्रमाणाभावात् साधकभेदादपि पुष्टिमार्गो भिन्नो भवतीत्यर्थः । अत एवैतन्मार्गीयाणां वैलक्षण्यं भगवतैवोक्तम् । तथाहि 'केवलेन हि भावेन' 'ते नाधीतश्रुतिगणा' इति । नहीदं मर्यादयोपपद्यते, कुतस्तरां तुच्छः प्रवाहः ॥ ७ ॥

प्रवाहमार्गमाह सर्गभेदमिति ।

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥ ८ ॥
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥ ९ ॥

सर्गशब्देन लौकिकः प्रवाह उच्यते । अत्रापि स्वरूपाङ्गक्रियाशब्दैर्यथाक्रमं जीवदेहकृतयो विवक्षिताः । स्वरूपं जीवः, अङ्गं देहः, क्रिया कृतिः, एतैर्युतं विशिष्टमित्यर्थः । ननु प्रवाहः सर्ग उक्तः । स च पुष्टिमर्यादयोरप्यस्तीति कथं वैलक्षण्यमितिचेत्, तत्राह इच्छामात्रेणेति । 'सोऽकामयत, बहु स्यां प्रजायेयेति, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानास' इत्यादिभिर्भगवान् सङ्कल्पमात्रेण मनसैव बाह्योपादानकारणानपेक्षेण प्रवाहाख्यं सृष्टवान् । मनसः सृष्टिकर्तृत्वं सर्वस्यापि मनोजन्यत्वं श्रुतिराह 'असतोऽधि मनोऽसृजत, मनः प्रजापतिमसृजत, प्रजापतिः प्रजा असृजत, तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठित' मिति, 'मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,' 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव' 'कामस्तदग्रे समवर्तताधी'त्यादि ज्ञेयम् । एवं कारणभेदान्न सर्गैक्यम् । मर्यादासर्गमाह वचसेति । वाण्या मूलभूतवागिन्द्रियेण वेद एव मार्गस्तं सृष्टवान् । हिशब्दः पुराणादिप्रसिद्ध्यर्थः । पुष्टिसर्गमाह पुष्टिमिति । साक्षादव्यवहितस्वरूपेणेत्यर्थः । इतिनिश्चयः । 'फलमत उपपत्ते'रित्यादिनेश्वर एव शुभाशुभफलदातेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

तत्र मार्गत्रये केन रूपेण कुत्र फलदानमिति संशये निश्चितमाह मूलेच्छात इति ।

मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च ।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकता ॥ १० ॥
'तानहं द्विषतो' वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः ।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥ ११ ॥
तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥ १२ ॥

लोके प्रवाहाख्ये मार्गे, मूलेच्छा पुष्टिमर्यादातिरिक्तसाधनसाध्यफलभावनेच्छा,

---

१. लक्षणप्रवेशादिति पाठः । २. पुष्टिमार्गीययोरिति पाठः ।

यथा 'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु' इति । वैदिके मार्गे वेदोक्तं तत्तत्काण्डाभिनिविष्टस्य तत्तदनुरूपं स्वर्गादिकं फलं तत्तत्साधनसापेक्षेच्छात इत्यर्थः । कायेन साक्षात् स्वरूपेण सच्चिदानन्दविग्रहेण । स्वरूपमात्रनिष्ठलीलाभिनिविष्टभक्तभावसापेक्षेच्छातः फलं पुष्टावित्यर्थः । भिन्ना इति । दैवाद्भिना आसुरा इत्यर्थः, 'द्वौ भूतसर्गा' वित्युक्तत्वात् । उक्तरीत्या पुष्टेर्धर्मिमात्रनिष्ठत्वेनेतरापेक्षयाभ्यर्हितत्वं ज्ञेयम् । अत एवेति । यत उक्तरीत्यान्योन्यं लक्षणाप्रवेशाद्वैलक्षण्यमत एव इतरौ मर्यादाप्रवाहौ पुष्टेः परस्परं च भिन्नौ । अन्तपदेन पर्यवसानमुच्यते । तेन सान्तौ अन्तसहितौ । कस्य कुत्रेत्याकाङ्क्षायां मोक्षप्रवेशतः मोक्षात् प्रवेशाच्चेत्यर्थः । प्रवेशपदेन प्राकृतो लयो विवक्षितो, न मोक्षः । तत्र वैदिकस्य मोक्षे पर्यवसानम्, प्रवाहस्य (प्रकृतौ) लय इति विवेकः । यथा द्वयोः सान्तत्वम्, न तथा पुष्टेः, मोक्षोत्तरकालमपि विद्यमानत्वात् । अत एवोक्तं 'आत्मारामाश्च मुनयः' इत्यादौ । यतो मुक्तानामपि अधिकारो भक्तौ । अत एव तन्मार्गीया जीवाः भिन्नाः, ब्रह्माण्डादपि बहिर्भूताश्चेत्, किं वाच्यं मर्यादाप्रवाहातिरिक्तत्वे । अत एव वाराहेप्युक्तम्, 'भिन्नैव काचित् सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी'ति । एवंविधपुष्टिस्थजीवानां सर्गो भगवता स्वात्मभजनार्थमेव कृत इति सङ्गच्छते, नत्वन्यथापीत्यर्थः ॥ १२ ॥

एवंविधभक्तानां सर्वांशेन भगवत्साम्यमाह स्वरूपेणेति ।

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ॥ १३ ॥
तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि ।

स्वरूपमन्तरात्मस्वरूपम् । यथा काष्ठं वह्निसाद्भवति, एवं भक्ता अपि स्वरूपैकनिष्ठास्सन्तस्तदभिनिविष्टास्तदात्मत्वमेवाभिपद्यन्ते । अत एवोक्तं 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति । यथा भगवदवतारो धर्मसद्रक्षणार्थम्, तद्विरुद्धोत्सादनार्थं च, एवं भक्तानामपि अवतारो जीवोद्धारार्थमेवेत्यवतारेणापि साम्यम् । लिङ्गं वेषस्तच्चिह्नानि सर्वाण्यपि । तद्यथा । 'तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् । पीताम्बरं पुष्करमालिन' मित्यादि । गुणाः पतितपावनत्वादि, भगवच्चेष्टितान्यपि विज्ञेयानि । तथापीति । एवं सर्वांशेनान्यूनत्वेपि यावता न्यूनत्वादिना स्वरमणसिद्धिः, तावदेव तस्य स्वापेक्षया सेवकत्वसिद्ध्यर्थमुभयरसार्थं च तारतम्यं करोति । अत एवेदमपि सङ्गच्छते, 'नोद्धवोण्वपि मन्न्यूनः,' 'मद्भक्तपूजाभ्यधिके'ति, 'न पारयेहं निरवद्यसंयुजा' मित्यादि । 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यह' मित्यादौ प्रसिद्ध्यर्थो हिशब्दः ॥ १३ ॥

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः ॥ १४ ॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।

ते हीति । ते पूर्वोक्तास्त्रयोपि मार्गा द्वेधा द्विप्रकारकाः, ये मार्गान्तरसंवलितास्ते मिश्राः, ये पुनस्तन्मात्रास्ते शुद्धाः । मिश्रणमपि प्रत्येकं त्रिभिस्त्रयाणामपीत्येकैकशस्त्रिप्रकाराः । एवं भेदानां प्रयोजनं किमित्याकाङ्क्षायां भगवत्कार्यसिद्धिरेवेति मतम् । तच्च कार्यं रमणरूपमेव । 'क्रीडाभाण्डमिदं विश्वम्,' 'एकाकी स न रमत' इत्यादौ प्रसिद्धम् ॥ १४½ ॥

पुष्टेर्भेदानाह पुष्ट्येति ।

पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥ १५ ॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः ।

पुष्टिस्थास्तु पूर्वमनुगृहीता एव भवन्ति । पुनरनुग्रहान्तरं यदा तेषु प्रविशति, तदा ते पूर्वपुष्ट्यतिरिक्तपुष्टिसद्भावात् पुष्ट्या विमिश्रा भवन्ति । तल्लक्षणं सर्वज्ञा इति । एवंविधत्वं प्रह्लादादौ प्रसिद्धम् । प्रवाहेण मिश्रिताः लोकवेदक्रियारता भवन्तीति तेषामेतल्लक्षणम् । मर्यादया मिश्रा गुणज्ञाः भगवन्माहात्म्ययाथातथ्यज्ञा इति लक्षणम् । प्रेम्णा स्वरूपैकनिष्ठा इति लक्षणम् । ते शुद्धपुष्टिमार्गीयास्तेत्यन्तदुर्लभा एवेत्यर्थः ॥ १५½ ॥

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते ॥ १६ ॥
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि ।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥ १७ ॥

एवमिति । उक्तप्रकारेण तेषां त्रयाणां सर्गः सहेतुकः निरूपित इति शेषः । अत्र शुद्धमिश्रपुष्टौ फलं निरूप्यते भगवानिति । गुणाः ऐश्वर्यादयो धर्माः, स्वरूपं धर्मी । भवन्ति भावा अस्मिन्निति भूरन्तःकरणं विवक्षितम्, तदुपलक्षितहृदयदेशो वा । तेनायमर्थः । भगवानैश्वर्यादिषड्गुणोपेतो यस्य भक्तस्यान्तःकरणे यथा येन भावेन प्रकटो भवति, तत्प्रियं कर्तुं तत्स्वरूपमेव फलमित्यर्थः । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवे'ति प्रतिज्ञानात् ॥ १७ ॥

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥ १८ ॥
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवः ।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥ १९ ॥
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ।
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥ २० ॥
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोन्यत्र विपर्ययः ।
सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥ २१ ॥

चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥ २२ ॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ।

आसक्ताविति । पुष्टिस्थस्य अहङ्कारे तत्पूर्वककार्ये, अथवा लोके भजनविरुद्धे आसक्तौ सत्यां तद्दोषपरिहाराय, अत एव तन्मार्गस्थापनाय तत्र स्थिरीकरणाय ब्राह्मणादिद्वारा भगवानेव क्वचित्, न सर्वत्र, शापमन्तरायापादकं दापयति । पुनरेवं कदापि न कुर्यामिति यथा तस्य मनसि सततमनुवर्तेत । यथेन्द्रद्युम्नस्यागस्त्यमुखाद्गजेन्द्रत्वम् । एवं शिक्षाकरणे भक्ताः पाषण्डतां न यान्ति । नापि तज्जनितापराधभोगाय रोगाद्युपद्रवस्तत्पीडानुभवः । एवंविधाः शास्त्रोलङ्घनाद्भवन्ति । ये पुनर्महानुभावाः नारदादयस्ते प्रायेण बाहुल्येन, भगवदधीनत्वात् प्रायिकत्वोक्तिः, शुद्धत्वहेतवे देहान्तःकरणादिशुद्ध्यर्थं शास्त्रं भगवदीयं गीताभागवतादिकं भजन्ति सेवन्ते सततमवगाहन्त इत्यर्थः । किञ्च । येषु येषु भक्तेषु यथा यथा भगवदाविर्भावः, तेन तारतम्येन स्वस्मिन् तरतमभावमपि भजन्ते स्वीकुर्वन्ति, न तु स्वस्मिन्नाधिक्यं सदप्युद्भावयन्ति । सर्वदा भगवत्सम्बन्धिषु नम्रा एव भवन्तीत्यर्थः । तेषु महानुभावेषु यल्लोकवेदकुलप्राप्ताचारदर्शनमात्रेण लौकिकत्वं वैदिकत्वं च व्यवह्रियते, तत्कापट्यात् अज्ञानादेव । नान्यथा अन्यप्रकारेण नेत्यर्थः । वैष्णवत्वं तेषु सहजं नैसर्गिकम्, तल्लक्षणसद्भावात् । वैष्णवलक्षणं श्रीभागवतविष्णुपुराणादितोवगन्तव्यम् । ततः महानुभावेभ्यः अन्यत्र अन्येषु विपर्ययः कापट्याद्वैष्णवत्वम् । लौकिकत्वं वैदिकत्वं सहजमित्यर्थः । सम्बन्धिनस्त्विति । ये जीवाः सम्बन्धिनो भगवद्विभूत्यंशलेशसम्बन्धवन्तस्तथापरे अन्ये केवलप्रवाहस्थाश्च ये ते सर्वे चर्षणीशब्देनोच्यन्ते, परिभ्रमणस्वभावात् । अत एव ते सर्वेपि क्षणादेव यादृशः सङ्गः, तादृशा एव सर्ववर्त्मसु प्रविष्टाः सन्तः सर्वत्वं तत्तन्मार्गानुसारित्वं यान्ति । तेषां रुचिरत्याग्रहः कुत्रापि नास्ति । अत एव तेषां क्रियानुसारेणैव सर्वत्र यत्र यदा रुचिस्तत्र वर्तमानानां फलं सकलं, कलया सह, लेशमात्रं, न पूर्णमित्यर्थः ॥ २२½ ॥

प्रवाहस्थान्निरूपयन्ति प्रवाहस्थानिति ।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान् ॥ २३ ॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे 'प्रवृत्तिं चे'ति वर्णिताः ।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ॥ २४ ॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः ।

पूर्ववदेव स्वरूपं जीवात्मा, अङ्गं देहः, क्रिया कृतिः, एतैः युतान् विशिष्टानित्यर्थः । ते प्रवाहमात्रानुसारिणो ये जीवास्ते आसुरा ज्ञेयाः, 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना

---

१. भोगरोगेति पाठः ।

न विदुरासुरा' इति वचनात् । ते च द्विप्रकारकाः । एके अज्ञाः, स्वतः किमपि न जानन्ति, आसुराणां दुष्टाचरणं दृष्ट्वा स्वयमाचरन्ति । एके पुनर्दुर्ज्ञाः, दुष्टमात्मपातकारणमेव कर्तुं जानन्ति, नतु भगवत्प्राप्तिसाधनमपि । ते च भगवता प्रोक्ताः 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्यादिना ॥ २४½ ॥

प्रासङ्गिकमाह प्रवाहेऽपीति ।

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तेन युज्यते ॥ २५ ॥
सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ॥ २५½ ॥

पुष्टिस्थो यदा दैवयोगादासुरसंज्ञात्तन्मार्गे प्रविशति, तदा तेन भावेन युज्यते लिप्तो भवति । तद्वस्त्रमालिन्यवत् प्रक्षालनस्थानीयभगवद्भक्तभाविसंसर्गाच्छुध्यत्येवेति मन्तव्यम् । अन्यथा विरोधः स्यात् । सोपि तद्धर्मैस्तेषां कुले जात उत्पन्नो भूत्वा पश्चात् स्वीयपुष्टिसंस्कारोद्बोधे सति तदर्थमेव यतिष्यत इति शेषः । जन्ममात्रं तु प्रारब्धकर्माधीनत्वादनिवार्यम् । अत एव भगवताप्युक्तं 'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यत' इत्यादिना । इत ऊर्ध्वं ग्रन्थत्रुटिः ॥ २५½ ॥

पुष्टिप्रवाहमर्यादाः पृथक् पृथगुदीरिताः ।
कृतिना रघुनाथेन श्रीवल्लभपदेप्सुना ॥ १ ॥

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथानां कृतौ पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरणं सम्पूर्णम् ।

---

१. संसर्गात् । २. उक्तं च, 'प्रवाहो लौकिको धर्मो मर्यादा वेद उच्यते । कृष्णे प्रेम च वै पुष्टिर्मार्गभेदास्त्रयोऽत्र हि ॥ इत्यधिकम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ।

श्रीकल्याणरायकृतटीकासमेता ।

श्रीविट्ठलेश्वरं नत्वा स्वेषां स[1]फलसिद्धये ।
पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृतिः क्रियते मया ॥ १ ॥

लोके कति मार्गाः कीदृशाः किं च तेषां फलमिति जिज्ञासूनां स्वकीयानां ज्ञानार्थं श्रीवल्लभाचार्याः पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण वक्तुं प्रतिजानते ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥ १ ॥

पुष्टिर्नाम भगवदनुग्रहः फलप्रापकत्वात् फलार्थं मृग्यत इति स एको मार्गः । **प्रवाहो** नाम जन्मादिप्रवाहरूपः लौकिकफलप्रापकत्वात् सोपि मार्गः । **मर्यादा** वेदोक्तः कर्ममार्गः । एता **विशेषेण** व्यावर्तकधर्मेण पृथक् पृथक् वक्ष्यामि । अत्र के व्यावर्तका धर्मा इत्याकाङ्क्षायामाहुः । भक्तिमार्गे जीवा भगवदनुगृहीता भिन्नाः । तेषां देहाः भगवच्चरणरेण्वादिनिष्पादिता भिन्नाः । तेषां क्रिया भगवत्परा भिन्नाः । एवं प्रवाहासक्ताः संसारिणो जीवा भिन्नाः, तेषां देहा अपि संस्कारादिरहिता भिन्नाः, तेषां क्रिया लौकिक्यो भिन्नाः । मर्यादामार्गे दैवा जीवा भिन्नाः, तेषां देहाः संस्कृता भिन्नाः, तेषां वेदोक्ताः क्रिया भिन्नाः । प्रवाहासक्तत्वेन प्रवाह एव प्रावाहिकाणां भेदकः । 'मद्भक्ता यान्ति मामपी'त्यादिवाक्याद्भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमप्राप्तिः फलम् । मर्यादामार्गे वेदोक्तकर्मभिर्निःकामानां तत्त्वज्ञानद्वारा अक्षरप्राप्तिः फलम् । सकामानां क्षयिष्णु स्वर्गादिः फलम् । प्रवाहस्थानां स्वकर्मानुसारि जन्मादिः फलम् । भिन्नैरेतैर्मार्गा अपि भिन्ना भवन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।
भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ २ ॥

कथनस्य प्रयोजनमाहुः । यस्योक्तस्य श्रवणात् मार्गतत्साधनफलेषु सन्देहा न भविष्यन्तीत्यर्थः । मार्गसत्त्वे प्रमाणानि वक्तुं प्रथमं पुष्टिसत्त्वे प्रमाणमाहुः । 'ते नाधीतश्रुतिगणा' इत्यादिना निःसाधनत्वेन निरूपितानां व्रजस्थितानां 'केवलेन हि भावेने'त्यादिवाक्यैः स्नेहनिरूपणात् भक्तिरूपस्य मार्गस्य कथनात् भक्तिकारणत्वेन पुष्टिर्निश्चीयत इत्यर्थः । ननु दानव्रतादिभिः भक्तेः श्रूयमाणत्वात् कथं भक्तिकारणत्वेन पुष्टिर्निश्चीयत इति चेत्, न, अनुग्रहव्यापारत्वेनैव दानादीनां भक्तिसाध-

---

१. स्वफलेति पाठः । सकलसिद्धय इति पाठः स्यात् ।

कत्वात् । ननु कथमेवम्? इत्थम् । पुष्टेर्भगवदनुग्रहरूपत्वेन भक्तेर्भगवदनुग्रहैकसाध्यत्वान्निःसाधनोनुग्रहः पुष्टिरित्युच्यते । साधनमिश्रभावात् साधनानुग्रहो भक्तिमार्गे मर्यादेत्युच्यते । अत एवोक्तमाचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे 'पुष्टिरत्र द्विरूपा हि मर्यादापुष्टिभेदतः । विश्वरूपस्तु मर्यादा द्वितीयो वृत्र उच्यत' इति । तेन स ससाधनानुग्रह एव दानादिसाधनद्वारा भक्तिं जनयतीति नानुपपन्नं किञ्चित् । एतदेवोक्तं भक्तिहंसे श्रीमत्प्रभुचरणैः 'वरणे चास्ति प्रकारद्वयं मर्यादापुष्टिभेदेने'ति । प्रावाहिकभक्तिस्तु भक्तस्य फलार्थं भगवति सापेक्षत्वमात्रेण स्नेहाभावेन भक्तिमार्गे किञ्चिद्धर्मसाम्येन प्रावाहिकभक्तौ भक्तिपदप्रयोगात् पूजातुल्येति । तेन पुष्टिभक्तिरेव मुख्या । परमानुरागरूपत्वात् । 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इति शाण्डिल्यसूत्रात् । मर्यादाभक्तिस्तु भक्तिदेशीया परमानुरागाभावात् । प्रावाहिकभक्तिस्तु सापेक्षतारूपेति पूजातुल्या, परं भक्तिमार्गसम्बन्धाद्भक्तिरूपेति । एतदेवोक्तं भक्तिहंसे 'भक्तिमार्गीयभक्तकृत(भक्ति)साम्प्रदायिकदीक्षापूर्वकं मोक्षसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः प्रावाहिकी भक्तिरुच्यत' इति । मर्यादामार्गस्थं ज्ञानमार्गस्थं वा जीवं यदि भगवाननुगृह्णाति, तदा स पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयं फलं प्राप्नोति । एतदेवोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'ति । तेनानुग्रहसाध्या भक्तिरिति सिद्धम् । अतः सुष्ठूक्तं 'भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय' इति ॥ २ ॥

प्रवाहसत्त्वे प्रमाणमाहुः ।

'द्वौ भूतसर्गा'वित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः ।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥ ३ ॥

'द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन् दैव आसुर एव चे'ति वाक्यात् प्रवाहोपि सिद्धः । मर्यादासत्त्वे प्रमाणमाहुः । काण्डद्वयात्मकस्य वेदस्य श्रूयमाणत्वान्मर्यादामार्गोपि सिद्धः ॥

भक्तेः पुष्टिसाधकत्वमुक्त्वा दुर्लभत्वमाहुः ।

कश्चिदेव हि भक्तो हि 'यो मद्भक्त' इतीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ ४ ॥

कश्चिदेव हि भक्तो भवति, न सर्वः । अन्यथा भगवान् 'यो मद्भक्त' इति न वदेत् । भक्तेः पुष्टिसाधकत्वमुक्त्वा भक्तिभक्तयोरुत्कर्षस्यापि पुष्टिसाधकत्वमाहुः । सर्वत्र गीताश्रीभागवतादौ 'भक्त्या मामभिजानाति,' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य' इत्यादि 'यत्कर्मभिर्यत्तपसे'त्यारभ्य 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेञ्जसे'त्यन्तेन । 'भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते' । 'मय्यनन्ते गुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि । नालं द्विजत्व'मित्युपक्रम्य 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बन'मित्यन्तेन । 'मय्यावेश्य'इत्यारभ्य 'ते मे युक्ततमा मता' इत्यन्तेन, 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्,' 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति,' 'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः,' 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्', 'अहं भक्तपराधीन'

१. प्रवाहमार्गस्थमिति पाठः ।

इत्युपक्रम्य, 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे'त्यन्तेन, 'एताः पर'मित्यारभ्य, 'पुनाति भुवनत्रय'मिति श्लोकषट्केन च उत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चीयत इत्यर्थः । नहि भक्तिर्भक्तत्वमेतादृशोऽर्थो भगवदनुग्रहं विना प्राप्यते ॥ ४ ॥

पुष्टिमार्गीयस्य प्रवाहमर्यादामार्गस्थाभ्यां भेदमाहुः ।

न सर्वोऽतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ।

'यदा यस्ये'ति वचना'न्नाहं वेदै'रितीरणात् ॥ ५ ॥

'यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता'मिति वाक्याद्यं भगवाननुगृह्णाति, स पुष्टिमार्गीयो भवति, न सर्वः । अतः प्रवाहाद्भेदः । हि युक्तोयमर्थस्ततो वैलक्षण्यात् । 'नाहं वेदै'रित्यारभ्य 'परन्तपे'त्यन्तेन अनन्यभक्त्यैव भगवान् ज्ञातुं द्रष्टुं शक्यः, नान्यसाधनैरिति भेदतः वैलक्षण्यात् वेदाच्च भिन्नः, वेदोक्तमर्यादामार्गस्थादपि पुष्टिमार्गस्थभक्तो भिन्न इत्यर्थः ॥ ५ ॥

मार्गैकत्वेपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ ।

न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥ ६ ॥

कस्यचित्पूर्वपक्षं निराकुर्वन्ति । तथाहि । ननु प्रवाहमर्यादामार्गयोरपि व्यवहारशुद्धिसाधकत्वेन भक्त्युपयोगात् अङ्गाङ्गिभावेनैको भक्तिमार्ग एवास्त्विति चेत्, न । मार्गैकत्वे स्वीक्रियमाणे प्रवाहमर्यादामार्गावङ्गत्वेन भक्तिफलप्रापकत्वेन तव सम्मतौ, तन्न युक्तम् । यदि प्रवाहमर्यादामार्गयोर्भक्तिफलेन फलवत्त्वं स्यात्, तदा तदङ्गत्वं स्यात्, तदेवाङ्गं भवति यत्प्रधानफलेन फलवद्भवति, न स्वतः, प्रयाजादिवत्, 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्ग'मित्यङ्गलक्षणात् । अत्र भक्तिमार्गे 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशा'दिति व्याससूत्रेण भगवत्परस्य मोक्षः फलत्वेनोच्यते । तथा भक्तिमीमांसायां शाण्डिल्यसूत्रं 'तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशा'दिति । अस्यार्थस्तु । तस्मिन्नीश्वरे संस्था भक्तिर्यस्य तस्यामृतत्वं फलमुपदिश्यते । 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती'ति । एतद्विचारेण भगवत्प्राप्तिफलकत्वात् । प्रवाहमर्यादामार्गयोः जन्मादिसंसारस्वर्गादिफलकत्वात् । परम्परया निमित्तकारणत्वेन देशादिवदुपयोगात्तयोर्न भक्त्यङ्गत्वमिति नाङ्गाङ्गिभावेन मार्गैकत्वसिद्धिः । युक्तिस्तु यदि मर्यादामार्गौ भक्तिमार्गाभिन्नः स्यात्, तदा भक्तिमार्गीयमेव फलं दद्यात् । स्वर्गादिफलदातृत्वाद्वैदिको मार्गो भिन्नः । अलौकिकफलदातृत्वाभावात् प्रवाहो नोक्तः ॥ ६ ॥

पुष्टिमार्गस्य भेदज्ञानार्थं तत्रत्यानां वैलक्षण्यमाहुः ।

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः ।

यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥ ७ ॥

यथा श्रुतेर्वेदस्य लौकिकवाक्यसमानत्वेन गृह्यमाणस्यापि नित्यता, 'स्वयंभूरेष भगवान् देवो गीतस्त्वया पुरा । शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः ।' 'वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम' इत्यादिवाक्यैर्लौकिकवाक्यभिन्नत्वं च, तथा

---

१. निरोधरूपा ।

पुष्टिमार्गे 'जयति जननिवास' इत्यादिवाक्यैर्लीलास्थानां जीवदेहकृतीनां नित्यत्वं भिन्नत्वं चेत्यर्थः । अथवा । यथा श्रुतेः 'ते ते धामान्युश्मसि गमध्यै गाव' इति वेदात् लीलास्थानां जीवदेहकृतीनां नित्यता भिन्नत्वम्, तद्वत् पुष्टिमार्गेपि लीलान्तर्गतौ जीवदेहकृतीनां नित्यता भिन्नत्वं च भवतीत्यर्थः । द्वयोरपि निषेधत इति । 'स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता'मितिवाक्येन भगवदनुग्रहानन्तरं प्रवाहमर्यादामार्गयोर्निषेधात् प्रवाहमर्यादामार्गस्थयोर्देहादीनां भिन्नत्वं नित्यता च न भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः ।

अतः कारणात् । पुष्टिमार्गे भगवाननुग्रहेण पुष्टिमार्गस्थं यथा ज्ञापयति, यथा प्रेरयति, तथा स प्रवर्तते । अतः पुष्टिमार्गे भगवान् प्रमाणम्, भगवदनुग्रहश्च । तस्मात् प्रमाणभेदादपि पुष्टिमार्गो भिन्न इत्यर्थः ॥ ७½ ॥

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥ ८ ॥

त्रयाणां सर्गभेदमाहुः । जीवदेहक्रियासहितं भिन्नं सर्गं प्रवक्ष्यामीत्यर्थः ॥ ८ ॥

इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥ ९ ॥

त्रयाणां सर्गाणां भेदे किं निमित्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः । इच्छामात्रेण सामान्येच्छया, मल्लादियुद्धवत् न तु स्वयं रन्तुम्, हरिः मनसा प्रवाहं सृष्टवान् । 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेये'तिश्रुतेः वचसा वेदवाण्या वेदमार्गं सृष्टवान् । कायेन स्वरूपेण पुष्टिमार्गस्थान् सृष्टवान् । 'स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानासे'ति श्रुतेः । अत एव वाराहपुराणे 'भिन्नैव काचित् सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी'ति । अथवा । स्वयमाविर्भूय भक्तैः स्वसेवां कारयित्वा तन्मार्गं प्रकटितवानित्यर्थः ॥ ९ ॥

त्रयाणां मार्गाणां फलभेदादपि भेदमाहुः ।

मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च ।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा ॥ १० ॥

मूलं सृष्टिकारणं ब्रह्म, तस्य सर्गादौ अस्यानेनैवमेवं करिष्यामीतीच्छा, तत एव प्रवाहस्थानां फलमित्यर्थः । वैदिके कर्ममार्गे वेदोक्तं स्वर्गापवर्गरूपमपि फलं भवतीत्यर्थः । पुष्टौ पुष्टिमार्गे कायेन स्वरूपेण फलं भवतीत्यर्थः । तदुक्तं 'गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्य'दित्यादिना । पुष्टौ प्रवाहमर्यादाभ्यां भिन्नेच्छातोपि जातं फलं कौमारलीलादिरूपेणानेकविधं भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

'तानहं द्विषतो' वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः ।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥ ११ ॥

प्रमाणपूर्वकं प्रवाहस्थान् जीवान् भिन्नानाहुः । भूतसर्गे दैवजीवेषु भगवदनुगृहीता

---

१. सत्र ।

भक्तिमार्गीया भवन्ति, अन्ये दैवा एव कर्मिणः वेदोक्तफलभाजो भवन्ति । अवशिष्टा जीवाः 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्यारभ्य 'प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका' इत्यन्तेन निरूपितानां 'तानहं द्विषतः क्रूरा'नित्यारभ्य 'ततो यान्त्यधमां गति' मित्यन्तेनाधमगतिमत्त्वेन निरूपणात् प्रवाहस्था आसुराः पूर्वोक्तेभ्यो भिन्ना इत्यर्थः । अत एवेतरौ पुष्टिमार्गीयमर्यादामार्गीयजीवौ एभ्यो भिन्नौ । तत्र हेतुः । सान्तौ अन्तः फलपर्यवसानं तत्सहितौ, कुतः, मोक्षप्रवेशत इति । मर्यादामार्गीयस्य मोक्षात् पुष्टिमार्गीयस्य लीलाप्रवेशत इत्यर्थः ॥

तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥ १२ ॥

अत्युत्कर्षादपि पुष्टिमार्गीयाणां भेदमाहुः । यस्मात् सर्वोत्कृष्टास्तस्मात् पुष्टिमार्गीयजीवास्तेभ्यो भिन्ना एवेत्यर्थः । विपक्षे बाधकं तर्कमाहुः भगवद्रूपसेवार्थमिति । यदि पुष्टिमार्गीयाः सर्वोत्कृष्टा न स्युः, तदा साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्न भवेत् ॥

शुद्धपुष्टिमार्गीयाणां सेवार्थं सहकारियोग्यतामाहुः ।

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा न क्रियासु वा ॥ १३ ॥

लीलासृष्टेर्भगवद्रूपत्वात् स्वरूपसाम्यम् । यथा भगवदवतारः प्रादुर्भावो न जीववज्जन्म, तथा मुख्यभक्तानामपीत्यवतारसाम्यम् । अलौकिकत्वज्ञापकस्य भगवता समं नृत्यादिसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् चिह्नसाम्यम् । गुणाः सौन्दर्यादयस्तत्साम्यं स्पष्टमेव । तेन तासां क्रियासु स्वरूपे देहे वा न तारतम्यमित्यर्थः । भगवतो लीलान्तःपातिनां भक्तानां च स्वरूपादिभिस्तुल्यत्वम्, न तूत्कर्षापकर्षाविति श्लोकार्थः ॥ १३ ॥

तथापि भगवान् स्वार्थं तारतम्यं करोतीत्याहुः ।

तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि ।

स्वरूपादेस्तुल्यत्वेपि भगवान् स्वस्य कार्यं रमणं स्वस्य भक्तानां च यावता तारतम्येन सिध्यति, तावत्तारतम्यं प्रकटयति । हि युक्तोयमर्थः । उत्कर्षापकर्षवैचित्र्यैर्विना समग्ररमणासिद्धेः । अत एव बाललीलादयो युक्तरूपा भवन्तीति दिक् ॥ १३½ ॥

एवं विशेषलीलायास्साधनानि प्रकारं चोक्त्वा सामान्यलीलायाः साधनानि प्रकारं चाहुः ते हीत्यारभ्य, भवेदित्यन्तेन ।

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः ॥ १४ ॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥ १५ ॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः ।
एवं सर्गस्तु तेषां हि फलमत्र निरूप्यते ॥ १६ ॥
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि ।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥ १७ ॥

ते पूर्वोक्ताः त्रयोपि मार्गाः द्विधा द्विप्रकाराः शुद्धमिश्रभेदात् । अन्यमार्गधर्मसंवलिता मिश्राः, तदसंवलिताः शुद्धाः । मिश्रा अपि परस्परं त्रयाणां मिश्रणेन प्रत्येकं त्रिप्रकाराः । एवं भेदानां प्रयोजनमाहुः भगवत्कार्यसिद्धय इति । 'क्रीडाभाण्डमिदं विश्व'मित्यादिवाक्यैः विश्वस्य क्रीडार्थत्वात् । पुष्ट्यादीनां त्रयाणां स्वतः परतः मिश्रणे ज्ञापकान् धर्मानाहुः पुष्ट्या....दुर्लभाः । पूर्वं सामान्यतोनुगृहीता विशेषानुग्रहं प्राप्ताः पुष्ट्या विमिश्राः । ते भगवदभिप्रायादिसर्वज्ञातारो भवन्ति, नारदादय इव, सर्वज्ञत्वमेव तेषां लक्षणम् । पुष्टिस्था मर्यादामिश्रिताः भगवद्धर्मज्ञातारो भवन्ति, कविप्रभृतयो नवयोगेश्वरा इव । पुष्टिस्थाः प्रवाहमिश्रिताः यत्किञ्चिद्भगवद्धर्मं ज्ञात्वा तीर्थाद्यटनपरा भवन्ति । प्रवाहस्थाः पुष्टिमिश्रिताः भगवद्भजनानुकूलक्रियानुसारिणो भवन्ति । प्रवाहस्थाः मर्यादामिश्रिताः सत्कर्मकर्तारो भवन्ति । प्रवाहस्थाः प्रवाहमिश्रिताः केवलं लौकिकक्रियारता भवन्ति । त एव आसुराः । मर्यादामार्गीयाः पुष्टिमिश्रिताः माहात्म्यज्ञानात् भगवत्प्रीत्यर्थं कर्मकर्तारो भवन्ति । मर्यादामार्गीयाः मर्यादामिश्रिताः स्वर्गाद्यर्थं कर्मकर्तारो भवन्ति । मर्यादामार्गीयाः प्रवाहमिश्रिताः लौकिकार्थं कर्मकर्तारो भवन्ति । प्रेम्णा स्नेहेन शुद्धाः प्रेमविषयातिरिक्तस्फूर्तिरहिताः ते शुद्धपुष्टिस्थाः । तेऽतिदुर्लभा इत्यर्थः । भगवत्कार्यसिद्धये एवंप्रकारेण तेषां सर्गो निरूपितः । हि युक्तोयमर्थः । वैचित्र्यं विना रमणासिद्धेः । तेषां फलमत्र निरूप्यते । तेषां फलमाहुः भगवानेवेति । धर्मधर्मिणोरभेदात् सर्वेषां धर्मधर्मिरूपेण भगवानेव फलं स यथा भुवि भक्तानां गृहादौ हृदये च यथा प्रकटो भवेत् गुणस्वरूपभेदेन, भक्तानां वा गुणस्वरूपभेदेन स्वरूपैकनिष्ठानां पुष्टिमार्गीयाणां स्वरूपेण आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकटो भूत्वा फलं ददाति, धर्मज्ञानादिपरेषु धर्मादिरूपेण स्थित्वा यथा फलं ददाति, तथा तत्तत्फलं तेषां भवतीत्यर्थः । यद्वा । भगवानिति । गुणा ऐश्वर्यादयो धर्माः, स्वरूपं धर्मि । भगवानैश्वर्यादिषड्गुणयुक्तो यस्य भक्तस्यान्तःकरणे यथा येन भावेन प्रकटो भवति तत्प्रियं कर्तुं स्वरूपमेव तस्य फलमित्यर्थः । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवे'ति प्रतिज्ञानात् ॥ १७ ॥

प्रमेयप्रमाणलीले तयोः प्रकारांश्चाभिधाय भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुं आसक्तावित्यारभ्य सार्धश्लोकत्रयेण समादधते ।

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥ १८ ॥
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवः ।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥ १९ ॥
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ।
वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥ २० ॥
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः ।

ननु भक्तिमार्गीयाणां कथमन्येन (शापेन) पराभव इत्याकाङ्क्षायामाहुः भगवानेवेति । पुष्टिस्थस्य लोके लौकिके आसक्तौ सत्यां अथवा अहंकारे जाते अनयोः भजनेन्तरायरूपत्वात् भगवानेव अन्येन शापं दापयति क्वचिदेव । यथा चित्रकेतौ । क्वचित् स्वसामर्थ्यादिज्ञापनेनाहंकारादिकमेव दूरीकरोति । यथार्जुनादेर्ब्राह्मणपुत्रानयनादौ । भक्तिमार्गस्थापनाय । हि यस्मात् अन्यथान्येपि बहिर्मुखाः स्युः । एवं भगवता स्वेषां शिक्षार्थं दण्डे कृते दण्डभयात् ते भक्तिमार्गीयाः पाषण्डतां न यान्ति लोकवेदभक्तिमार्गविरुद्धाचरणं न कुर्वन्ति । विरुद्धाचरणाभावात् तेषां रोगाद्युपद्रवो न भवति । तर्हि भक्ता अपि साधारणजनतुल्या एव किमित्याकाङ्क्षायामाहुः । ते भक्तिमार्गीया महानुभावाः प्रह्लादाम्बरीषादय इव, यदि ते शुद्धाः स्युः । शुद्धत्वं नाम भक्तिमार्गविरुद्धधर्मराहित्येन कायवाङ्मनोभिस्तत्परत्वम् । तेषां शुद्धत्वप्रयोजकं शास्त्रम् । तच्छास्त्रं 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उलङ्घ्य वर्तते । आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोपि न मे प्रियः' । 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।' 'मन्मना भवे'त्यादिभगवद्वाक्यम् । तदुक्तं ये कुर्वन्ति, ते शुद्धत्वात् महानुभावा भवन्तीत्यभिप्रायेणोक्तं प्रायेणेति । तत्र हेतुः । भगवदिति । 'ये भजन्ति तु मां भक्त्ये'ति वाक्यात् भक्त्या भजनेन यथा यथा षड्गुणयुक्तो भगवान् तेषां हृदये प्रविष्ट ऐश्वर्यादीन् प्रकटयति, तथा तथा तारतम्यं भजन्ति उत्कृष्टा भवन्तीत्यर्थः । लौकिकेषु इदानीं प्रसिद्धेषु (महेता)नरसिंहाख्यादिष्वपि प्रसिद्धिबोधको हिशब्दः । ननु एतादृशानां भगवद्भक्त्यैव सर्वसिद्धौ वेदोक्तकर्मकरणं लौकिककरणं च किमर्थमित्याकाङ्क्षायामाहुः । उत्कृष्टानां भगवद्भक्तानां वेदोक्तकर्मकरणं लौकिकव्यवहारकरणं च 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रह'मिति भगवद्वाक्यात् लोकसङ्ग्रहार्थमेव वेदोक्तकर्माणि लौकिकव्यवहारं च कापट्यं विधाय स्वस्य बहिः कर्मासक्तिं दर्शयित्वा कुर्वन्ति, नान्यथेत्यर्थः । तर्हि तेषां मुख्यः कर्तव्यो धर्मः क इत्याकाङ्क्षायामाहुः वैष्णवत्वं भक्तिमार्गीयदीक्षापूर्वकं भगवद्भजनं सहजं आदरेण कर्तव्यो मुख्यो धर्मः । ततोन्यत्र अन्यधर्मेषु एतद्विपर्यय इत्यर्थः । हि युक्तोयमर्थः । यो यस्य दासः तस्य तद्भजनमेव मुख्यो धर्म इति ॥ १४ ॥

भक्तिमार्गीयाणां व्यवस्थामुक्त्वा तत्सम्बन्धिनां उदासीनानामन्येषां च व्यवस्थामाहुः सम्बन्धिनस्त्विति श्लोकद्वयेन ।

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥ २१ ॥
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥ २२ ॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ।

भक्तिमार्गीयसम्बन्धिनो ये तु अदीक्षिताः, तथा भक्तिमार्गीयासम्बन्धिनः

प्रवाहस्था ये च अदीक्षिताः, ते चर्षणीशब्दवाच्याः सर्वमार्गेषु परिभ्रमणशीलत्वात् ते सर्ववर्त्मसु सर्वेषु मार्गेषु क्षणात् अल्पकालादेव तन्मार्गीयसङ्गं प्राप्य तन्मार्गधर्माचरणात् तन्मार्गीयसदृशा भवन्ति, नतु तेषां कुत्रापि रुचिः स्नेहोऽस्ति। तेषां तत्तन्मार्गीयक्रिया-नुरूपं कामितं फलं भवतीत्यर्थः॥ २०॥

लक्षणप्रमाणाभ्यामासुरान् जीवानाहुः प्रवाहस्थानित्यारभ्य श्लोकद्वयेन।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान्॥ २३॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे 'प्रवृत्तिं चे'ति वर्णिताः।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः॥ २४॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः।

प्रवाह एव तिष्ठन्ति स्वोदरपोषणमात्रपराः, स्वरूपदेहक्रियातत्पराः, न तु धर्मा-दिपराः, ते जीवा आसुरा ज्ञेयाः। ते च 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्यादिना भगवता वर्णिताः। ते आसुराः द्विप्रकाराः अज्ञदुर्ज्ञभेदात्। 'प्रवृत्तिं चे'त्यादिनोक्ता दुर्ज्ञाः। तान् ये अनुसरन्ति तदुक्तकारिणो भवन्ति, ते तु अज्ञाः॥ २४½॥

ननु आसुराणामपि भक्तिः श्रूयते, सा कथं सम्भवतीत्याशङ्कायां समाधानमाहुः।

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते॥ २५॥
सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः॥ २५½॥

वस्तुतो यस्य भक्तिर्दृश्यते, स आसुरजीवो न भवति, किन्तु भगवदपराधेन भक्ता-पराधेन वेदादिनिन्दया वा प्रवाहेपि समागत्य प्राप्तोपि तैः प्रवाहस्थैर्न युज्यते न मिलति। तत्कुले जातोपि स पुष्टिस्थस्तैः प्रवाहस्थकुलधर्मैर्न युज्यते, न युक्तो भवति। 'न वै जनो जात्वि'ति वाक्यात्। तर्हि भक्तिमतः कथं प्रावाहिकेषु जन्मेत्यत आहुः कर्मणा जायते यत इति। यतः यस्मात् कारणात् भगवदपराधादिना प्रारब्धकर्मणा वा जायते उत्पद्यते। देहस्य कर्माधीनत्वाद्यादृशं कर्म, तादृशो देहो भवतीत्यर्थः॥ २३॥

इति श्रीवल्लभाचार्यैः साधनादिविभेदतः।
मार्गाः प्रोक्ता विचार्यैषु प्रविशन्तु फलार्थिनः॥ १॥
भक्त्या श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जयुगं प्रभून्।
प्रणम्य कृपया तेषां यत्नाद्भक्ताः सुखावहाः॥ २॥
श्रीमत्कल्याणरायेण श्रीगोविन्दसुतेन हि।
पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृतिः कृतिना कृता॥ ३॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता पुष्टिप्रवाह-मर्यादाविवृतिः समाप्तिमसर्पत्॥

---

१. साधु।

श्रीकृष्णाय नमः ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ।

श्रीपीताम्बरकृतविवृतिसमेता ।

नमः श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जनखेन्दवे ।
पुष्टिप्रवाहमर्यादास्तारका येन शोभिताः ॥ १ ॥

न भेदस्ते कुत्राप्यतिरुचिर किन्तु प्रियतया
विभेदोऽतः स्वामिन् कृपय मयि दासेऽतिविधुरे ।
विभेदः केन स्यात् स्वकृतनिजपुष्टेरितरथा
प्रवाहादेः स्वीयप्रणतचरणप्रापक विभो ॥ २ ॥

श्रीवल्लभसुतचरणाम्भोरुहमकरन्दमत्तमधुपो यः ।
जयति निगूढत्रिसरणिमालत्यां तस्य झङ्कारः ॥ ३ ॥

इह हि चिद्रूपत्वेन भगवदंशत्वेन च तुल्येषु जीवेषु केषाञ्चित्पुरुषोत्तमप्राप्तिः, केषाञ्चिदक्षरस्य, केषाञ्चित्स्वर्गादेः, केषाञ्चिदन्धन्तमसः, सा श्रूयत इति कुतः फलभेदः, कुतो वा स्वभावभेदः, कथं वा केषाञ्चित्स्वभावविरुद्धे देहक्रिये, इतरेषां च तदनुरूपे इत्यादिप्रकारेण सेवाफलविवरणादिग्रन्थश्रवणादन्यतश्च सन्दिहानानां सन्देहवारणाय तदुपायभूतमार्गतत्साङ्कर्यं निरूपयितुं बहूनां सन्देहानां भेदज्ञानादेव निवृत्तिं हृदि कृत्वा मार्गत्रयभेदनिरूपणं श्रीमदाचार्याः प्रतिजानते पुष्टीत्यादि ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥ १ ॥
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।

एतन्मार्गत्रयं विशेषेणोत्कर्षादिरूपव्यावर्तकधर्मेण जीवादिभेदैः प्रवाहेण सर्गपरम्पराया अविच्छेदेन फलेन च पृथक् पृथक् भिन्नं भिन्नं यथा स्यात्तथा वक्ष्यामीत्यर्थः । भेदकथनफलमाहुः सर्वेति । यच्छ्रुतेः उक्तभेदकचतुष्टयश्रवणात् । एतेन जगत्यनेके मार्गाः कथं त्रय एवोच्यन्त इत्यपि सन्देहोऽनेनैवापयास्यतीत्यपि बोधितम् । ज्ञाते स्वरूपे अन्यान्तर्भावस्यापि सुखेनैव ज्ञानात् । न चैकेनैव भेदसिद्धावितरेषां वैयर्थ्यं शङ्क्यम् । स्वरूपसाधनफलैक्यनिरासकत्वेन सर्वेषामेव सार्थक्यात् । अत्यन्तविविक्तत्वज्ञान एव सर्वसन्देहनिरासात् ॥ १½ ॥

नन्वाश्रयसिद्धौ भेदकं वक्तव्यम्, प्रकृते तु पुष्ट्यादिशब्दवाच्यानां मार्गाणामप्रसि-

द्धत्वात्तद्भेदनिरूपणं गगनकुसुमसौरभमनुकरोतीत्याशङ्कायामाश्रयसत्त्वं सिसाधयिषवः पुष्टेः पूर्वमुद्दिष्टत्वात्तत्रैव पूर्वं प्रमाणमाहुः भक्तीत्यादि ।

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ २ ॥

दशमस्कन्धे भ्रमरगीतस्थसन्देशे 'या मया क्रीडते'त्यारभ्य 'अचिरान्मामवाप्स्यथे'त्यन्तस्य, 'युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेने'त्यादेः, 'दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया कृतानुवृत्ति'रित्यादेः, एकादशस्कन्धे च 'अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन । सुगोप्यमपि वक्ष्यामी'त्यारभ्य 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्ये'ति श्लोकद्वयान्तस्य 'भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं पर'मित्यादिभिर्भगवता भक्तिमार्गस्य कथनात्, 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इति तृतीयस्कन्धे उक्तायाः 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनैवामुष्मिन्मनःकल्पनमि'त्याथर्वणोपनिषदि च श्राविताया भक्तेर्यो मार्ग उपायः प्रकारश्च तस्य कथनात्, पुष्टिरस्ति 'पोषणं तदनुग्रह' इति वाक्यादनुग्रहापरपर्याया तत्तद्भक्तिबीजभूता कृपा भगवति वर्तत इति निश्चयः । अन्यथा भगवानेवं भक्तिमार्गं न वदेत् । 'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनामि'ति वाक्यादुभयोस्ताभ्यां फलसिद्धेरुक्तत्वात् 'न निर्विण्णो नातिसक्त' इत्यनेनोक्तस्येषत्सक्तस्य कामसद्भावात्कर्मणा कथञ्चित्तेन[1] तदपूर्तौ निर्वेदे ज्ञानेन च यदाकदाचिद्यथाकथञ्चित्फलसिद्धेः सम्भवात् । लोकेऽपि स्वल्पधनस्याधमर्णस्य तावद्धनग्रहणादिभिर्महर्णविमोकस्योत्तमर्णानुग्रहेण दर्शनात् । कष्टसाध्ये प्रायश्चित्तादौ पर्षदनुग्रहेणैव सुकरसाधनोपदेशस्य स्मृतिष्वपि सिद्धत्वात् । 'भवन्तावनुगृह्णीतां याता वोऽनुग्रहाद्दिव'मित्यादिषु तत्प्रार्थनादर्शनाच्च सुकरसाधनोपदेशबीजभूतानुग्रहे सिद्धे पुष्टिर्भगवत्यस्ति । सुकरसाधनरूपस्य भक्तिमार्गस्य कथनात् । यत्र यत्र हितरूपसुकरसाधनकथनं तत्र तत्र वक्तर्यनुग्रहसत्ता । यथा उक्तपरिषदि । यत्र नैवं तत्र नैवम् । यथा नृगसम्प्रदानविप्रादिषु, इत्यनुमानेन भक्तिरूपसुकरसाधनोपदेशाद्भगवति तत्सत्तायां न सन्देह इत्यर्थः । स च धर्मान्तरमेव । न तु फलदित्सा । 'यस्यानुग्रहमिच्छामी'ति वाक्यात् । दित्सात्वे इच्छाकर्मत्वायोगात् । अत एव न परदुःखप्रहाणेच्छापि । नापि तदर्थको यत्नः । कृपयामि न तु यते इति तदुत्तरं व्यवसायदर्शनात् । कृपया यते दित्स इत्यादिप्रयोगाच्च । नापि ज्ञानम् । दुःखं जानन्नपि न दुष्टे कृपयति, नास्य दुष्टस्य दुःखमिति जानन्न कृपयतीत्यादिप्रयोगात् । दृष्टत्वान्नादृष्टविशेषः । द्वेषादिवैलक्षण्याच्च न द्वेषादि । न च कृपयत्यनुगृह्णातीति भिन्नशब्दाभिलाप्यत्वाद्भिन्नानुव्यवसायगम्यत्वाच्च कृपानुग्रहयोर्भेदः शङ्क्यः । लोके कृपाभिन्नतया तत्प्रसिद्ध्यभावे धातुभेदप्रयोगादेस्तद्भेदाप्रयोजकत्वादिति । तस्मात्स्वीकारफलदित्सादिप्रयोजकं कृपापरपर्यायं धर्मान्त-

---

१. कथञ्चित्तेनेति नास्ति ।

भेवेति निश्चयः । स च भक्त्युपदेशस्येव भक्तेरपि कारणम् । यत्रानुग्रहाभावस्तस्य भक्तेरदानात् । 'भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मितिवाक्यात् । इदं यथा तथा भक्तिहेतुनिर्णये प्रपञ्चितं प्रभुचरणैः । तथा च सति भक्त्युपदेशो वक्त्रनुग्रहपूर्वकः । सुकरसाधनोपदेशत्वात् । पर्षदुक्तसुकरप्रायश्चित्तोपदेशवत् । व्यतिरेके कष्टसाध्यदितिपयोव्रतोपदेशवत् । अयमनुग्रहविषयः । भक्तिमत्त्वात् । नारदवत् । व्यतिरेके साल्वादिवदित्यनुमानमपि तत्र प्रमाणं ज्ञेयम् । यद्यपि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतिर्भगवत्प्राप्तेर्वरणैकसाधनत्वं वदन्ती 'स वरस्तया वृतः' 'कन्यां वृणीते' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्स्वीकारात्मकत्वेन सिद्धस्य वरणस्यानुग्रहजन्यत्वात्तत्र प्रमाणं भवति, तथापि 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वा'मित्युक्तस्य विवरणस्य स्वस्वरूपप्रकाशनात्मकत्वात्तत्र यत्फलं लाभात्मकं ग्रहणं तस्य 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्यादिस्मृत्या भक्तिसाध्यताबोधनात्पर्यवसानतो भक्तिद्वारैव जातस्य ग्रहणस्य प्रमितिरूपत्वं बोधयति । भक्तिश्च मार्गेणैव प्रमीयते । स चोपदेशादेवेति हृदि कृत्वाचार्यैरेवमुक्तम् । श्रुतेर्वादकवलितत्वेन पुनः प्रयासकरणापाताच्च ॥ १ ॥ २ ॥

एवं पुष्टिसत्तां साधयित्वा प्रवाहसत्त्वे प्रमाणमाहुः द्वौ भूतसर्गाविति ।

'द्वौ भूतसर्गा'वित्युक्तेः प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः ।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥ ३ ॥

प्रवहणं प्रवाहः । सर्गपरम्पराया अविच्छेदः । सोऽप्युक्तवाक्याद्दैवासुरविभेदेन व्यवस्थितः कृतविभागः । यदि स न प्रवहेदाप्रलयम्, तदा विभागो मुधैव स्यात् । अतः सोऽप्यस्तीत्यर्थः । मर्यादासत्त्वे प्रमाणमाहुः वेदस्येत्यादि । नियमानतिक्रमो मर्यादा । सात्र कर्मज्ञानादेस्तत्तत्प्रकारनियमस्य बोध्या । सापि वेदस्य विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादात्मकस्यापौरुषेयनित्यशब्दस्य विद्यमानत्वात् व्यवस्थिता, 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादिभिर्विध्यादिभिः स्वर्गार्थं ज्योतिष्टोमं कुर्यात्, मन्त्रेणैव देवतां स्मरेत्, अग्निनामैव स्वाहाकारे वदेत्, ब्राह्मणं न हन्यात्, शीघ्रगामिनीं देवतां ज्ञात्वैव वाय्यव्यालम्भः कर्तव्यो, नान्यथेत्यादिरूपेण नियमेन कृतविभागा । यदि सा न स्यात्, तद्विभाजको वेदो न स्यात् । अतो विभाजकस्य वेदस्य विद्यमानत्वात्साप्यस्तीत्यर्थः । तथाच यद्यपि प्रवाहोऽस्ति । द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेर्व्यवस्थितत्वात् । यद्व्यवस्थितं तदस्ति दायादिवदिति मर्यादास्ति । तद्व्यवस्थापकस्य वेदस्य विद्यमानत्वात् । यद्व्यवस्थापकस्य वेदस्य विद्यमानत्वं तस्य सत्त्वम् । यथा यज्ञादेरित्यनुमानाभ्यां तयोः सत्तापि सिध्यति, तथापि प्रवाहे प्रत्यक्षं मर्यादायां वा व्यतिरेकः प्रमाणत्वेन वर्तत इत्यतस्तदुभयसत्तासाधनाय नास्माभिः प्रयासः कृत इति भावः । अत्रैवं स्वरूपनिश्चायनेन यावन्तः पुष्टिप्रयुक्ता मार्गा भक्तिरूपास्ते पुष्टिमा-

१. विभागसार्थक्यात्साऽप्यस्तीत्यर्थः इति पाठः ।

र्गेऽन्तर्भवन्ति, ये लौकिकाः सर्गपरम्परां न विच्छिन्दन्ति, ते प्रवाहेऽन्तर्भवन्ति, ये वेदनियमं नातिवर्तन्ते ते मर्यादायामन्तर्भवन्तीत्येवं बुद्धिसौकर्यात्रयो मार्गा ज्ञेयाः सन्देहनिरासेप्सुभिरिति बोधितम् । न च भगवद्वाक्ये 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता' इति ज्ञानकर्मभक्तीनामेवोपायतया मार्गत्वबोधानादेतेषां कथं मार्गत्वमिति शङ्क्यम् । भक्तेर्विचारे तन्मूलभूतानुग्रह एव मार्गत्वस्य पर्यवसानेन, सर्गपरम्पराविचारे 'जायस्व म्रियस्वे' ति श्रुत्युक्तजन्माद्यनुच्छेदरूपफलहेतुतायाः प्रवाह एव पर्यवसानेन, ज्ञानकर्मफलस्य चोक्तविधनियमादेव भवनेन तद्धेतुतायास्तदनतिक्रम एव पर्यवसानेन, तात्पर्यतस्तेषां मार्गत्वस्याप्रत्यूहत्वात् । एतेनैव 'प्रवाहपुष्टिमर्यादाः कुत उत्प्रेक्षिताः किल । दृष्टा वा कुत्रचिद्ग्रन्थे मूलमत्र निरूप्यता' मिति भ्रान्तपर्यनुयोगोऽप्यपास्तो बोध्यः ॥ ३ ॥

अतः परं भेदसाधनार्थं यतन्ते । तत्र, नन्वस्तु पुष्ट्यादिसत्ता । तावता परस्परविवेकस्तु न सेत्स्यति । तथाहि । 'फलमत उपपत्तेरि'ति न्यायेन फलमात्रं भगवतः सकाशादेव । ब्रह्मवादे च चैतन्यभेदाभावान्नामभेदमात्रं नोपास्यभेदः । अतो लोकास्तत्तन्नाम्ना भजन्तोऽपि तत्तत्फलार्थं तमेव भजन्ते प्रावाहिका अपि । ततः फलं च लौकिकमलौकिकं प्राप्नुवन्तीति सर्वेषां भक्तत्वाविशेषाद्भक्तिमार्गस्य चानुग्रहप्रयुक्तस्य सर्वान् प्रति तुल्यत्वान्न प्रवाहाद्विवेकः शक्यवचनः । मर्यादा तु वेदोक्तत्वाद्विविक्तैवेति द्वावेव मार्गावभ्युपगन्तव्याविलाशङ्कायामाहुः कश्चिदेव हीति ।

कश्चिदेव हि भक्तो हि 'यो मद्भक्त' इतीरणात् ।
न सर्वोतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ॥ ४ ॥
'यदा यस्ये'ति वचना'न्नाहं वेदै'रितीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ ५ ॥

गीतायां 'यो मद्भक्तः स मे प्रिय' इति भगवता यच्छब्दोपबन्धेन कस्यचिदेव भक्तत्वं बोधितम् । अतो न सर्वोऽपि लोको भक्तः । एवं परिसंख्याते भक्ते तत्प्रयोजको मार्गोऽपि प्रवाहाद्भिन्नः असङ्कीर्णः । तथाच भजनमात्रं न भक्तिः । किन्तु प्रियत्वप्रयोजकं भजनम् । अत एव 'अनपेक्षः शुचिर्दक्षः' 'मय्यर्पितमनोबुद्धि'रित्यादि विशिनष्टि । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ'मित्यत्रापि 'चतुर्विधा भजन्ते मा'मिति भक्तिमेवोपक्रम्य ज्ञानिनो भक्तस्यात्मत्वं वक्ति, न केवलज्ञानिनः । तेन तादृशभक्तेरेव मार्गत्वात्तद्गम्यायाः पुष्टेः प्रवाहेणासाङ्कर्यात्सिद्धास्त्रयो मार्गा इत्यर्थः । नन्वस्त्वेवम्, तथापि मर्यादया साङ्कर्यं दुर्वारम् । तथाहि । भक्तिमार्गो नाम किं श्रवणादिसरणिरूपः, उत 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति पञ्चरात्रोक्तमाहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहसरणिरूपः । आद्यश्चेत्, 'धारयति रसति भजती'त्यादिश्रुतिसिद्धः । द्वितीय-

१. तत्रैवेति पाठः ।

श्चेत्, सृष्ट्यादिवाक्यैर्माहात्म्यस्य 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'त्यादिभिर्निरुपाधिप्रीतिविषयत्वस्य च प्रतिपादनान्माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेह एव श्रुतेस्तात्पर्यमिति तद्गोचरः । पुराणानां श्रुत्युपबृंहणत्वात्तदुक्तत्वेऽपि श्रुतिमूलकत्वेन विधिविषयत्वान्मर्यादातो नातिरिच्यते । यत्पुनर्देवान्तरभजनम्, तदपि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ती'ति श्रुतेर्भगवद्भजनमेवेति द्वावेव मार्गावित्याशङ्कायामाहुः वेदाच्च भेदत इति । वक्ष्यमाणहेतुभिः वेदात् वेदोक्तमर्यादामार्गाच्च । लोकादपि भेदं प्राप्य पुष्टिरस्तीत्यन्वयः । अनुग्रहः स्वविषयं पुष्णातीति पुष्टिः । कर्तरि क्तिच् । सेतुर्विधृतिरितिवत् । वेदादिति वाच्यवाचकयोरभेदोपचारान्निर्देशः । तथाच, 'यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता'मित्यत्र लोकवेदौ पृथङ्निर्दिश्य भगवदनुगृहीतस्य तयोरास्थात्यागं वक्ति । यद्यनुग्रहो लौकिकेषु वैदिकेषु वा साधनेषु प्रविशेत्, तदैवं सामान्येनारुचिं न वदेत् । किञ्च । 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा । भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'त्यत्र वेदादिपदैरुक्तानां ब्रह्मचारिवनस्थगृहस्थधर्माणां 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तपे'ति वचनादिहेज्यापदसङ्गृहीतस्य यतिधर्मस्य ज्ञानस्यापि दर्शनसाधनत्वमुपलक्षणविधया निषिध्य स्वविषयकस्य ज्ञानस्य ज्ञानफलयोर्दर्शनप्रवेशयोश्चानन्यभक्तिसाधनकत्वं वदति । तेनापि ज्ञायते, अनन्या भक्तिर्नोक्तधर्मेषु प्रविशति, केवलैव च फलं साधयतीत्यतोऽपि तत्कारणभूता पुष्टिस्तथा । किञ्च । 'नायमात्मे' ति श्रुतावपि प्रवचनादिनिषेधपूर्वकं वरणैकलभ्यत्वं वृतं प्रत्येव स्वस्वरूपविवरणं चोक्तम् । तेन वरणस्यैवोत्कर्ष उक्तः । वरणं चानुग्रहप्रयुक्तोऽङ्गीकार एव । तथा 'अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन । सुगोप्यमपि वक्ष्यामि' 'रामेण सार्धं' 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्' 'भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते' 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्' 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा' 'केवलेन हि भावेन' 'ता मन्मनस्का' इत्यादिषु भक्त्युत्कर्षकथनेनापि तत्कारणीभूतपुष्टेरेवोत्कर्षः सिद्धः । अतो वेदोक्तत्वेऽपि वेदतात्पर्यगोचरत्वेऽपि जीवकृतवैधसाधनेष्वप्रवेशात्तदसाध्यसाधनात्फलवैलक्षण्याच्च स्वरूपतः कार्यतः फलतश्चोत्कर्षाच्च वेदोक्तसाधनेभ्योऽपि भिन्नैव तत्तदाकारिका पुष्टिरस्तीत्यतो हेतोः सिद्धं मार्गत्रयमित्यत्र न सन्देह इत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

ननु भवत्वेवं स्वरूपविवेकः, तथापि 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्' । 'श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जन'मित्यादिभिः केवलस्यैव निन्दास्मरणात् 'निबन्धायासुरी मते'त्यादौ प्रवाहैकदेशस्यैव तथात्वात्तादृशमेवारुच्यत्वादसाधनत्वबोधनेन 'यदा यस्ये'त्यादीनां चारितार्थ्यादैवसर्गस्यानिन्दया 'सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र

विष्णुभक्तौ यथा नृपे'त्यादिभिश्च तस्य सर्वस्यापि भक्त्यनुकूलत्वेन 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते' 'ज्ञानी च भरतर्षभ' 'आत्मारामाश्च मुनय' इत्यादिभिर्भक्तिसाधनतास्मरणाच्चाङ्गभावेन प्रवाहमर्यादयोर्भक्तिशरीरप्रवेशे एको मार्ग एवास्तु, न त्वत्यन्तविवेक इत्याशङ्कामनूद्य दूषयन्ति मार्गैकत्वेऽपीति ।

मार्गैकत्वेपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥ ६ ॥

अपिः पूर्वपक्षगर्हायाम् । उक्तरीत्या मार्गैकत्वे अन्त्यौ मर्यादाप्रवाहौ भक्त्यागमौ भक्तेरागमोऽभिव्यक्तिर्याभ्यां तादृशौ तनू अङ्गभूतौ मतौ त्वयाङ्गीकृतौ । यद्वा । तनू न्यूनफलसाधनत्वादल्पौ । हेतुगर्भं विशेषणम् । तनुत्वात् उक्तरीत्या भक्तिहेतू शास्त्रसम्मतौ चेत्, तदङ्गत्वं हेतुत्वं वा न युक्तम् । हि यस्माद्धेतोः वैदिको मार्गः सूत्रतः कर्मज्ञानविचारकेभ्यो मीमांसाद्वयसूत्रेभ्यो युक्त्या तत्तत्फलयोजनया हि निश्चयेन भिन्नः । सूत्रे हि जैमिनीये 'शेषः परार्थत्वादि'ति लक्षयित्वा 'कर्म फलार्थत्वादि'ति कर्मणः फलशेषत्वमुक्तम् । फलं च ज्योतिष्टोमादिवाक्ये स्फुटम् । विश्वजिदादिवाक्ये तु 'स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशेषादि'त्यनेन व्यवस्थापितमिति कर्माणि तावता चरितार्थानि शेषित्वेन भक्तिं नापेक्षन्ते । एवं 'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तमि'ति वैयासे सूत्रे 'परं ब्रह्मैतद्यो धारयति रसति भजति ध्यायति प्रेमति शृणोति श्रावयत्युपदिशत्याचरति सोऽमृतो भवती'ति भगवद्धर्माणां मुक्तिसाधनत्वमाथर्वणोपनिषदि श्रुतम् । 'तमेवं विद्वानमृत इह भवती'ति तैत्तिरीये श्वेताश्वतरे च ज्ञानस्य श्रुतम् । तत्र किं सर्वेषां कारणता, उत ज्ञानस्यैवेति सन्देहे, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'त्यन्यनिषेधात् साधनवैजात्ये फलवैजात्यस्य दृष्टस्य मुक्तावयुक्तत्वात् 'भक्त्या मामभिजानाती'ति भक्तेर्ज्ञानोपक्षीणत्वाच्च ज्ञानादेव मोक्ष इति प्राप्ते, 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि अस्थूलमनणु' 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' 'अदृश्यमग्राह्यमि'त्यादिश्रुत्युक्तानामक्षरधियामक्षरविषयकज्ञानानाम् । तुः पूर्वपक्षनिरासे । अवरोधो मुक्तिसाधनेषु सङ्ग्रहः । सः सामान्यतद्भावाभ्याम् । उक्तश्रुतौ यथा धर्माणां पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वं श्रुतम्, तथा तैत्तिरीयखिले 'अम्भस्यपारे' इत्युपक्रम्य, 'तदक्षरे परमे व्योमन्नि'ति भगवत्स्थानत्वेनाक्षरस्यापि श्रुतम् । अतो भगवद्धर्माक्षरयोः सामान्यम् । तथा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती' ति श्रुतौ यस्तद्भावः ज्ञानिनो ब्रह्मभाव उक्तः, सोऽपि 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे'त्यत्र परमभक्तिप्राप्तौ स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वेन स्मृत इति ताभ्यां हेतुभ्याम्, न तु साक्षात्पुरुषोत्तमप्राप्तिसाधनत्वेन । नन्वेवं स्मृतावुच्यते । श्रुतौ तु तत्र विश्राम्यते इति विरोधः । किञ्च । अक्षरमप्यविशिष्टमिति तद्वित्सु केषाञ्चित्तत्सायुज्यम्, केषाञ्चिद्भक्तिलाभ इति निर्हेतुकं वैषम्यम् । तदुभयं कथं निरसनीयमित्याशङ्कायां दृष्टान्तेनाह औपसदवदिति । यथा उपसदाख्यकर्मसम्बन्धिनि तानूनप्त्रस्पर्शाख्ये कर्मणि 'अनाधृष्टमस्यनाधृष्यमि'ति मन्त्रेण तानूनप्त्राख्यं ध्रौवाज्या-

स्रुचि चतुरवत्तमाज्यं षोडशर्त्विजः 'अनु मे दीक्षामि'ति मन्त्रेण यजमानश्च स्पृशन्ति। तत्र कल्पे श्रुतौ च श्रूयते 'यमृत्विजं कामयेत यज्ञयशसमृच्छेदिति तं प्रथममवमर्शये'दिति। अत्र सर्वेषामृत्विजां तुल्यत्वेऽपि यथा यजमानेच्छया फलवैषम्यम्, एवमिहापि भगवदिच्छया। अत्र सम्मतिमाह तदुक्तमिति। गीतास्विति शेषः। 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ती'त्यादिना, 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये'त्यन्तेन तथाचोपबृंहणत्वान्न विरोधो, नापि निर्हेतुकं वैषम्यमिति प्रतिपादितम्। अतो मर्यादामार्गीयं ज्ञानमपि स्वारस्येन मोक्षमेव शेषित्वेन गृह्णाति, न भक्तिम्। तथाच मीमांसाद्वये कर्मज्ञानयोस्तत्तन्मुख्यफलस्य पृथङ्निरूपणेन केवलाङ्गभूतप्रयाजादितुल्यत्वाभावात्सूत्रतो वैदिकमार्गो भिन्नो, 'दानव्रततपोहोमे'त्यादिवाक्यसिद्धोऽनुग्रहयुतश्च भिन्नः।[1] एवं दैवसर्गात्मा प्रवाहोऽपि मोक्षशेष एव, 'दैवी सम्पद्विमोक्षाये' ति वाक्यात्। इतरस्तु बन्धशेष इति दूरापास्तं भक्तिशेषत्वम्। यदि प्रवाहो भक्तिशेषः स्यात्, भगवानेवम्भावं तत्सम्पत्तेर्न वदेदिति युक्त्या वैदिकः सर्गोऽपि भिन्नोऽनुग्रहयुतश्च भिन्न इत्यनुपदं साधनीयम्। अतः केवलानां त्रयाणां स्वरूपमत्यन्तविविक्तमेवेति[2] सिद्धं मार्गत्रयमित्यर्थः॥ ६॥

एवं स्वरूपं विविच्य उक्तवाक्यैः संयोगपृथक्त्वेन भक्तिशेषत्वे मार्गैक्यं दुर्वारमित्याशङ्कायां पूर्वोक्तविवेकोपष्टम्भाय युक्तिमप्याहुः जीवेत्यादि।

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः।
यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः॥ ७॥
प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः।

'ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास' इति श्रुतौ स्तुतिक्रियावतां जननशालिनां चेतनानां नित्यत्वश्रावणाद्यथा पुष्टिमार्गे भिन्नत्वं इतरवैलक्षण्यम्, तद्वत् 'नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनां चात्मपोतानां यथा भक्तिमतामिहे' ति वाक्ये द्वयोर्देहिज्ञानिनोर्निषेधतः सुखेन भगवत्प्राप्तिनिषेधादपि भिन्नत्वम्। यदि सर्वजीवदेहकृतीनां नित्यत्वं स्यात्, कीरय इत्यादि विशिष्य श्रुतिस्तन्नित्यत्वं न वदेत्। ब्रह्मवादे नित्यत्वस्य विशिष्टाद्वैतद्वैतवादयोरनित्यत्वस्य मायावादे मायिकत्वस्य सर्वेष्वविशिष्टत्वात्। एवं सत्यपि यदेवं वदति, तेन तादृशतद्विशिष्टः पुष्टिमार्गो भिन्न एव। किञ्च। यदि पुष्टिमार्गस्येतरविवेको न स्यात्, उक्तवाक्ये द्वयोः सुखेन भगवदाप्तिं न निषेधेत्। यस्मादेवम्, तस्मान्मार्गो भिन्न इति। पूर्वश्लोकस्थयुक्तिपदस्यैवायं प्रपञ्चः। एवञ्च ज्ञानादिमार्गो यदि पुष्टिमार्गः स्यात्, साक्षादेव पुरुषोत्तमप्रापकः स्यात्। यदि तथा स्यात्, 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतिर्वागाद्यप्राप्यत्वं न वदेत्। 'नैतन्मनो विशती'त्यादि योगेश्वरा न वदेयुः। तथा उक्तवाक्ये ज्ञानिनां देहिनां च तां न निषेधेत्। निषेधो यद्यन्यार्थः स्याद्, 'यथा भक्तिमता' मिति न वदेत्। 'भक्त्या त्वनन्यये'ति 'यमेवैष वृणुत' इति स्मृतिश्रुती न वदेताम्। यस्मादेवं

१. तस्मात्सूत्रतो वैदिकमार्गो भिन्नोऽनुग्रहयुतश्च भिन्न इति पाठः। २. अत्यन्तविभक्तमेवेति पाठः।

तस्मात्तथेत्यादयोऽप्यनुसन्धेयाः । एवं नानाप्रमाणैर्मार्गस्वरूपभेदे सिद्धे मर्यादामार्गीयाणां 'श्रोतव्य' इत्यादिषु श्रवणादीनां यद्दर्शनसाधनत्वमुच्यते, तत् 'नायमात्मे'त्यादिपूर्वोक्तश्रुतिस्मृत्यनुरोधाद्भक्तिरूपाणामेव । न तु केवलानाम् । परमात्मनस्तत्राप्रकाशादक्षरात्मन्येव पर्यवसानात् । 'क्लेशोऽधिकतर' इति वाक्याद्दुःखसाहचर्यं च क्वचित् । ततो मर्यादामार्गीयाण्येव तानि । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्रापि तदनुरोधात्स्वकरणकमेव ज्ञानमुच्यते । यथाविर्भवेत्तदा विद्यादिति । आविर्भावस्तूक्तप्रनाडीकभक्त्यैव । 'तमेव विदित्वे'त्यत्रापि 'ते ध्यानयोगानुगता' इत्युपक्रमात् मध्ये च 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावादि'ति कथनात्सर्वभावेनाश्रयणरूपामुपासनामपेक्ष्यैव ज्ञानमुच्यत इति तादृग्ज्ञानकारणीभूतभावस्य बीजभूतानुग्रहमन्तरेणाभावादुक्तैव प्रनाडी । एवं धर्मदानादयो भक्त्युत्पादकसंहितोक्तरीतिबोधकैकादशस्कन्धोदितप्रकारेणानुष्ठीयमाना भक्तिसाधनतां यान्ति । स प्रकारोऽप्यनुगृहीतानामेवार्थे भगवतोक्तो भिन्न एव । न तु मीमांसितः । तत्र तथानुसन्धानस्य विचारादर्शनात् । अतो विचारितास्तत्तत्फलसाधका एवेति यथाविचारं मर्यादां प्रवाहं वा नातिवर्तन्ते । तथैव योगादयो वामादीनि बाह्यानि च स्वस्वशास्त्रोक्तफलसाधनाय प्रवृत्तानि । अतः सर्वाण्यसङ्कीर्णानि । तदेतत्सर्वं हृदिकृत्य व्यावर्तकधर्मेण पुष्टिमार्गभेदसाधनमुपसंहरन्ति प्रमाणभेदादित्यादि । अत्र यद्यपि पुष्टिमार्गस्वरूपभेदनिरूपणस्यैवोपसंहारः कण्ठादुक्तः, तथापि मर्यादाप्रवाहयोरपि प्रसङ्गात्सिद्धो ज्ञेयः । अग्रे 'प्रवाहस्थान्प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुता'निति स्वरूपादिभेदयुतजीवभेदनिरूपणस्यैव प्रतिज्ञानात् । अन्यथा सोऽपि व्यावर्तकप्रमाणभेदैः स्वरूपबोधनाय प्रतिज्ञातः स्यात् ॥ ७ ॥

एवं प्रमाणबलेन मार्गस्वरूपभेदः साधितः । तेन मार्गत्रयप्रमितौ जनितायां प्रमेयबलेनापि सिद्ध एवेत्यतः साधनभेदेन मार्गत्रयभेदं साधयितुं जीवादिभेदयुताविच्छिन्नसर्गेण पुष्टिभेदसाधनाय सामान्यतः सर्गभेदनिरूपणं प्रतिजानते सर्गभेदं प्रवक्ष्यामीति ।

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥ ८ ॥
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥ ९ ॥

ननु 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा' इति श्रुतौ जीवमात्रस्योत्पत्तिरेकप्रकारिकैवोक्तेति तेषु वैलक्षण्यस्यासम्भवे तद्देहेषु भौतिकत्वादेस्तुल्यत्वात्तत्क्रियास्वपि तदनुरूपत्वादेस्तुल्यत्वात्साधनसाङ्कर्यस्य वज्रलेपायितत्वेन सर्गभेदनिरूपणं व्यर्थम् । तथा सति नात्यन्तं विवेक इत्यत आहुः स्वरूपाङ्गक्रियायुतमिति । तथाचैतत्सन्देहनिरासाय तद्भेदोऽपि प्रमाणगोचरीकरिष्यत इति भावः । तदेवाहुः इच्छामात्रेणेत्यादि । अत्रेच्छामात्रेणेत्यनेन 'बहु स्यां प्रजायेयेती' ति श्रौतमालोचनं निमित्तत्वेनोक्तम् । तेनैतदाकारिकेच्छारूपो भगवानेव

१. अतः परं प्रमेयबलेन साधनभेदेन च मार्गत्रयभेदमित्यादिः पाठः । २. असंभवात्, एवं भौतिकत्वादेस्तुल्यत्वाद् देहक्रियास्वपीतिपाठः ।

निमित्तम्। तेन हेतुना मनआदिभिः स्वस्य रूपैः समवायिभिः प्रवाहादीन् सृष्टवान्। तत्र मनसा प्रवाहसृष्टिरेकादशस्कन्धे 'पुरुषः प्रकृतिश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ। एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मक' इत्यनेनोक्तेति ज्ञायते। विकल्पत्वकथनात्। श्रुतौ च 'असतोऽधि मनोऽसृज्यत, मनः प्रजापतिमसृजत, प्रजापतिः प्रजा असृजत, तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितमि'ति जाग्रति बहिः सृष्टिरुच्यते। तथा 'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजत' इति स्वप्ने उच्यते। यत्र मनसा बहिः सृजति, तत्र मायापि सहोपादीयते। अत एव नृसिंहतापनीयश्रुतौ वटबीजदृष्टान्तमुक्त्वा 'तथेयमपि स्वाव्यतिरिक्तानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती'त्याद्युच्यते। अत एव 'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः। नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमय'मिति भगवतापि उभयमयत्वमुच्यते। अत एवासुराः सृष्टिकर्तृत्वं ब्रह्मलक्षणमस्यां दृष्ट्वा मायामेवोपासते। तदपि श्रावितं मण्डलब्राह्मणे 'मायेत्यसुरा' इति। इयमेव सृष्टिरन्तरमन्यदित्यादिशब्दैर्व्यवह्रियते श्रुतौ—'यद्युष्माकमन्तरं बभूवे'ति। 'मायया ह्यन्यदिवे'ति। मायावादिनश्चैतामेवावलम्ब्य ब्रह्मवादिभिः प्रत्यवतिष्ठन्ते। इयं च सत्यसृष्टिमुपधाय तदुत्तरं च जन्यते। अत एव नृसिंहतापनीये योनित्वमात्मन एवोच्यते। अनुमानं च, विमतः प्रपञ्चः सत्यसृष्ट्युत्तरकालीनः। मायामनोमयत्वात्। स्वाप्निकैन्द्रजालिकवत्। व्यतिरेके, तत्तन्मतस्थसत्यप्रपञ्चवत्। एतेनैवार्थादेव सत्यसृष्टिसिद्धिरपि। इयमेव निबन्धे 'महेन्द्रजालवत्सर्वं कदाचिन्माययासृजदि'त्यनेन सङ्गृहीता। तथाच व्यामोहिका स्वतः सत्कार्याक्षमा सदुपधानेन तत्तत्क्षमा सृष्टिः प्रवाहसर्ग इति सिद्धम्। तथाच मनसा व्यामोहबहुलं प्रवाहं सृष्टवानित्यर्थः। वचसा सृष्टिश्च 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄन् तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति शस्त्रं विश्वानीति स्तोत्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजा इति, स मनसा वाचं मिथुनं समभवदिति, स भूरिति व्याहरन् भूमिमसृजते'त्यादिश्रुतिषु, 'सर्वेषां स तु नामानि रूपाणि च पृथक्पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे। नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वर'इत्यादिस्मृतिषु च स्फुटा। न चात्र तृतीयाप्रयोगात्करणत्वमेव, नोपादानत्वमिति वाच्यम्। 'मृदा घटं निर्मिमीत' इत्यादावपि तथा प्रयोगात्। न चैवं ब्रह्मोपादनत्वश्रुतिव्याकोपः। 'वाचाऽविरूपनित्यया' 'वेदो नारायणः साक्षादि'त्यादिभिर्भगवद्रूपताबोधनेन तन्निवृत्तेः। न च शब्दस्यार्थोत्पादकत्वमसङ्गतमिति वाच्यम्। शब्दतन्मात्रादाकाशोत्पत्तेः स्मृतिशतसिद्धत्वात्। तथा वर्णात्मकादपि तदुत्पत्तौ बाधकाभावात्। वस्तुतस्तु 'वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठ'इति वाक्याद्वेदाभिमानिदेवते-

१. तै. ब्रा. २-२-९-५१.

६ पु. प्र. म.

वोपादीयते । अत एव 'ॐमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् । भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव । सर्वं ह्येतद्ब्रह्मे'ति माण्डूक्येऽपि श्रूयते । नामसृष्टौ तु नाद एव प्रणवद्वारोपादीयते । अत एव द्वादशस्कन्धे ॐङ्कारमुपक्रम्य 'स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः । स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातन'मित्युक्तम् । 'स एष जीव' इत्यादि च । तेन वेदपुराणाद्यात्मकसृष्टेः प्रणव एवोपादानम् । एवञ्च, 'मनः पूर्वो वागुत्तर' इत्यादिश्रुत्या वाचो मनःपूर्वकत्वश्रावणात्, 'वचसा वेदमार्गं ही'त्यत्रार्थादेव मनःपूर्वकत्वसिद्धिः । तथाच मनस्समाधिपूर्वकं वचसा वेदमार्गं सृष्टवान् । हि युक्तश्चायमर्थः । तेन मार्गेण भगवान् प्राप्यत इति । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता । तथाच वेदमार्गं विना जीवानां दुःखनिवृत्तिर्न स्यादतस्तथा कृतवानित्यर्थः । एतदेव 'तेने ब्रह्म हृदे'त्यनेनोच्यते । अत एव 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वा'दिति सूत्रकारोऽपि रूपसृष्टेर्नामसृष्टेर्भेदं क्रमेणाह । तथा 'रूपप्रपञ्चकरणादासक्तस्वांशवारणे । श्रुतिमात्मप्रसादाय चकारात्मानमेव स' इत्याचार्यैर्निबन्धे निरूपितम् । इदमत्राकूतम् । 'स वै नैव रेम' इति श्रौते सन्दर्भे रमणार्थमेव प्रपञ्चरूपेणाविर्भाव उच्यते । तथाच रमणं वैचित्र्यं विना न सम्भवतीति सर्वेषामविद्यया स्वशक्त्या तत्तदासक्तिरूपं बन्धं सम्पादितवान् । पश्चात्सर्वे एते दुःखिता एव भविष्यन्तीति करुणया वेदमार्गकरणं दुःखनिवर्तकम् । अतो मनस्समाधिपूर्वकत्वमुच्यते । तथाच येषां वेदमार्गेण मुक्तिस्ते दैवजीवाः । येषां बन्ध एव ते आसुराः । 'दैवी सम्प'दिति वाक्यात् । पुष्टिं तु कायेन । 'कस्य रूपमभूद्द्वेधा तत्कायमभिचक्षत' इति कायपदनिर्वचनात् । 'स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवता' मिति पुरुषविधब्राह्मणे श्रावणात्स्वरूपस्यैवानेकधा भवनम्, स्वरूपं चानन्द एवेत्यानन्देनेत्यर्थः । तत्रापि निश्चयः नितरां चय एकीभावो यस्य तादृशोऽतिसावधानः । तेन मनोवचःपूर्वकत्वमर्थादेव सिद्धम् । गोवर्धनोद्धरणप्रसङ्गे तथात्वं स्पष्टम् । तस्यामानन्दांशादेर्न तिरोभावः । एतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने निबन्धे च स्पष्टम् । यद्यपि पूर्वत्र समवायित्वं भगवत एवेति तस्यापि कायेनैव सृष्टिरायाति, तथापि तत्र समवायित्वे सच्चितोरेव प्राधान्यम्, अत्र तु केवलानन्दस्येति भेदः । अथवा । मर्यादायाः समवाय्यप्यक्षरमेव । 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः' 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः' 'अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वा' इत्यादिवाक्यैर्मर्यादासृष्ट्युपादानकारणत्वेनाक्षरं ब्रह्म निरूपयित्वा, 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्य' इत्यादिना तस्य क्षरात्परत्वमुक्त्वा, तस्य स्वधामत्वं चोक्त्वा, अग्रे 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये'ति स्वस्य ततो भिन्नत्वं भणितवान् भगवान् । अत एव 'एकांशेन स्थितो जग'दिति स्पष्टमेव सङ्गच्छते । अत्र 'एकांशेने'ति कथनाद्भगवदंशस्याक्षरस्य मर्यादासमवायित्वमवगम्यते । कालपक्षेऽपि तस्याभिन्नत्वादविरोधः । अत एव बृहद्वामनपुराणे ब्रह्मवाक्यं 'अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तम'मिति । अत एव 'द्विरूपं तद्धि सर्वं

स्या' दिति सिद्धान्तमुक्तावल्यामाचार्यैर्निरूपितम्। एवं प्रवाहेऽपि मायामनोरूपः समवायी । 'द्वे अस्य बीजे' इत्यारभ्य 'मायामयं वेद स वेद वेद'मिति भगवता निरूपणात् । न च मिथ्यात्वं सर्वस्य । मायामात्रस्यैव तथात्वात् । सन्ध्याधिकरणेन तथा निश्चयात् । अत्र मात्र-पदाभावात् । कार्त्स्न्येनाभिव्यक्तस्वरूपत्वाच्च । मायायाः शक्तितया सतीत्वेन मयटो विकारार्थत्वेऽप्यदोषाच्च । अतोऽहङ्कारस्य चिदचिद्ग्रन्थिरूपत्ववद्व्यावहारिकप्रवाहस्य सदसद्ग्रन्थिरूपतया सत्यत्वस्यापि विद्यमानत्वान्न कोऽपि शङ्कालेशः । पुष्टौ तु पुरुषोत्तम एव सर्वांशेन कार्यकारणरूप इत्यभिप्रेत्य कायेनेत्युक्तम् । अत एव श्रुतौ साक्षात्परम्पराभ्यां सृष्टिः स्वस्यैव सर्वरूपेण भवनं चेति प्रकारत्रयेण सृष्टिकथनम् । अत एव तैत्तिरीये ब्रह्मवित्प्रपाठके 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' 'स आत्मानँ स्वयमकुरुते'ति वारत्रयं सृष्टिरुक्ता । वैजात्याभावे तथा कथनमप्रयोजनकं स्यात् । तस्मान्न कोऽपि शङ्कांशः । कारणवैजात्ये फलवैजात्यन्यायस्य तुल्यत्वात् । अवान्तरभेदास्त्वेतेष्वेवान्तर्भवन्ति । एतच्च लीलासृष्टेर्भगवदात्मकत्वं 'नारायणसमो गुणै'रित्यत्र 'तमद्भुतमि'त्यत्रापि च निर्णीतं श्रीमदाचार्यचरणैः । अत एव 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' 'दहर उत्तरेभ्य' इत्यादिश्रुतिसूत्रैर्भगवल्लीलासृष्टेर्भगवद्रूपत्वमुच्यते । बृहद्वामनपुराणे 'आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविदः । तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि न' इति श्रुतिभिः प्रार्थितो भगवान् 'स्वलोकं प्रकृतेः परम् । केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यग' मित्युपक्रम्य 'किशोराकृतिरच्युत' इत्यन्तेन वृन्दावनगोवर्धनयमुनादिसर्वभक्तसहितं स्वस्वरूपं दर्शितवानिति सर्वस्या एव लीलासृष्टेस्तद्रूपत्वमायातीत्येतत्सर्वं विद्वन्मण्डने स्पष्टम् । ननु भवत्वेवं सर्गभेदः, तथापि सर्वेषां जीवानां भगवदंशत्वाविशेषात्प्रावाहिकाणामेव अतिदुष्टत्वे को हेतुः । न च रमणेच्छैव हेतुः । तथा सति स्वरतीच्छायां तेषां लयः स्यात् । न च जायत एवेति वाच्यम् । तथा सति अतिदुष्टता न स्यात् । यथा कर्मिणाम् । न चेष्टापत्तिः । तथा सति 'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति'मिति भगवद्वाक्यविरोधः स्यात् । एवकारश्च सर्वमुक्तिदशायामपि प्राप्त्यभावद्योतको विरुध्येत । कर्मिणामपि सर्वमुक्तितोऽर्वाक् भगवत्प्राप्त्यभावादुच्चनीचकर्मणा चाधमादिगतेरपि जायमानत्वादविशेषश्च स्यात् । मामित्यस्य पदस्याक्षरपरत्वेऽपि न निस्तारः । उक्तदोषताद-वस्थ्यात् । वस्तुतस्तु लयाभावोऽप्यशक्यवचनः । 'यथाद्रिप्रभवा' इति वाक्यात् । अथोक्तगीतावाक्यानुरोधा'द्यथाद्री'ति वाक्यस्थे गतिपदे सङ्कोचः कार्यः । तथा सति तेषामन्धतमःप्रवेश एव मुक्तिः । तथाच सर्वमुक्तिदशायामपि न भगवति तेषां लय इति स्वीक्रियत इति चेत् । तर्हि 'यतो वा इमानी'त्यादि 'अव्यक्तादीनि भूतानी'त्यादिश्रुतिभगवद्वाक्ययोर्भगवत एवोत्पत्तेर्भगवत्येव च लयस्य कथनात्तेषां तत्र लयानङ्गीकारे तत उत्पत्तिरपि न स्यात् । यदि चोभयसामञ्जस्यार्थमन्धतमसस्ततोऽतिरेकेण प्रलये स्थितिरङ्गीक्रियते, तदा 'भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञ' इति श्रीभागवतवाक्यविरोधः । न च सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वा-

दन्धतमसोऽपि तथात्वादेकपदस्य मुख्यवाचकत्वेनाप्युपपत्तेस्तत्स्थितौ को दोष इति वाच्यम् । अन्धतमसो विकारत्वात्तस्य ब्रह्मत्वाङ्गीकारे 'वाचारम्भणं विकार'इत्यादि 'विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवा'नित्यादिश्रुतिभगवद्वाक्यविरोधात् । 'बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतये'त्यादि 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह'इत्यादिवाक्यानि च विरुध्येरन् । अतो भगवति लयानङ्गीकारे भगवतो न तदुपादानत्वमिति सिध्येत् । किञ्च । रमणेच्छाप्येतदुत्पत्तौ न कारणीभवितुमर्हति । यतो रमणेच्छया स्वयं तावद्रूपो भूत्वा क्रीडतीत्युच्यते । एतेषां च केवलं दुःखित्वान्न रमणलेशोऽपि । अत एव 'केवलं नित्यदुःखा' इति श्रीवल्लभाष्टकोक्तिरपि सङ्गच्छते । न च भगवद्भिन्ना एव केचनैव जीवाः सन्ति येषामियं व्यवस्थेति वाच्यम् । अद्वैतश्रुतिविरोधात् । तस्मादुत्पत्तेरेवाभावान्मार्गभेदव्यवस्था कर्तुमेवाशक्येति चेत् । अत्रोच्यते । भगवान् हि सर्वरसभोक्ता राजवद्रमणार्थं स्वस्वरूपात्मकं प्रपञ्चं कृतवान् । तत्र च वैरिणोऽप्यपेक्षिताः । अन्यथा वीररसभोगो न स्यात् । स्वांशाश्च वैरिणो न भवन्त्येव । 'यो यदंशः स तं भजते' इति वाक्यात् । तथाच पूर्वोदाहृतश्रुतिस्मृतिभिर्भगवता स्वसामर्थ्यरूपया मायया केचन जीवा मायांशा एव 'जीवेशावाभासेन करोती'ति श्रुत्युक्ता व्यावहारिकास्तद्योग्यव्यावहारिकसकलसामग्रीयुक्ताः सृष्टाः सन्तीत्यवगम्यते । व्यवहारश्च लौकिको गुणानां सन्निपातः । 'अदृष्टान्यतम'मित्यस्य देवक्युद्देशेनोक्तस्य भगवतो वाक्यस्य विवरणे 'यद्यपि मत्तोऽन्ये ये केचन सम्भवन्ति मायया सृष्टा' इत्यत्र स्पष्टमिदम् । सप्तत्रिंशाध्यायेऽक्रूरस्तुतौ 'म्लेच्छप्राये'त्यस्य विवरणे च 'म्लेच्छा ये सहजा दैत्यास्ते गुणवन्तोऽपि हन्तव्या' इत्यनेन । अत एव श्रीमदाचार्यैरपि सृष्टिभेदनिरूपणे निबन्धे 'महेन्द्रजालवत्सर्वं कदाचिन्माययासृजत् । तदा ज्ञानादयः सर्वे वार्तामात्रं न वस्तुत' इति पद्याभासे 'स्वप्नादिसृष्टिसङ्ग्रहार्थमाहे'त्यादिपदमेतदभिप्रायकमेवोक्तम् । अत एव 'मायेत्यसुराः' 'यो यदंशः स तं भजत'इत्यादिश्रुत्यादयोऽपि सङ्गच्छन्ते । अत एव श्रीगोकुलनाथचरणैरपि सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिस्थायाः 'सेवा हि सेवकधर्मस्तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापित'मिति फक्किकाया व्याख्याने 'आसुरव्यतिरिक्तानामशेषाणा'मित्युक्तम् । अत एव 'पुमान् विरज्येत विना पशुघ्ना'दिति श्लोकव्याख्याने 'अनिवर्त्यदोषेण चाप्रवेश' इत्युक्तिराचार्याणामस्माकमाश्रयः । 'सहजासुरत्वेनेत्यर्थ' इति प्रभुचरणतद्विवृतिरपि । अत एव 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चे'दिति 'न सत्यं तेषु विद्यत' इत्यादिश्रुतिभगवद्वाक्ये तेषां व्यावहारिकं सत्त्वं वदतः । अत एव देवकीसुतानयनाय गतवन्तं भगवन्तं स्तुवतो बलेर्वाक्यविवृतौ श्रीमदाचार्यैरुक्तम्, 'ते चेत् द्वेषिणस्तदा तेषां नरकपात आवश्यक इत्या'सुरीं योनिमापन्ना' इति वाक्यानुसारेण कदाचिदप्यमुक्तौ कथं भगवान् सर्वात्मे' ति । तथात्र इच्छामात्रेण निमित्तेन मायोपादानकं प्रवाहं सृष्टवान् । न तु स्वयं तत्र प्रविष्टः । तथाच मायया निर्मितेषु नरकादिरूपविकारेषु ते पतन्तीति न कोऽपि दोष इत्यर्थः । ये च मुच्यन्ते ते च नासुराः । किन्त्वासुरावेशिनः ।

तथाच ते भगवदंशा एवेति निष्कर्षः । यदा च स्वरतीच्छा तदा मायामप्युपसंहरतीति तेऽपि न प्रतिभासन्ते । वस्तुतस्तेषामसत्त्वात् । तथाच ये प्रपञ्चं मायिकमेवाहुस्त आसुरा एव । यतस्तेषां तथैव भासते । 'पुण्यो गन्ध' इत्यादिवाक्यविचारेण दोषप्रतीतिमात्रस्य मायिकत्वमिति न कोऽपि दोषः । ननु सामर्थ्यस्य स्वरूपानतिरिक्तत्वात्प्रावाहिकाणां विकारस्य च मायोपादानकत्वाद्विकारित्वं ब्रह्मणो दुर्वारमिति चेत् । न । न हि तेषां सामर्थ्यरूपत्वम् । असत्त्वात् । किन्तु सामर्थ्यात्प्रतीयमानत्वम् । अन्यथा सत्यता स्यात् । दृश्यतेऽपि नटैः प्रदर्श्यमानस्य मिथ्यात्वं क्षणिकत्वात्तत्सामर्थ्यस्य च सत्यत्वमिति न मार्गभेदानुपपत्तिः । यद्वा । वीररसभोगार्थमुत्पादिता अपि जीवाः सत्या एव । 'जीवेशावाभासेने'ति श्रुत्युक्तस्याप्याभासस्याभास्यसमानाकारत्वात् । तयोः समानाकारत्वस्यैव लोके दर्शनात् । अत्राभासाभास्ययोरुभयोरप्यान्तरत्वेन द्वेषरूपधर्मप्रतिबिम्बेऽपि बाधकाभावात् । न च वीररस उपभुज्यमानस्य तद्धर्मस्य द्वेषस्य तेष्वभावः शङ्क्यः । द्वेषस्याप्यानन्दतिरोभावात्मकत्वेन तेषु तत्सत्त्वात् । अतस्तद्विशिष्टा एव ते । किञ्च । 'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः । स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभो'रिति द्वितीयस्कन्धोक्ता भगवदुत्पन्ना गुणाः कार्यार्थं मायया यथा गृह्यन्ते, तथा भगवत्कार्यार्थं तया ते जीवा अपि स्वजन्यया अविद्याशक्त्या गृह्यन्ते। अत एव विद्वन्मण्डने 'यस्मिञ्जीवे यादृशीच्छा तदनुरूपा एवाविद्यादिशक्तयः सत्त्वादिभेदेन तं व्याप्नुवन्तीति महदैश्वर्यं भगवत' इत्युक्तम् । तेन ते 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्युक्तासुरधर्माणो भवन्ति । तद्धननादिना भगवानपि वीररसादिकं भुङ्क्ते । तादृशभगवदिच्छावशादेव तेषां तथात्वमिति 'यो यदंशः स तं भजत' इति वाक्यस्यापि न विरोधः । तैर्भजनकारणे भगवदिच्छाभावात् । तेन तेषां देहादिकं सदसद्ग्रन्थिरूपं प्रागेव साधितम् । एवं सति ते स्वकर्मणान्धे तमसि प्रविशन्ति । अन्धंतमश्च प्रलयेऽविद्यायां प्रविशति । अविद्या च मायायाम्, माया च ब्रह्मणि । प्रलयस्य श्रुतौ पुराणेषु च प्रतिसञ्चरत्वेन सृष्टिविपरीतक्रमतया सिद्धत्वात्तदापि ते भगवन्तं न प्राप्नुवन्तीति 'मामप्राप्यैवे'ति वाक्यमप्युपपद्यते । न च विकारस्य सत्यत्वे ब्रह्मणो विकारित्वापत्तिः । विकारस्य वाचारम्भत्वेन तदनन्यतया तदभावात् । तस्य दुष्टताया अपि लीलार्थमैच्छिकत्वात् । वस्तुविचारे दोषस्य प्रतीतिमात्रत्वात् । तदनन्यत्वाधिकरणे तथैव सिद्धत्वात् । द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यामपि 'यत्किञ्चिद्दूषणं त्वत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयम् । विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वमत्रैव शोभत' इति निर्णीतत्वाच्च । अत एवं विचारेऽपि न मार्गभेदानुपपत्तिः । न च पक्षद्वयमध्येऽन्यतरवैयर्थ्यं शङ्क्यम् । कल्पभेदेनोभयथापि सामञ्जस्यात् । तथाच पूर्वोक्तरीतिकेनेच्छामात्रेण निमित्तेन मनसा सहजासुरानसुरावेशिनो दैवांश्च सृष्टवान् । तथाच द्विधा प्रवाहोऽत्रोक्तः सहजासुरावेशिभेदेनेति ज्ञेयम् । अन्यत्स्पष्टम् । ननु 'तदिच्छामात्रतस्तस्माद्ब्रह्मभूतांशचेतना' इत्यादिना दैवसृष्टिनि-

बन्धे इच्छामात्रत एव निरूपितेति कथं त्वया मनस्त उच्यते । उच्यते त्वभिप्रायज्ञानात् । तथाहि । निबन्धे यदिच्छामात्रेति पदं तदनुपहितस्य स्वतन्त्रस्य निर्गुणस्य कारणताबोधाय । अत्र तु यत्तत्पदं तदस्यां स्वसमवायिकारणताकत्वनिरासार्थम् । अत एव निबन्धे तत्र 'ब्रह्मभूतांशे'त्यादि जीवविशेषणमुक्तम् । अत्र तु नोक्तमित्येवं विनिगम्यते । न च तत्रत्य-मेवात्रातिदेश्यम् । असुरसृष्टित्वात् । 'प्रवाहस्थान्प्रवक्ष्यामी'त्यादिना प्रावाहिकसृष्टेरासु-रत्वनिर्धारणात् । तस्मादेवं सर्गभेदेन भूतभेदाद्देहादिवैलक्षण्यसिद्धेः साधनसाङ्कर्याभावान्न सर्गभेदनिरूपणवैयर्थ्यमिति मार्गाणामत्यन्तविवेक उपपन्नः प्रामाणिक एवेति भावः ॥ ८ ॥

ननूपादानभेदेऽपि निमित्तसाजात्ये कार्यं फलं च तुल्यमेव लोके दृष्टम् । यथा सौवर्णराजतताम्रघटास्ततो जलाहरणं च । वेदेऽपि यथा व्रीहियवप्रकृतिकपुरोडाशाभ्यां समानो यागोऽदृष्टं च । तद्वदत्रापि निमित्तसाजात्यादैक्याद्वा फलमेकमेव चेद्व्यर्थः सृष्टिभेद-मार्गभेदसाधनप्रयास इत्याशङ्कायामुपोद्घातसङ्गत्या फलनिमित्तयोर्भेदमाहुः मूलेच्छात इति ।

मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेऽपि च ।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा ॥ १० ॥

'प्रजायेये'त्याकारिकया मूलेच्छया । सिसृक्षयेति यावत् । तया कृत्वा फलं लोके भवति । न त्वलौकिकम् । 'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदा-वर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेति । अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति । धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्ष'मित्यादिश्रुतेः । 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते' 'क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिष्वि'त्यादिस्मृतेश्च । न च त्रयीधर्मानुप्रपन्नत्वे कथमासुरत्वमिति शङ्क्यम् । दैवावेशेन तत्सम्भवात् । आसुरलक्षणेषु 'यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये' 'यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वक'मित्युक्तत्वादिति । वैदिके मर्यादामार्गे वेदोक्तं स्वर्गमोक्षादिरूपं फलं भवति । 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ती'ति 'यन्न दुःखेन सम्भिन्न'मिति 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'न स पुनरावर्तत' इत्यादिश्रुतेः । 'त्रैविद्या मा'मित्यादिस्मृतेश्च । अत्रापि 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषती'त्यादिश्राविता उन्निनीषाधोनिनीषा च कारण-त्वेनानुसन्धेया, अज्ञानरूपकार्यान्मुमोचयिषा चानुमातव्या । कायेन आनन्दमात्रकरपादमु-खोदरादिरूपेण फलं नानाविधं तल्लीलानुभवरूपं पुष्टौ भवति । तुना लौकिकवैदिकप्रकार-शङ्का निरस्ता । तथाच यथा यथा पुष्टिमार्गीया वाञ्छन्ति, तथा तथाताननुरुध्य ददाति । न त्वीश्वरत्वेन । यथान्यत्र । अत एव प्रभुचरणैर्नवरत्नस्थ'निजेच्छातः करिष्य-ती'त्यस्य व्याख्याने 'निजानामिच्छातः स्वेच्छातश्चे'त्युभयथा व्याख्यातम् । 'गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यत्' 'यां गोपीमनय'दित्यादौ स्पष्टं च तथा । अत्रापि 'गोपाये स्वात्मयोगेन' 'सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत्' 'वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे' इत्यादिभिरनुमापितोक्ता चेच्छा कारणत्वेन बोध्या । एवञ्च यत्र धूममार्गीयसङ्कीर्णमन्यद्वा सङ्कीर्णं फलं तत्र तद्वे-

तुभूता सङ्कीर्णेच्छानुमातव्या । अत एवं भिन्नेच्छातः अपिशब्दात्फलभेदतश्च नैकधा सर्गा मार्गाश्च एकविधा नेत्यर्थः । नैकतेति पाठे सर्गाणां मार्गाणां चैकता नेत्यर्थः । एवमुत्पत्तिमारभ्यान्तं मार्गप्रवाहभेदात्प्रमेयबलेन मार्गत्रयभेदः साधितः । तेन प्रमीयमाणावस्थासम्बन्धिनः सन्देहा निवारिताः ॥ ९ ॥

अतः परमनुष्ठीयमानावस्थासम्बन्धिनः सन्देहान्परिहर्तुं मार्गसाधनीभूतजीवदेहक्रियाभिर्भेदः पूर्वप्रतिज्ञातो वक्तव्यः । तेषु जीवानां मुख्यत्वात् प्रथमं तद्भेदं वदिष्यन्त इच्छाभेदेऽपि जीवेषु वैलक्षण्याभावात्कथं फलभेद इत्याशङ्कामपि परिहरिष्यन्तश्चिद्रूपत्वाविशेषेपि तत्तदसाधारणधर्मभेदाज्जीवा भिद्यन्ते, तेन फलभेद इति हृदिकृत्य अत्यन्तविविक्तो धर्मः प्रावाहिकाणामेवेति प्रथमं तानाहुः तानहमित्यादि ।

'तानहं द्विषतो' वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः ।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥ ११ ॥

तथाच येषां भगवद्द्वेषोऽसाधारणधर्मस्तेन सार्वदिकोऽतिघोरः संसारस्ततोऽन्धतमःप्रवेशः पर्यवसाने ते प्रवाहिणः । भगवद्द्वेषश्च त्रिविधः । मूलरूपावताररूपद्वेषो विभूत्यादिद्वेषो जगद्रूपद्वेषश्च । तत्र मूलरूपावताररूपान्यतरद्विषो भगवन्तं पश्यन्तः कालं प्राप्य मुच्यन्त इति 'मन्येऽसुरान् भागवता'नित्यत्र व्यवस्थापितम् । 'कामं क्रोध'मिति वाक्याच्च । 'तदेव रूपं दुरवापमाप' 'लेभे गतिं धात्र्युचिता'मिति कंसपूतनयोर्मुक्त्युक्तेश्च । विभूतिद्विषस्तु द्वेषत्यागे क्रमेण शुध्यन्ति । 'अत्यागे धर्महीनाः पतन्ति' 'सम्मुह्यन्तु हरद्विष' इत्यस्य निबन्धे शिवद्विषां तथा व्यवस्थापनात्समानन्यायेनान्यत्रापि युक्तिसिद्धत्वात् । एते उभयेऽप्यासुरावेशिन इत्यग्रे सेत्स्यति । जगद्द्विषस्तु जायमाना अन्ततोऽन्धन्तमः प्रविशन्ति । इदमपि सुबोधिन्यां स्थापितम् । 'ये चान्धन्तमः प्रविशन्ति, ते केवला एव प्रविशन्ति, न तु प्राणादिसहिता' इत्यपि धृतराष्ट्रं प्रत्यक्रूरवाक्ये 'अकृतार्थं प्रहिण्वन्ती'त्यस्य सुबोधिन्यां निर्णीतम् । आर्तभागब्राह्मणे मुक्तेरनुपक्रान्तत्वेन 'अत्रैव समवनीयन्ते' 'स उ श्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेत' इति श्रुतेस्तादृशपरत्वस्य महता विचारेण व्यवस्थापनात् । इदमत्राग्रिमग्रन्थस्य त्रुटितत्वाद्यथाबुद्धि परबोधनायोक्तम् । प्रकृतमनुसरामः ।

अत एव द्वेषिभेदादेव । इतरौ मर्यादापुष्टिस्थौ जीवौ । जात्यभिप्रायेण द्विवचनम् । तेभ्यो विविक्तौ । अत्रापि पूर्ववत्फलभेदमाहुः सान्तौ मोक्षप्रवेशतः । मोक्षोऽक्षरप्राप्तिः । प्रवेशः पुरुषोत्तमस्वरूपे । 'विशते तदनन्तर'मिति वाक्यात् । ताभ्यां सान्तौ पर्यवसाने निवृत्तजीवभावौ । प्रावाहिकास्तु ताभ्यां न तथेति त्रयोऽपि जीवा भिन्ना इत्यर्थः । एवं चात्र मोक्षप्रवेशत इति कथनान्मर्यादिनामेव वेदोक्तमुक्तेरुक्तत्वाद्भगवति साधारणभावेन प्रमाणेऽभिनिवेशेन यथाविधि वेदोक्तकर्मज्ञानादिप्रवृत्तिपरत्वमेव तेषां

लक्षणम् । अतस्तेऽपि भिन्ना इत्युन्नेयम् । इदं हि पुष्टिप्रकरणम् । अतः पुष्टिभेदनिरूपणाय यावत्तत्स्वरूपनिरूपणमुपयुज्यते, तावत्क्रियते । विशिष्य तु तत्तत्प्रकरण एव निरूप्यमिति न दोषः । भगवत्प्रियत्वसाधकभक्तिमत्त्वं पुष्टिजीवानां लक्षणं तु पूर्वोक्तवाक्यविचारादेव फलतीति न विशिष्योक्तम् ॥ १० ॥

तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥ ११ ॥

एवं लक्षणफलयोर्भेदेन यत्सिद्धं तदाहुः तस्मादिति । यस्मादेवं लक्षणभेदस्तस्मात्पुष्टिमार्गीया जीवा मार्गान्तरीयजीवेभ्यो भिन्ना एव । एतावता सर्वथा भेदसिद्धौ मेलने प्रकारान्तरासम्भवादाहुः **न संशय** इति । यद्यपि 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे'ति श्रुतावितिशब्देन प्रकारवाचिना द्वेषादयः सङ्ग्रहीतुं शक्या इति सोपाधिकानामेव भेदः समायाति, न केवलानाम् । न च जीवपदोक्तिविरोधः । 'एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम् । एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत' इति चतुर्थस्कन्धे नारदवाक्ये जीवपदस्य तादृशेऽपि प्रयोगात् । 'तानह'मिति गीतावाक्ये द्वेषादिधर्मोक्तेश्च । तथापि 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वा'दित्यधिकरणे उपादानसूत्रे बुद्धिसम्बन्धात्कर्तृत्वमिति निराकृत्य, जीवगतमेव कर्तृत्वं बुद्धिसम्बन्धादुद्गच्छतीत्याकरे व्यवस्थापितम् । तद्वदेते द्वेषसाधारणभावभक्तयोऽपि ज्ञेयाः । अत एव फलवैजात्यम्, अन्धतमप्रवेशो मुक्तिः पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति । पर्यवसितं फलं केवलस्यैवेत्यनुपदमेव व्युत्पादितम् । तदेतदुक्तं **न संशय** इति । ननु 'यदा यस्य' 'यस्यानुग्रहम्' 'यमेवैष वृणुत' इत्यादिषु यच्छब्दस्य यदाशब्दस्य चोपबन्धात्कञ्चिदेव जीवं कस्मिंश्चित्काले भगवाननुगृह्णातीति सिध्यति । तेनानुगृहीतः पुष्टिमार्गे प्रविश्य पुष्टिजीवो भवतीति न जीवभेदः । न चानुग्रहविशिष्टस्य केवलापेक्षया भेदान्न दोष इति वाच्यम् । विशिष्टस्यानतिरिक्तत्वात् । देवदत्तः कुण्डलीतिवत् । विशेषणविशेष्यसम्बन्धस्यैव पर्यवसानतोऽतिरेकः सेत्स्यति, न जीवानामिति जीवभेदाङ्गीकारो व्यर्थ इति चेत् । न । प्रामाणिकत्वात् । 'त्रयाः प्राजापत्या देवा मनुष्या असुराश्चेति' बृहदारण्यके श्रावणात् । पञ्चरात्रेऽपि 'उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवाः । तत्र देवा मुक्तियोग्या मानुषेषूत्तमा अपि । मध्यमा मानुषा ये तु सृतियोग्याः पुनः पुनः । अधमा निरयायैव दानवास्तु तमोलया' इति कथनात् । नन्वत्र देहस्य देहविशिष्टस्य वा भेद उक्तो, न केवलस्येति चेत् । न । फलोक्त्या तन्निश्चयात् । केवलस्यैव पर्यवसितं फलमिति पूर्वमेव व्युत्पादितत्वात् । न च पञ्चरात्रस्याप्रामाण्यं शक्यम् । भारते मोक्षधर्मे नारायणीये तत्प्रामाण्यस्य कण्ठत एवोक्तत्वात् । तर्कचरणेऽपि विरुद्धांशमात्रानङ्गीकारेण शेषाभ्यनुज्ञानात् । जैमिनीयस्मृतिपादेऽपि स्मृतीनां तथैव प्रामाण्यसाधनात् । किञ्च । 'यदा यस्ये'त्यादिषु न तदैव पुष्टिजीवत्वमित्युच्यते, किन्तु साधनसपत्यान्यत्र वैराग्यमनर्थनिवृत्तिः स्वलाभश्च । अतोऽपि तथा । तस्माद्यदानुगृह्य ततः

स्वस्वरूपे प्रवेश्य पुनः पुष्टिसृष्टावुत्पादयति, तदा पुष्टिजीवत्वम्, न त्वनुग्रहमात्रात् । एतत्सर्वं बृहद्वामनीयसन्दर्भविचारे 'उक्तकालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गता' इत्यत्र विद्वन्मण्डने स्पष्टम् । अत एव निबन्धेऽपि 'आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यये'त्युक्तम् । अन्यथा पूर्वमार्गसङ्कीर्णत्वानिवृत्तेः । न चैवमनुग्रहस्यानित्यत्वापत्तिः । फलबलेन प्रनाड्या अपि विचारितत्वनिश्चयात् । तस्मात्सुष्ठूक्तं भिन्ना एवेति । ननु भवत्वेवं जीवभेदः फलभेदश्च, तथापि गीतायां सर्गद्वयस्यैव कथनात्पुष्टिमार्गीयः सर्गोऽपि दैवसर्ग एव निवेशनीयः, तथा सति दैव्या सम्पदा मोक्षः, अनुग्रहसाहचर्ये भक्त्या सायुज्यमिति फलविभागोऽपि सेत्स्यति, तथा सति सर्गस्वभावात्साधनसाङ्कर्यमेव, न तु विवेक इत्याशङ्कायां तत्सर्गप्रयोजनमाहुः भगवदिति । भगवतो रूपस्य या सेवा, रूपेण स्वसौन्दर्येण वा या सेवा तदर्थं तत्सृष्टिः । नान्यथा भवेत्, एतत्सृष्टिकरणाभावे अधिकार्यभावाद्भगवतो रूपसेवैव न भवेत् । तथा रूपसेवां चेन्न कारयितुमिच्छेत्तान्न सृजेत् । नामसेवाया दैवान्तरैरपि सम्भवात् । तथा तादृशरूपाभावे तत्कृता या रमणोपयुक्तसेवा सापि न भवेत् । इदं च प्रयोजनं 'स वै नैव रेमे' इति श्रुत्यैव सूचितम् । तथाच दैवत्वाविशेषेऽपि स्वसेवार्थं तेषामालोचितत्वादन्येषामन्यार्थमालोचितत्वात्स्वार्थपरार्थत्वाभ्यां दैवसर्गभेदः केन वार्यते । सिद्धे च तद्भेदे न साधनसाङ्कर्यगन्धोऽपि । तादृशसृष्टिश्च पूर्वमेव साधिता । 'स आत्मान᳝ँ स्वयमकुरु'तेति श्रुत्युपन्यासेन । एवञ्चासुरेण प्रावाहिकेण सर्गेण विप्रकृष्टा क्रीडा । मार्यादिकेन परम्परिता । पुष्टिसर्गेण साक्षादित्युत्कर्षोऽपि फलितः । किञ्च । 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मि'न्नित्यत्राप्यस्मिंल्लोक इत्यनेन अमुक्तसम्बन्धी विधातृकृतो लोकः परामृश्यते । अन्यथैतद्वैयर्थ्यं स्यात् । तस्मात्तत्र द्वौ । तावता तदतिरिक्ते मुक्तसम्बन्धिनि तादृग्दैवसर्गस्य केन वारणम् । न च 'न स पुनरावर्तते' 'अनावृत्तिः शब्दा'दिति श्रुतिन्यायविरोधात्पूर्वोक्तमुक्तसर्गोऽनुपपन्नः । 'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दा'दित्यधिकरणे आकरे व्यवस्थापितत्वात् । तत्र हि ब्रह्मसम्पन्नानां 'सोऽश्नुते सर्वान् कामा'नित्युक्त आनन्दानुभवोऽन्तर्बहिर्वेति सन्दिह्य, 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुत्या पुनरिहागमननिषेधदिहागमनं विना च बहिरनुभवासम्भवादन्तरेवानुभव इति पूर्वपक्षे, सम्पद्य ब्रह्म प्राप्यापि स्वेन भगवतैवाविर्भावो बहिः प्राकट्यं तेषां भवति । यत उक्तश्रुत्युक्तः सर्वकामाशनरूपो भोगः स्वप्राधान्येन ब्रह्मणो विपश्चितो विविधचातुर्यवतः सहभावेन यः स बहिरेव शक्य इत्यशनवाचकादश्नुत इति शब्दादेव निर्णीयते । शक्तेश्च व्यवस्थापकता पूर्वतन्त्र एव नामधेयपादे 'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वा'दित्यधिकरणे निर्णीता । 'अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहुया'दिति होमे देवताप्रसादनादाविव संयुक्तहस्तद्वयस्याञ्जलेरशक्तत्वाद्धस्तयोर्विकासनं विना होमासम्भवाद्व्याकोश एवाञ्जलिः शक्तः । आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तेः सहकारित्वादिति । किञ्चोपकोशलविद्यायां 'एष देवपथो ब्रह्मपथः । एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त' इत्यत्रेमं मानवमिति पदाभ्यां संसार एवानावृत्तिरुच्यते । अन्यथैत-

त्पदद्वयवैयर्थ्यं स्यात् । तेन 'न स पुनरावर्तत' इति सामान्यशास्त्रमप्युपसंह्रियत इति न तस्यापि विरोध इति । एतमेव चार्थं 'मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्त' इति वाक्यं 'न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते । विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण' इति पाद्मवाक्यं चोपोद्बलयति । न चोक्तवाक्यानां जीवन्मुक्तपरत्वं शक्यम् । जीवन्मुक्ते तादृशभोगानुपलब्धेः । मुख्ये सम्भवति गौणकल्पनस्याप्रयोजकत्वात् । उक्तवाक्यादिभिर्मुख्ये बाधाभावाच्च । एवञ्च 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्रापि ज्ञानमुक्त्योर्व्याप्त्या एकोक्त्योभयप्राप्तेर्ब्रह्मवित्पदेन पुरुषोत्तमे प्राप्तसायुज्योऽपि शक्यवचनः । तथाच स तथा भवतीत्यर्थः । अयमेवार्थः 'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ती'ति सूत्रेऽभिप्रेयते । स चास्मिन्नानन्दमये ब्रह्मणि अस्य प्राप्तसायुज्यस्य जीवस्य तद्योगं तत्स्वरूपस्य योगं शास्ति फलत्वेन श्रुतिर्वदतीति विद्वन्मण्डनोक्तदिशावगन्तव्यः । अस्य तद्योगं शास्तीत्येतावतैव चारितार्थ्ये यदस्मिन्निति पदं तस्यान्यथा वैयर्थ्यापत्तेः । इदं यथा तथानन्दमयाधिकरणस्य वर्णके स्वतन्त्रे प्रभुचरणैर्विशदीकृतम् । अतो जीवन्मुक्तव्यावृत्त्यर्थमेवास्मिन्निति पदम् । न हि जीवन्मुक्तस्याभेदात्मिका मुक्तिरस्ति । येन योग्यतानुभवस्य स्यात् । किन्तु ज्ञानाध्यासाभावयोः कारणकार्ययोर्भाविफलप्राप्तिज्ञापकयोः सत्त्वात्तथोच्यते । ज्ञानेन स्वरूपयोग्यतायां मुक्तिर्भगवता दीयत इति न ज्ञानमात्रसाध्या । 'भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति' 'मोक्षमिच्छेज्जनार्दना'दित्यादिवाक्यैः । तथा सति चरमवृत्तिरूपमपि ज्ञानं स्वरूपयोग्यतासम्पादन एवोपक्षीयमाणं न फलोपहितां कारणतां स्वस्मिन्नवरोद्धुमीष्टे । अतो मुक्तिरपि भगवन्नियतैवेति सेवायै विचारितान् शुद्धान् विधायाविर्भावयतीत्यत्रापि न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥

ननु भवत्वेवं सृष्टिभेदात्साधनसाङ्कर्याभावः, तथापि लीलासृष्टावुत्पन्नानां स्वरूपदेहक्रियासु न कश्चिद्विशेषो दृश्यत इति साधितपूर्वः सृष्ट्यादिभेदोऽपार्थ एवेत्याशङ्कायां तत्परिहाराय विशेषमाहुः स्वरूपेत्यादि ।

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ॥ १३ ॥
तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि ।

'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाती'त्यादिश्रुतिभिर्यथा भगवान् सच्चिदानन्दघनः, एवं तेऽप्यतिरोहितसच्चिदानन्दा इति न स्वरूपेण तारतम्यम् । यथा भगवतोऽलौकिकलीला सत्त्वाधिष्ठानेऽवतारः, एवं तेषामपीत्यवतारेणापि न तथा । यथा भगवतो ध्वजवज्रादीनि लिङ्गानि, एवं तेषामिति न लिङ्गेन तथा । यथा भगवत ऐश्वर्यादयः सौकुमार्यादयश्च, तथा तेषामपीति गुणेनापि न तथा । इदमपि 'न प्रयोजनवत्त्वा'दिति सूत्रेण ब्रह्मण आप्तकामत्वश्रवणात्सृष्टिकरणं विरुद्धमित्याक्षिप्य, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति सूत्रेण पूर्वपक्षनिरासपूर्वकं लोके यथा ईश्वरो लीलां करोति, तत्र न तदति-

रिक्तं प्रयोजनान्तरम्, तथात्रापीति समाधाय, लीलास्वरूपमाह कैवल्यमिति । स्वरूपानतिरिक्ता । तथाच समाधानोत्तरं स्वरूपकथनं सपरिकरायाः स्वरूपात्मकत्वज्ञापनाय । तेन 'अहिकुण्डल'सूत्रे वक्ष्यमाणान्यायाद्भगवानेव तावद्रूपस्तथा क्रीडतीति फलितम् । एतदेव आथर्वणे कृष्णोपनिषदि 'तस्मान्न भिन्ना एतास्तु आभिर्भिन्नो न वै विभुः । भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिन'मिति मन्त्रे परस्पराभेदकथनादुक्तम् । वाराहपुराणे च 'अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातृव्यतिरेकिणी'ति तस्या विधातृव्यतिरेकित्वकथनात्तदुपबृंहितम् । तथाचास्माद्विशेषान्न साधितपूर्वमपार्थतामापद्यत इत्यर्थः । 'लिङ्गेन च गुणेन चे'ति चकारद्वयेन यथा भगवल्लीलाश्रवणादिना कृतार्थता, तथैव तेषामपीति बोधितम् । तदपि गर्भस्तुतौ 'शृण्वन् गृण'न्नित्यस्य सुबोधिन्यां चकारसूचितार्थनिरूपणे भगवत्सम्बन्धिनामप्यन्येषां श्रवणादिकं फलसाधकमित्यनेनोक्तम् । तर्हि प्रत्यक्षस्य का गतिरित्यत आहुः तथापीत्यादि । यावता तारतम्येन । कार्यं तत्तत्प्रकारकविविधित्सितलीलारूपम् । सिध्यतीति शेषः । तावत्तारतम्यं तस्य जीवस्य स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा करोति । हि यतो हेतोः । तथाच कार्यसाधनार्थेन तारतम्येन सर्वमेव सङ्गच्छते । तेन प्रत्यक्षं तावदंशे यथार्थमपि तु न तावत्त्वस्य नियामकम् । अतो न प्रत्यक्षशब्दयोर्विरोध इत्यर्थः । अयं च सार्धकारिकोक्तोऽर्थो 'हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत्तदुक्त'मित्यत्र विचारितः । तेन यं जीवं मर्यादादिभ्यः पृथक्कृत्यानुग्रहेण पुष्टौ प्रवेशयति, तस्येयं व्यवस्था बोध्या । तत्र हि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'त्याथर्वणिके श्रुतं साम्यं किमशेषधर्मैः, उत कतिपयधर्मैरिति सन्देहे, अत्र परमपदोक्त्या अशेषतद्धर्मैरिति पूर्वपक्षे, तुना पूर्वपक्षं निरस्य, हानौ भगवता सृष्ट्यर्थं जीवानां त्यागे विभाग इति यावत्, तस्मिन् कृते ये धर्मास्तिरोहिता ऐश्वर्यादयः, ते ब्रह्मसम्बन्ध आविर्भवन्ति । तैः साम्यमुपचर्यते । न तु सर्वथा साम्यम् । तत्र हेतुः । उपायनशब्दशेषत्वादिति । अत्र यत्साम्यमुच्यते, तदुपैतीत्युपायनशब्दशेषत्वेनोच्यते । तथा सति पूर्वं न स्थितमिदानीं प्राप्नोति । तेन परममुपेत्य साम्यमुपैतीति सिध्यति । तेन पूर्वोक्तमेव दृढीभवति । उचितं चैतत् । अन्यथा 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुतिर्विरुध्येत । तत्र दृष्टान्तः । कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवदिति । औदुम्बर्यः समिधः कुशाशब्देनाभिधीयन्ते । ता ज्योतिष्टोमादियागेषु प्रस्तोत्रा स्थाप्यन्ते । तत्र 'अभि त्वा शूर नोनुम' इति ऋक्स्थानेऽच उपसंहृत्य भकारेण गानं क्रियते । तथा सति कुशानां, या छन्दसा स्तुतिस्तत्रोपगानकरणभूतो यो भकारस्तत्सगर्धर्मान्वयत्वेन यथा नर्ग्रूपता, तद्वदत्रापीत्यर्थः । ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरभेदो बोधितस्तस्य का गतिरित्यत्राह तदुक्तमिति । 'तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेश' इति सूत्र एवोक्तं गौण्योच्यत इति । इयं या मुक्तव्यवस्था सात्रानुगृहीते बोध्या । नित्यलीलास्थानां तूक्तैव पूर्वश्लोके । एतेन रसशास्त्रोक्तरीतिकलीलायां वैचित्र्यासम्भवे साम्यकृतरमणासम्भवे स्वरूपबहुत्वैकत्वकृतरमणासम्भवे सर्वेषामेकविधत्वेन कार्यान्तरासम्भवादौ च ये सन्देहास्तत्प्रसङ्गानुप्रसङ्गपतिताश्च ते

सर्वे सामान्येनापाकृता बोध्याः । 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विष' इति श्रुतेः 'यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान् विष्णुरव्यय' इत्यादिस्मृतेश्च रहस्यलीलास्थत्वान्न विशेषतो विव्रीयन्ते ॥

एवं स्वभावभेदादिसन्देहानपाकृत्य, केषाञ्चिद्भगवदुक्ते भक्तिमार्गे, केषाञ्चित्तादृशे ज्ञानमार्गे, केषाञ्चित्तादृशे कर्मणि, तत्रापि केषाञ्चित्स्वतः प्रवृत्तिरासक्तिश्च, केषाञ्चिद्विधिबलात्, केषाञ्चित्स्वभावविरुद्धा देहादयः, इतरेषामनुकूला इत्यादीन् विशेषतो निराकर्तुं पुष्टिजीवान् विभजन्ते ते हि द्विधेति ।

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः ॥ १४ ॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।

ते पुष्टिजीवादयः हि यतो हेतोः भगवत्कार्यस्य लीलावैचित्र्यस्य सिद्ध्यर्थं शुद्धमिश्रभेदेन द्विप्रकाराः । मिश्राः पुनः प्रवाहमर्यादापुष्टीनां यो विभेदः विशिष्टः शुद्धादतिरिक्तः सङ्कीर्णो भेदस्तेन त्रिप्रकाराः प्रवाहमिश्रा मर्यादामिश्राः पुष्टिमिश्रा इति । तथाचैवंविधवैचित्र्यार्थादवान्तरभेदात्ते सन्देहा निवार्या इत्यर्थः ॥ १४ ॥

पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥ १५ ॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः ।

कथं निवार्या इत्याशङ्कायां तदभिज्ञापकं रूपमाहुः पुष्ट्येत्यादि । अत्र पुष्ट्यादिशब्दैर्मार्गा उच्यन्ते । तत्र भक्तिज्ञानकर्मणां विजातीयसंवलितानां मार्गत्वं केवलत्वे भगवद्धर्मत्वमित्येकादशस्कन्धसुबोधिन्यां स्थितम् । पुष्टिशब्दवाच्योऽनुग्रहोऽपि फलबलात्केवलो मिश्रश्चावधार्यते । तत्र केवलो निःसाधनेष्वङ्गीकृतेषु । यथा गोकुलस्थेषु व्रजरत्नेषु सर्वथा प्रपन्नेषु च । 'अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण' 'केवलेन हि भावेन' 'मत्कामा रमणं जारम्' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदना'मिति वाक्येभ्यः । द्वितीय उक्तरीत्या त्रिविधः । उभावप्यवान्तरभेदैरनन्तविधावित्यपि 'तथापि यावते'त्यनेन सूचितमेव । एवं सति एते मामभिजानन्त्वित्यभिध्यापूर्विका या पुष्टिस्तया मिश्रा ये पुष्टावङ्गीकृतास्ते **सर्वज्ञा** यथा तथा भगवत्स्वरूपज्ञातारो भवन्ति । तेन सर्वज्ञत्वं तदभिज्ञापकं लिङ्गम् । उदाहरणं तु नारदर्षभादयः । ज्ञानमिश्राः परमभक्ता इति यावत् । 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुन' इत्यादिवाक्यानामेते विषयाः । मदुपासादिपरा एते भवन्त्वित्यभिध्यापूर्वकेण प्रवाहेण मिश्रा ये पुष्टावङ्गीकृतास्ते क्रियारताः भगवदुक्तपञ्चरात्रादिप्रसिद्धकर्मपराः । प्रावाहिकभक्ता इति यावत् । तादृशक्रियापरत्वं तदभिज्ञापकम् । उदाहरणं श्रुतदेवनिमिप्रभृतयः । मद्गुणान् जानन्त्वित्यभिध्यापूर्विका या मर्यादा भगवदुक्तब्रह्मवादसरणिस्तया मिश्रा ये पुष्टावङ्गीकृतास्ते गुणज्ञा भगवत उत्पन्नानां गुणानां सत्त्वादीनां भगवदीयानां स्रष्टृत्वैश्वर्यादीनां ज्ञातारो भवन्तीति तदभिज्ञापकम् । मार्यादिकभक्ता इति यावत् । उदाहरणं भीष्मादयः । शुद्धास्तु प्रेम्णा उपलक्षिताः । निरुपधिप्रेमैव तेषामभिज्ञापकः । ते अतिदुर्लभाः । तान् भगवान् कदापि न त्यजति । 'ये दारागारपुत्राप्त-

प्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे' 'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरि'रित्यादिवाक्यानां विषयाः । निबन्धेऽपि 'एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः । यो दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदे'त्यनेनोक्ताः । न च ज्ञानिभक्तापेक्षया तेषां निकर्षः शङ्क्यः । 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता'मित्यादिश्रुतिभिः स्वरूपावित्त्वेऽप्यत्युत्कर्षस्य सिद्धत्वात् । किञ्च । अतिदुर्लभा ब्रह्मादिदुरापचरणरेणवः । 'षष्टिवर्षसहस्राणी'ति बृहद्वामनपुराणवाक्यात् । अत्र येऽवान्तरभेदास्ते फलबलादूह्याः । तथा ये निरुपधिप्रेमाणोऽपि विक्षिपन्ति कदाचित्ते जीवाः शुद्धाः मनस्तेषां मिश्रम् । ये चैकमनसोऽपि देहेनाशक्ताः सेवितुं तेषां देहा मिश्राः । ये पुनस्तादृशाः समर्था अपि क्रियामन्यादृशीं विदधति, तेषां क्रिया मिश्रेत्याद्यप्यूह्यम् । भक्तिभेदा भक्तिहंसाद्भावभेदा जलभेदादवगन्तव्याः ॥ १५ ॥

एतेन साङ्कर्यदर्शनजाः सन्देहा निराकृता इत्याशयेन साधननिरूपणमुपसंहरन्ति एवमिति ।

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलमत्र निरूप्यते ॥ १६ ॥
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि ।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥ १७ ॥

एवम्प्रकारकं सर्गभेदमनुसन्धाय ते सन्देहा निवारणीया इत्यर्थः । अतः परं शुद्धानामपि बाल्यादिभेदेन नानाविधं फलं दृश्यते । तत्कथम् । किञ्च । 'कायेन तु फलं पुष्टा'वित्यत्र तृतीयानिर्देशात् किं स्वरूपातिरिक्तं फलमित्याद्याशङ्कानिरासाय च फलनिरूपणं प्रतिजानते फलमिति । तदाहुः भगवानेव हीति । 'यो वै भूमा तत्सुखम्' 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति'रित्यादिश्रुतेः । 'परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्य' इति सूत्रे सेतुर्विधृतिः । 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषः' 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय' इत्यादिभिः सेत्वादिव्यपदेशैः फलान्तरसन्देहे, 'सामान्यात्त्वि'ति सूत्रेण संसारतरणसाधनत्वनिर्लेपत्वातिदुर्लभत्वदिव्यत्वाद्यर्थं ते धर्मा ब्रह्मण्युच्यन्ते । तावता तदतिरिक्तस्य फलस्य न सिद्धिरिति व्यवस्थापनाच्च भगवानेव फलम् । स्वर्गमोक्षादयस्तु मार्गान्तरे । तान्यपि 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुतेर्भगवदानन्दांशभूतानि । मोक्षोऽप्यात्मसुखात्मा ब्रह्मानन्दात्मा च तथा । पुष्टिमार्गे तथा न, किन्तु मूलरूपो भगवानेव फलम् । तत्र प्रमाणभूतां युक्तिमाहुः हीति । मार्गभेदसाधनावसर उक्तैः प्रमाणैरेव तथा निश्चयादित्यर्थः । तृतीयानिर्देशस्तु फलस्य साधनासाध्यत्वबोधाय । अतो न विरोधः । तत्र विशेषमाहुः स इत्यादि । स भगवान् भुवि हृदयभूमौ लीलास्थाने वृन्दावनादौ च गुणस्वरूपभेदेन यदर्थं यथा आविर्भवेत्, तेषां तथा तादृशगुणस्वरूपभेदेन फलं भवेत्, फलरूपो भवेत् । तथाच यदर्थं यद्गुणरूपेणाविर्भवति नृसिंहरामवामनादिरूपेण, तेषां मुक्तावपि तेन रूपेण फलति । यदर्थं च बाल्यपौगण्डकिशोररूपेणाविर्भवति, तेषां मुक्तावपि तथैव फलति । तेन तदर्थकृततथाविर्भाव एव तादृक्फलगमकः । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' । 'तद्धैतान् भूत्वावती'ति स्मृति-

श्रुतिप्रमाणकश्च । तेन 'मन एव मनुष्याणां पूर्वरूपाणि शंसति । भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यत' इति न्यायेन यथा पूर्वं तद्धृदि प्रकटीभूतः, तथैवाग्रे मुक्त्यनन्तरमपि पूर्ववदेव तेषु तां लीलामनुभावयतीति । तेन नित्यत्वमपि लीलायाः स्थापितम् । प्रपञ्चितमेतद्विद्वन्मण्डने लीलानित्यत्ववाद आकरे च । एवं फलतः पुष्टिमार्गस्यान्यमार्गसाङ्कर्यं निराकृतम् ॥

अतः परमवान्तरसाङ्कर्येण मिश्रेषु कचिच्छापो दृश्यते, स पुष्टिमार्गीयत्वात् 'तथा न ते माधव तावका' इति वाक्यविरोधाचानुचितो निकर्षजनकश्चेत्याकाङ्क्षायां समादधते ।

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥ १८ ॥

आसक्तावित्यादि । अन्यासक्तौ सत्यां भगवानेव शापं दापयति । यथा नलकूबरादेः । क्वचिदिति । यत्र तस्या औत्कट्यं तत्र । एवमहङ्कारे । यथा चित्रकेतुपरीक्षितोः । तथाच तद्दोषपरिहाराय भगवत्कृत एवायं तत्तद्वारको दण्डः । तेन न निकर्षजनकः । तर्हि यत्र नोभयं तत्र कथं शाप इन्द्रद्युम्नादौ । तत्राहुः लोक इत्यादि । यद्येवं न कुर्यात्, तदा लोके मर्यादादिमार्गा न तिष्ठेयुः । तथा सति लोकोच्छित्तिः स्यात् । अतो लोकसङ्ग्रहार्थं तथा करणम् । अत्र गमकमाहुः हीति । 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इति वाक्येन तथा निश्चयादित्यर्थः । शापस्य भगवत्प्रयुक्तत्वं मौसले स्फुटम् । तेनान्यत्राप्यनुसन्धेयम् ॥ १८ ॥

न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवाः ।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥ १९ ॥
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ।

ननु गमकमन्तरेण तथानुसन्धानमशक्यमित्यत आहुः न ते इत्यादि । ते शापविषयाः पाषण्डतां न यान्ति । ये शप्तास्ते पुनरत्यन्तं भक्ता एव जाताः । अतो ज्ञेयं भगवतैवायं दण्डः कृत इति । ननु दण्डस्थले युक्तमेतत्, शेषे तु नायं समाधिरित्यतस्तत्राहुः न चेत्यादि । तेषामपि रोगाद्युपद्रवा न भवन्ति । प्रायेण महानुभावा एव भवन्ति । महानुभावत्वाभावेऽपि रोगाद्यभावस्तु भवत्येव । एतेनान्यार्थं भक्तदुःखदातृत्वदोषोऽपि निराकृतः । तथापि स्वल्पार्थमेतावत्करणं न कृपालोरुचितमित्यत आहुः शास्त्रमित्यादि । शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रं शापदापनम् । तत् शुद्धत्वस्य हेतुर्निरुपधिरसात्मकं प्रेम तदर्थम् । यद्येवं न कुर्यात्, तदा मार्गान्तरमिश्रत्वनिवृत्त्यभावाच्छुद्धपुष्टत्वं न भवेत् । तथाच तत्रापि फलोन्मुखा कृपैव बीजम्, अतो न भगवति दोषलेशोऽपीत्यर्थः । ननु युक्तमेतत्, तथापि येषां शुद्धत्वं चिकीर्षितं ते मिश्रेष्वप्यत्युत्कृष्टा एव वाच्याः, तथा सति तेषां कथमीदृशो भावः । न हि तादृशेषु कर्म प्रारब्धादिरूपं प्रभवति, न वा ते ज्ञात्वाऽवजानन्तीति सन्देहे, तेषामेवम्भावे बीजमाहुः भगवदित्यादि । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति श्रुत्या भगवाननन्तरूपः । 'अथर्वशिरःशिखाध्यायिशतमेकमेकेन मन्त्रराजजापकेन तत्समं विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पाद' इत्यादिश्रुतिभिर्व्यूहादिबोधकस्मृतिभिश्च

तेषु तरतमभावयुक्तश्च । एवं सति प्रकारान्तरेणापकर्षाभावे तत्क्रतुन्यायेनोपास्यतारतम्य-प्रयुक्तं तारतम्यं केन वार्येत । एवं तारतम्ये उत्कृष्टानामप्येवम्भावो न दुर्घटः । अत एव सङ्कर्षणोपासकस्य चित्रकेतोः सङ्कर्षणचरणे मनोनिवेशो वृत्रेन्द्रयुद्धे । निर्विशेषो-पासकस्येन्द्रद्युम्नस्य गजेन्द्रत्वेऽपि निर्विशेषोपवर्णनम् । तदेतदुक्तं हीति । तथाच तन्नि-वृत्त्यर्थमेवङ्करणमित्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य इदानीन्तनेषु पुष्टिजीवत्वज्ञापकं लक्षणं वदन्तः प्रसङ्गात्सर्वेषामाहुः ।

वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥ २० ॥
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः ।

वैदिकत्वमित्यादि । कापट्यमन्तर्बहिर्विसंवादः । स च स्वभावस्य गोपनाय तत्तत्प्रका-शनमित्येकः, स्वस्य प्रयोजनाभावेऽपि तत्करणमित्यपर इत्युभयविधात्कापट्यात्तेषु वैदिकत्वं लौकिकत्वम् । सहजं तु वैष्णवत्वं भगवदाज्ञाकारित्वम् । ततः वैष्णवादन्यत्र विपर्ययः । एकत्र वैदिकत्वमितरत्र लौकिकत्वं सहजम् । तदतिरिक्तत्वं कापट्यादिति । तेन तेन लक्षणेन ते ते बोध्या इत्यर्थः । एवञ्च तेषां फलं भगवत्तारतम्येनेत्युक्तरीत्या तत्क्रतुन्यायेन भावना-नुरूपं भवति । तत्राप्येतन्मार्गीयाणां भगवतो व्रजपतेरेव भावनेति व्रज एव सेवौपयिक-देहप्राप्तिर्भवति । परं तत्कृतसेवानुरूपा । सेवाफलग्रन्थे तथैव सिद्धत्वादिति ॥ २० ॥

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥ २१ ॥
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥ २२ ॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ।

ननु यदि त्रिविधा एव जीवास्तर्हि कथं केचन सर्वत्र तुल्यदर्शनाः सर्वाभिनिविष्टा दृश्यन्ते, तत्राहुः **सम्बन्धिन** इति । तुशब्दस्त्रैविध्यपक्षं व्यावर्तयति । ये जीवाः सम्ब-न्धिनः उक्तत्रिविधमार्गसम्बन्धभाजः, तथा अपरे इतोऽपि हीनाः प्रवाहस्थाः, ते चर्षणी-शब्दवाच्याः । 'चृषि प्रजननैश्वर्ययो'रिति धात्वर्थात्प्रजननस्वातन्त्र्याभ्यां युक्ताः । तेन तद्यो-ग्यत्वाच्चर्षणीभिः परिभ्रमणशीलाभिः शक्तिभिर्व्याप्तास्तच्छब्देनैवोच्यन्ते । तदभिज्ञापकमाहुः ते सर्वे इत्यादिपादत्रयेण । तेषां फलमाहुः तेषामिति । तथाच पञ्चरात्रे मध्यमा अधमाश्च ये मानुषा उक्तास्त एते । अत एव 'संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शना'दिति सूत्रेण यमनियता तेषां गतिर्विचारिता । 'वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः । ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिन' इति । अतस्तेषां यथाकर्म सकलं कला खण्डस्तत्सहितं खण्डितं फलं सर्वत्र भवति । तथा तदनुभवन्तः सम्बन्धिनः संसरन्त्येव । सृतियोग्यत्वात् । प्रवाहस्थास्तु तथाभूता निरयिणोऽग्रे भवन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

एवमत्रानुप्रसङ्गपतितं सर्वमुक्त्वा क्रमप्राप्तं प्रवाहभेदं वदिष्यन्तो व्यावर्तकधर्मैः प्रवाहेण च स्वरूपभेदस्य सिद्धत्वात्साधनादिभेदं वक्तुं प्रावाहिकजीवदेहक्रियाभेदनिरूपणं प्रतिजानते प्रवाहस्थानिति ।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान् ॥ २३ ॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे 'प्रवृत्तिं चे'ति वर्णिताः ।

तेषां स्वरूपं लक्षणमाहुः जीवास्ते इत्यादि । 'प्रवृत्तिं चे'ति सन्दर्भे नानालक्षणानामुक्तत्वादेकस्मिंस्तावतामदर्शनात्प्रत्येकं यत्किञ्चिल्लक्षणवन्तोऽपि त एवेति ज्ञापनाय सर्वे इत्युक्तम् ॥ २३ ॥

ननु केचन पूर्वं तल्लक्षणवत्तया निश्चिता अपि पश्चाद्व्यभिचरन्तो दृश्यन्ते लोके स्मृतौ चेति लक्षणमव्यापकमित्यतस्तान् विभजन्ते ते च द्विधेत्यादि ।

ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ॥ २४ ॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः ।

ताननु तदनुसारिण एव । न तु तादृशाः । तेऽज्ञाः । एत एवाग्रे भगवता हता मुच्यन्ते । क्वचिद्द्वेषत्यागेऽपि मुच्यन्ते । अतो हेत्वन्तरेणाज्ञाने गते स्वां प्रकृतिं भजन्त इति न ते लक्ष्याः । अतो लक्षणमदुष्टमित्यर्थः ॥ २४½ ॥

ननु सर्गभेदे प्रावाहिक आसुरः सर्गो जघन्य उक्तः । तेन तदङ्गक्रिया दुष्टा इति सिद्धम् । तथा सति तत्र प्रवेशस्तादृशामेवोचितो, नेतरेषाम् । ततस्ते हन्तव्या एव स्युः, नानुग्राह्याः । दृश्यते तु विपरीतं बलिप्रह्लादादिषु, तथा बाणादिषु क्रियाविरोधोऽपीत्यत आहुः ।

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते ॥ २५ ॥
सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ॥ २५½ ॥

प्रवाहेऽपीति । प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिमार्गीयः तेन समागमनेन कृत्वा युज्यते, **तैः** आसुरधर्मैः । तत्र हेतुः । यतः कर्मणा तादृशेन तत्कुले जातः । अतस्तथेत्यर्थः । तथाच तत्कर्मवासनया तादृक्क्रियाकरणेऽपि जीवस्य पुष्टिस्थत्वाद्भगवता तत्कर्म निवार्य फलं दीयते यथाजामिलस्य अतो न दोष इति भावः । कर्म च भगवदपराधो भक्तापराधो वेदनिन्दा अधर्मकरणं वेत्यादिकम् । तच्च 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा । नरके न भवेत्पातः किन्तु हीनेषु जायत' इति निबन्धोक्तमार्गेणोह्यम् । एवं बलिप्रह्लादादिषु दुष्टकर्मणः स्वल्पताप्यूह्या । तेन न दोषः । एतदग्रे आधुनिकादृष्टवशाद्ग्रन्थो न मिलतीति नोपक्रमोपसंहारैक्याभावदोषः । एतदग्रे प्रवाहमार्गीयप्रयोजनसाधनाङ्गक्रियाफलानि मर्यादामार्गीयप्रयोजनस्वरूपाङ्गक्रियाः साधनं फलं च यावता ज्ञायते, तावान् ग्रन्थोऽपेक्षित इति ज्ञेयम् ॥२५½॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जनखेन्दुना ।
शोभितास्तारका यास्ताः स्वबुद्ध्या विशदीकृताः ॥ १ ॥
निपुणं विभाव्य सततं विलसद्रससिन्धुचन्द्रमुखवागमृतम् ।
विवृतं मयास्य कृतमेतदहो सरहस्यमस्ति विबुधैकसुखम् ॥ २ ॥

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणरेण्वेकतानश्रीयदुपतितनयपीताम्बरविरचितं
पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरणं समाप्तम् ।

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गत-पञ्चमं

सिद्धान्त-रहस्यम्

एकादशटीकाभिः समलंकृतम्

१. श्रीगोकुलनाथानां पुरुषोत्तमसिद्धान्त विवृतिः
२. श्रीरघुनाथानां सि. र. विवरणम्
३. श्रीकल्याणरायाणां विवृतिः
४. श्रीव्रजोत्सवानां विवृतिः
५. श्रीगोकुलोत्सवानां विवृतिः
६. श्रीहरिरायाणां विवृतिकारिका
७. श्रीविट्ठलेश्वराणां विवृतिः
८. श्रीपुरुषोत्तमानां विवरणम्
९. श्रीगिरधराणां विवृतिः
१०. श्रीलालूभट्टानां सिद्धान्तरहस्यटीका
११. श्रीशाचार्यमतानुवर्तिनां संवाद विवृतिः

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत–सम्प्रदायस्य-सप्त-
पीठान्तर्गत-चतुर्थ-पीठाधिष्ठित-गोस्वामिश्री १००८
श्रीदेवकीनन्दनाचार्यैः प्रकाशितम्

वि. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दा : ५०२

प्रकाशक :

गोस्वामिश्री १००८ श्रीदेवकीनन्दनाचार्य,
चतुर्थपीठ, गोकुल, मथुरा २८१३०३, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति
राजसंस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभाब्द ५०२

ग्रन्थ–परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :
स्टुडियो बहार, २३–ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,
बम्बई– ४०० ००७

गोस्वामिश्री १००८ श्रीदेवकीनन्दनाचार्य

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

एक किंवदन्तीके अनुसार सिद्धान्तरहस्यका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि. सं. १५४९ में किया था. श्रीमहाप्रभुके चरित्रग्रन्थों तथा इस ग्रंन्थ के अन्तः-साक्ष्यके आधारपर यह निश्चित है कि इसकी रचना गोकुलमें श्रावण शुक्ल एकादशीको अर्धरात्रीमें हुई थी.

श्रीयदुनाथजी विरचित वल्लभदिग्विजयके मध्यमयात्रा परिच्छेदमें यह घटना यों वर्णित हैं—"श्रीमहाप्रभु मथुरासे गोकुल पधारे. वहां श्रावण शुक्ला एकादशीका व्रत एवम् जागरण किया. मध्यरात्रीमें भगवान्ने प्रकट होकर दर्शन दिये. तब श्रीमहाप्रभुने पवित्रा धराकर मिश्रीका भोग धरा. पश्चात् श्रीगोकुलनाथने श्रीमहाप्रभुको आश्वस्त किया की उन्हें दैवी जीवोंके उद्धारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. दैवी जीवोंके उद्धारार्थ प्रस्तुत ग्रन्थमें वर्णित भावनाके साथ गद्यमन्त्रका दान (मदुक्तभावनासहितं गद्यम्) श्रीमहाप्रभुको दिया गया. अन्योंको भी इस भावनाके उपदेशके साथ गद्यमन्त्रके द्वारा दीक्षित करनेका आदेश दिया गया. श्रीमहाप्रभुको वचन दिया गया कि जिसे यह सर्वस्वसमर्पणपूर्वक आत्मनिवेदनकी दीक्षा दी जायेगी उसकी अहन्ता-ममता के सेवामें विनियोग द्वारा उसे भगवल्लीलाकी अनुभूतिका सामर्थ्य प्रदान किया जायेगा. प्रातः श्रीमहाप्रभुने यह दीक्षा दामोदरदास तथा कृष्णदास को दी."

८४ वैष्णवनकी वार्ताके अनुसार भगवदाज्ञाके बाद श्रीमहाप्रभुने समीप में सोये हुए दामोदरदास हरसानीको पूछा– "दमला ! ते कछु सुन्यो ? तब दामोदरदासने कह्यो जो महाराज ! मैंने श्रीठाकुरजीके वचन सुने तो सही समुझ्यो नाहीं."

सुना तो बृहदारण्यकोपनिषद्में भी सभीने था—— समर्पणका सिद्धान्त, "अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा. तद्यथा रथनाभौ रथनेमौ चाराः समर्पिताः एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः

१ वैष्णववाणी (अंक ४ वर्ष १९७९) में श्रीनागरदास वांभणिया शास्त्री द्वारा लिखित लेख.

सर्वाणि भूतानि सर्वे एवात्मानः समर्पिताः". पर समझमें कहां आता है ! सभी कुछ जिस परमात्मामें समर्पित है उस परमात्माके प्रति मन-वाणी-देह-से सर्वसमर्पणकी स्वीकृति सबकी समझमें नहीं आती. अतएव कह तो भगवान्ने गीतामें भी दिया है कि "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु, मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे" पर भगवान्की इस प्रतिज्ञाका तथा प्रेमाश्वासनका तात्पर्य कहां समझमें आता है ? सुनी तो भागवतमें भी हमने भगवद्वाणी है कि "ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परं हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे" पर वह कहां समझमें आती है !

स्वयम् इस सिद्धान्तरहस्यमें साक्षाद् भगवदुक्त भावनासहित गद्यमन्त्रमेंसे जब श्रीमहाप्रभुने अक्षरशः भगवदुक्त भावना दोहरा दी फिर भी वह सुनने के बाद भी समझमें नहीं आती! कई विद्वानोंको सन्देह होता है कि गद्यमन्त्र साक्षाद् भगवदुक्त है या श्रीमहाप्रभूक्त है या श्रीप्रभुचरणोक्त है या श्रीगोकुलनाथजीने इसे परवर्ती कालमें जोड़ दिया है! तर्क वितर्क उठते रहते हैं कि "साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते" कहने के बाद जब गद्यमन्त्र नहीं कहा गया तो अवश्य ही वह परवर्ती कालमें श्रीप्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजीने जोड़ दिया होगा! परन्तु इस अक्षरशः निरूपणमें तो पञ्चाक्षरमन्त्र भी नहीं दोहराया गया हैं, तो केवल गद्यमन्त्र ही क्यों—पञ्चाक्षर मन्त्रको भी प्रक्षिप्त क्यों न मान लिया जाये. जबकि श्रीगोकुलनाथजीसे पूर्ववर्ती श्रीकृष्णदास अधिकारी —"श्रीगोपालमन्त्र अष्टाक्षर पञ्चाक्षर के श्रवन कराये, गद्यमन्त्र सब जीवनिको दे कृष्णचरण सबके चित लाये." तथा "कृष्ण श्रीकृष्ण मनमाहि गति जानिये, देह इन्द्रिय प्राण दारागारादिवित्त आत्मा सकल श्रीकृष्णकी मानिये. कृष्ण मम स्वामी हों दास मनवचकरम कृष्ण कर्ता येही सदा जिय आनिये. कृष्णदास निनाथ हरिदासवर्यधरचरणरज वल्लभावीश मन सानिये." कहते हैं. इसे सुनते और निरन्तर गाते रहनेपर भी आज यह समझमें नहीं आता !

कतिपय विद्वानोंके अनुसार अतएव यह गद्यमन्त्र श्रीगोकुलनाथजी द्वारा नहीं किन्तु श्रीप्रभुचरण द्वारा पञ्चाक्षरके साथ जोड़ा गया माना जाता है. जबकि उनके ज्येष्ठभ्राता श्रीगोपीनाथजी स्वरचित साधनदीपिकामें—"नायमात्मा प्रवचनैः न धिया बहुना श्रुतैः, लभ्यते वरणं हित्वा वृतं संवृणुते श्रुतेः,स्मृत्वा

स्वीयवियोगाग्निं तापदाहो भवाम्बुधौ, ततः सर्वं समर्प्यैव श्रीगोपालमनुं श्रयेत इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियं दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्'' कहते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि गद्यमन्त्र प्रभुचरणसे पूर्व ही दीक्षाविधिमें समाविष्ट हो गया था. किन्तु ''महाराज! सुन्यो पर समुझ्यो नाही!''

निवेदन समर्पण एवम् विनियोग उत्तरोत्तर एक-दूसरेके रहस्य या तात्पर्य-रूप हैं. पञ्चाक्षरमन्त्रके द्वारा जो आत्मनिवेदन किया जाता है, गद्यमंत्रमें उन्हीं 'आत्मा' तथा 'निवेदन' का रहस्य आत्मीय सकल पदार्थोंके समर्पणके रूपमें समझाया गया है. गद्यमन्त्रमें जिस आत्मा एवम् आत्मीय सकल पदार्थोंका समर्पण किया जाता है, उसका रहस्य अपने स्वामी श्रीकृष्णकी तनुवित्तजा सेवामें स्वयम् अपने तथा अपनेसे सम्बन्धित सभी पदार्थों के विनियोगमें निहित है. अन्यथा समर्पण पूर्णतया चरितार्थ हो नहीं पाता. समर्पितका विनियोग भी अतः आवश्यक है.

श्रीमहाप्रभुको आत्मनिवेदनकी भावनाके रूपमें यही प्रभुने प्रकट होकर समझाया था-''असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत् निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः''. आत्मनिवेदीको असमर्पित वस्तुका त्याग करना चाहिये. अपने सारे कामकाज समर्पणपूर्वक ही चलाने चाहिये. यही ब्रह्मसम्बन्ध या आत्मनिवेदन की मूलभावना है.

''निवेदनके समय अपनेसे सम्बन्धित सभी वस्तुओंका प्रभुसे-ब्रह्मसे सम्बन्ध हो जाता है... जिन्होंने अपने प्राणोंको कृष्णसात् कर लिया है उन्हें किस बातकी चिन्ता हो सकती है?'' नवरत्नके इस वचनकी तथा सिद्धान्तरहस्यके ''ब्रह्मसम्बन्ध करनेसे सभीके देह तथा जीव के सभी तरहके दोष निवृत्त हो जाते हैं'' इस वचनकी परस्पर संगति बैठानेपर पञ्चाक्षरमन्त्रद्वारा आत्मनिवेदन तथा गद्यमन्त्रद्वारा वियोगाग्निके स्मरणपूर्वक आत्मीय सकल पदार्थोंके समर्पणको ही मिलाकर 'ब्रह्मसम्बन्ध' कहा जाता है. यही सिद्धान्तका रहस्य हमें सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थमें सुनायी पड़ता है.

यही रहस्य श्रावण शुक्ला एकादशीकी महानिशामें साक्षात् भगवान्ने प्रकट होकर श्रीमहाप्रभुको सुनाया था. उस पञ्चाक्षर तथा गद्यमन्त्र के अंशको गोप्य होनेके कारण छोडकर समर्पणके सिद्धान्तके इस भगवदुक्त रहस्यको यहां अक्षरशः श्रीमहाप्रभुने दोहरा दिया है. जो बात भगवान्ने गद्यमन्त्रकी

भावनाके रूपमें कही थी उसीका यहां अक्षरश: निरूपण है पञ्चाक्षर या गद्य मन्त्रका नहीं.

जीव तो अनेक प्रकारके दोषोंसे भरे हुए हैं. उदाहरणतया(१)अविद्याके साथ सम्बन्ध, तत्कृत अहन्ता-ममताकी भ्रान्ति, तत्कृत प्राणधारणके प्रयत्न जैसे दोष आत्माके साथ लगे रहते हैं. सूक्ष्म शरीरमें काम-क्रोध-लोभ आदि तथा क्षुधा-पिपासा जैसे अनेक सहज दोष विद्यमान रहते हैं. इसी तरह स्थूल शरीरमें भी अनेक तरहकी अशुद्धि तथा रोगादि दोष सहज पाये जाते हैं. (२) पापबहुल प्रदेशोंमें जन्मग्रहण करनेसे या कभी तो गमनमात्रसे भी शास्त्रोंके अनुसार दोष लग जाते हैं. (३) कलिकालके कारण अनेक धार्मिक व्यवस्था लुप्त हो गयी हैं. अत: कालजन्य दोषोंको भी शास्त्रमें स्वीकारा गया है. (४)कभी-कभी जानबूझकर या मोहवश हम ऐसे आचरण कर बैठते हैं जिन्हें लोक एवम् शास्त्र में निन्दित माना जाता है. (५) कभी-कभी अपरिहार्य स्थितिमें अनचाहे अनजाने ऐसे गलत काम हमसे हो जाते हैं या हठात् करने पडते है जो लोक-वेदनिन्दित हों.

इस तरह लोक तथा वेदों में गर्हित अनेक प्रकारके दोषोंसे जीव भरा हुआ रहता है. किन्तु ब्रह्मसम्बन्ध होनेपर ये दोष निवृत्त चाहे हों या न हों पर पुष्टिजीवद्वारा की जानेवाली भगवत्सेवामें बाधक नहीं हो सकते. ब्रह्मसम्बन्ध के अलावा अन्य किसी भी प्रकारसे इन दोषोंकी निवृत्ति सम्भव नहीं है.

ब्रह्मसम्बन्धका वास्तविक स्वरूप असमर्पित वस्तुके त्याग करनेपर ही सम्पन्न होता है. कुल मिलाकर बात इतनी ही है कि जिसने आत्मनिवेदन किया है उसे अपने सारे कामकाज समर्पणपूर्वक ही चलाने चाहिये. किन्तु इसमें एक सावधानी अपेक्षित है कि हम ऐसी किसी भी वस्तुका, जिसका उपभोग प्रथम हमने कर लिया हो, देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णको समर्पण न करें. हमारे प्रथम उपभोगके कारण वस्तु हमारी अर्धभुक्त या उच्छिष्ट हो जाती है और उसे श्रीकृष्णको समर्पित करनेकी कोई तुक नहीं है. अत: हमारे उपभोग करनेसे पूर्व सभी वस्तुओंका समर्पण आवश्यक है.

भगवदर्थ सभी वस्तुओंको समर्पित कर देनेपर आत्मनिवेदीके दैनंदिन व्यवहार कैसे निभ पायेंगे ? और असमर्पितका भी उपभोग निषिद्ध माना गया है तो यह दोनों बाते कैसे शक्य होंगी ?

"भगवान्‌को दानरूपमें जो कुछ भेंट कर दिया जाता है उसका पुनः अपहरण या उपभोग नहीं करना चाहिये" यह विधान पुष्टिमार्गीय साधना-प्रणाली पर लागू नहीं होता. क्योंकि पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें जैसे घरके सेवक मालीककी उपभोग की हुई वस्तुओंका—अन्नवस्त्रादिका उपभोग लोकमें करते ही हैं वैसे ही सब कुछ पहले एकवार प्रभुको समर्पित करना चाहिये और पश्चात स्वयम्‌के उपभोगार्थ ग्रहण करना चाहिये. अतः सर्वसमर्पण एवम् असमर्पित त्याग के सिद्धान्तमें न तो विरोधाभास और न किसी प्रकारकी कठिनाई ही है. ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय जिन वस्तुओंका हम समर्पण करते हैं उनका साक्षात् या परम्परया किसी भी तरह एक बार भगवान्‌की सेवामें विनियोग हो जानेपर उनके सारे दोष निवृत्त हो जाते हैं. अतः इस तरहकी दोषरहित ब्रह्मभावापन्न वस्तुओंके उपभोगमें किसी भी प्रकारके सांसारिक अनर्थकी सम्भावना नहीं रह जाती है. जैसे नदी-नाले गंगामें मिल जाने पर गंगाजल ही मान लिये जाते हैं—उनके स्वतंत्र अस्तित्व या गुणदोषोंका विचार नहीं किया जाता. ठीक इसी तरह भगवान्‌की अलौकिक सेवाके अंग बन जानेपर सांसारिक वस्तुओंके भी स्वतन्त्र गुणदोषोंका विचार अनावश्यक हो जाता है.

भगवान्‌के द्वारा लिये गये सारे जागतिक रूप भगवान्‌के हैं तथा भगवान्‌के लिए हैं. हमारे स्वयम्‌के भी अस्तित्व तथा प्रयोजन भगवद्‌लीलाके अंगरूप तथा भगवत्सेवार्थ हैं. अतः भगवत्समर्पणके बाद भगवत्प्रसादके रूपमें उनका पुनर्ग्रहण दोषरहित है. जब सब कुछ भगवान्‌का भगवत्सेवार्थ बन जाता है तो भगवदात्मक हो जाता है.

यही पुष्टिमार्गके सिद्धांतका गूढतम रहस्य है. यही पुष्टिमार्गके प्रमुख-कर्तव्य भगवत्स्वरूपकी सेवाकी दीक्षा लेते समय और लेनेके बादकी भगवान्‌को अभिप्रेत भावना है. यही भावना गोकुलमें प्रकट होकर भगवान्‌ने श्री महाप्रभुको समझायी थी. उस महानिशामें पुष्टिजीवोंके उद्धारकी चिन्तामें जागृत श्रीमहाप्रभुकी चिन्ता इस रहस्यके प्रकाशनद्वारा दूर की गयी थी. पर आजतक श्रीमहाप्रभुके समीप सुषुप्त उनके अनेक पुष्टिजीव इस सिद्धान्त-रहस्यको सुनकर भी समझ नहीं पाते हैं.

"दमला ! यह मारग तेरे लिए प्रकट कियो है" कितना अपनत्व है इस वाणीमें ! "दमला ! ते कछु सुन्योऽ?" कितनी उत्कण्ठा है इस प्रश्नमें, सिद्धान्तके सारे रहस्यको अपने पुष्टिजीवोंको सुनानेकी और समझानेकी! चाहे जीव सुनकर भी समझ पाये या नहीं.

अतएव हरिजीवन कहते हैं कि जबतक प्रभु अपनत्व नहीं जताते तबतक पुष्टिमार्गके सिद्धान्त केवल पढ़ या सुन लेनेपर समझमें नहीं आते हैं. उपनिषद् गीता पञ्चरात्र तथा श्रीमद्भागवत सर्वत्र समर्पणका सिद्धान्त सभीने पढ़ा और सुना भी किन्तु....

श्रीमद्भागवतरूप अमृतके सागरका सर्वोत्तम मन्थन कर श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुने ही अपने सुषुप्त पुष्टिजीवोंको जगाकर पूछा— "दमला ! ते कछु सुन्योऽ?" श्रीमहाप्रभु केवल सुनाने या समझाने में ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते हैं. वे पुष्टिजीवके हाथमें परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको सोंपना चाहते हैं—"सेवा साज सिंगार सुभग रस खान पान प्रकटायो, वृन्दावन निकुंजकी लीला हरि जीवन स्वाद चखायो, जो लों हरि आपुनपो न जनावे तो लों सकल सिद्धान्त मारगको पढे सुने नहीं आवे."

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९८० में भगवद्धर्मपरायण भाईलाल पुरुषोत्तमदासके आर्थिक सहयोगसे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सांकलिया ने सम्पादित तथा प्रकाशित किया था. उसका यह संस्करण ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुर्नमुद्रित रूप है. इन सभी महानुभावोंका हम कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं.

शोधपत्रम्।

मुद्रणानन्तरं श्रीरघुनाथकृतटीकाया एकं प्राचीनं पुस्तकं (सं. १६९६.) प्राप्तम् । तत्संवादादिदं शोधपत्रं निवेशितमिति ।

पृ. पं.	मुद्रितपाठः ।	शोधितपाठः ।
८. १८.	देशोत्था....देशोत्थाः ।	देशो मगधम्लेच्छादि ।
८. १९.	तदुत्थाः । संयोगः	तदुत्थाः । तस्मादुत्तिष्ठन्ति, जायन्त इति यावत् । संयोगः—
८. २३.	स्वकृत इरित्वपरभूमिना	स्वकृतहरणेन
९. १०.	भुक्तभोजनम् ।	भुक्तं भोजनम् ।
९. १३.	तदसमर्पितं तन्नोपभुज्यते	तदसमर्पितं, यत् समर्पितं तन्नोपभुज्यते ।
९. १५.	सिद्धान्तमिति	सिद्धान्त इति
१०. २.	इति तत्राहुः	इति चेत्, तत्राहुः
१०. १५.	गुणदोषादिकथा	गुणदोषादिकल्पना
३८. २८.	सृष्टिरूपं दधाति	सृष्टीरुपदधाति
३९. १.	स्तुवतः	स्तुवते

INTRODUCTION.

S'rīmad Vallabhacharya, the author of this little treatise 'Essence of Doctrine' 'Siddhanta Rahasya', was born on the 11th day of the dark half of chaitra, 1535 Samvat, (1479. A. D,) in the forest of Champa near Raichur. His father was Lakshmaṇa Bhatta, and Yallammagaru was his mother. He was a Telugu Brahmin studying the Taitariya S'ākhā of the Black Yajur-Veda. Vallabha's birth is shrouded in the mysteries of the devotional beliefs of his followers, but one thing is certain that his followers believed that he was commissioned to inaugurate a great religious revival in India. From the writings of Vallabha which are available now, we can say that this belief was shared by himself also. It is not an uncommon phenomenon in India. Ramanuja, Madhva, Nimbarka, Chaitanya, and several other great teachers did believe in their special messages to the world. Vallabha's ancestors were Deekshitas, and were devoted to Krishna in the form of Gopala. The Swarūpa of Madana Mohanaji in the Seventh Pitha is the one which came to him from his Sixth ancestor Yajna Narayana Bhatta. It is possible that Vallabha's father Lakshamana Bhatta and his ancestors were the Upāsakas of Gopala according to the cult of Vishnuswami. The early years of Vallabha were passed by him with his father at Benares, where he is said to have mastered all the Vedas, six Dars'anas, and all schools of Āstika and Nāstika thinkers. He studied the S'aiva and Vaishnava Āgamas. When Vallabha was comparatively young, his father died. Vallabha wanted to study the Vaishnava systems of Madhva, Ramanuja, Nimbarka and others, and seeing that they were not prevalent there, in order to have direct knowledge, he is said to have proceeded to the south. Vallabha's desire to go to the south of India is very natural. During that time there was the powerful Hindu kingdom of Vijaya Nagar or Vidyanagar, over which ruled the mighty monarch Krishnadeva-Raya, himself a great Vaishṇava. During his time, it seems a convention was held of the representatives of all the existing Sampradayas. The session seems to have been going on when Vallabha visited Vijayanagar. The main dispute seems to have been between Vyāsa Tīrtha, the Mādhva, and some representative of Mayavadins. It seems also clear that the Dwaita philosophy of the Mādhvas could not hold its own against the attack of S'ānkaras. At this juncture Vallabha seems to have baffled all by his great learning and powerful arguments. We see no reason to doubt this fact. Vallabha's position was peculiar. He accepted Adwaita pure and simple without the interference of the Māyāvāda of S'ankara; hence all the attacks advanced by Madhvas and others against Advaita lost their force as against him. His acceptance of 'अद्वैतपूर्वकभक्ति' disarmed the opposition of both Vaishnavas and S'ānkaras. The position taken up by Vallabha was not altogether singular. We believe that Narayana Bhatta, the author of the famous drama, Veṇisanhara was the follower of a system of Philosophy which combined in itself the Pure Adwaita of the Upanishads and the Bhakti Mārga. Whatever that may be, it is certain that Vallabha made a very great impression on king Krishnadeva, Vyasa-Tirtha and others who were present there. In consequence of this session, the king performed a 'Kanakābhisheka' with hundred Maunds of Gold. It is said that Vallabha did not accept this gold and began to commence his travels. This abstinence on the

part of Vallabha added to the admiration of all those present for him. Vyāsa Tīrtha, the Mādhva, actually requested him to be the head-priest of his matha after him. Vyasa-Tirtha with king Krishna-deva again approached Vallabha and presented him with a good many valuables. From these presents Vallabha is said to havr prepared a gold mekhla set with diamonds, rubies etc., and presented the same to S'rī Vitthala in the Vitthalaswami Temple at Vijayanagara. Ultimately, it appears, Vallabha could not conscientiously accept the offer of Vyasa-Tirtha, but from this time Vallabha came to be regarded as a Great Acharya.

After this, he seems to have met with great opposition from the Mayavadi Pandits of Benares. In order to silence them for ever, Vallabha wrote out a pamphlet in mixed verse and prose and affixed the same to the doors of the Kās'hi Vis'vanātha, with a challenge to Benares Pandits to refute the same, if they could. It seems this discussion ended into threats of personal violence, as a consequence of which Vallabha left Benares and moved over to Adel on the opposite bank of the Ganges.

The last portion of his life was passed at Adel, where he finished his works which were begun by him during his travels and served Lord Krishna with the love and devotion of Gopees, and founded his system on it. At the age of 52 he left his Parnas'āla, joined the Sannyasa Ās'rama and came to Benares. For a month he observed fast, and for the last eight days he observed मौनव्रत, and on the 2nd day of the bright half of Āshadha mid-day he left this world, Samvat 1587.

Vallabha had married one Maha Lakshmi. By her he had two sons, Gopinatha and Vitthales'wara. Gopinatha had one son named Purushottama, after whom his line became extinct. Vitthales'wara lived over seventy years. He had seven sons. During his time the Sampradaya flourished very considerably. Todarmal, Birbal, and Ray Purushottam seem to have come under his influence. Akbar also presented him with Gokula and Jatipura villages in Vraja. All the present Maharajas are direct agnate descendants of Vitthales'wara.

While he was staying in the north of India, Vallabhāchārya came into contact with Kos'ava Kashmirin, the famous Nimbarka scholar, and Chaitanya, the Bengal Saint. They were all Krishnopasakas, and it seems from Sampradayika gathas that their relations were very cordial. Kes'ava presented his pupil Madhava Bhatta Kashmirin to Vallabha in Dakshina of Bhagavat-katha S'ravana. He became his devout disciple, and during his whole life acted as the scribe of S'rī Vallabha. It seems that during Madhava Bhatta's stay with him at Adel, Vallabha composed his numerous works. During that interval Vallabha wrote Purva Mimānsā Bhashya, Brahma-Sūtra Bhashya, Tattvadipa-Nibandha with his own commentary, Sukshma tīkā and Subodhini on Srimad Bhagavata, and the sixteen Prakarana Granthas giving in brief the essence of his views. It is really unfortunate that only a fragment of his Purva Mimānsa Bhashya is available now. Aṇu Bhashya as we have it now is not wholly written out by him. The last Adhyaya and a half of the Bhashya is finished by his son Vitthales'wara. Sukshma tīkā is almost lost. Even Pushti-Pravaha-Maryada Bheda, one of the minor Prakaranas, is not available as a whole. The Bhagavata Subodhini is available only on the 1st, 2nd, 3rd, 10th and a portion of 11th Skandhas. It is possible that Vallabha wrote on all the Skandhas. The loss of these valuable works seems to have been due partly to the apathy of his descendants and followers. It is a pity that no one seems to take care to preserve even those of the writings of Vallabhāchārya and his descendants which are available

at present. Stray efforts like ours are hardly commensurate with the task which is of immense magnitude, requiring the collaboration of Scholars, Maharajas, and rich Vaishnavas coupled with earnestness of purpose. (We may give an instance here of this unpardonable apathy and gross negligence. We have got in our possession a manuscript of भाष्यप्रकाश in the handwriting of that powerful author श्रीपुरुषोत्तमजी, and a MSS. of रश्मि, a wonderful and elaborate commentary on it, written by योगि-श्रीगोपेश्वरजी in his own hand. Both of these works are extremely rare, there being only one copy of रश्मि in the whole world. For the last seven years, we have been dinning into the ears of Maharajas and rich Vaishnavas to arrange for funds, about Rs. 32,000, for the publication of this magnum opus-great work, but as yet, there is no response. The work can be divided into 4 अध्यायs, and again each अध्याय can be divided into 4 parts. Are there not 16 persons in our सम्प्रदाय, from among महाराजs and वैष्णवs, who can afford to give Rs. 2000 each, for this monumental work, the foundation of our सम्प्रदाय? We hope our appeal will be immediately heard, and we shall be able to send to the press one or two parts at once).

During his visit to Vraja, Vallabha set up the Shrine of S'ri Nathaji on the holy hill Govardhan in a temple built for that purpose by one Purṇa Malla Kshatriya. During his stay in Vraja, on the midnight of 11th day of the bright half of S'rāvana, he says he had holy communion with Lord Krishna, who commanded him to initiate Jivas in his service. This initiation consists of two parts: one is the formula to be repeated by the aspirant before the deity by holding Tulsi-leaves in hand and afterwards placing the same at the feet of the deity through Acharya, and the other part is the effect of the same, on the devotee, by which he becomes the Adhikari in the Sevā Marga of Lord S'ri Krishna. The Subject of the present treatise is the same. In the notorious Maharaja Libel case, this work with its commentary by Gokulanathji was cited by the defendant to show that the religious tenets preached by Vallabhacharya and his grandson sanctioned immoral practices. This is the most perverted use made of the noblest of works. At this distance of time it is difficult for us to see how such a monstrous suggestion could have been made. Vallabhacharya's whole life was based on Vairagya. In all his works, he insists on वैराग्य as the first भगवद्धर्म. His learned descendant Purushottamaji says 'आचार्याणां तात्पर्यं त्याग एव'. It was unfortunate that all the materials available were not placed before the court. The court was prejudiced by the highly coloured testimony of the defendant's witnesses. General ignorance of the tenets of Vallabhacharya, and a desire not to give publicity to the works of the Sampradaya helped to create an atmosphere prejudicial to the reputation of the Sampradaya. To add to this, the life led by a few of the priestly class, suggested an inference against them. Of course, we have no doubt that Yadunathji Maharaja, who instituted the libel case has not got justice in court. By a perusal of the evidence led in the case against the Maharaja, we are driven to the conclusion that the verdict of the court as regards Vallabhacharya's teachings is entirely wrong. We are of opinion that the publication of this whole work with all the commentaries is the best answer to all the misconceptions about, and false allegations against the सम्प्रदाय.

Let us first see what is taught by Vallabhacharya and his grandson Gokulanatha and others. In the Sampradaya, there are two rites generally performed, viz. शरणमन्त्रोपदेश and आत्मनिवेदन. The first gives recognition as a Vaishṇava and the second makes one Adhikāri in the Sevā Mārga. The first initiation is given by a descendant of Vallabhacharya by repetition of the mantra श्रीकृष्णः शरणं मम in the ears

of the child and then putting the Tulsikanthi on his neck. The performance of the second initiation is also generally through a descendant of Vallabhacharya. In both the initiations, age is not to be considered. It is an accepted belief in the Sampradaya that Vallabhacharya alone is the आचार्य, and all his descendants, howsoever illustrious, have never claimed anything further than being recognized as गुरुद्वार. Thus the initiation is believed to be done by Vallabhacharya himself through the instrumentality of his agnate descendants. The dedication is to Lord Krishna, and not to Acharya as will be presently shown. It is monstrous to substitute the word Acharya in place of Krishna and then to charge Vallabhacharya that he preached immorality. It would be a cruel injustice to one of the greatest saints and philosophers of India. The vow repeated at the time of the आत्मनिवेदन ceremony is this:—सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि, दासोऽहम्, कृष्ण तवास्मि। Above we have related the current practice and belief in the Sampradaya, but we must admit that in the known writings of Vallabhacharya it is nowhere mentioned that this initiation should take place only through him or his descendants. Vallabhacharya does not seem to insist that any particular person should initiate you. Of course it goes without saying that the person who initiates and the person initiated must be spiritually exalted. In his Nibandha, while discussing the question as to who can be a Guru, he observes as follows:—'कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्। श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्। तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्। परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्।'. His commentator here observes as follows:—'कलेर्बलिष्ठत्वेनाग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावमालोच्य स्वस्मिन्नेवैतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः।' Putting together these two statements, we can easily understand how the idea of S'rimadacharya's presence was always considered necessary at the time of initiation. Vallabha's descendants even to this day initiate their pupils not in their own name and responsibility, but in the name and responsibility of S'rī Vallabha.

This initiation is referred to as ब्रह्मसंबन्ध by Vallabhacharya in the present work. The necessary qualification of the initiated is भगवत्कृपा, which can be inferred from one's inclination towards the Bhagvan-Marga. Thus the कृपायुक्त soul has to dedicate his everything to Lord Krishna through Srimadacharya, and proclaim himself as the दास of Krishna. This is what is known as ब्रह्मसंबन्ध, and it is in this sense interpreted by all the commentators here. Gokulanathaji says:—ब्रह्मसंबन्धकरणं नाम एतन्मार्गीयाचार्यद्वारा भगवन्निवेदनम्।

---

१. We have published the Gadya after a considerable hesitation. We know that some Vaishnavas will feel annoyed by this act of ours. But we have, after long deliberation, come to the conclusion that the mission of S'rī Vallabhacharya would be fulfilled better by the publication of the same by ourselves in correct form, rather than allow the calumniators of the Sampradaya to publish the same in a distorted form and thereby heap mischievous allegations on his fair name. However, for those who cannot see eye to eye with us on this question, we can do no more than give a reply in the words of Sri Purushottamji, the greatest scholar of the Sampradaya:—यद्यपि मदुक्तौ मार्गरहस्यप्रकाशनापराध आयाति, तथापि प्रकाशनस्यान्यैरेव कृतत्वेन तद्ध्वंसंदेहवारणस्यैव मत्कृतितया स्वोत्कर्षप्रकाशनार्थत्वाभावाद् भगवान् श्रीमदाचार्यचरणाश्च मदपराधं क्षमन्त्विति विज्ञापयामीति दिक्। नि. र. टीका. पृ. ३७. The followers of Gokulanathji repeat श्रीगोपीजनवल्लभाय after the word कृष्णाय. Some repeat देहप्राणेन्द्रिय etc. instead of देहेन्द्रिय etc. Some repeat वित्तं इह पराणि instead of वित्तेहापराणि. Substantially this is the correct reading.

According to Raghunathji ब्रह्मसंबन्ध means this:—बृहत्वात् ब्रह्म पुरुषोत्तमः तत्संबन्धस्तस्मिन् देहात्मनोर्निवेदनलक्षणः ।

Kalyanarayaji says:—ब्रह्मसंबन्धो नाम स्वमार्गाचार्यद्वारा भगवति निवेदनम् ।

Vrajotsavaji says:—ब्रह्मसंबन्धकरणं नाम साक्षात्पुरुषोत्तमसंबन्धकरणम् । तच्च श्रीमदाचार्यद्वारा शरणगमनपूर्वकम् ।

Gokulotsavaji observes:—ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य संबन्धिकरणात् सर्वसमर्पणेन तदीयत्वसंपादनात् ।

Harirayaji says:—आदौ संबन्धकरणं कन्ययेव स्वयंवरे । स्वस्य सर्वपदार्थानां मनसा तेन योजनम् । संबन्धवत्या दूत्येव गुरुणा तत्कृतिर्भवेत् । संबन्धश्चापि निर्दोषस्तथा सर्वसमः स्मृतः । वह्नेरिवेति बोधाय प्रोक्तं ब्रह्मपदं पुनः । 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'त्यत्रोक्तं तत् तथाविधम् । स्यात् प्रयुक्ते कृष्णपदे विषयत्वं गुणाहितिः । संबन्धे तादृशापेक्षा नास्ति दोषनिवारणात् । दोषमात्रनिवृत्त्यर्थं ब्रह्मसंबन्ध उच्यते ।

Vitthalarayaji says:—ब्रह्मणा मया संबन्धः कार्यः ।

Giridharaji defines it thus:—अस्मिन् मार्गे यशोदोत्सङ्गलालितश्रीकृष्णस्यैवोपास्यत्वात् तस्य चाशलोके अवतारमात्रभ्रमत्वादत्र तद्व्यावृत्त्यर्थं ब्रह्मपदोपादानम् । × × तेन ब्रह्मणा सह देहजीवयोर्यः संबन्धः स्वमार्गीयनिवेदनेन तदीयत्वसंपादनलक्षणः ।

Lalubhatta explains it thus:—ब्रह्मणा सह संबन्धः स्वस्वामिभावलक्षणो देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण-दारागारपुत्रादीनामात्मनश्च तदीयत्वमिति यावत् । तस्य करणात् गद्यसहितपञ्चाक्षरनिवेदनमन्त्रस्योपदेशेन स्फुटीकरणादित्यर्थः ।

According to the last Tikakara it means this:—निर्दोषं हि समं ब्रह्माहम्, तस्मिन् संबन्धस्य करणात्, साधकतमात् सगद्यपञ्चाक्षरकथनात् । अंशत्वेपि 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' इति भक्तिमार्गीयात्मसमर्पणापरपर्यायनिवेदनद्वारा सेवकत्वकरणादित्यर्थः ।

Purushottamaji has written on almost all works of Vallabhacharya, and he explains the word ब्रह्मसंबन्ध thus:—'ब्रह्मसंबन्धो नाम सर्वस्मिन् भगवत्स्वामिकत्वरूपः संबन्धः, तस्य करणं नाम भगवता आचार्यान् प्रति गद्येनोक्तो य आत्मसमर्पणप्रकारः, तद्रीत्या भगवति स्वात्मसहितस्वीयसर्वपदार्थानां भगवति तथात्वविज्ञापनम् । 'स वै नैव रेमे' इति श्रुतेः 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्युः' रित्यादिवाक्याच्च वस्तुतः सर्वस्य भगवदीयत्वेपि 'स वै नैवे' त्यादिश्रुत्या रमणार्थं द्वितीयनिर्माणादिश्रावणात् तेनापादिता या तत्तत्पदार्थे जीवस्य स्वत्वस्वीयत्वाभिमतिः तत्परित्यागे तेषु भगवदीयत्वस्य विज्ञापनमिति यावत् ।'

From the above quotations the reader will be in a position to see that the so-called ब्रह्मसंबन्ध has reference to Krishṇa, and not to Acharya or any of his descendants. From Vallabhacharya down to the most recent commentator, all the writers have understood that the समर्पण is to Purushottama or Krishṇa and not to any mortal being. In spite of these facts, it would be monstrous to substitute the word Acharya in place of Purushottama and then to draw the inference that Vallabhacharya and his Sampradaya looked upon immoral practices as sanctioned by his teachings. Of course we are not in a position to deny that a certain section of the followers and some individuals of the priestly class had degenerated. Such degeneration comes, at one time or another, in all religions. But to say that the followers or priests were degenerated is one thing, and to conclude from their mischievous activities that Vallabhacharya or any of his learned followers preached or tolerated or sanctioned immoral practices is another thing. Vallabhacharya and his learned descendants have condemned immorality to this day in no uncertain terms. In order to give an idea of this, we shall quote from their writings. Vallabhacharya in his निबन्ध lays down the rules for the guidance of a Bhakta thus:—'वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत् । एतद्देहावसाने तु कृतार्थः स्यान्न संशयः । इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत् सदा । सर्वापेक्षां परित्यज्य दृढं कृत्वा मनः स्थिरम् । दृढविश्वासतो युक्त्या यथा सिध्येत् तथा चरेत् । वृथालापक्रियाध्यानं सर्वथैव परित्यजेत् । यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः । येन स्यान्निर्वृतिश्चित्ते तत् कृष्णे साधयेत् ध्रुवम् । स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम् । इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत्त्रयम् । Commenting on this passage, Purushottamaji discusses this question at great length

To give a correct idea of what he has said there, we shall quote that portion of his commentary and leave the reader to judge as to how far it is true to say that the Sampradaya sanctioned immoral practices.

नन्वपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्, साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि स इति भगवद्वाक्ये दुराचारस्यापि साधुत्वकथनाद्यथाकारी यथाचारी तथा भवतीति श्रुतौ कर्माचारयोर्भेदकथनेनाचारपदस्य स्वाभाविकेन्द्रियप्रवृत्तौ पर्यवसानात् तस्य दुष्टत्वेऽप्यनन्यभक्तस्यादुष्टत्वात् तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्येति वाक्ये वैराग्यस्याश्रेयस्त्वकथनेन वैराग्यस्यैव प्रत्युत दुष्टत्वाच्चात्रेन्द्रियविनिग्रहः किमित्युपदिश्यत इत्यत आहुः । इन्द्रियाणीत्यादि । अयमर्थः । पूर्वं स्वशक्त्यनुसारेण महाराजोपचारैर्भगवत्पूजाव्यवस्थापनात् ततो भगवत्प्रसादस्य नानाविधस्य भक्तेभ्यो दानं विधाय स्वस्य भोगो यः प्राप्तः सोऽपि नेन्द्रियप्रियत्वेन कर्त्तव्यः, किन्तु भगवत्प्रसादत्वेन । तत्रापि सामग्रीपरीक्षार्थं यथाग्रे भोगसामग्री न दुष्येत् तथा भगवान् रसात्मकः स्त्रीणां च विशेषतः उद्धारकः । किं बहुना लौकिका अपि गायकास्तदीयामेव कामलीलां विशेषतो गायन्तीति तादृशां गतादिसङ्गवशेन स्वस्य कामौत्कट्ये तदिन्द्रियं निग्राह्यम् । योऽप्यनिषिद्धो भोगः सोऽपि सेवाबाधकीभूतकामनिवर्त्तकत्वेनैव करणीयो, नेन्द्रियप्रियत्वेनेति । अत्र मूले, विनिग्राह इति विशब्देन विवेकधैर्याश्रये, अशूरेणापि कर्त्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनादिति यदुक्तं तत् सार्यते । अर्थस्तु यदि स्वयमिन्द्रियकार्याणां त्यागे असमर्थः, स्वभावविजयः शौर्यमित्येकादशे शौर्यलक्षणात् तादृशतदभावेनाशूरस्तदा तेन स्वस्यासामर्थ्यभावनं विधायेन्द्रियकार्यत्यजनं कर्त्तव्यमिति । तत्प्रकारस्तु—ये समृद्धा महाभोगवन्तः सुरतादिशौण्डास्तद्वन्नाहं, कियन्मत्सामर्थ्यं, को वा मे भोगः, किम् उपकरणं नायिका वा, येन तत्रासज्य स्वपुरुषार्थं नाशयामीत्येकः । सोऽप्येकादशे भगवतोक्तः । रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जत इति । यश्चैवं कर्त्तुमप्यशक्तः स तु, जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्नित्येकादशोक्तरीत्या स्वस्य तत्त्यागासामर्थ्यं भावयेदित्यपरः । न च पूर्वोक्तगीतावाक्यविरोधः शङ्क्यः । तत्र दुराचारपदस्य पूर्वावस्थाबोधकत्वेन भजनोत्तरं तथात्वस्यालाभात् । 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छती'त्युत्तरवाक्येन तथानिश्चयात् । 'धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्त' इति लक्षणकस्यैव तस्य तत्र विवक्षितत्वात् । नापि 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्येति वाक्यविरोधः । ततः पूर्वस्मिन् संदर्भे, जातश्रद्धो मत्कथास्वित्यादिना असमर्थाधिकारमेव प्रस्तुत्य तादृशस्य भजनमेव कर्त्तव्यत्वेन विधाय ज्ञानवैराग्ययोरभावे कथं फलसिद्धिरिति शङ्कानिवृत्त्यर्थं प्रोक्तेन भक्तियोगेनेति द्वाभ्यां तयोः कार्यं भक्त्यैव भविष्यतीति बोधनेन उक्तवाक्येऽपि योगिमदात्मपदाभ्यां निरुद्धचित्तवृत्तिकत्वभगवदेकतानत्वयोर्बोधनेन च सेवापरिकरात्मकविषयवैराग्यस्यैवाश्रेयस्त्वेन दुष्टत्वसिद्ध्या तदतिरिक्तवैराग्यस्य दुष्टत्वासिद्धेः । न च फलप्रकरणे भगवता मिथोभजनं विनिन्द्य, भजन्त्यभजतो ये वा इत्यादिश्लोकद्वये संभावितापवादस्याभजद्भजनस्य निरपवादधर्मत्वेन कथनाद् द्वितीये भजदभजनकर्तॄणां केषाञ्चिदकृतज्ञत्वगुरुद्रुहत्वकथनाच्च यथा छान्दोग्ये वामदेव्यसामोपासकस्य, न काञ्चन परिहरेदितिश्रुत्या सर्वाभिगामित्वमनुज्ञातं तथात्र भक्तविशेषस्य तदनुज्ञैव प्रतीयत इति नात्र दोषसंभव इति वाच्यम् । तत्रापि पूर्वत्र, करुणा पितरौ यथेत्यनेन करुणारूपस्य वैदिकस्य, स्नेहरूपस्य लौकिकस्य बोधनेन धर्मार्थे तस्मिन् प्रत्युपकारसंभावनाराहित्य एव धर्मोत्पत्त्या तथात्वात् । ब्राह्मणस्य कामपरवशस्य प्राणत्राणार्थं गमनं धर्मो निरनुबन्ध इति कामसूत्रे वैशिके वात्स्यायनेनापि कथनाच्च । भारत आनुशासनिके सुदर्शनोपाख्यानेऽपि, 'प्राणाश्च मम दाराश्च यच्चान्यद्विद्यते वसु' 'अतिथिभ्यो मया देयमिति मे व्रतमाहित'मिति कथनात् । तादृशाभिसन्धिनिर्वाह एव सुदर्शनौघवत्योर्दम्पत्योः सदेहयोः स्वर्गकथनात् । 'कूटमुद्गरहस्तस्तु मृत्युस्तं हेतुमत्ययात्' 'हीनप्रतिज्ञ इत्येवं वधिष्यामीति चिन्तय'न्निति व्रतभङ्गे मृत्युदण्डस्योक्तत्वाच्च । तथाऽतिथिपूजानिर्वाह एव तस्य धर्मत्वावगमात् । सांप्रत मृत्युभासाभिसंध्यनिर्वाहयोर्दर्शनेन तस्य दोषत्वस्य वज्रलेपायितत्वात् । सुबोधिन्यामपि धर्मार्थे तस्मिन् भजदर्थं प्रतियोगिना प्रायश्चित्तं विधेयमित्युक्तत्वात् । टिप्पण्यामपि प्रतियोगिकृतप्रायश्चित्तस्य भजति फलसाधकताया उपपादनाच्च । स्नेहनिमित्तके तस्मिन् पितृदृष्टान्तेन निरुपधित्वपूर्वजन्मीनसंबन्धयोः सूचनात् प्रत्युपकारसंभवनाराहित्ये क्रियमाणप्रत्युपकारानङ्गीकारे च सौहृदानुषङ्गेन धर्मस्य गौणतया भवनाङ्गीकाराच्च । तत्रापि निर्वाह एव कथञ्चनादुष्टत्वमिति तस्य दुरवगमत्वेन श्रोत्रियस्य ब्रह्मचारिणो व्रतिनो लिङ्गिनो वामां दृष्ट्वा जातरागस्य मुमूर्षोर्मित्रवाक्यादानृशंस्याच्च गमनं धर्मोऽधर्मो वेति संशय इति वैशिकवात्स्यायनसूत्रोक्तस्थलवत् सन्दिग्धतया दुष्टत्वात् । अत्र समाप्तौ, 'तेषां स्वच्छन्दचरितं बुद्धिमान्न तदा चरेत्' नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः' विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषमिति वाक्याभ्यां निषेधनाशयोर्बोधनेन सुबोधिन्याम् अनीश्वरकृतस्यास्यानिष्टजनकत्वमिति व्याख्यानेन यथैश्वर्यकामनायामनीश्वरो वधमर्हति, यथा महाराज्यानधिकारी तदिच्छां कुर्वन्निति मनसापि करणे दण्डव्याख्यानेन ऐश्वर्यज्ञानवैराग्यैर्यत् करोति तत्स्वच्छन्दचरितमित्युच्यते । बुद्धिमांस्तन्नाचरेदिति च व्याख्यानेन तथात्वावगमाच्च । न च निषेधादिकं रासकरणविषयकमिति वाच्यम् । राजप्रश्नोत्तरत्वात् । प्रश्ने परदाराभिमर्शनस्यैवोक्तत्वात् । न च, यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता इत्यत्र भक्तयोगिज्ञानिनां स्वैराचरणस्याबन्धकत्वेनानुवादाद्भक्तानां न तद्दोषावहमिति शङ्क्यम् । तत्र पूर्णकाष्ठां प्राप्तानामनुवादेनारम्भदशापन्नेषु तस्योदाहर्तुमशक्यत्वात् । निषेवतृप्ता इति कथनात् । न चैवं सत्यतृप्तकार्यं स्वैराचरणमपि तेषामशक्यवचनमिति वाच्यम् । मार्कण्डेयपुराणोक्तसङ्गनिवृत्तिप्रयोजनकदत्तात्रेयसुरापानादिवत् सुवचत्वात् । अत एव, कुर्वन्तीत्यत्र नित्यप्रियपदव्याख्याने कालापरच्छेदस्यैव प्रियस्य सेवा कर्त्तव्येत्युक्तम् । अन्यथा जारसेवापि धर्मः

स्यादिति च । विमोहितोऽयं जन इत्यत्र मुचुकुन्दस्तुतौ च पुन्नाम्नो नरकात्त्रायत इति वाक्यात् पुरुषशब्देन नरक उच्यते । योषिच्छब्देन च सुतरां नरकम् । शालावृकाणां हृदयान्येता इति, स सोमो नातिष्ठतेत्यादि श्रुतिभिः स्त्रीण-निन्दाश्रवणादित्युक्तम् । सुखानुभवस्तु भ्रान्तानुभवतुल्यः । युक्तिबाधितत्वात् । अग्रे बाधस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । अन्योऽन्यां सापेक्षतया तत्र प्रवृत्तेरन्यतरस्य तदपूर्त्तौ सुखाभावस्यापि दर्शनाच्च । न च प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे इति श्रुत्वा वैषयिकानन्दस्य मोक्षदृष्टान्तत्वेनोक्तेर्नेदं साधीय इति वाच्यम् । इति मानुषीः समाज्ञा इति मानुषप्रकरणानन्तरं अथ दैवीरित्युपक्रमस्य भेदनात् तत्र मानुषसुखस्यानभिप्रेतत्वेन तस्य दृष्टान्ततया अशक्यवचनत्वात् । परप्रसिद्ध्या परो बोधनीय इति लौकिकानामर्थे दृष्टान्तत्वेन कीर्त्तनेऽपि वस्तुतस्तदभावात् । तस्या उपासनार्थत्वेनाप्युपपत्तेश्च । ननु तत्प्रतिष्ठेत्युपासीतेत्यादिनोपासनाया अग्रे वाच्यत्वान्नेदं युक्तमिति चेत् । ॐम् । तथा सत्याविर्भूते रसे दैवेषु तदस्तु, रसाविर्भावस्तु न सर्वात्मभावव्यतिरेकेण । तत्र च भगवानानन्दमयोऽनपेक्ष इति जीवानां ततः सुखलाभः । लोके तु परस्परापेक्षत्वान्न तथा युक्तम् । नन्वयं रसमार्गो भगवान् रसात्मनाऽत्र फलति । ततः स्त्रीभावो न दुष्ट इति स्वस्मिन् स्त्रीत्वानुसन्धानेन भगवन्तं भजतां परस्परं सापत्न्यभावं च बोधयतां परस्परं तथा कृतौ को दोष इति चेत् । भगवद्रस-सम्बन्धाभाव एवेति वदामः । तथाहि । वेणुगीतारम्भे आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृतम्' 'उद्बोधकं च हरिणा कृतम् नान्येन केनचि'दिति कारिकयाऽन्यकृतोद्बोधकस्य भगवद्भावानुत्पादकत्वं प्रतिपादितम् । यत्र लीलास्वेष्वपि तथा तत्र दूरापास्ता इदानीन्तनाः । किञ्च । भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स न भक्तियोग-मिति वाक्याददेयैव परमभक्तिः । सा, 'श्रद्धामृतकथायां मे' इतिसन्दर्भोक्तभगवद्धर्मसमाचरणप्रसन्नाद्भगवत एवेति भक्तिहंसादौ निर्णीतम् । तेषु धर्मेषु एतस्यानुक्तत्वादनेन तदभाव एवेति । किञ्च दोषाभावप्रयोजकं स्त्रीभावानुसन्धानं तेषामुत्कटमनुत्कटं वा । नाद्यः । पेशस्कृद्भ्रमरकीटस्येवास्यापि तादृग्देहापत्तिप्रसङ्गात् । नरसिंहमहत्तराणां तथावचन-दर्शनात् । ननु तदुत्कटमप्यग्रिमजन्मनि तथात्वोत्पादकम्, यथाग्निकुमाराणाम् । 'अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे' 'भर्त्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभु'मिति टिप्पण्यां पुराणवाक्यात् । अतो नरसिंहमहतामपि भाविदेहज्ञानादेव तथा वचनमतो न दोष इतिचेत्, तर्हि तदौत्कट्ये तदर्थं तप एव विधेयमग्निकुमारवत् । न त्विन्द्रियतर्पणम् । दृष्टान्ता-भावात् । नरसिंहमहतामपि तथैव बोध्यत्वात् । अत एव न द्वितीयः । कैमुतिकन्यायात् । भावान्तरोपमृद्यमानत्वेना-तिकदर्यत्वाच्च । अत एव सेवाफले तद्विवरणे च, उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्' सविघ्नोऽल्पो घातकः स्यादिति । सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्य इति चोक्तम् । तच्च स्त्रीणां पुंसां स्त्रीपुंसयोश्च समानम् । अतो भगवल्लीला-दृष्टान्तेन लौकिके प्रवर्त्तकान् प्रवर्त्तमानांश्च विमुखान्निश्चित्य तत्सङ्गं परिहृत्य सर्वेन्द्रियनिग्रहः कार्यः ।

The last lines of Purushottamaji 'अतो भगवल्लीलादृष्टान्तेन लौकिके प्रवर्तकान् प्रवर्तमानांश्च विमुखान् निश्चित्य तत्सङ्गं परिहृत्य सर्वेन्द्रियनिग्रहः कार्यः' represent the correct attitude of the Sampradaya as regards morality. No descendant of Vallabhacharya has claimed himself to be आचार्य. The Sampradaya recognized Vallabhacharya alone as आचार्य. Hence we don't find any of Vallabha's descendants assuming the said title as we find in case of the successors to the Mathas of S'ankaracharya. When this is the position of the descendants of Vallabhacharya, how was it possible for them to pose as Krishna-Purushottama-incarnate? Vallabha himself says that he is कृष्णदास, 'इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः'. When that is the position of Vallabha-charya, how could it be otherwise with any of his representatives? Vallabha was succeeded by his two illustrious sons Gopinatha and Vitthales'wara. To them he was father both in spiritual and physical sense. The expressions uttered by them as regards their father are full of fervent devotion. Gopinatha says 'ता नः पितृपदपद्मरेणवः कामधेनवः । नाकस्य तरवोऽन्येषां स्युः कल्पतरवो यथा' and Vitthaleswara says 'वस्तुतः कृष्ण एव' 'भावी न भूतोऽस्त्यपि'. It is rare to find such fervent devotion in ordinary relation of son and father. ,Sons of Vitthaleswara regarded him similarly. This fact and the fact of their being men of spotless character, sound learning, and single-minded devotion to Krishna generated a sort of intense devotion to his descendants among the members of the Sampradaya. The long life generally enjoyed by them leads one to the same conclusion. Vallabha's son Vitthaleswara lived for over seventy years. His grandson Gokulanatha the commentator of सिद्धान्तरहस्य lived over 90 years, his great grandson Harirayaji lived over 120 years. Numerous instances to this day could be multiplied. Almost all the illustrious scholars in the Sampradaya are descendants of Vallabhacharya. The position being this, we are not surprised to

find that Vallabha's descendants came to be looked upon as objects of deep veneration like Krishna. So far we see nothing wrong. The vedic injunction यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' lays down the correct principle, that one who has भक्ति towards the teacher as he has towards God, to such a great soul these meanings (teachings) become visible. To entertain the same भक्ति towards आचार्य as they do to God is necessary for the right understanding of his teachings. From this it would be absurd to infer that the dedication as contemplated to God is to be done to Acharya. On this point there is absolutely no room for doubt. Thus we come to the conclusion that the dedication contemplated in the Sampradaya has reference to Purushottama-Krishna-alone, and this can be done through Vallabhacharya alone, who is considered present (in spirit) at the initiation. His descendants are all गुरुद्वार. Thus ब्रह्मसंबन्ध referred to in the present work is to take a vow, in the presence of Acharya or his descendant, that whatever is comprised in अहं and मम of one is dedicated to God Krishna, and that he is his दास.

Having thus seen clearly that the ब्रह्मसंबन्ध spoken of here in the present work has reference to Purushottama-Krishna the Highest Divinity, and not to Acharya or his descendants representing him, let us now understand what is the purport of the गद्यार्थ—the vow by which the ब्रह्मसंबन्ध is supposed to take place with God in the presence of the Acharya or his representative. According to this ग्रन्थ, this was the vow which was communicated to S'rī Vallabhacharya by Krishna Himself on the mid-night of the bright-half of the month of S'rāvana, and Damodardasa was the first Sevaka initiated. As regards the verses describing the effect of this initiation in the present work, there is some difference of opinion among the commentators as to whether these verses are those ones spoken by Krishna to Acharya, or whether they are composed by Acharya incorporating the sense of every letter uttered by Him. Whichever view we take it does not much matter. We are concerned with the sense expressed in these verses and not to the authorship of the same, because in either case the authoritativeness of them is the same.

Vallabhacharya's activities were many-fold. His ancestors and he himself were Deekshitas. They daily performed Agnihotra. In his Subodhini he calls himself श्रीवल्लभदीक्षित. Kumārila's Purva Mīmansa-view was not accepted by him. In order to bring out the true significance as he understood it to be, he wrote out a भाष्य on the Sutras of Jaimini. Hence we find his name कर्ममार्गप्रवर्तक. Similarly, to preach the true significance of ब्रह्मवाद he wrote out a भाष्य on the Sūtras of Badarayana. To explain भक्तिशास्त्र correctly, he wrote his Subodhini on S'rimad Bhagavata. But after doing all this, he saw that times were not suitable. People had not the requisite capacity to study all this.

He seems to have thought over this question for a long time. 'भगवच्छास्त्रमाज्ञाय विचार्य च पुनः पुनः । यदुक्तं हरिणा पश्चात् संदेहविनिवृत्तये । एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव । मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा'. Thus it appears that after establishing the कर्ममार्ग and ब्रह्मवाद, he wanted to find out a path by which all can approach God. The Supreme Divinity was described in the Upanishads as आनन्दमय, वैश्वानर, दहर, सर्वकाम, सर्वगन्ध, अस्थूलमनणु, नेति, नेति. Out of these various aspects, which aspect should be selected as to be agreeable to all? The आनन्दमय—पुरुषोत्तम—is the best aspect. There are two views of सृष्टि, viz. illusory and real. There is no clear reference to the illusory character of the सृष्टि, in Upanishads, but on the contrary सृष्टि is described as रमण or लीला in passages

like 'स वै नैव रेमे'. Badarayana distinctly describes सृष्टि as लीला and not as माया, while भागवत describes सृष्टि as क्रीडाभाण्ड. सृष्टि is two-fold, one referring to human souls, and the other referring to jagat. The first takes place according to the Vedic passage 'यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः'; and the other in accordance with 'यतो वा इमानि भूतानि.' Thus human soul becomes the अंश of the Highest Divinity, while the Universe is the कार्य of ब्रह्मन्. Brahman is सत्-चित्-आनन्द, hence His अंश is also सत-चित-आनन्द, but for the exigences of रमण, his आनन्दांश becomes non-maniflest, तिरोभूत; the result is that he forgets that everything of his including himself is Lord's, and superimposes his अहन्ता and ममता on objects which are really not his. In result he suffers sorrows and miseries. To remove this ignorance, the vow mentioned in गद्य enjoins on the initiated to give up his अहंता and ममता in all objects, and dedicate them to the Lord. By dedicating everything including himself to Lord, what becomes of him? He becomes Lord's. He becomes Lord's servant. His अहंता and ममता cease to be जैव, they become भगवदीय. The moment he realises that he is Lord's slave, he feels that he has to abide by His will. His will prevails everywhere. His will is for Sport—लीला—and he has to play the part allotted to him. Sorrow and misery caused by ignorance of Maya, are substituted by the joy, happiness of Lila. From अग्निविस्फुलिंग Vedic passage, 'ममैवांशो जीवलोके' Gita verse, and अंशो नानाव्यपदेशात् we know that the Human soul is the अंश of Brahman. We know from another vedic passage 'यो यदंशः स तं भजेत्' that the अंश should worship that अंशिन् whose अंश he is. Hence in Vallabha's system the initiated are supposed to be अंशs of अंशिन् कृष्ण. This Krishna is रसात्मक आनन्दमय पुरुषोत्तम taught in the Taitiriya. This is the highest conception of the Supreme Being where he is described as आनन्द and रस, and the mode to approach Him is only through निरुपधि निरवधि प्रेम. To feel the क्लेश—pangs of one's separation from this रसात्मक आनन्दमय is in itself a form of Bliss of the highest type. This is possible only when there is निरुपधि and निरवधि प्रेम for the रस आनन्द कृष्ण. This is taught in the formula of the गद्य when it describes the initiated as one in whom the non-manifestation of the bliss of the pangs of Separation for infinite number of years has taken place. The words भगवते कृष्णाय describe the One to whom everything is to be dedicated. The two words connote लीलाविशिष्ट रस आनन्द कृष्ण. The words देह-इन्द्रिय-प्राण-अन्तःकरण and तद्धर्म denote the objects of dedication comprised in अहम्. दारा, आगार, पुत्र, आप्त, वित्त, इह and अपर denote those comprised in मम. आत्मन् is the chief with which the अहम्, मम and its objects are all dedicated. The result of this dedication is that one becomes दास and His. This is the प्रतिज्ञा administered to the initiated by Acharya or his representative before the Swarūpa of रसात्मक कृष्ण. To see the fulfilment of this प्रतिज्ञा, the सेवामार्ग is to be followed by the initiated. Sevā presupposes प्रेम. Hence प्रेमपूर्वक कृष्णसेवा is the vow.

How this प्रतिज्ञा could be fulfilled is explained in these seven or eight verses of the present work. Let us then see what the purport of these कारिकाs is. The गद्य is the form of प्रतिज्ञा declared by Krishna Himself to Acharya. This is not an unfamiliar thing in the Bhagavata. Samarpana in one form or another is taught in the Eleventh Skandha of Bhagavata, but as 'शतशोपि विचारितं जीवबुद्ध्या अन्यथाभवति, Vallabha could not fix upon the same. When Krishna communicated this to him, he took it as a mode sanctioned by Him and thenceforward he initiated his pupil by administering this vow. As Vallabhacharya was succeeded by very able and illustrious descendants, the custom arose that in the Sampradaya the प्रतिज्ञा could only be administered by them in the name of Acharya. The last advice given by Acharya to his sons 'यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथंचन । तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोप्युत । सर्वथा

भक्षयिष्यन्ति शुष्मानिति मतिर्मम । सेव्यः स एव गोपीशः विधास्यत्यखिलं हि नः । न लौकिकवत् प्रभुः कृष्णः, मनुते नैव लौकिकम् । भावस्तत्राप्यस्मदीयः' shows the spirit. By the use of the two words भगवते and कृष्णाय for the Highest Divinity, all aspects spoken of the same in the vedic literature are suggested. Similarly by the use of the word दास, the अंशत्व and its implications are suggested. In 'पराभिध्यानात् तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बंधविपर्ययौ' ब्रह्म-सूत्र. ३.-२.-१२., Vallabha observes as follows:—'ननु जीवाय भगवान् सृष्टिं करोति, प्रदर्शयति च सर्वलीलाम् । अंशश्चायम् । कथमस्य दुःखित्वमित्याशंक्य परिहरति तुशब्दः । अस्य जीवस्य ऐश्वर्यादि तिरोहितम् । तत्र हेतुः पराभिध्यानात् । परस्य भगवतोऽभितो ध्यानं, स्वस्यैतस्य सर्वतो भोगेच्छा । तस्मादीश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः । ऐश्वर्यतिरोभावात् दीनत्वं पराधीनत्वम् । वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनम् । यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वम् । श्रीतिरोभावात् जन्मादिसर्वापद्विषयत्वम् । ज्ञानतिरोभावात् देहादिष्वहंबुद्धिः सर्वविपरीतज्ञानं चापस्मारसहितस्यैव । वैराग्यतिरोभावात् विषयासक्तिः । बन्धश्चतुर्णां कार्यम्, विपर्ययो द्वयोः । तिरोभावादेवैवम्, नान्यथा । युक्तोऽयमर्थः । एकस्यैकांशप्राकट्येपि तथाभावात् । आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो येन जीवभावः ।' This is the relation between जीव and ब्रह्मन्. As the whole and and a part are अनन्य, so जीव-अंश and ब्रह्मन्-अंशिन् are अनन्य. (ब्रह्मसूत्र-2-1-14). But this fact of अनन्यत्व does not come in the way of भगवल्लीला. By the अभिध्यान of Lord, Jiva's आनन्दांश and भगवत्त्व are gone. With the loss of भगवत्त्व he loses ऐश्वर्य, वीर्य, यशः, श्री, ज्ञान and वैराग्य, the six comprising भगवत्त्व, and he becomes दीन पराधीन, object of सर्वदुःख, सर्वहीन, subject to the calamity of birth and death. The loss of first four causes him बंध. The loss of ज्ञान generates in him अहंबुद्धि and false knowledge, and the loss of वैराग्य causes विषयासक्ति. These two cause विपर्यय. The loss of आनन्दांश caused the जीवभाव, and consequently काममय. आनन्द is opposed to काम, अकामरूपत्वादानन्दस्य. Thus there is no possibility by which the lowest-जीव with all his imperfections can serve the Highest with all His perfections. Though in fact जीव and ब्रह्मन् are अनन्य, the relation of सेव्य and सेवक would not be possible under these circumstances. Vallabhacharya solves this difficulty thus. Upanayana gives a Traivarnika Adhikara in the performance of vedic rites; similarly this Brahma Sambandha gives one Adhikara in the भक्तिमार्ग or सेवामार्ग. This सेवा first is तनुजा and वित्तजा, by which gradually the अहं and मम of the initiated become transformed into भगवदीय ones, and then his mind becomes भगवदीय. When once the mind of the साधक becomes भगवदीय, his deliverance is certain. Such a sādhaka, who has been thus initiated, has not to mind the five fold दोष which are enumerated here. सहज, देशकालोत्थ, लोकवेदनिरूपित, संयोगज and स्पर्शज दोष do not act as hindrances in this सेवामार्ग. Whatever may be the defects, inherent, or arising from देश and काल, or from लोक वेद, or through संयोग or स्पर्श, whatever may be in your past life, the moment you are initiated, you are not to mind them. You have simply to serve your Lord. All विद्या painting, music, etc., are अविद्या, if they don't help you in realising the Bliss-आनन्दकृष्ण. The aim of the great sages नारद, भरत, वात्स्यायन and others, cannot be to drown people deep into the miseries of sansara, but to elevate them so that they can be nearer to God. There is no रस or आनन्द in the world. 'लौकिकपुंसि नार्यां वा तदाभासो रसशास्त्रे निरूप्यते, तदद्दृष्टान्तेन भगवद्भाववद्भक्तरीतिभावनार्थम्, न तु ऋषीणां लौकिके तात्पर्यं भवितुमर्हति' expresses the same view. This has been again very beautifully elaborated by Vitthaleswara and his descendant Purushottama, and we shall quote the same in full.

ननु भरतवात्स्यायनप्रणयनं हि जीवार्थम् । तथा च तदुक्तरीत्या प्रवृत्तस्य जीवस्यापि तथानन्दसम्भवादत्रावैशिष्ट्यापत्तिः । न च प्रभुस्वरूपमेव विशेषः । तस्योद्बुद्धरसात्मकत्वेन तदुद्बोधकानामप्रयोजकत्वादिति चेत् । मैवम् । अत्र हि रसात्मकं स्वरूपमेवोच्यते । तच्चोद्बोधकविशिष्टमेवोद्बुद्धम्, न तु केवलम् । अन्यथा रसात्मकत्वं न स्यात् । तत्स्वरूपस्यैव तथात्वात् । तच्च विशेषतो न भावयितुं शक्यमज्ञानादिति तज्ज्ञानार्थं भरतवात्स्यायनाभ्यां तत्स्वरूपं निरूपितम्, एवं भगवता नृत्यमकारि, एवं च रमणमिति । जीवास्तु ब्रह्मपरां श्रुतिमिवैतदपि द्वयं जीवपरमिति ज्ञात्वा प्रवृत्ताः क्लिश्यन्ति परमिति बुध्यस्व । एतदेवाहुः कृष्णो भुङ्क्ते न चापर इत्यनेन तत्र हेतुरुत्तममिति । क्षराक्षराभ्यामुत्तमं पुरुषोत्तमस्वरूपात्मकमित्यर्थः । न हि भगवत्स्वरूपमन्येन भोक्तुं शक्यमिति भावः । एतल्लीलाया भूमौ प्राकट्यकरणे प्रयोजनमाहुः

अत्रैवेति । आधिदैविकत्वे संपन्ने हि पुरुषोत्तमभजनं साक्षात्सम्पद्यते । तच्च वैकुण्ठे भवति । प्रभुस्तु अस्मिन्नेव लोके आधिदैविकं रूपं जीवानां प्रकटं यथा भवति तथा मुक्त इत्यर्थः । एतल्लीलाश्रवणेपि तथा भवतीति तथा । उत्कृष्टमिति । मोक्षसुखादपीति शेषः । प्रमाणेन वचनैरित्यर्थः । प्रमेयेण स्वरूपेणेत्यर्थः ।

अत्रायमर्थः । श्रुतौ हि 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानं स्वयमकुरुत, तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति, यद्वैतत्सुकृतम्, रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती'त्येवं पूर्वसृष्टेरसाधुत्वं, ततः सृष्ट्यन्तरस्य साधुत्वम्, साधुत्वे स्वात्मरूपत्वरूपं हेतुः, तस्य सुकृतत्वं, सुकृतस्य रसत्वं, रसस्यानन्दरूपता च बोधिता । तत्र यद्युद्बोधकादि-प्रनाडी न विवक्षिता स्यात्, आत्मकरणं न वदेत्, यदि वा सर्वसामान्या स्यात्, पूर्वसृष्टेरसाधुत्वमनेवंरूपतां च वा न वदेत् । यदि च रसस्य मनोविकारत्वं लौकिकत्वं वा विवक्षितं स्यात्, तदाप्यात्मकरणं आनन्दरूपत्वं च न वदेत् । अत उद्बोधकादिवैशिष्ट्यं श्रुतिसिद्धम् । तदेतदुक्तं तत्स्वरूपस्यैव तथात्वादित्यन्तेन । तथा च प्रनाड्य-ङ्गीकारेपि न भगवद्रूपत्वहानिरित्यर्थः । किञ्च, अनुकृत्यधिकरणे सर्वस्य भगवदनुकारित्वं 'तमेव भान्तमनुभाति विश्व'मिति विषयवाक्येन प्रतिपादितम्, अतः प्रकृतेपि यदि लौकिको रसः प्रतिपाद्यते, तदापि मूलरसानुकारि-तयैव तत्स्वरूपं सिध्यतीत्येतद्दृष्टान्तेन सोपि रसोनुमीयताम् । अयं लौकिकः परिच्छिन्नो, मात्रोपजीवनश्रुतेः, स त्वपरिच्छिन्नो, भूमत्वात् । तथा च लोकेऽनुकरणमात्रेण तदाभासस्यैव प्राकट्यम्, न तु तस्येति न जीवस्य, तत्करणेपि न तद्रससम्बन्धलेशः । शास्त्रप्रणयनं तु दूरतस्तस्यैव परिचायनायेति तत्रैव स्फुटम् । वस्तुतस्तु पाद्मे पातालखण्डे रामाश्वमेधे शेषवात्स्यायनसंवादादृषेर्वैष्णवत्वमवगम्यते । एवं भरतस्यापि, नाट्यशास्त्रज्ञातुर्मोक्षकथनात् । किञ्च, आञ्जनेयोपि प्रणेता नाट्यशास्त्रस्य । स च परमभक्तो जनकतनयाप्राणनाथस्य । अतस्तादृशां य एतावान् प्रयासः स न त्रिवर्गोपयोगितया जीवार्थः, अपि तूक्तरीत्या मोक्षसाधनतापर्यन्ततया । किञ्च, वात्स्यायनेन सांप्रयो-गिकाधिकरणे 'ऋचां दशतयीनां चतुःषष्टिसंज्ञितत्वादिहापि तदर्थसम्बन्धाच्च बह्वृचैरेषा पूजार्थं संज्ञा प्रवर्तितेत्येके' इति सूत्रयता संप्रयोगाङ्गचुम्बनादीनामृगर्थत्वं प्रदर्शितम् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां वेदस्य भगवत्परत्वं सिद्धम् । एवं सत्यस्य शास्त्रस्य तत्सामानाधिकरण्ये वेदवत् परोक्षवादेन लीलासहितभगवत्प्रतिपादकत्वं युक्तमेव । गान्धर्वस्य सामवेदोपवेदतया च । अत एवमर्थाज्ञातॄणां जीवानां भ्रान्ति-रित्येतदाद्यभिसन्धायोक्तं तच्चेत्यादि, बुद्धयस्त्वेत्यन्तम् । तस्मान्न कोपि शङ्कालेश इति दिक् ।

This is the highest ideal. But all cannot be expected to reach it. Only those who are completely निरुद्ध in Lord can realise the highest beauty of this ideal. Hence a sound principle was laid down by Vitthaleswara that one who is not truly रसिक, should not see this even if he is a Vaishnava. 'प्रार्थये रसिकाः स्वैरं पश्यन्त्विदमहर्निशम् । एतद्रसानभिज्ञस्तु मा द्राक्षीदपि वैष्णवः'. For such Vaishnavas the other aspects of Krishna गोवर्धनधारित्व etc, are there. Unfortunately this sound maxim was not followed, and in practice the highest ideal was most prominent, with the result that in case of Anadhikari it caused his down-fall.

The purport of this little work is to lay down a principle that whatever country you belong to, to whatever age, to whatever community, whatever be your surroundings, you can approach God through this path of service based on love. This broadest aspect was not lost sight of by Vithales'wara, and we do find that even Mahomedans like Pathan Alikhan, and Taj Bibi, and even some members of the untouchable classes could approach God by this Path. Followers of this path can observe their Varnas'rama Dharmas which have reference to the body, but this Prema-marga referred to the soul. In Bhakti of the Lord everyone has his अधिकार. The sine-quo-non of this Adhikara is that before you do anything you must dedicate it to Lord. Keeping Lord before you, that is, as if you are to carry out His behests, you are to follow your pursuits. This सेवामार्ग–रतिपथ was proclaimed by Vallabhacharya. The Highest Divinity was not merely creator, destroyer, sustainer etc, but He was the object of the most fervent warmth of उत्कट प्रेम. Blessed were those who realised and enjoyed this रस in the purest स्वरूप. The women of Vraja realised the same ideal in नित्य प्रिय रस आनन्द कृष्ण, and for a glimpse of this the great Udhhava–forsaking the ब्रह्मकथा etc., pined to be गुल्म-लता etc., in Vraja. Hence व्रजाङ्गनाs are considered greater than ज्ञानिन्s, greater than भक्तs, greater than मुनिs, greater than नारद and प्रह्लाद, greater than श्रोत्रिय ब्रह्मविद् ब्राह्मणs like वशिष्ठ.

दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम् । उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥१०-४४-५७
एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥ ५८ ॥

प्रत्यहं उपदेशः प्रत्यहं वैक्लव्यं, एवं उभयं दृष्ट्वा आत्मतत्त्वेपि बहिः संवेदनमात्रेणैव तासां भगवदाकांक्षैवोत्पद्यते, परं निर्दुष्टा, एवं तासां दृष्ट्वा कृष्णावेशेन आत्मनो देहस्य विक्लवं दृष्ट्वा अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा द्वयमेव, न तु तासामन्या लौकिकी अवस्था, एवं दृष्ट्वा परमप्रीतो जातः, एवमेव स्थातव्यं भक्तेनेति । पश्चात्तासु उभयं दृष्ट्वा स्वस्मिन्नेकमेवेति आधिक्यात् ता नमस्यन् मनोदोषशंकाभावाय तासां स्तुतिरूपं इदं जगौ...तनुभृतश्चेत् एता एव । नापि ज्ञानिनो, नापि लौकिकाः, नापि भक्ताः । तत्र लौकिकास्तु व्यर्थजीवना एव । न हि रज्ज्वा बद्धः पाशी भवति । स्वाधीनपाशः एव तथा । एवं तनुभृतोपि येषां स्वाधीना तनुः । ज्ञानिनां तु ज्ञानप्राप्तिपर्यन्तमेव स्वाधीनत्वेन शरीरोपयोगादग्रे व्यर्थमेव देहः, अनपेक्षितभारवत् गृह्णातीति । भक्ता अपि मौढ्यात् देहमेवात्मानं मन्यमानाः तत्रैव पर्यवसितमतयो बहिर्मुखत्वात्तनुरूपा एव, न तु तनुभृतः । कालान्तरे परं सत्फलम् । अस्मदादयस्तु भक्ता अपि प्राप्तज्ञाना अपि मन्दभावं प्राप्ताः नोत्कर्षेण तनुभृतः । अतः परमुत्कर्षेण एता एव तनुभृतः । नन्वेतादृश्यः सन्ति तनुभृतः लक्ष्मीप्रभृतयः । तत्राह भुवीति । ननु भुव्यपि उत्कटभक्ताः प्रल्हादादयः सन्त्येव । तत्राह गोपवध्व इति । एतादृशीमवस्थां प्राप्य न कोप्येवंविधो जात इत्याश्चर्यम् । किञ्च, गोविन्दे स्वकीयत्वेन ज्ञाते, वस्तुतः अखिलात्मनि एवं रूढभावाः । अतो देहस्य स्वाधीनस्य तदेव फलमिति सर्वात्मत्वेन ज्ञात्वापि निर्दोषपूर्वभावनिष्ठा एव । ननु ज्ञानावस्थोत्तरेति आत्मलाभान्न परं विद्यत इति । एता भगवता ज्ञाननिष्ठाः कृताः इति च । वस्तुत एवाग्र देहस्यानुपयोगात् कथमेषा स्तुतिरिति चेत्, तत्राह वाञ्छन्तीति । वाञ्छंति यं भावं भवात् भीः येषां ते मुनयो, मुक्ताः, वयं भक्ताः, चकारात् सर्व एव धर्ममार्गपरा अपि । अवश्यं हि विदेहकैवल्यपर्यन्तं सर्वेषां बहिः संवेदनास्त्येव । जीवन्मुक्तानां तथा श्रवणात् । तत्र लौकिक एव भावः सर्वेषां जायत इति कालावच्छेदेन जन्मवैयर्थ्यमेव । अन्येषां तु वैयर्थ्यं सिद्धमेव । नारदादीनामपि कदाचित् प्राकृतवत् व्यवस्था, प्रल्हादस्यापि राज्यादिकरणात् तथावसीयते । बहिः संवेदने तु एषैवावस्थासर्वशास्त्रपर्यवसिता । नातोन्या कच्चिदप्यस्तीति अवस्थायां विचार्यमाणायां एता एव तनुभृतः । ननु एतदपेक्षया ये श्रोत्रिया ब्रह्मविदो ब्राह्मणा वसिष्ठादयः ते महान्तो भविष्यन्तीत्याशंक्याह किं ब्रह्मजन्मभिः । ब्रह्मभावापन्नानां जन्मभिः शुक्लसावित्रयाज्ञिकैः किम्, न किञ्चित् । यद्यपि बहिः संवेदने तेषां वेदार्थानुष्ठातृत्वं दीर्घसत्रित्वादिरूपम्, अंतर्निष्ठतायां तु ब्राह्मणत्वमिति, तथापि कर्मापेक्षया भक्तिरधिका । कर्म हि प्रपंचे स्वास्थ्यं संपादयति, न तु भक्तिः । यो हि दुष्टं मन्यते स दुष्ट इति निर्धारः । तत्तत्प्रकरणे तत्तत्प्रशंसा तु प्रकरणानुरोधिनी । अतः अनंतकथायां अरसस्य ब्रह्मजन्मभिः कर्मोपयोगिभिरपि न किञ्चित् । ननु तथाप्युत्कर्षहेतुर्लोके तद्भवतीति युक्त्या बाधेपि प्रसिद्ध्यैव उत्तमफलत्वं पर्यवसानविधया कल्प्यत इति चेत्, तत्राह । अनन्तकथायां रसयुक्तस्य पूर्वोक्तैः ब्रह्मजन्मभिः न कोपि पुरुषार्थः साधनीयः । ततोप्युत्कृष्टस्यैव साधनदशायां फलदशायां च फलस्य सिद्धत्वात्, कर्मापेक्षयापि भक्त्यैव ज्ञाने अधिक अधिकोपकारणाच्च ।

To follow this रतिपथ is to walk on the edge of the sword. Those who are unable to follow this, must dedicate everything to Lord Krishna, and serve Him faithfully as a servant serves his master. This is in short what Vallabhacharya has by the command of Lord preached in the पञ्चाक्षर, अष्टाक्षर, गद्य and सिद्धान्तरहस्य.

धर्ममार्गं परित्यज्य छलेनाधर्मवर्तिनः ।
पतन्ति नरके घोरे पाषण्डमतवर्तनात् ॥ १ ॥
प्रसीदतु मयि श्रीमत्कृष्णप्राणप्रियोत्सवः ।
येन भाति जगत् सर्वं विना येन न तत्तथा ॥ २ ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

EDITORS' NOTE.

Siddhānta Rahasya, one of the Sixteen Prakaraṇa Granthas of S'rī Vallabhāchārya, with eleven commentaries and a Gujarāti translation of S'ri Purushottamaji's Tīkā, is published by us from funds supplied to us by Bhailalbhai Purushottamdas, the present Hon. Manager of The Dakor Temple of S'ri Ranchhodji, from the profits of the oil-mill set up by his son Thakorlal at Nandurbar.

These commentaries are those of S'rī Gokulanathaji, S'rī Raghunathaji, S'rī Kalyaṇarayji, S'rī Vrajotsavaji, S'rī Gokulotsavaji, S'rī Harirayaji, S'rī Vitthales'waraji, S'rī Purushottamaji, S'rī Giridharaji, Dikshita Lalu Bhattaji, and S'ris'āchāryamatānuvarti.

A. Gokulanathaji's tīkā is the oldest and most well-known. Hence it is printed first. The text of this tīkā is based on eleven MSS. The oldest of these is dated Samvat 1730, Kartik sud 5th. It was obtained from S'rī Vallabhalalji's collection. Another belonged to Vitthalaraya, Son of Damodarji. The rest were obtained from Pandit Gattulalaji's Collection, Ranchhodlalji, Gokulanathji and the late Mr. Tansukhram Tripathi of Nadiad.

B. The Second Tīkā is by Raghunathji. It is based on two MSS., one from Pandit Gattulalaji's Library, and the other from the late Mr. Tansukhram.

C. The Third is Kalyanarayji's. It is based on six MSS. All the six MSS. are old and good. One of those belonged to one Pitambara, and the other to Dwarkos'wara, dated Samvat 1812 Posh Sud 12th.

D. The Fourth is Vrajotsavaji's. It is doubtful as to who wrote this. Of the five MSS. consulted, one attributed the authorship to Chacha S'rī Gopeshaji, another MSS. obtained from Kankroli, to Gopalaji, while the rest to Vrajotsavaji. Hence it is named here after him. If we are to rely on our judgment of the style of writing, from the known style of Chacha Gopes'aji, this is different. It is probable that Gopalaji is not the author of this.

E. Harirayji's tīkā is in verse. It is based on four MSS.; all are old and good, and obtained from the same sources as above.

F. The MSS. of Gokulotsavaji's tīkā is dated 1871, s'ake 1736, Falgun Sud 2nd, Sunday. It is based on one MSS. alone. No name is given at the end. The name Gokulotsavaji, given here, is based merely on conjecture arising from the known style of the author.

G. Vitthales'aji's tīkā is based on one MSS. It is not Gusaiji's in any case. It was obtained from Vallabhalalji's collection. Hence it is possible that Kaka Vallabhji's father Vitthales'a was the author of this.

H. The Eighth is Purushottamaji's. The text of this tīkā is based on eight MSS. Some of these were old and very good. One obtained from Gaikwad's Central Library collection of Baroda was an excellent copy. One was dated 1787 samvat. Margas'īrsha Krishṇa 7th, Sunday.

EDITORS' NOTE.

I. Giridharaji's is the 9th. It was obtained with considerable difficulty from Kankroli through Chhannulālāji of Bombay. The tīkā is in the collection of the Saraswati Bhandar of S'rī Dwarkadhis'aji.

J. The 10th is Lalubhatta's. It is based on three very good and old MSS. One dated 1800 st. Bhadra. sud. 12th, second dated 1876 st. Ashadha vad., third, written by one Vishnudāsa.

K. The 11th is nameless. This was obtained from Ranchhodlalji.

Nine out of these commentators are Vallabhacharya's direct agnate descendants. Their acquaintance is already made in our previous publications. The other two are also descendants of Vallabhacharya from daughters and they are known as Bhattas or Lalajis.

We express our thanks to the Goswami Balakas, and learned gentlemen, and Pandit Gattulalaji's institution, for the loan of the above-mentioned MSS., but for whose kind cooperation we could not have collected so many tīkās. To our knowledge no tīkā of Siddhanta Rahasya remains to be printed now. We hope that learned Vaishnavas will study these and spread the noblest teachings of S'rī Vallabha among Vaishnava masses.

With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus-Feet of Lord S'rī Krishna.

Bombay,
29th April 1924.

M. T. Telivala.
D. V. Sankalia.

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणदृष्टम् ।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः[1] ॥ २ ॥
सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥
निवेदिभिः[2] समर्प्यैव सर्वं [3]कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ५ ॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।
गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ॥ ८ ॥
गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८½ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सिद्धान्तरहस्यम् ।

---

१. मताः । २. श्रीहरिः । नन्वसमर्पितवस्तुवर्जनेन सर्ववस्तुसमर्पणं प्राप्तम्, तत् किं स्वयं स्वभावेन समर्पयेत्, अन्यथा वेति संदेहे प्राहुः **निवेदिभिरिति** । भगवान् हि यशोदास्वामिनीहस्त एव समर्पितं भुनक्तीति, निवेदिनः निवेदो निवेदनं तद्युता निवेदिनः, ते एव सर्वथा कृतनिवेदना मातृचरणस्वामिनीप्रभृतयः, तैः कृत्वा, सर्वं समर्प्यते सर्वं भगवते समर्पयन्तीति भावनया सर्वं समर्प्य पश्चात् स्वयं तदुपभोगं लोके वेदे च कुर्यादित्यर्थः । ३ कार्यम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतम् ।

नत्वा पितृपदाम्भोजं सर्वाभीष्टप्रदायकम् ।
कृष्णवाक्यूलकाचार्यवचो व्याख्यातुमुद्यतः ॥ १ ॥
यद्यपीश्वरवाक्यानामभिप्रायोऽतिदुर्गमः ।
मदीयोयमिति ज्ञात्वा ज्ञापयिष्यत्युदारधीः ॥ २ ॥

अथ यदैव श्रीगोकुलस्वामी स्वमनोभिलषितप्रकारकशुद्धपुष्टिभक्तिमार्गं प्रकटयितुं मनः कृतवान्, तदैव स्वमुखारविन्दरूपाचार्याणामेव तत्प्रकटनसामर्थ्यं ज्ञात्वा भुवि प्राकट्यार्थमाज्ञां दत्तवान्, तदाचार्या अपि भगवदभिप्रायं ज्ञात्वा तद्दत्ताज्ञाप्रकारेणैव स्वप्राकट्यं विधाय भगवदभिमतप्रकारकं भक्तिमार्गं प्रकटितवन्तः । तत्र स्वमार्गीयभक्तिस्वरूपं स्वमार्गसेव्यस्वरूपं स्वमार्गीयसेवाप्रकारं च मार्गान्तरीयभजनसाङ्कर्याभावार्थं वैलक्षण्येन प्रमाणपूर्वकं निरूपितवन्तः । अन्येपि तत्तच्छास्त्रोक्ता धर्मा विवेकादयश्चतुष्टयपुरुषार्थरूपास्त्यागादयश्च तत्तन्मार्गीयाः सन्ति । तेषां स्वप्रकटितपुष्टिमार्गविवेकादीनां च सन्देहाभावार्थं भिन्नत्वेन निरूपणं कृतवन्तः । तथापि यथा पूजामार्गे पूजार्थं तन्मार्गोक्तप्रकारेण सम्भावितदोषनिवृत्तिपूर्वकं पूजाकरणं निरूपितम्, तथा स्वप्रकटितमार्गेपि सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकं सेवाप्रकारो न विचारित इति चिन्तया तद्विचारपरानाचार्यान् दृष्ट्वा स्वयं श्रीगोकुलेश आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकटीभूय स्वसेवाप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तिप्रकारकमसाधारणं कारणं तथोपदिष्टवान्, यथाग्रेपि सेवायां यावज्जीवं दोषप्रवेशो न भवति । आचार्यास्तु भगवदुपदिष्टं स्वहृद्याधाय स्वकीयानपि ज्ञापयितुं भगवदुपदिष्टं यथा सौकर्येण बोधो भवति, तदर्थं पद्यबन्धेन तत्र यस्मिन्मासे यस्मिन्पक्षे यस्यां तिथौ यस्मिन्समये तज्ज्ञापनपूर्वकं वक्तुं प्रतिजानते श्रावणस्यामले पक्ष इति ।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

श्रावणस्य श्रावणमासस्य श्रवणस्य विष्णुदैवतत्वात्तदुपलक्षितमासस्यापि वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्बन्धित्वज्ञापनाय मासः श्रावण उक्तः । पक्षस्य शुक्लत्वं विहायामलत्वकथनेन भगवत्पक्षीयाणां सर्वेषां सर्वात्मना निर्दुष्टत्वं ज्ञापितम् । अतः परं तिथेर्निर्दुष्टत्वं निरू-

१ दैवत्वादिति पाठः ।

पयन्ति एकादश्यामिति । एकादश्यप्येकादशेन्द्रियदोषनिवर्तिका इति तिथिरपि सैवोक्ता । यथा श्रीगोकुले अन्तरङ्गभक्तसर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं तद्द्वारा सर्वेषामपि गोकुलवासिनां सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं महानिशायामेव प्रादुर्भावः । तद्वदत्राप्याचार्यार्थं प्रादुर्भूय तद्द्वारा तदीयानां सर्वपुरुषार्थसाधकत्वं तत्तुल्यमिति अत्रापि महानिशायामेव प्रादुर्भाव उक्तः । महानिशीति । यथा श्रीगोकुले साक्षाद्व्यूहरहितपूर्णपुरुषोत्तमप्राकट्येनैव भक्ताभिलषितं कृतवान्, तद्वदत्रापि साक्षात्प्राकट्येनैव आचार्यानुपदिष्टवानिति ज्ञापनायोक्तं साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिति । यद्यपि भगवता प्रोक्तमित्येतावतैव चारितार्थ्येपि साक्षात्पदोक्तेरयमाशयः । भम्गवदुक्तौ प्रकारविशेषा बहव एव संभवन्ति । क्वचिद्भगवान् स्वोक्तिं सेवकद्वारा ज्ञापयति, क्वचित्स्वप्नद्वारा, क्वचि'द्दिरं समाधा'विति न्यायेनाकाशवाणीद्वारापि ज्ञापयति । अत्र तूक्तसम्भावितप्रकराभावपूर्वकं स्वयं साक्षात्पूर्णप्राकट्येनाचार्यानुपदिष्टवानिति ज्ञापनायोक्तं साक्षादिति । उक्तौ प्रशब्दोक्त्या अत्रोक्तेः केवलं कृपयैवाविर्भूय, नत्वाचार्यप्रार्थनयेति ज्ञापनाय प्रशब्दोपादानम् । साक्षाद्भगवद्वाक्यकथनं सर्वेषां सम्यक् हृदयारूढं न भवतीति तस्माद्वाक्यार्थ एव यथा यथा सम्यक् हृदयारूढो भवति, तथा पद्यबन्धेन कथनं प्रतिजानते तदक्षरश उच्यत इति । तदेव पूर्वोक्तमक्षरशः प्रत्यक्षरार्थविचारपूर्वकं उच्यते निरूप्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं कथनं प्रतिज्ञाय साक्षात्स्वमार्गीयसेवाप्रतिबन्धकासाधारणदोषनिवृत्तिप्रकारं भगवदुक्तं प्रथमत आहुः ब्रह्मसम्बन्धकरणादिति ।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणं नाम एतन्मार्गीयाचार्यद्वारा भगवन्निवेदनम् । तेनैव सर्वेषां देहानां सर्वेषां जीवानां च सेवाप्रतिबन्धकसर्वदोषनिवृत्तिर्भवति । ननु 'वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत' इत्याचार्यवचनादुपनिषत्स्वेव ब्रह्मपदं पुरुषोत्तमवाचकम्, नत्वन्यत्र, तथाप्यत्र ब्रह्मपदोपादानस्यायमाशयः । यथा ब्रह्मणि सर्वसमत्वं धर्मोस्ति, तद्वदत्रापि आचार्यनिवेदनानन्तरं सर्वेषामङ्गीकारे समत्वमेव, न तु वैषम्यमपीति ज्ञापनायात्र ब्रह्मपदोपादानम् । यद्वा । यथा गीतासु 'भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया'मित्यादिवचनाद्भगवद्वाक्यानामेवोपनिषद्रूपत्वम्, तद्वदत्रापि ब्रह्मसम्बन्धकरणादित्यादिवाक्यानां भगवद्वाक्यत्वेनोपनिषद्रूपत्वादत्र ब्रह्मपदस्य पुरुषोत्तमवाचकत्वमेवेति ब्रह्मपदोपादानम् । तेनास्मिन्भक्तिमार्गे भगवदीयत्वेनैव सर्वदोषनिवृत्तिः । सवायोग्यत्वं च । अत एव श्रुतिरप्याह 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति । अस्मिन्मार्गे भगवद्वरणस्यैव दोषाभावहेतुत्वात् । दोषरहितस्यैव भगवत्प्राप्तिहेतुत्वात् । तस्मादस्मिन्मार्गे भगवदीयत्वमेव सर्वदोषनिवृत्तिहेतुः । ननु पूजामार्गे पूजार्थं दोषनिवृ-

त्तिप्रकारा बहव एव उक्ताः भूतशुद्ध्यादयः, तद्व्यतिरेकेण कथमत्र भगवदीयत्वमात्रेणैव सर्वदोषनिवृत्तिरितिचेत् । उच्यते । सर्वथा निर्दुष्टपदार्थसम्बन्धेनैव सर्वदोषनिवृत्तिः । सर्वात्मना निर्दुष्टत्वं पुरुषोत्तमस्यैव, नान्यस्य, अत एवाचार्यैरुक्तं 'कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जित' मिति । अतो भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमस्यैव सेव्यत्वात्तत्सम्बन्धमात्रेणैव सर्वेषां सर्वदोषनिवृत्तिरिति नानुपपत्तिः काचित् । अस्यार्थस्य युक्तत्वज्ञापनायोक्तं हीति । पूजामार्गे पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावात्तत्र ये दोषाः सम्भवन्ति, तेषां भक्तिमार्गे सम्भावनापि न सम्भवतीति तान्दोषान्निराकरणार्थमनुवदन्ति दोषाः पञ्चविधाः स्मृता इति ॥ २ ॥

पञ्चविधत्वमेव गणयन्ति सहजा इति ।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

देहेन सहैव जायन्ते सहजाः । देहस्य पाञ्चभौतिकत्वात् । भूतेषु भगवत्सम्बन्धाभावात् दोषाः संभवन्ति, ते पूजामार्गे भूतशुद्ध्यादिना निराक्रियन्ते । तथैव पूजाप्रदेशेपि पूजार्थमासनादिशुद्धिविधानात्पूजाप्रदेशेपि दोषाः सन्ति । अन्यथा 'अपसर्पन्तु ते भूताः पवित्रं कुरु चासन'मित्यादिना तन्निराकरणं न स्यात् । तद्वत्कालेपि 'प्रातर्होमं च कृत्वैव कृत्वा वा ब्रह्मयज्ञकम् । यद्वा माध्याह्निकं कृत्वा पूजयेत्पुरुषोत्तम'मिति मन्त्रराजानुष्टुब्विधानवचनात् । पूजायां नियतकालविधानात्तदतिरिक्तकालपूजाकरणे कालदोषोपि सम्भवति । अत उक्तं देशकालोत्था इति । एवं देशकालोत्थान्निरूप्य लोकवेदोत्थानाहुः लोकवेदनिरूपिता इति । 'पूजादिना ब्रह्मलोक'मिति वचनात्पूजाप्राप्यब्रह्मलोकेपि 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'तिवचनात्पुनरावृत्तिरूपो दोषस्तत्रापि निरूपितः । किञ्च, पूजायां पूजाङ्गत्वेनाग्निस्थापनपूर्वकवैदिकमन्त्रैर्होमविधानात्तत्रापि न्यूनातिरिक्तदोषः संभवत्येव । अन्यथा 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्ये'त्यादि प्रार्थनं न स्यात् । एवं लोकवेदोत्थान्निरूप्य संयोगजान्निरूपयन्ति संयोगजा इति । पूजायामभिषेकाद्यर्थं मन्त्रादिसंस्कृतशंखादिजलेष्वसंस्कृतजलादिसंयोगे संयोगजो दोषो भवति । तथैवासादितपात्रादिपदार्थानां पुष्पगन्धादीनां तेषां स्त्रीशूद्रादिस्पर्शेपि स्पर्शदोषो भवति । चकारादन्येपि नैवेद्यादिष्वप्यागन्तुका दृष्ट्यादिदोषा उक्ताः । एवं पूजामार्गीयान् दोषाननूद्य भक्तिमार्गे तेषां निराकरणमाहुः न मन्तव्याः कथञ्चनेति । ते दोषा भक्तिमार्गे न **मन्तव्याः**, न गण्याः । यद्यपि 'न मन्तव्या' इत्येतावतापि निराकरणसिद्धावपि पुनः कथञ्चनेति पूजामार्गीयोक्तदोषाणां भक्तिमार्गे संभावनापि नास्तीत्यर्थः । दोषसम्भावनाया अप्यभावे ब्रह्मसम्बन्धकरणादिरसाधारणो हेतुः पूर्वमुक्त एव । ननु पूजामार्गे पूजार्थं दोषनिराकरणार्थं बहव एव प्रकारा उक्ताः, तान्विहाय शुद्धभक्तिमार्गे भगवन्निवेदनमात्रस्यैव सेवार्थं सर्वदोषनिवर्तकत्वं कथमिति चेत्? उच्यते ।

'अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षज' इति वचनात् । तथा च 'भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि संभवा'दित्यादिवचनतो भक्तिमार्गः स्वत एव सर्वदोषनिवर्तकः । अथ च, भक्तिमार्गे सेव्यः पुरुषोत्तम एव, न तु तदंशस्तद्विभूतिरूपं वा । स एव सर्वात्मना सर्वदोषरहितः निर्दुष्टपूर्णगुणविग्रहः । अतस्तन्निवेदनेन तत्सम्बन्धे सति सर्वात्मना सर्वदोषनिवृत्तौ किं वाच्यम् । अतः पञ्चमस्कन्धे भगवद्भक्तस्वरूपनिरूपणे 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति तेषामुत्कर्षावधिरुक्तः । यत्र भगवदीयत्वमात्रस्यैव सर्वपुरुषार्थतुच्छीकरणत्वम्, तत्र भक्तिमार्गीयभगवन्निवेदनस्य सर्वदोषनिवर्तकत्वं कैमुतिकन्यायेनैव सिद्धमिति किं वृथावल्गनेनेति सर्वं सुस्थम् । पूजायास्तु कर्ममार्गान्तःपातित्वात्तत्र च न भक्तित्वम् । कर्ममार्गस्य भगवत्सम्बन्धाभावात्सदोषत्वमपि । ननु भगवत्पूजाविधानान्निर्दोषत्वमेवेति चेत्? सत्यम् । पूजामार्गे पूज्यस्य विभूतिरूपत्वेन शुद्धपुरुषोत्तमत्वाभावान्न सर्वात्मना सर्वदोषनिवर्तकत्वम् । तत्रावाहनादिविसर्जनान्तानामुपचाराणां केवलमन्त्राद्यधीनत्वात्पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वमेव । पुरुषोत्तमस्तु 'नाहं वेदैर्न तपसे'ति 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्यादिवचनैः केवलमनन्यभक्त्यधीन एव । न तु तदतिरिक्तमन्त्राद्यधीनोपीति महदेव वैलक्षण्यम् । किञ्च, पूजामार्गे पूज्यदेवताया मोहनोच्चाटनादिलौकिककार्यविनियोगोपि श्रूयते । पूज्यदेवतामन्त्रस्यारित्वादयो धर्माः श्रूयन्ते । न हि सर्वनियामकस्य सर्वेश्वरस्य ब्रह्मादिसर्वोपास्यस्यानन्दमात्रकरपादमुखोदरादेः पुरुषोत्तमस्य सेवकेष्वरित्वादयो धर्माः सम्भवन्ति । अतो गीतास्वपि भगवतोक्तं 'समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः । ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यह'मिति । तथा श्रीभागवते प्रह्लादवाक्यं 'देवोसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा । भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वय'मिति वचनात्किमतोऽधिकं भक्तिमार्गस्य पूजामार्गस्य च तारतम्यं वाच्यमिति दिक् ३

अतो भक्तिमार्गे निवेदनेनैव सेवाप्रतिबन्धकसर्वदोषनिवृत्तिरित्यत आहुः **अन्यथेति** ।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥

अन्यथा भक्तिमार्गे निवेदनव्यतिरेकेण सेवाप्रतिबन्धकसर्वदोषनिवृत्तिर्न भवति । कथञ्चनेति प्रकारान्तरव्युदास उक्तः । एवं सेवार्थं सोपपत्तिकां सर्वदोषनिवृत्तिमुक्त्वाग्रे तादृशस्य यावज्जीवं दोषसंक्रान्त्यभावार्थं स्थितिप्रकारमाहुः असमर्पितवस्तूनामिति । यतोस्मिन्मार्गे भगवत्सम्बन्धाभाववद्वस्तुसंसर्गस्यैव दोषत्वम्, अतः स्वार्थं भगवदसमर्पितवस्तूनां वर्जनमाचरेत् । संसर्गमपि न कुर्यादित्यर्थः ॥ ४ ॥

एवमसमर्पितवस्तुमात्रत्यागे तादृशस्याग्रे लौकिकालौकिकव्यवहारसिद्धिः कथमित्याकाङ्क्षायां तादृशस्य व्यवहारसिद्धिप्रकारमाहुः निवेदिभिरिति ।

---

१ पातादिति पाठः ।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कार्यमिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ५ ॥

निवेदिभिः स्वमार्गानुसारेण कृतात्मनिवेदिभिः, सर्वं लौकिकं वैदिकं च, लौकिकं पुत्रादिविवाहाद्यर्थं, ब्राह्मणभोजनाद्यर्थं स्वोपभोगार्थं च कृतं वैदिकं श्राद्धयागादिकम् । श्राद्धार्थमपि निष्पादितं पाकादिकं सर्वं यागार्थं सम्पादितं घृतान्नादिकं संभारादिकं च सर्वं भगवते निवेद्यैव भगवन्निवेदनानन्तरं पश्चात्सर्वं कार्यमिति । संभाराणां तदाज्ञापूर्वकमेव करणं निवेदनम् । तथाच स्मर्यते श्रीभागवते सप्तमस्कन्धे 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते' इति वचनादियं भक्तिमार्गमर्यादा । मर्यादा नामानुलङ्घ्याज्ञा । यथा वेदादिमर्यादोल्लङ्घनेन कार्यकरणे कर्ता दोषभाग्भवति, तथात्रापि भक्तिमार्गमर्यादोल्लङ्घनेन कार्यकरणे भक्तिमार्गीयोपि दोषभाग्भवतीति ज्ञापनाय स्थितेर्मर्यादात्वमुक्तम् । **स्थितिरिति** । एवं वस्तुमात्रस्य निवेदनावश्यकत्वमुक्त्वा कदाचिद्भगवदर्थं सम्पादितपदार्थेषु केनचिद्गृहस्थितेन बालकेन स्त्र्यादिना वा अज्ञानात्तन्मध्ये किञ्चित्स्वार्थमन्यार्थं वा विनियुक्तं चेत्, तदा भगवदर्थं सम्पादितं वस्तु सामिभुक्तमर्धभुक्तं जातम्, तदवशिष्टमसमर्पितमिति ज्ञात्वा स्वोपभोगार्थं चेत्समर्पितुमिच्छति तत्समर्पणस्य भक्तिमार्गे निषेधमाहुः **न मतमिति** । **देवदेवस्य** देवा ब्रह्मादयः, तेषामपि देवस्याराध्यस्य पुरुषोत्तमस्य तत्समर्पणं न मतम्, सामिभुक्तस्य समर्पणं **न मतं**, भक्तिमार्गे न संमतं, न कर्तव्यमित्यर्थः । शुद्धपुष्टिमार्गप्रवर्तकाचार्याणां न सम्मतं, न कर्तव्यमित्यर्थः । अथवा, स्वोपयोगार्थमानीतं वस्त्रादिकं तन्मध्ये स्वोपयुक्तं भगवते समर्प्य स्वोपभोगं[1] कृत्वा तदवशिष्टं चेद्भगवते समर्पितुमिच्छति, तदपि सामिभुक्तमिति तस्यापि समर्पणं देवदेवस्य न मतमिति ॥ ५ ॥

एवं सामिभुक्तसमर्पणनिषेधमुक्त्वा सर्वात्मना सर्वथा सदाकर्तव्यप्रकारमाहुः **तस्मादिति** ।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।

यस्मात्पूर्वमसमर्पितवस्तुसम्बन्धो न कर्तव्य इत्युक्तम्, पश्चादर्धभुक्तसमर्पणमपि न कर्तव्यमित्युक्तम्, तस्मादादौ स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्तव्यम् । विवाहानन्तरं स्वोपयोगात्पूर्वमेव स्वोपयोगार्थमेव तन्निवेदनं कर्तव्यम् । एवमपि पुत्रोत्पत्त्यनन्तरमपि पुत्रादीनां समर्पणं कर्तव्यम् । सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्तत्कार्योपयोगिवस्तुसमर्पणं कार्यम् । समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्तव्यानीत्यर्थः । अत्र कश्चित्पूर्वपक्षी शङ्कते । ननु भक्तिमार्गे भगवन्निवेदितस्यैव वस्तुनः स्वार्थं विनियोगः कर्तव्यः, न तु अनिवेदितस्येति नियम उक्तः । तस्यैकादशस्कन्धे निषेधोपि श्रूयते ।

१ स्वोपयोगमिति पाठः ।

यथा । 'अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदित'मित्याशङ्कां मार्गभेदेन परिहर्तुमाहुः दत्तापहारवचनमिति । दत्तस्य नैवेद्यादेरपहारः पुनः स्वार्थग्रहणम् । तथा च तद्वत्सकलं दत्तवस्त्रादिकमपि सकलं न ग्राह्यमित्यादिवचनं स्मृत्यादिवाक्यं भिन्नमार्गपरं मतम् । भिन्नमार्गपरं द्विविधभक्तिमार्गातिरिक्तकर्ममार्गपूजादिमार्गपरम् । तत्र हेतुः । तस्मिन्मार्गे पूजामार्गे भक्तिमार्गत्वाभावान्निवेदनस्वरूपस्यैवाप्रसिद्धेः । भक्तिमार्ग एव निवेदनस्योक्तत्वात् । अत एव श्रीभागवते 'श्रवणं कीर्तन'मिति नवधोक्तभक्तौ निवेदनस्याप्युक्तत्वाद्भक्तिमार्गे एव निवेदनम्, नान्यत्र । तथा च तत्रैवैकादशस्कन्धे 'दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति भक्तिमार्ग एव भक्तिजनकत्वेन निवेदनप्रकार उक्तः । तस्माद्भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमस्यैव सेव्यत्वात्स्वस्य सेवकत्वाद्भक्तिमार्गे सेवकस्य भगवदुपभुक्तभगवदुच्छिष्टेनैव स्वनिर्वाहस्यावश्यकत्वात्, अत एव श्रीमदुद्धवैरुक्तम् । 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलंकारचर्चिताः । उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्युक्तत्वाद्दासानामुच्छिष्टभोजनमेव स्वधर्मः । भुक्तावशिष्टस्यैवोच्छिष्टत्वात्तत्समर्पितस्य भोजनं भक्तिमार्गे एव, न तु मार्गान्तरे । अत एव भगवताप्युक्तं 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन' इति । 'भक्त्युपहृतमश्नामी'ति वचनाद्भक्तिमार्गे एव भोजनस्यावश्यकत्वम्, न तु तदतिरिक्तपूजामार्गेपि । अतो भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गेषु नैवेद्यादेर्दानमेव निवेदनपदवाच्यम्, न तु भक्तिमार्गवत्समर्पितस्याङ्गीकारः । दानं नाम स्वसत्तापरित्यागपूर्वकं परसत्तापादनम् । यथा ब्राह्मणाय गौर्दीयते, तत्र स्वसत्तापरित्यागपूर्वकं ब्राह्मणसत्तापादनं क्रियते । पुनः सा गौः स्वोपभोगाय न भवति । तथा च भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे नैवेद्यादिरपि । अतएव दत्तापहारवचनमिति दत्तापहारवचनं नैवेद्यविषयम् । तथा च सकलं नैवेद्यातिरिक्तं भगवद्दत्तवस्त्रादिकं तत्सर्वं हरेः सम्बन्धि न ग्राह्यमिति यदुक्तम्, तद्भिन्नमार्गपरम् । भक्तिमार्गातिरिक्तपूजामार्गादिपरम्, मतमिति सर्वप्रमाणसंमतमित्यर्थः । प्रमाणं तु 'त्वयोपभुक्ते'ति पूर्वमुक्तमेव ॥ ६ ॥

एवं भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे पूज्यनैवेद्याग्रहणं सोपपत्तिकमुपपाद्य भक्तिमार्गे भगवद्भुक्तोच्छिष्टेनैव भगवदीयानां व्यवहारः कर्तव्यो, नान्यथेति ज्ञापनायाहुः सेवकानामिति ।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।

सेवकानां दासानां भगवदीयानां भगवदुच्छिष्टमेव ग्राह्यम्, नान्यदित्ययं व्यवहारः प्रकारः यथाग्रे निःशङ्कं लोके प्रसिद्धो भवति, तथा अतिप्रसिद्धतया निःशङ्कतया सेवकैः समर्प्यैव कार्यम् । सिद्धौ प्रकर्षो निःशङ्कता । ततस्तादृक्प्रकारकव्यवहारकरणेनैव सर्वेषां भगवदीयानां ब्रह्मता भवति । ब्रह्मता नाम 'निर्दोषं हि समं ब्रह्मे'ति वचनात्सर्वेषां निर्दुष्टत्वं भक्तिमार्गे निवेदनानन्तरं समत्वं च ज्ञापितं भवति । सर्वेषां सजातीयत्वं

भवति, भगवदीयत्वं भवतीत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्मणि अनन्ता एवोपनिषन्निरूपिता धर्माः सन्ति, तथाप्यत्र सेवोपयोगिनिर्दुष्टत्वं भगवदीयत्वेन समत्वं च सर्वेषां भक्तिमार्गे भजनोपयोगित्वेन द्वयोरेव निर्देशः कृतः ॥ ७½ ॥

ननु भक्तिमार्गप्रवेशेपि सत्त्वादिगुणभेदेन प्रकृतिवैषम्याद्भगवदीयत्वेपि कथं सर्वेषां समत्वमित्याशङ्क्य गङ्गादृष्टान्तेन परिहरन्ति गङ्गात्वमिति ।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ॥ ८ ॥
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८½ ॥

यथा सर्वजलदोषाणां तावदेव गुणदोषादिवर्णना भवति, यावद्गङ्गाप्रवेशो न भवति । गङ्गाप्रवेशानन्तरं सर्वेषां जलानां गङ्गात्वेनैव सर्वधर्मोपयोगित्वं भवति । तद्वत् यावत्पर्यन्तं भक्तिमार्गीयाचार्यैः कृतं निवेदनं न भवति, तावदेव भगवद्भजने तदीयगुणदोषादिविचारणं संभवति । भगवदीयत्वे सम्पन्ने पूर्वाशङ्कितसत्त्वादिगुणभेदकृतदोषाणां भजनबाधनं न संभवति । अतएव श्रुतावपि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति वरणस्यैव भगवत्प्राप्तिहेतुत्वमुक्तम्, नतु सत्त्वादिगुणप्रकृतिदोषाणां बाधकत्वम् । तथा सर्वेषां जलानां गङ्गात्वे सति गुणदोषादिवर्णना न निरूप्या स्यात्, तद्वदत्रापि भक्तिमार्गेपि भगवदीयत्वसम्पत्त्यनन्तरं सर्वदोषनिवृत्तिः । तद्वदित्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयो ज्ञेयः । यथा भगवन्निवेदनेन सेवाप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तिः, तथा स्वोपयोगिपदार्थदोषनिवृत्तिर्भवति भगवन्निवेदनेनेति ज्ञापनाय चकारः । स्वोपयोगिपदार्थदोषनिवृत्तौ उपायान्तराभावार्थैवकारः । भगवन्निवेदनेनैव सर्वदोषनिवृत्तिः, न तु प्रकारान्तरेणेत्यस्यार्थस्य युक्तत्वज्ञापनाय हिशब्दः । अत्रायमाशयः । भगवच्चरणारविन्दैकदेशाङ्गुष्ठभिन्नब्रह्माण्डकटाहविवरोद्गतजलस्य चरणाङ्गुष्ठसम्बन्धमाहात्म्येन यत्र लोके गङ्गासम्बद्धजलादेर्गङ्गायाः सर्वदोषनिवर्तकत्वम्, तत्र भक्तिमार्गे साक्षात्पुरुषोत्तमस्यैव सम्बन्धात्सर्वेषां चेतनाचेतनानां सर्वदोषनिवृत्तौ किं वाच्यमिति ज्ञापनाय हिशब्दः ॥८½॥

भक्तिसिद्धान्तवाक्यानां श्रुतानां भगवन्मुखात् ।
स्वाचार्यैः पद्यबन्धानां स्वीयानां बोधसिद्धये ॥ १ ॥
व्याख्यानं[1] कृतमाचार्यपादपद्माभिधेन मे ।
स्वाचार्यास्तेन तुष्यन्तु मयि निःसाधने स्वतः ॥ २ ॥

इति श्रीमत्पितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचिता पुरुषोत्तमसिद्धान्तविवृतिः समाप्ता[2] ।

१ 'व्याख्या कृता मयाचार्यपादपद्माभिधेन या । तयाचार्याः प्रतुष्यन्तु मयि निःसाधने स्वत' इति पाठः ।

२. कृत्वा पद्यानि साक्षात् स्वयमनुभगवत्प्रोक्तवाक्याक्षराणाम्
स्वीयानां तत्तदर्थं स्फुटतरकथनं नान्यगम्यं विदित्वा ।
गोत्रे श्रीवल्लभाख्यः पुनरपि किल संभूय पद्यानि तानि
व्याख्यातार्थानि मन्ये स्वयमिह कृतवान् श्रीमदाचार्य एव ॥ १ ॥
श्रीगोकुलेशकृता टीका भक्तिसिद्धान्तसिद्धिदा । स्वसाधनस्थभक्तानां पादपद्मानुवर्तिनाम् ॥२॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीरघुनाथकृतविवृतिसमेतम् ।

दीनानुकम्पी यो भूत्वा श्रीमद्वल्लभनन्दनः ।
प्रणिनाय निजं मार्गं तं वन्दे नन्दनन्दनम् ॥ १ ॥

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

अमले शुक्ले, महानिशि अर्धरात्रे, साक्षाद् अव्यवधानेन भगवता यत्प्रोक्तमु-पदिष्टं तदेवाक्षरशोऽक्षरैः पद्यवाक्यादिरूपैः प्रदर्श्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

बृहत्त्वाद्ब्रह्म पुरुषोत्तमः तत्सम्बन्धस्तस्मिन्देहात्मनोर्निवेदनलक्षणस्तत्करणात्सर्वेषामा-ब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां सर्वेषां दोषाणां वक्ष्यमाणपञ्चविधानां दोषाणां निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धिं द्योतयति, सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यादिषु ॥ २ ॥

तत्र के ते दोषा इत्यपेक्षायामाहुः सहजा इति ।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

देहेन सहैवोत्पन्नाः कुष्ठापस्मारादयः । जीवदोषाः कामक्रोधादयः । देशोत्था मगधम्लेच्छादिदेशोत्थाः । कालो रौद्रः कल्पादिरूपस्तदुत्थाः । संयोगः पतितादिसंसर्गः । स्पर्शो निषिद्धेन्द्रियार्थसंयोगः । चकारात्कर्मजा अपि । ते सर्वेपि लोके वेदे च कथिता इत्यर्थः । तत्र केशभस्मतुषाङ्गारादिदूषितप्रदेशस्थितिः । संध्यायां चतुष्पथादि सेवनम् । म्लेच्छादिस्पर्शः । गुरुरतिः । अद्वारेण प्रवेशनमित्यादयो लोकप्रसिद्धाः । तस्मादाहिताग्निः श्रद्धादेवः स्वकृत इरिणे[1]ऽपरभूमिनावस्येत् । नामावास्यायां च पौर्णमास्यां च स्त्रियमुपेयात् । तस्मान्मलवद्वाससा न संवदेत, न सहासीत, नास्या अन्नमद्यात्, या मलवद्वाससा संभवति । तस्माद्ब्राह्मणाय नापगुरेते इत्यादयो वेदप्रसिद्धा दोषाः । ते सर्वे दुरत्यया अपि दोषा न मन्तव्याः । कथंचन कथमपीत्यर्थः । भगवत्संबन्धे संपन्ने एते दोषाः किं करिष्यन्तीति भावः ॥

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥

---

१ स्वकृतइरणेनावस्येदिति पाठः ।

अन्यथा यदि भगवत्संबन्धो नं भवेत्तदा कथमपि कदाचिदपि सर्वदोषाणां निवृत्तिः न भवेदित्यर्थः । यस्मात्संबन्धाकरणे दोषानिवृत्तिस्तस्मादसमर्पितानां भगवत्यनिवेदितानां वस्तूनामुपभोगादिव्यवहारे वर्जनं कुर्यादित्यर्थः । स्वयं कुर्यात्सेवकैः कारयेदिति भावः ॥

ननु हट्टादिस्थितवस्तूनामसमर्पितत्वादवश्योपादेयानां कथं व्यवहारे स्वीकार इत्यत्राहुः ।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कार्यमिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ।
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ॥ ५ ॥

अनन्यगत्या एवंविधस्थले हट्टाश्रितवस्तुस्वीकारेपि[1] निवेदनवद्भिः पुरुषैः समर्प्यैव पश्चात् सर्वं कार्यम् । कुर्यादिति प्रमादपाठः । इति स्थितिः एतादृशी मार्गमर्यादेत्यर्थः । अन्यमार्गीयं किंचिदुद्भाव्य तन्निषेधपूर्वकं स्वसिद्धान्तमाहुः न मतमिति । भुक्तभोजनम् । समर्पणं भगवति निवेदनम् । द्वन्द्वैकवद्भावादेकवचनम् । सामीत्येतदर्धवाचकमव्ययम् । तेनायमर्थः संपन्नः । संपादितवस्तूनामर्धं कृत्वा एकांशेन स्वोपभोगेऽनिवेदितेन पुनरन्यांशेन नैवेद्यादिरूपेण समर्पणम् । यदुपभुज्यते तदसमर्पितं तन्नोपभुज्यत इति यत्सामि द्वैविध्येन व्यवहारो बहिर्मुखानां तद्देवदेवस्य विष्णोर्मतं संमतं न भवति । मतं सिद्धान्तमिति वा । यस्मात्सर्वांशेनासमर्पणं भगवदमतं तस्मात्सर्वस्मिन्नपि कर्तव्यत्वेन प्राप्ते कार्यमात्रे आदौ प्रथमत एव सर्ववस्तूनां समर्पणं कुर्यादिति शेषः ।

'नन्वपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्या'दित्यादिवचनैर्दत्तापहारत्वादिदोषसंभवे कथं न मतमित्यत आहुः दत्तापहारवचनमिति ।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ।
न ग्राह्यमितिवाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ॥ ६ ॥

निवेदितस्वीकारे दत्तापहारलक्षणो दोषो भवतीत्येतदर्थकं यद्वचनं, तथा च तथैवान्यदपि यत्सकलमनिवेदितश्राद्धादिविषयकं तत्सर्वमपि हरेः हरिसंबन्धित्वेन न ग्राह्यं, न ज्ञेयम्, इति अस्मिन्नर्थे वाक्यं वाक्यानि सन्तीत्यर्थः । जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । तानि वाक्यानि प्रसिद्धानि सन्तीति हिशब्दार्थः । तथा चोक्तं भगवता 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पण'मिति । ब्रह्माण्डपुराणेपि 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं पानमन्नाद्यमौषधम् । अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम् । अनिवेद्य प्रभुञ्जानः प्रायश्चित्ती भवेन्नरः । तस्मात् सर्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्वदा । मुकुन्दाशनशेषं तु यो हि भुङ्क्ते दिने दिने । सिक्थे सिक्थे भवेत्पुण्यं चान्द्रायणशताधिकम् । भुक्त्वान्यदेवनैवेद्यं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् । भुक्त्वा केशवनैवेद्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते । अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नाद्यमौषधम् । अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्तजन्मानि नारकी' । श्रीभागवतेपि 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धे'त्यादिनोक्तम् । 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवता-

1 तादृशवस्तुस्वीकारे इति पाठः ।

न्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पत' इत्याद्यपि ज्ञेयम् । तर्हि निवेदितस्वीकारे निषेधवाक्यस्य का गतिरिति तत्राहुः भिन्नमार्गेति । भिन्नः पृथक् कृतो मार्गो भक्तिमार्गो येभ्यस्ते भिन्नमार्गास्तत्परं तदधिकारकमिदं भवतीत्येतन्मतं संमतम् । ये शास्त्रार्थापरिज्ञानेनान्यथा कथयन्ति, ते आसुरा एव । अतः सर्वथोपेक्ष्या इति भावः ।

नन्वेकवारमादावेवात्मना सह सर्वं निवेदितमेवास्ति किं पुनः पुनर्निवेदनेनेत्यत आहुः सेवकानामिति ।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।
गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ॥ ८ ॥
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८½ ॥

यने प्रकारेण सेवकानामपि निवेदनव्यवहारः प्रकृष्टः सिद्धो भवति तदर्थं स्वयं समर्प्यैव सर्वं कार्यम् । एवं कृते सर्वेषामपि ब्रह्मता निर्दोषत्वमित्यर्थः । ननु शरीरेण सहैव निवर्त्यानां कथमेवं निवृत्तिस्तत्राहुः तत इति । ततः ब्रह्मतानन्तरं स्थितानामपि दोषाणां गङ्गात्वं गङ्गातुल्यत्वमित्यर्थः । यथा गङ्गातिरिक्तापवित्रजलानां गङ्गाप्रवाहान्तःपातित्वे संपन्ने गङ्गात्वमेव, तेषां न ततः पृथग्भावः, गङ्गात्वे संपन्ने पूर्वकालीनगुणदोषादिकथा यथा जलानामनिरूप्या भवति, तद्वदेवात्रापि भगवत्सम्बन्धे जाते पञ्चविधदोषाणां स्थितानामप्यदोषत्वमेवेत्यर्थः । एवशब्दोऽवधारणे । हिशब्दः प्रसिद्धौ ।

इति श्रीरघुनाथकृतं सिद्धान्तरहस्यविवरणम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीकल्याणरायकृतविवृतिसमेतम् ।

फलात्मा फलसंप्राप्त्यै प्रादुर्भूय स्वसेविनाम् ।
साधनं स्वयमेवासीत् स कृष्णोऽस्तु मम प्रभुः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णेनानेकजीवोद्धारार्थमाज्ञप्तोऽहमेते जीवाः स्वभावतो दुष्टा धनाद्यासक्ता दुष्टपदार्थैर्व्याप्ताः कथमेतेषां दोषनिवृत्तिरुद्धारश्च भविष्यतीति चिन्ताकुलान् श्रीवल्लभाचार्यान् विदित्वा भगवान् एकान्तसमये चिन्तानिवर्तकमुपायमुक्तवान् । ततः श्रीवल्लभाचार्या भगवान् यस्मिन् मासे पक्षे दिवसे समये यथा यदुक्तवान् तत्सर्वंनिरूपणपूर्वकं भगवदुक्तमक्षरैः पद्यबन्धेन वक्तुं प्रतिजानते ।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

श्रावणे मासे शुक्लपक्षे एकादश्यामर्धरात्रे प्रत्यक्षेण भगवता यत्प्रोक्तम्, तदक्षरैः पद्यबन्धेन कथ्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

तदेवाहुः । ब्रह्मसम्बन्धो नाम स्वमार्गाचार्यद्वारा भगवति निवेदनं तत्करणात् पुनः स्वयंजीवदेहादीनां भगवत्युपयोगकरणात् सर्वेषां देहजीवादीनां सर्वदोषनिवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। जीवस्य स्मरणादिना भगवत्युपयोगः, देहस्य सेवादिना भगवत्युपयोगः, अन्नवस्त्रादीनां भगवद्भोगसम्पादकत्वाद्भगवत्युपयोगः । हिशब्दः प्रमाणप्रसिद्धिद्योतकः । तत्र कानिचित् प्रमाणान्युच्यन्ते । 'मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यान उद्धव' । 'सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम्' । 'भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि संभवात् ।' 'अपि चेत् सुदुराचारः' । 'न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ।' 'किरातहूणान्ध्रे'ति । 'विप्राद्विषड्गुणयुतात् ।' 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाश्रमी । पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः ।' 'न हि खलु कलुषच्छविः कदाचित्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः। भगवति स हरावनन्यचेता भृशमलिनोपि विराजते मनुष्यः ।' 'धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोनर्थनिवारकः ।' 'गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः ।' पद्मपुराणे 'अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम् । कृत्वा कृष्णोपयोग्यं हि सदा सेव्यं हि वैष्णवैः' इत्यादि । के ते दोषा इत्याकाङ्क्षायामाहुः दोषाः पञ्चविधाः स्मृता इति ॥ २ ॥

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

सहजाः शूद्रत्वकिरातादयः । देशोत्था दुष्टदेशतज्जन्यान्नाद्युपभोगजन्याः । कालोत्था दुष्टकालसंसर्गजन्याः । ते लोकवेदनिरूपिता बहव एव सन्ति । संयोगजा दुष्टसहासनादिजन्याः, 'संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै । कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्' । ते दोषत्वेन न मन्तव्याः, कथंचन लौकिकवैदिकप्रकाराभ्यामपि ।

प्रकारान्तरेण जीवादीनां सर्वदोषनिवृत्तिर्न भवतीत्याहुः ।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।

पदार्थानां विनियोगप्रकारमाहुः ।

असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।

निवेदिभिः निवेदयितृभिः सर्वं समर्प्य स्वयं भगवदुपयोगादिकं कुर्यादित्यर्थः ।

सर्वत्रोपयोगरूपसमर्पणे प्राप्ते कचिन्निषेधमाहुः ।

न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ५ ॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।

देवा ब्रह्मादयस्तेषामपि देवस्याराध्यस्य पुरुषोत्तमस्यान्येनार्धभुक्तस्यावशिष्टस्य स्वोपभोगार्थं समर्पणम् । अथ च स्मृत्यादौ लोके च यन्निन्दितं भुक्तं भोज्यं तस्य समर्पणं भगवतो भक्तानां च न सम्मतम्, अतो न कर्तव्यमित्यर्थः । यस्मादन्यभुक्तावशिष्टस्य भगवति समर्पणं निषिद्धम्, तस्मात् सर्वेषु कार्येषु कर्तव्येषु आदौ स्वोपभोगात् पूर्वमेव सर्ववस्तूनां समर्पणं कर्तव्यमित्यर्थः । अत एव पुराणेषु 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते । पितृशेषं तु यो दद्यात् हरये परमात्मने । रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन' इति ।

ननु भगवते निवेदितस्यान्नादेर्ग्रहणे दत्तस्यापहारो ग्रहणं स्यात्, 'अपि दीपावलोकं म' इत्यादिवाक्यैर्निषेधाच्च कथं निवेदितस्य ग्रहणमित्यत आहुः ।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।

दत्तापहारवचनं तथाच हरेः सम्बन्धि सकलं निवेदितं न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भक्तिमार्गभिन्नपूजामार्गमर्यादामार्गपरम् । अत्रायमाशयः । निवेदनस्य नवविधभक्तावुक्तत्वेन भक्तिरूपत्वात् 'दारान् सुता' निति सार्धश्लोकेन भक्त्यर्थत्वाच्च पूजामार्गे निवेदनाभावात् तत्र भगवते निवेदनं दानमेव । निवेदने स्वस्वत्वनिवृत्तेरभावान्निवेदितस्य भगवदुपभुक्तस्योच्छिष्टस्य प्रसादत्वेन ग्रहणे बाधकाभावात् विहितत्वाच्च दानस्य स्वस्वत्वनिवृत्तिपरस्वत्वापादनरूपत्वात् पूजामार्गे निवेदितग्रहणे दत्तापहार एव भवति । अत एवोक्तं गरुडपुराणे 'पादोदकं पिबेन्नित्यं नैवेद्यं भक्षयेद्धरेः । शेषाश्च मस्तके धार्या इति वेदानुशासनम् ॥' ब्रह्माण्डपुराणे 'मुकुन्दाशनशेषं तु यो हि भुङ्क्ते दिने दिने । सिक्थे सिक्थे भवेत्पुण्यं चान्द्रायणशताधिकम् ॥' श्रीभागवते 'त्वयोपभुक्ते'त्यादि ।

अग्रे सर्वेषां दोषाभावार्थमाहुः ।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।

स्वकीयानां भगवदीयानां लौकिकव्यवहारो यथा प्रकर्षेण सिध्यति प्रकृष्टो भवति, तथा सेवकैः पदार्थानां भगवदुपयोगं कृत्वैव सर्वं कार्यम् । एवं कृते स्वधर्मेण स्थितौ ततस्तस्माद्व्यवहारादेव ब्रह्मता 'निर्दोषं हि समं ब्रह्मे'ति ब्रह्मतुल्यता निर्दोषत्वं वैष्णवत्वेन समत्वमपि भवतीत्यर्थः ।

ननु ब्रह्मसम्बन्धकरणेपि दोषाणामनुभूयमानत्वात् कथं निर्दोषत्वं समत्वं चेत्याशङ्कां गङ्गादृष्टान्तेन परिहरन्ति ।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ॥ ८ ॥
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८½ ॥

यथा गङ्गासम्बन्धेन गङ्गारूपत्वे संपन्ने तेषां जलानां तद्दोषाणां च गङ्गात्वेनैव व्यवहारः, तथा ब्रह्मसम्बन्धे सम्पन्ने तेषां धर्माणां भगवदीयत्वेन निर्दोषत्वेनैव व्यवहारो भवतीत्यर्थः । हि युक्तोयमर्थः । यो यत्र सम्बद्धः, स तद्रूपो भवति ।

श्रीमत्कल्याणरायेण प्रणम्य स्वप्रभून् मुदा ।
श्रीमदाचार्यसिद्धान्तरहस्यविवृतिः कृता ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीव्रजोत्सवकृतविवृतिसमेतम् ।

प्रणमामि हरिं कृष्णं कृपास्निग्धेक्षणं विभुम् ।
यः स्वीयार्थे रहस्यं स्वं स्वाचार्येभ्यः समादिशत् ॥ १ ॥
तदेव पद्यबन्धेन कथितं तैः पुनः स्वतः ।
दुर्बोधं तच्च लक्ष्यं स्यात्कृपयैव तदीयया ॥ २ ॥
इति तेषामहं श्रीमदाचार्याणां निजाश्रयम् ।
नमामि चरणाम्भोजतलं कारुण्यरञ्जितम् ॥ ३ ॥

अथ साक्षाद्भगवान् दैवोद्धारार्थं स्वाज्ञयैव प्रादुर्भूतान् श्रीमदाचार्यानग्रे वक्ष्यमाणप्रबलदोषैः साक्षाद्भगवद्भजनानधिकारिणां जीवानां 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः । भगवत्सेवने योग्या नान्य' इत्युक्तत्वात्तन्निवृत्तिपूर्वकं पुनर्ब्रह्मसम्पत्तिव्यतिरेकेण तदर्थमङ्गीकारायोग्यतां मत्वा तद्दोषनिवृत्तिं प्रतीक्ष्यमाणान्दृष्ट्वा स्वयमेतन्मार्गव्यवस्थां सकलमार्गेभ्यो भिन्नामेव ज्ञापयंस्तेषां फलदानविलम्बासहिष्णुः सन् श्रीमदाचार्याणां मार्गाधिष्ठातृत्वात्स्वसिद्धान्तरहस्यं यदाज्ञापयत्, तदेव श्रीमदाचार्यचरणाः प्रत्यक्षरार्थविचारेण निरूपयन्ति ।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

यदात्मानं प्रति साक्षाद्भगवता प्रकटीभूय प्रकर्षेण स्वसिद्धान्तरहस्यत्वेनोक्तं तद-

क्षरशः, यानि भगवदुक्तान्येवाक्षराणि तदक्षररचितपद्यबन्धेन प्रत्यक्षरार्थविचारेण वा मयोच्यते । तत्र कदा कस्मिन्काले वैतदुक्तमित्याशङ्कायामाहुः श्रावणस्येति । श्रावणमासस्यामले पक्षे । श्रवणस्य विष्णुदैवतत्वात्तदुपलक्षितमासस्यापि तथात्वम् । अत एव लौकिककार्येषु शून्यत्वेन गणनायामपि वैष्णवमन्त्रोपदेशेषु प्रशस्तः । तदुक्तं 'श्रावणे सुखसम्पत्ति'रिति । तेन यथा श्रावणमासस्य दैवतं विष्णुः, तथा देवानाम्, तत्रापि पुष्टिमार्गीयाणां दैवतं प्रभुः साक्षाद्भगवानिति तेषां भगवदधीनत्वमेव, न कालकर्माधीनत्वमितरमार्गीयाणामिव । अतोऽहमेवैतेषां दोषान्नाशयामि, न दानव्रततपआदिसाधनानि । ते नाङ्गीकर्तव्या इति ज्ञापितम् । ननु तथापि भगवता ते दोषा नाशिताश्चेत्, तदाङ्गीकर्तव्या इति चेत्, तत्राहुः अमले पक्ष इति । स पक्षो यथा स्वरूपतो निर्मल एव, यथा यथा चन्द्रप्रकाशः, तथा रसानन्दपोषेणाह्लादकश्च, तथायं पुष्टिमार्गीयपक्षोपि वस्तुविचारे कृते स्वरूपतः शुद्ध एव जीवकृत्यसाध्यः ब्रह्मादीनामप्यगम्यः केवलाङ्गीकारबलेनैव तादृशानन्दपोषकश्चेति ज्ञापनाय स एव पक्ष उक्तः । एवं सति स्वरूपतः शुद्धत्वेपि पक्षस्य तज्जीवानां तु मध्येऽविद्यान्तरायजनितभगवदानन्दतिरोभावात् दुःसंसर्गात्संसारावेशेन दुष्टत्वाद्भगवदङ्गीकारानन्तरमेव मद्भजनाधिकारे सम्पन्ने भजनेनैव ते दोषा यथा यथा नष्टा भविष्यन्ति, तथा तथा तादृशानन्दपोषणेन तेऽतिशुद्धा भविष्यन्तीति भावः । ननु भोगं विना कथं नष्टा भविष्यन्ति, तत्राहुः एकादश्यामिति । एकादशी हरिदिनमुच्यते । एकादशेन्द्रियशोधिका च । हरिस्तु भक्तानां दुःखहर्ता । यदि मर्यादामार्गेऽपि दुःखं न सहते, तर्हि पुष्टिमार्गे सुतरां न सहते इति भक्तानां दोषभोगक्लेशं न कारयतीति भावः सूचितः । किञ्च । भजनाधिकारे सम्पन्ने सर्वेषां भगवत्येव विनियोगकरणे ते स्वत एव नङ्क्ष्यन्तीति कुतस्तद्भोगसम्भावनेत्यपि सूचितम् । ननु तथाप्ययं कलिकालस्तु दोषनिधिः, तत्कथं सर्वथा दोषाभावेन फलं सेत्स्यति, तत्राहुः महानिशीति । महानिशा आसुरी वेला महादोषरूपा, परन्तु पुष्टिमार्गीयाणामर्थे तस्मिन्नेव समये तान् दोषान् दूरीकृत्य प्रकटो जातः, तथात्राप्ययमेव कालः साधको भविष्यतीति तथोक्तम् । ननु कदाचित्तथा प्राकट्यं न भवेत्, तत्राहुः साक्षादिति । एतावदलौकिककरणे सामर्थ्यं किमित्याशङ्कायामुक्तं भगवतेति । अलौकिकैश्वर्यादिना स सर्वकरणसमर्थ इति । एवं सत्येतावत्सर्वाभिप्रायज्ञापनायैव श्रावणस्येत्यादिपदैः समय उक्तो, नो चेत्प्रयोजनं विना किमर्थं वदेयुः । एतेनैतदङ्गीकारे दोषनिवृत्तिप्रतीक्षा न कार्येत्युपक्रमेण तात्पर्यार्थः सूचितः ॥ १ ॥

अतः परं जीवाङ्गीकारे दोषनिवृत्तिप्रतीक्षा न कार्येत्युपकारार्थं यदुक्तं तन्निरूप्यते ।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधा मताः ॥ २ ॥

१. मूलेऽयमेव शुद्धः पाठः, तथापि केनचित् न जीवकृत्यसाध्य इति कृतः । २. तदिति पाठः ।

ब्रह्मेति । भगवान् सर्वेश्वरः सर्वान्स्वदासत्वेनानुगृह्णातीति जीवानां सहजदासत्वं सदैव वर्तते । एतदेव स्पष्टीकृतं सिद्धान्तमुक्तावल्यां भक्तिहंसे च । 'तदविद्यान्तरायभूतया स्वस्वरूपविस्मारणेनोन्मार्गगमने सति निवृत्तं प्रभुसेवास्वरूपधर्मानधिकारसम्पादकं दुष्टत्वं च जातम् । तत्तु प्रभोरेवाङ्गीकारेण दूरीकर्तुं शक्यम्, न तु सहस्रजन्मपर्यन्तमपि कृतैः साधनै'रिति । ब्रह्मसम्बन्धकरणानन्तरं साक्षात्पुरुषोत्तमसेवाधिकारे सम्पन्ने तद्भजनेनैव दोषनिवृत्तिर्भविष्यतीति तन्निरूपयन्ति ब्रह्मेति । ब्रह्मसम्बन्धकरणं नाम साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धकरणम् । तच्च श्रीमदाचार्यद्वारा शरणगमनपूर्वकम् । देहजीवयोः सर्वेषां च कोर्थः ? तत्सम्बन्धिनां दारादीनां सर्वेन्द्रियप्राणान्तःकरणादीनां च प्रभोश्चरणे समर्पणेन केवलतदीयत्वकरणम्, तत एव **देहजीवयोः सर्वेषां** च सर्वदोषनिवृत्तिर्भविष्यति । ब्रह्मसम्बन्धे जाते तद्भजनाधिकारे सम्पन्ने सर्वेषां तत्रैवोपयोगेन सर्वे दोषाः स्वयमेव नङ्क्ष्यन्तीति भावः । देहजीवयोरित्यत्र जीवस्य स्वरूपतः शुद्धत्वाद्देहसम्बन्धेनैव तस्य दुष्टत्वात्प्रथमं देहग्रहणम् । ते दोषाः के ? तत्राहुः **दोषाः पञ्चविधा मता** इति । एते दोषाः प्रथमस्कन्धीयसप्तमाध्यायोक्ताः । 'कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयंकर । त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोसि संसृते'रिति श्लोकार्थविवरणे श्रीमदाचार्यचरणैः स्फुटीकृताः 'कर्मजाः कालजाः स्वभावजा मायोद्भवा देशोद्भवाश्चे'ति । तत्र ये स्वभावजास्तेऽत्र सहजाः प्रोक्ताः । ये कालजास्ते कालोत्थाः । ये देशोद्भवास्ते देशोत्थाः । ये मायोद्भवा अविद्यासंयोगजनिताः स्वधर्मभगवद्धर्माज्ञानादयस्ते संयोगजा उक्ताः । ये कर्मजास्ते स्पर्शजा ज्ञेयाः । तत्र यादृशं कर्म, तादृशमेव देहादिकं जीवानां जायत इति नियमस्तदधीनत्वात् । तेन तत्स्पर्शजन्यत्वात् स्पर्शजत्वं तेषामुक्तमिति भावः ॥ २ ॥

तानेव गणयन्ति सहजा इति ।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

देहस्य भौतिकत्वात्प्राकृतगुणविचारेष्वेव साहजिकी प्रवृत्तिर्नाप्राकृत इति सहजा दोषाः स्वभावजा उक्ताः । किञ्च, देह इत्युपलक्षणम् । सर्वेन्द्रियाणामपि तथोक्ताः । तथैव जीवाः स्वभावतो दुष्टा इति 'अन्यत्सर्वं कर्तव्यम्, भगवद्भजनं न कर्तव्य'मित्यादयश्च जीवानां सहजास्ते । तथैव देशाः सौराष्ट्रमगधादयस्तदुत्थाः । पूर्वं ते दुष्टा एव, पुनर्यत्र गमनमात्रेण संस्कारमर्हन्ति, तत्र जन्मस्थित्यादिना विशेषतो दुष्टाः । धर्मवासनापि तेषां नास्तीति । तथैव जीवस्यापि तद्देहाभिमानात्तथात्वम् । ननु पुण्यदेशोद्भवानां दुष्टत्वं न भविष्यति, तत्राहुः **कालोत्था** इति । कलिकालस्य प्रबलदोषरूपत्वात्पुण्यदेशानामपि तद्दोषकलुषितत्वादाधिदैविकतिरोधानेन सामर्थ्याभावात्तत्रोत्पन्नदेहानामपि तथात्वमेव । तदभिमानित्वाज्जीवस्य तथात्वं स्पष्टमेव । ननु केचन सन्तोपि भविष्यन्ति, तत्राहुः

संयोगजा इति । पूर्वोक्तानां सङ्गेन अविद्यासंयोगः सतामपि भवतीति । 'तत्संसर्गी च पञ्चम' इति वाक्यात्तत्संयोगजनिता दोषास्तेष्वपि वर्तन्त इति तेषामपि तथात्वम् । ननु तादृशानां दुष्टसङ्गः कथं भवेत्, तत्राहुः स्पर्शजा इति । परम्परासम्बन्धेनापि तद्द्रव्यान्नादिसंसर्गात्तद्दोषस्पर्शो भवत्येवेति तादृशकर्मस्पर्शजनितत्वात् स्पर्शजा उक्ताः । चकारादनुक्ता अपि ज्ञेयाः । परम्परासम्बन्धेनापि स्पर्शोऽस्मिन्मार्गे बाधक इति समर्पणानन्तरं तादृशानां परम्परासम्बन्धस्पर्शोपि न भवेत्तथा स्थेयमिति ज्ञाप्यते । यद्वा । संयोगजा इति । यद्यपि केचन समीचीना अपि भविष्यन्ति, तथापि स्वपाण्डित्याभिमानात्तत्तच्छास्त्रमतेष्वेव प्रवृत्त्या तत्संयोगजनितदोषेण भगवद्भजनधर्मेष्वेवासन्मतिस्तेषामिति संयोगजा उक्ताः । भगवद्भजने सन्मतित्वेपि तेषां सकलविधिद्वारैव तत्तन्मार्गे प्रवृत्तिस्ते मार्गास्तादृशा एवेति तथात्वमेव । स्वमार्गस्तु समस्तविधिभिरस्पृष्टः । स्वमार्गीयप्रभुरपि तदस्पृष्ट एवेति तेषु तत्स्पर्शजनितदोषास्तु वर्तन्त एवेति स्पर्शजा उक्ताः । एवमपि मायोद्भवत्वकर्मोद्भवत्वे निरूपिते । एतेन तत्स्पर्शमात्रगन्धेपि प्रभुभजनानधिकार एवेत्युक्तम् । अतःपरमेते दोषा भजनानधिकारसम्पादका इत्यत्र प्रमाणमाहुः लोकेति । लोके स्मृतिपुराणादिषु तत्कृतत्वात्तेषां तथात्वमुक्तम् । अलौकिके वेदे च निरूपिताः । भगवद्भजनानधिकारसम्पादकत्वेन प्रसिद्धाः । तदुक्तम् 'नाहं वेदैः' 'न रोधयती'ति 'नायमात्मे'त्यादिना । यद्यप्येतादृशेषु सत्सु सर्वथा साक्षात्पुरुषोत्तमभजनानधिकाराद्योग्यता[1], तथापि पुष्टिमार्गस्य लोकवेदातीतत्वेन केवलाङ्गीकारैकलभ्यत्वेन तत्राङ्गीकारकरणे ते दोषा न मन्तव्याः । तस्य भजनाधिकारसम्पादकत्वात् । अङ्गीकारानन्तरं भजनेनैव ते नङ्क्ष्यन्तीति तच्छङ्कापि न कर्तव्येति कदाचनेत्युक्तम् ॥ ३ ॥

ननु दोषनिवृत्त्यनन्तरमेवाङ्गीकारे का क्षतिः, तत्राहुः अन्यथेति ।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥

मदुक्तप्रकारकाङ्गीकाराभावे त्वेतेषां दोषाणां निवृत्तिः कथञ्चन अपि न, सहस्रजन्मपर्यन्तमपि कृतैः साधनैर्न भविष्यतीत्यर्थः । साधनानामस्वधर्मत्वात् । दासानां तु सेवैव स्वधर्म इत्यङ्गीकारेणैव तदधिकारे सम्पन्ने सर्वेन्द्रियाणां तदर्थमेव विनियोगे सति तन्नाशो भवेदिति भावः । एवमङ्गीकारेण दोषनिवृत्तिप्रकारं निरूप्य ब्रह्मसम्बन्धकरणानन्तरं सेवायां जाताधिकारस्य तस्य देहेन्द्रियादीनां सर्वेषां दुःसंसर्गदुष्टान्नसम्बन्धस्य प्रबलबाधकत्वात्, तत्त्यागकथनेनैतन्मार्गस्थितिप्रकाराभाव एव, तदभावे तु सर्वथा पूर्वोक्तदोषानिवृत्तिरिति । समर्पितात्मनो ह्यसमर्पितवस्तुसम्बन्धो बाधकः, तस्मादसमर्पितानां सम्बन्धिनां वस्तूनां असमर्पितानां च वस्तूनां वर्जनं त्यागं कुर्यात् । अत्रेदं भाति । स्वयं समर्पितात्मा प्रभुणा

---

१ भजनाधिकारायोग्यतेति पाठः ।

साक्षादात्मसात्कृतः । तस्य देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणादयोपि तदङ्गीकृतास्तदधीनाः साक्षात्से-वैकव्रता भगवत्स्वरूपतत्सम्बन्धिस्वरूपान्तर्गतस्वस्वविषयग्रहणैकधर्माः, अन्ये तु स्वव्यतिरिक्ताः सर्वे बान्धवादय उदासीनाश्च भगवदनङ्गीकृताः पूर्वोक्तसेवानधिकाररूपप्रबलदोषदुष्टाः असमर्पितात्मानः, तेषां संसर्गश्च बाधको विजातीयत्वादस्वधर्मत्वाच्चेति तत्सङ्गनिषेध उक्तः । एवं सति स्वसमर्पितानां देहप्राणेन्द्रियादीनां तत्सम्बन्धिनां च प्रत्येकं केषामप्यसमर्पितसंसर्गो न कार्यः । तत्तदिन्द्रियविषयत्वेन तद्ग्रहणं न कर्तव्यम् । अनेन सर्वथा समर्पितेष्वेव सङ्गः कर्तव्यः । तेन च भगवत्येव सर्वेषां विनियोगो भविष्यतीति सूच्यते । तथा हि । सर्वथा समर्पितात्मानो ये ते साक्षाद्भगवत्सम्बन्धिव्यतिरिक्तं न किञ्चिद्गृह्णन्ति । तेषां नेत्राणि तत्स्वरूपमेव स्वविषयं गृह्णन्ति, नत्वन्यत्तद्व्यतिरिक्तम् । रसनेन्द्रियं तु तत्साक्षाद्भुक्तावशिष्टं स्वसमर्पिताङ्गीकारकरणेन परमसौभाग्यकारकं तदुत्तमहाप्रसादरूपमलौकिकरसात्मकश्रीमदास्यामृतमेवास्वादयति । घ्राणस्तु तत्स्वरूपसौरभाघ्राणमेव करोति, तदुपभुक्तपुष्पाद्याघ्राणं वा । त्वगपि स्पर्शं तदङ्गस्यैव, तत्सम्बन्धिवस्तुनो वा । श्रवणमपि तद्वचनानि तद्गुणानेव वा शृणोति । एवमेव कर्मेन्द्रियाण्यपि तत्सम्बन्धिकार्यमेव कुर्वन्ति, न तु प्राकृतविषयं किमपि गृह्णन्ति । तादृशानां भगवदीयानामैहिकमपि सर्वं भगवन्निमित्तकमेवेति सर्वथा प्राकृतविषयग्रहणाभाव एवेति तत्सङ्गेनास्यापि सर्वेषां तत्रैव विनियोगः सम्पत्स्यत इति तात्पर्यार्थः । अनेन समर्पणानन्तरं प्रभुसम्बन्धिव्यतिरिक्तकार्यं किमपि सर्वथा न कर्तव्यम् । तत्करणे त्वितरसम्बन्धेन तद्दोषसंक्रान्त्या बाहिर्मुख्यं स्वधर्महानिश्च स्यादिति भावो ज्ञापितः । एवं सति श्रवणादिकमपि तादृशभगवदीयमुखेनैव कार्यम्, नेतरेणेत्यपि सूच्यते । तच्छ्रवणस्य साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वाभावात् । किञ्च, कदाचिद्बहिःसंसर्गेपि तद्द्रव्यान्नादिकं सर्वथा न ग्राह्यमिति वस्तुपदकथनेन द्योत्यते । एवं सति लौकिकदेहनिर्वाहादिकं वैदिकमपि यावत्तावत्सर्वं समर्पितेनैव कार्यम्, न त्वसमर्पितेनेत्यपि ज्ञापितम् ॥ ४ ॥

ननु स्वस्य तु समर्पणं जातम्, परन्तु यावत्पर्यन्तं दारादीनां समर्पणं प्रत्येकं न भवेत्, तावत्पर्यन्तं तत्सम्बन्धस्य बाधकत्वमाशङ्क्य तत्र तदभावप्रकारमाहुः निवेदिभिरिति ।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ५ ॥

स्वसम्बन्धि सर्वं समर्प्यैव प्रभुसेवां कुर्यात्, न तु तन्मध्ये किञ्चिदप्यर्थं स्थापयित्वेति समर्पणमर्यादा । सा पूर्वमपि निवेदिभिस्तथैव कृता, आधुनिकैरपि तथैव कर्तव्येति शेषः । एवं सति स्वात्मना सह दारादीनामपि समर्पणं जायते । तेषामनुकूलत्वे सेवोपयोगित्वेन संसर्गे न कोपि दोषप्रसङ्गः । प्रतिकूलत्वे त्याग एव कर्तव्य इत्येतत्सर्वं 'सर्वेषां प्रभुस-

१. पुष्टेति पाठः ।

म्बन्ध' इति श्लोके नवरत्ने प्रभुचरणैरेव स्फुटीकृतम् । सेवाधिकारस्तु विशेषतः पृथगङ्गीकारे भविष्यति । एतेन यत्र दारादीनामात्मदेहार्थभूतानामपि संसर्गस्य स्वात्मना सह समर्पितत्वेन तत्रापि सेवोपयोगित्वेनैव न बाधकत्वम्, अन्यथा तथात्वमेव, तत्रान्येषामतादृशानां तथात्वे किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायोपि सूचितः । अथवा, निवेदिभिस्तादृशैः सर्वथा प्रपन्नैः सह सा पूर्वोक्ता मर्यादा कर्तव्या, किन्तु सर्वमेव स्वकीयं समर्प्य सर्वेषां भगवत्येव विनियोगं कुर्यादिति दुष्टसङ्गो निवारितः । एतेनासमर्पितानां सङ्गं त्यक्त्वा सर्वथा प्रपन्नैः सह सङ्गः कार्य इत्युक्तम् । ननु यदि दारादीनां सेवाधिकारो विशेषतः पृथक् ब्रह्मसम्बन्धकरणेनैव भवति, तदा स्वात्मना सह समर्पणस्य किं प्रयोजनं तत्राहुः न मतमिति । अयं भावः । जीवस्यात्मदेहसम्बन्धिदारादिधनपर्यन्तं यद्वस्तु तत्सर्वं स्वस्वरूपान्तःपात्येवास्तीति सर्वेषां प्रत्यहमन्यत्र स्वार्थं वोपयोगस्य पूर्वं जायमानत्वात्तस्मिन्सत्येव तन्मध्ये केवलमात्मनः समर्पणं सामिभुक्तस्य तद्भवति, तद्देवदेवस्य प्रभोर्मतं न । देव एव स्वयं निर्दुष्टो निर्दुष्टवस्तुन एव भोक्ता भवति । तस्याप्ययं देवः सर्वोत्कृष्टः । यः सर्वोत्कृष्टः स सर्वथा निर्दुष्टपदार्थस्यैवोपभोगं करोति । निर्दुष्टत्वं तु सर्वांशेनान्यसम्बन्धत्यागेन केवलं तदीयत्वकरणेनैव भवतीति तेषामन्यत्रोपयोगे विद्यमान एव तन्मध्ये केवलात्मसमर्पणस्य सर्वांशेन स्वकीयत्वाभावात् सामिभुक्तत्वेनोपभोगार्थं न सम्मतमित्यर्थः । यत्रैतत्प्रकारकसमर्पणस्यैव सामिभुक्तत्वम्, तत्र प्रमादतः स्त्रीबालादिभुक्तावशिष्टस्य निषेधस्तु प्रमाणसिद्ध इति तस्य सामिभुक्तत्वेनासम्मतत्वे किं वाच्यम् । किञ्च, दासस्याप्यसमर्पितवस्तुसम्बन्धस्य बाधकत्वात्स्वधर्महानिप्रसङ्गे स्वानुपयोगित्वेन तादृशं समर्पणं प्रभोर्न मतमित्यपि ज्ञेयम् ॥ ५ ॥

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।

तस्मादादावेव सर्ववस्तूनां दारादिधनपर्यन्तानां देहप्राणेन्द्रियादीनां समर्पणं कर्तव्यम्, अत्र प्रयोजनं सर्वकार्ये ऐहिकपारलौकिककार्ये । ऐहिकं भगवत्सेवामात्रोपयोगित्वात्तत्तदिन्द्रियविषयत्वेन स्त्रीपुत्रादिग्रहणं तन्निर्वाहादिकं च । पारलौकिकं तु सर्वेषां पूर्वोक्तानां साक्षाद्भगवदर्थोपयोगरूपकार्यम्, तदर्थं यथा भगवत्येव सर्वेषां विनियोगो भवेत्, नान्यत्र, तथान्यविनियोगादिकं त्याजयित्वा तद्विनियोगार्थमेव सर्वेषां वस्तूनां देहादिदारान्तानां तत्तत्पदार्थानां समर्पणं कर्तव्यमित्यर्थः । एवं सति सेवोपयोगित्वेनात्मशोधकत्वेन

१. संबन्धाभावेनेति पाठः ।

साक्षादलौकिकरसात्मकत्वेन प्रभूपभुक्तं तद्दत्तमहाप्रसादत्वेनैव तत्तत्पदार्थेन तावन्मात्रदेहादिनिर्वाहादिकमपि कर्तव्यम्, न तु भोगत्वेन लौकिकाद्युत्साहेन च अधिकव्ययादिकमित्यपि ज्ञापितं भवतीति सर्वमनवद्यम्। ननु निवेदितस्य सर्ववस्तूनां समर्पणेन भगवदीयत्वे जाते तद्ग्रहणनिषेधः शास्त्रेषु श्रूयते, तत्राहुः दत्तेति। स्पष्ट एवार्थः। इदं भिन्नमार्गपरं वचनम्, न तु स्वमार्गीयम्। स्वमार्गप्रकारस्तूच्यते सेवकानामिति। सेवकानां दासानां यथा व्यवहारः लोके लौकिके प्रसिद्धो वर्तते। तथा हि। सेवकस्य दासस्य सर्वं प्रभोरेव, गृहादिकमपि प्रभोरेव, न तु स्वस्येत्यखिलं तदधीनमिति। तस्यायं धर्मः। यत्सर्वेषां तत्रैवोपयोगकरणेनाहर्निशं तदेकपरतया यावद्भोगसामग्र्यादिकमपेक्षितम्, तत्तत्सामयिकं तत्सर्वं सम्पाद्य तदुपयुक्तं करोति। ततस्तदुपयोगे जाते स्वदेहादीनां दारादीनां च सार्थकत्वे सम्पन्ने तदुपयोगानवसरे कृपया तद्दत्तप्रसादस्य पूर्वोक्तधर्मरूपत्वात्तेनैव देहनिर्वाहादिकं तत्सम्बन्ध्यैहिकं च तन्मात्रोपयोगि करोति, तथा निवेदिनापि सर्वं समर्प्यैव कार्यम्। यस्य यादृक्प्रकारेण हि उपयोगः सम्पन्नो भवति, तादृक्प्रकारेणैव स्वप्रभावुपयुक्तं[1] कृत्वा तदुपयोगानवसरे तद्दत्तत्वात्पूर्वोक्तधर्मरूपेण तदुपभुक्तपदार्थेन तावन्मात्रोपयोगि देहनिर्वाहादिकमन्यदप्यैहिकं कार्यं कुर्यात्, न तु भोगादिभावेनेति स्वमार्गप्रकार उक्तः। एवं स्थितौ सर्वेषां निर्दुष्टत्वं भवेदित्याहुः सर्वेषामिति। सर्वेषां पूर्वोक्तानां देहप्राणेन्द्रियादीनां ततस्तदनन्तरं तादृक्प्रकारकस्थित्यनन्तरं ब्रह्मता भवति। सर्वेषु तदीयत्वस्फूर्त्या तदर्थमेवोपयोगकरणात्प्राकृताध्यासनिवृत्त्या सच्चिदानन्दरूपता तिरोहितानन्दस्य प्रकटतत्त्रितयात्मकता भवतीत्यर्थः। एतदेवोक्तं 'ततः संसारदुःखस्ये'त्यत्र 'वस्तुस्वभावाद्भवत' इति। किञ्च, तद्दत्तमहाप्रसादस्यापि तथात्वेन ग्रहणाद्बाह्याभ्यन्तः शुद्ध्या मायांशनिवृत्त्या निर्दुष्टता भवेदित्यर्थः। तदुक्त'मुच्छिष्टभोजिन' इति। एतेन ब्रह्मणः पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वाद्देहप्राणेन्द्रियादिषु तद्रूपत्वे सम्पन्ने पुनः सर्वदा तत्र साक्षात्पुरुषोत्तमावेशस्तिष्ठेदित्युक्तं भवति। किञ्च, ब्रह्मणि यथा विरुद्धधर्मेष्वपि दृश्यमानेषु निर्विकारत्वम्, तथा तादृशेषु लोकसंग्रहार्थं लौकिकवैदिकधर्मादिष्वपि सत्सु निर्विकारत्वमेव, न तु किमपि सविकारत्वमित्यपि ज्ञापितम्। पुनस्ते धर्मा दोषरूपत्वेन गणनीया न भवन्ति, कपटरूपत्वात्॥ ७½॥

इममेवार्थं दृष्टान्तेन प्रकटीकुर्वन्त उपसंहरन्ति गङ्गात्वमिति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि॥ ८½॥

यथा क्षुद्रनदीनां जलेषु बहवो दोषाः सन्ति, तेषां गङ्गासम्बन्धे सति तत्तन्नदीनामापि लुप्तत्वाद्गङ्गात्वमेव भवति, गङ्गात्वे सम्पन्ने तत्तद्गुणदोषादिवर्णनापि निरूपयितुं

1. तदुपयुक्तेति पाठः।

योग्या न भवति, तज्जलानां गङ्गासम्बन्धात्ते स्वयमेव नष्टा इत्यभावादेवानिरूप्यत्वमुक्तम्, तद्वत्तथात्रापि ब्रह्मसम्बन्धानन्तरमेवंप्रकारकस्थितौ ब्रह्मतायां सम्पन्नायां ते दोषाः प्राकृतांशोद्भूताः स्वयमेव लुप्ता भवन्तीति तेषामप्यनिरूप्यत्वमुक्तम् । तादृशानां लोकसंग्रहार्थं दृश्यमानानामपि केषाञ्चित्प्राकृतरीतिधर्माणां कपटरूपत्वाद्दग्धपटन्यायेनानिरूप्यत्वमेवेति सर्वमनवद्यम् । एवं जीवस्य तिरोहितानन्दस्य साधनसहितं पुनर्ब्रह्मसम्पत्तिपूर्वकं साक्षात्पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपफलयोग्यता निरूपिता ॥ ८½ ॥

ईश्वरवचननिरुक्तिः कर्तुं केनेह शक्यास्ति ।
यदियं तदर्थरीतिः स्फुरिता मे तत्कृपैव तस्यैषा ॥ १ ॥
मद्वाल्ये नो देया दृष्टिः किन्तु स्वकीयत्वे ।
मम तु तथैव भविष्यति मार्गस्थितिरन्यथा हि नो भविता ॥ २ ॥
इति निश्चयेपि शरणं प्रभो भवच्चरणपङ्कजान्येव ।
सततं मम तेनैव त्वत्करुणाशापि भाविनी फलिता ॥ ३ ॥

इति श्रीव्रजोत्सवकृतसिद्धान्तरहस्यविवृतिः सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीगोकुलोत्सवकृतविवृतिसमेतम् ।

पिबत श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजयोर्मधु ।
यद्ध्यानाद्ध्वान्तमाधूय मेधा मेधार्थमादधे ॥

अथ साक्षाद्भगवान् 'स ऐक्षते'त्यादिश्रुत्या क्रीडार्थं नानास्वभावं जगदुत्पाद्य, तत्र साक्षात्स्वसेवोपयोगित्वेन प्रकटितानां वक्ष्यमाणप्रबलदोषविस्मृतस्वधर्माणां दैवजीवानां तत्रापि पुष्टिमार्गीयाणां उत्तरदलानुभवार्थमेव पृथक्कृतानां तत्र संसर्गवशादुपचीयमानं बाहिर्मुख्यं अवलोक्य तदुद्दिधीर्षया स्वसेवायामङ्गीकारार्थं स्वाज्ञयैव प्रादुर्भूतानां श्रीमदाचार्याणां 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः । भगवत्सेवने योग्या नान्य'इति वाक्यात्तन्निष्ठदोषाभावस्य ब्रह्मविद्यासम्पत्तेश्च तत्राधिकारसम्पादकत्वात् । प्रतिपादकानां तत्तच्छास्त्रोक्तानां मन्त्रादीनां 'कलौ दशसहस्राणी'त्यादिवाक्यात्तिरोहितदेवतावत्त्वादनधिष्ठितानां तदसाधकत्वात्कथमेतेषां दोषनिवृत्तिः, कथञ्च ब्रह्मविद्यानैपुण्यम्, कथञ्च भगवत्सेवोपदेशः कर्तव्य इति

---

१. कर्मणामिति पाठः ।

विचारपरतां मत्वा स्वयं पुष्टिमार्गव्यवस्थां सकलमार्गेभ्यो भिन्नामेव ज्ञापयंस्तेषां फलदानविलम्बासहिष्णुः स्वसिद्धान्तरहस्यं यदाज्ञापयत्, तदेव कदा कस्मिन्काले केन प्रकारेणाज्ञेति प्रकाशयन्तः श्रीमदाचार्यचरणाः स्वकीयशिक्षार्थं प्रत्यक्षरविचारेण निरूपयितुं प्रतिजानते ।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

श्रावणस्येति । श्रावणस्य विष्णुदैवतत्वात्तदुपलक्षितमासस्यापि तथात्वमेव । अत एवास्योपनयनादौ निषिद्धत्वेपि वैष्णवदीक्षायां प्राशस्त्यं श्रूयते । 'श्रावणे सुखसम्पत्ति'रिति । तेन यथैतन्मासस्य दैवतं विष्णुः, तथा देवानां तत्रापि पुष्टिमार्गीयाणां प्रभुः साक्षाद्भगवानेवेति तेषां भगवदधीनत्वमेव, नतु कालाद्यधीनत्वमितरमार्गीयाणामिव । अतोहमेवैतेषां दोषनिवर्तको, न साधनान्तरापेक्षेति सूचितम् । ननु मास्तु साधनान्तरापेक्षा, भगवतैव दोषनिवृत्तौ सत्यां अङ्गीकर्तव्या इति चेत्, तत्राहुः अमले पक्ष इति । यद्यप्यमलत्वं पूर्णिमायामेव सर्वथा तमोनिवृत्तेः, तथापि अमोत्तरं चन्द्रकलासम्बन्धमात्रेण पक्षस्यामलत्वं न प्रमाणविरुद्धम्, क्रमशश्चन्द्रकलाविर्भावे तमोनिवृत्तिः प्रकाशाधिक्यमाह्लादश्च सिध्यति, तथैतेषामपि सम्बन्धमात्रेण तथात्वम् । क्रमशश्च सेवया तदाविर्भावे जातेऽनिष्टनिवृत्तिर्ज्ञानवैशिष्ट्यं भजनानन्दानुभवश्च सेत्स्यतीति भावनीयम् । तत्क्रमसूचनार्थमाहुः एकादश्यामिति । सा ह्येकादशेन्द्रियशोधिका भगवदेकदैवत्या च । तथा सा यथा सर्वेन्द्रियदोषनिवृत्तिपूर्वकं तत्र तत्र भगवदावेशं सम्पादयति, तथा वक्ष्यमाणब्रह्मसम्बन्धानन्तरं सेवायां प्रवृत्तस्य तत्तदिन्द्रियैर्भगवदीयं तत्तत्कार्यं कुर्वतो यत्र यत्र यथा यथा भगवदावेशः, तथा तथा तत्तद्दोषनिवृत्तिरिति सूच्यते । अनन्तरञ्च यथैकादश्यामेकादशेन्दुकलाविर्भावेन तमसि निवृत्तप्राये दिनत्रयानन्तरं पूर्णिमायां पूर्णेन्दुसम्बन्धः, तथा सेवायां प्रवृत्तस्यापि पूर्वोक्तक्रमेणैकादशेन्द्रियेष्वपि सर्वदोषनिवृत्त्या भगवदाविर्भावे सिद्धेऽवशिष्टत्रिगुणात्मकदेहसम्बन्धमात्रप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तौ पूर्णानन्दसम्बन्धः सूच्यते । तथा चोक्तं श्रीभागवते 'यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः । तथा तथा पश्यति तत्त्वसूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रविष्ट'मिति । भाष्ये च 'आवृत्तिरसकृदुपदेशा'दिति । श्रुतिश्च 'आत्मा वारे द्रष्टव्य' इत्यादि । ननु तथापि कालस्यासुरत्वात्कथं तत्सम्बन्धमात्रेण दोषनिवृत्तिरिति चेत्तत्राहुः महानिशीति । सा हि आसुरीवेला । असुराणामतिप्राबल्य एव हि भगवान्भक्तरक्षार्थमाविर्भवति । अक्लिष्टकर्मत्वाद्भगवतः । पूर्वमपि तथैवाविर्भावात् । एवं सति यथा पूर्वमाविर्भूय क्रमेणासुरा हताः, तथा क्रमेण दोषनिवृत्तिं विधास्यामीति भावः । तथापि आविर्भाववैजात्यात् कथं पूर्ववत्कृतिसम्भवः, तत्राहुः साक्षादिति । नन्वस्तु साक्षादाविर्भावः, अंशादिना तथात्वेपि कथं पूर्वसाजात्यम्, तत्राहुः भगवतेति । षड्गुणपूर्णेन साक्षादाविर्भूय पूर्वोक्ततत्तदभिप्रायज्ञापनपूर्वकम्, अत एव यदुक्तं तत्प्रत्यक्षरविचारेण मयोच्यते ॥

एवं प्रतिज्ञाय तद्विषयं निरूपयन्ति ब्रह्मसम्बन्धकरणादिति ।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः मताः ॥ २ ॥

दोषनिवृत्त्युपायालाभेन हि चिन्ता सा तु न कर्तव्या, कुतः, हि यस्माद्देहजीवयोरुभयोः सम्बन्धिनां सर्वेषां ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य सम्बन्धिकरणात्सर्वस्वसमर्पणेन तदीयत्वसम्पादनात्सर्वदोषनिवृत्तिर्भविष्यतीति शेषः । तथा च प्रथमं शरणं प्रविश्य सर्वसमर्पणं कारणीयम्, अनन्तरं सेवाङ्गीकर्तव्या इति सूचितम् । तथा सति सेवाभ्यासेन समर्पणानुसन्धानेन च क्रमशः सर्वत्र स्वाध्यासनिवृत्त्या भगवत्सम्बन्धस्फुरणेन च सर्वदोषनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः । कथमध्यासनिवृत्तिः, किम्प्रकारकं च तत्र तत्र भगवत्सम्बन्धभानम्, एतज्ज्ञापनाय दोपान् गणयन्ति दोषाः पञ्चविधा मता इति। मताः सर्वशास्त्रेष्वित्यर्थः । अग्रे च पञ्चविधत्वे प्रमाणमेव लोकवेदनिरूपिता इति कथयन्ति । दोषा हि अविद्याजन्याः। सा च पञ्चपर्वात्मिका तत्संख्याका एवोक्ताः । यद्यपि ते बहवः, परन्तु तेष्वेवान्तर्भूता इति । अत एवाग्रे प्रत्येकं बहुवचनमुच्यते ॥ २ ॥

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

तथा हि सहजा इति । नात्र क्रमो विवक्षितः । सहजा इति प्राणाध्यासजा उक्ताः । जातमात्रस्यैव प्राणपोषणप्रवृत्तेः प्राणाध्यासस्य सहजत्वम् । देशोत्था इति देहाध्यासजाः । तद्वतामेव तत्तद्देशगमने दोषसम्भवात् । कालोत्था इति स्वरूपविस्मृतिजन्याः । कालेनैव तत्सम्भवात् । संयोगजा इत्यन्तःकरणाध्यासजन्याः, तत्रैवेतरसंयोगे भगवद्बहिर्मुख्यस्वधर्मभगवद्धर्माज्ञानसंभवात् । स्पर्शजा इति मात्रास्पर्शजन्याः । तथा चेन्द्रियाध्यासजा उक्ताः । ते ब्रह्मसम्बन्धेन निवर्तिष्यन्त इत्यङ्गीकारे प्रतिबन्धकत्वेन न मन्तव्याः कथञ्चनापि । तत्प्रकारश्च एकादश्यादिपदसमभिव्याहारात्तात्पर्यनिरूपणेनोक्तः । अत एव ब्रह्मसम्बन्धकरणे पूर्वं स्वरूपस्मृतिस्ततो देहादीनां तद्धर्माणां तत्सम्बन्धिनां च भगवति तत्समर्पणेन तदीयत्वेन स्थितिरेव सम्पाद्यते । निर्दुष्टपदार्थसम्बन्धे निर्दोषताभिप्रायेण । लोकवेदनिरूपिता इति सर्वत्र प्रमाणकथनम् ॥ ३ ॥

यद्येवं प्रमेयबलमाश्रित्य दोषनिवृत्तेर्नाङ्गीकारः, तदा कालत्रयेपि न दोषनिवृत्तिरित्याहुः अन्यथेति ।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ॥
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥

अन्यथेति प्रमाणबलेन। अन्यत्स्पष्टम्। एवं भगवत्सम्बन्धिनामेव निर्दुष्टत्वम्, तद्व्यतिरिक्तानां तु सदोषत्वमेवेति निरूपितम् । अतो ब्रह्मसम्बन्धानन्तरं पुनस्तदतिरिक्त-

संसर्गे कुञ्जरशौचमिव सर्वं भवतीति तदनन्तरं तन्निषेधमाहुः असमर्पितेति । यतो ह्यसमर्पितानां न दोषनिवृत्तिर्ब्रह्मसम्बन्धाभावात्तस्माद्धेतोस्तेषां तत्सम्बन्धिपदार्थानां वर्जनमाचरेत्, संसर्गं न कुर्यादित्यर्थः । नन्वत्र सर्वथा भगवदीयतत्सम्बन्धिपदार्थातिरिक्त-संसर्गो निवार्यते । आत्मना सहैव समर्पितानामपि दारादीनां आनुकूल्ये न संसर्गदोषः, प्रातिकूल्ये तु 'गृहं त्यजे'दित्यपि निरूपितं निबन्धे ।

तथा सति लौकिकेऽपत्यसम्बन्धादौ वैदिकेऽकरणप्रत्यवायजनकवर्णाश्रमविहितयाग-ऋत्विग्वरणदानप्रतिग्रहादिषु असमर्पितात्मनां प्रत्युत गृहाद्यासक्तानां शुष्ककर्मजडानां संसर्गे का गतिरिति चेत्तत्राहुः ।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ९ ॥

निवेदिभिरिति । निवेदिभिरिति सहार्थे तृतीया । समर्प्यैवेत्येवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः । तथा सति समर्प्यैव करणात् सर्वस्वं समर्प्यैव समर्पणानन्तरमेव तदुत्तरक्षणस्यासुरत्वात्तत्प्रवेशव्यतिरेकेणैव तत्क्षणमारभ्यैव निवेदिभिः समर्पितसर्वस्वैर्भगवदीयैः सह सर्वलौकिकमपत्यसम्बन्धादिकं वैदिकं यागादि कुर्यात्, न तु तादृशकर्मजडैरित्यर्थः। एतेन समर्पणोत्तरक्षणस्यासुरत्वात्तत्प्रवेशात्प्रागारभ्यैव नित्यं भगवदीयं सङ्गमेव कुर्यात् । अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति सूचितम्। एतदेव नवरत्नविवरणे स्फुटीकृतं प्रभुचरणैः। 'निवेदनं तु स्मर्तव्य'मित्यत्र । अत एव श्रीमदाचार्यवंश्यानां नान्यमार्गीयप्रतिग्रहाङ्गीकारः । एतेन समर्पणक्षणमारभ्य भगवदीयैरेवापत्यसम्बन्धः, तादृशानामेव यागादौ वरणं दानप्रतिग्रहौ चेति भगवदीयधर्म इति निरूपितम्। किञ्च। भगवदिच्छां विना भक्तस्य न किञ्चित्कर्मकरणमिति नवरत्ने भक्तिहंसे च निरूपितमित्यनायासतादृशसामग्रीसम्पत्तिरेव भगवदिच्छासूचिकेति तावत्तथैव साक्षिवत्पश्यतो न कोपि दोषप्रसङ्गावसरगन्धोपीति भावः । तदुक्तं 'साक्षिणो भवताखिला' इति नवरत्ने। इदमपि कर्माग्राहित्वानुरोधादुक्तम् । वस्तुतस्त्वस्मिन्मार्गे इतरसंमेलननिषेधात्सा शङ्कैव नेत्यलम्। कुर्यादित्यत्र तु कर्तृपदं स्पष्टम्। एतद्ग्रन्थस्य शरणागतं प्रति शिक्षारूपत्वेन शिष्यस्य जागरूकत्वात् । इयं निवेदिनो मर्यादास्तीत्याहुः स्थितिरिति । ननु भगवदीयस्य सर्वथान्यसंसर्गनिषेधाद्वर्णाश्रमविषयककार्यमानेषु च तादृशानामतिदुर्लभत्वात्तथाग्रहस्य च भगवति महाभारप्रदत्वेनास्वधर्मत्वात्तत्तत्कार्यमात्राणां चावश्यकत्वात्तत्तन्निर्वाहार्थमस्तु स्वमात्रसमर्पणम्, किं दारादीनां साहित्येनेति चेत्, तत्राहुः। न मतमिति। सामिसमर्पणं भुक्तसमर्पणं च देवदेवस्य न मतम्। सामिसमर्पणतुल्यत्वज्ञापनाय समस्तं पदम् । एतेन सामिभुक्तदोषपरिहारार्थमेव स्वसमर्पणे दारादीनां साहित्यम् । तेषां साक्षात्सेवाधिकारस्तु पृथक्समर्पणेनैव भविष्यतीति सूचितम् । एतदेवोक्तं नवरत्नविवरणे। 'कस्यचिद्विशेषोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टि'रिति। पुष्टिर्नाम च साक्षात्सेवाधिकाररूपोऽनुग्रहः।

एवं सति सर्वं समर्प्य कार्यमात्रे भगवदिच्छैव नियामिकेति निश्चित्य नान्यसंसर्गं कुर्यादिति वाक्यादेतद्वारस्य प्रभुणैवाङ्गीकृतत्वादेतदपेक्षया सामिभुक्तसमर्पणस्य जघन्यतरप्रतीतेश्च । ननु भुक्तसमर्पणनिषेधे पूर्वं दारादिभिरुपभुक्तस्य देहादेरपि समर्पणमनुपपन्नमिति चेत् । न । आकस्मिकनिजदोषस्फूर्तौ पश्चात्तापपर्याकुलस्यापराधप्रतीकारमपश्यतः शरणान्तरमलभमानस्य समस्तसाधनपरित्यागपूर्वकं महापुरुषद्वारा भगवदेकशरण्यं प्रविष्टस्य भगवदिच्छया च महापुरुषेण करुणया तदेकशरणं प्रवेश्य कृतात्मनिवेदिनो दीनवत्सलेन भगवता स्वभक्तपक्षपातेन कृपयाङ्गीकृतस्य ब्रह्मसम्बन्धमात्रेण वस्तुस्वभावान्निर्दग्धनिखिलकल्मषस्य वह्निसम्बन्धेन सुवर्णस्येव निर्दुष्टत्वात् । तथा चोक्तं गीतायां 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'ति । श्रीभागवतेपि 'स्वयं समुत्तीर्ये'ति । न चैवं जडत्वसामान्यात्करुणास्पदत्वादिधर्मासम्भवाद्देहादेरपि कथमङ्गीकार इति वाच्यम् । चेतनाध्यस्तत्वात्तस्य । अत एव शवशरीरस्य शरणागमनं न वा करुणास्पदत्वादि सम्भवति । किञ्च । जीवोद्धारार्थं हि कृपया श्रीमदाचार्येभ्य एतन्मार्गमादिष्टवान् भगवान् । तथा च जीवस्य यत्र यत्र स्वाध्यासेन संग्राह्यत्वबुद्धिः, तत्र तत्र प्रभुसमर्पणे कृते स्वसम्बन्धसम्पादनेन तदध्यासनिवृत्तिं विधाय तमुद्धरति । भुक्तशेषे तु जीवस्यैव हेयत्वबुद्धेः कुतस्तदा देवदेवसमर्पणावकाशः । निषेधवाक्यं तु प्रमादतस्तथाकरणेऽवधानप्रतिपादकं सामिसमर्पणस्य च तत्तुल्यताप्रतिपादकमिति ध्येयम् । अपरञ्च । साधनदशायां हि दासधर्मस्वरूपनिरूपणमेतत् । वस्तुतस्तु केवलं पुष्टिमार्गे भावाधीनो भगवान्, यथा भावे तदप्यङ्गीकरोति । यथा वनभोजनलीलायां 'सर्वे मिथो दर्शयन्त' इति । यथा वा फलप्रकरणे 'स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धव' इत्यत्र 'तत्रोपविष्टो भगवान्' इत्यत्रः श्रीमदाचार्यैः प्रपञ्चितमिति सर्वमनवद्यम् । एतेन सामिसमर्पणस्य बलवद्दोषवत्त्वं निरूपितम् । अनन्यत्वभङ्गप्रसङ्गेन भगवदनङ्गीकारेण तथाभावप्रतिबन्धकत्वात् । अत एवाभ्यर्हितत्वेन पूर्वनिपातः । तथा चात्मना सह स्वसम्बन्धिसर्वमेव समर्पणीयम्, न त्वात्ममात्रम् । ततश्च भगवदीयैरेव सर्वव्यवहारकत्वम् न त्वन्यैरिति सिद्धम् । एवमेव ह्यग्रेपि यावज्जीवं भगवदप्राप्तेषु तत्त्वलौकिकवैदिकनिमित्तेष्वपि निर्मितानां पदार्थानां 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इति दासधर्मत्वाद्भगवते समर्पणं विधाय पश्चात्तदुपयोगं कुर्यादित्यर्थः ।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥

न ग्राह्यमितिवाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।

तस्मादिति । अयं भावः । सामिसमर्पणानङ्गीकारादात्मना सह सर्वस्वं भगवते समर्पितमनन्तरं च तत्तत्कार्ये प्राप्ते तत्तद्द्रव्यादिना तत्तत्सामग्रीं सम्पाद्यादौ भगवत एव समर्पयेत् । तद्द्रव्यनिर्मितपदार्थानां तद्भोग्यत्वात् । ततश्च तत्र विनियोगे जाते तद्दत्तमहाप्रसादत्वेन

तदुपभुक्तवासोलङ्कारादिभिर्भगवदिच्छाप्राप्तत्वात्तत्कार्यं विधेयम् । न तु स्वातन्त्र्येणानर्पयित्वेति हृदयम् । तथा साक्षादलौकिकरसात्मकत्वेन प्रभूपभुक्तत्वेन तद्दत्तमहाप्रसादत्वेनैव तत्पदार्थैस्तावन्मात्रका सेवोपयोगित्वाद्देहादिवृत्तिरपि कर्तव्या । न तु भोगत्वेन । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इति दासधर्मत्वात् । अन्यथा मार्गस्थितेरुच्छेदादन्यमार्गप्रवेशात्तत्र च भगवन्नैवेद्यग्रहणे दोषश्रवणाद्दोषभाग्भवतीत्याहुः दत्तेति । इदं वचनं भिन्नमार्गपरं सम्मतम् । दत्तं पुनः स्वोपभोगाय न ग्राह्यम्, तथा हरेः सम्बन्धि किमपि न ग्राह्यमिति यद्वाक्यं तद्भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गपरमित्यर्थः । भगवति निवेदनाभावान्निवेदितपदार्थानां भगवदुपभोगे जाते महाप्रसादस्यात्मशोधकत्वेनावश्यं ग्राह्यत्वप्रतिपादनाच्च ।

उपसंहरन्ति सेवकानामिति ।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।
गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ॥ ८ ॥
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ९ ॥

समर्प्यैव समर्पणोत्तरक्षणमारभ्य सेवकानां दासानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्धो वर्तते, तथैव व्यवहारो विधेयः । स च स्वकायदेहादिपर्यन्तपदार्थेषु स्वाम्यधीनत्वभावनया तस्मिन्नेव यथासम्भवं सर्वं विनियुज्य उच्छिष्टमात्रं भुञ्जतः सेवापरतया स्थितिः । एवं सेवतो लोकेपि दासस्य देहावसाने उत्तमत्वं सिध्यति । नारदस्येव । तथा ब्रह्मसम्बन्धकरणमारभ्य भगवति सर्वं विनियुज्य सेवतो देहादिषु भगवदीयत्वभावनया सर्वत्र भगवदावेशाद्ब्रह्मता सिध्यति । ततश्च गङ्गात्वमिति । यथा गङ्गायां निविष्टानां जलानां गङ्गात्वमेव, न तु तद्गतकरतोयादिविलम्बनादिपूर्वदोषनिरूपणमपि । तद्वदस्यापि । यद्यपि कामादयो दोषरूपाः, तथापि भगवदीयस्य भगवत्येव कामः, तत्प्रतिपक्षेषु क्रोधः, एवं यथायथं भगवत्सम्बन्धे ब्रह्मतैव सेत्स्यतीति व्यर्थैव दोषनिवृत्तिप्रतीक्षेति हृदयम् ।

श्रीमदाचार्यपादाब्जमधुमाध्वीवशादहम् ।
प्रालपं साधुभिर्भाव्यं विशोध्यं साध्वसाधु वा ॥ १ ॥

इति श्रीसिद्धान्तरहस्यविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीहरिरायोदिता सिद्धान्तरहस्यविवृतिः ।

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाविष्टचेतसा । कारिकाभिः स्वसिद्धान्तरहस्यार्थो विविच्यते ॥ १ ॥
स्वरूपेण समुद्धारस्तथा भक्त्यापि चैव हि । व्यवस्था तत्र मन्तव्यावतारानवतारतः ॥ २ ॥
अवतारे त्रिधा रूपमवतीर्णं तथा रसः । पूर्वस्तथा मूलरूपं तत्पारोक्ष्यं हि सर्वथा ॥ ३ ॥

वैकुण्ठगमनान्नित्य[1]मवस्थानस्थितेरपि । लीलाविशिष्टरूपेण हृदयैकप्रवेशतः ॥ ४ ॥
इदानीन्तनजीवानामुद्धृतिस्तु कथं भवेत्। विचार्य कृपया कृष्णो भक्त्याविष्करणोद्यतः ॥५॥
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदैः सा[2] त्रिविधा मता । मध्या श्रुतिपुराणेषु सर्वत्र विनिरूपिता ॥ ६ ॥
द्वयोर्निरूपणार्थं हि श्रीभागवतसम्भवः । व्यासावतारोपि हरेरेतदर्थक एव हि ॥ ७ ॥
तत्र मार्यादिकी भक्तिः श्रीभागवतमार्गतः । तदुक्तसाधनैरेव सिद्धा भवति सर्वथा ॥ ८ ॥
पुष्टिस्त्वनुग्रहात्मा हि साधनैर्न भवेदिति । ज्ञापयित्वा भागवते दानाय जगतीतले ॥ ९ ॥
भक्तिभावात्मकं स्वास्यं स्वयमाविश्चकार हि। तत्सम्बन्धेन सर्वेषां मूर्तिमद्भक्तियोगतः ॥१०॥
भविता भावसम्बन्धस्ततः पुष्टिः फलिष्यति। विना द्वारं हि जीवानां तत्सम्बन्धोपि दुर्लभः॥११॥
स्वरूपाज्ञानतः पूर्वं तदर्थं भगवान्हरिः । मार्गं प्रकाशयन्नाविर्भूतः कालेपि तादृशे ॥ १२॥
फलमाचार्यसम्बन्धात्तत्सम्बन्धो हि मार्गतः। अदेयदानदक्षश्चेत्यतो नाम विराजते ॥ १३॥
मार्गेत्र प्रथमं पुष्टिः सम्बन्धवरणात्मिका। मध्ये वेदोक्तमर्यादायुतभक्तिस्थितौ स्थितिः ॥१४॥
अपाषण्डित्वसिद्ध्यर्थं भगवत्तोषणाय च। फलपुष्टेर्योग्यतायै फलं कृष्णेन नान्यथा ॥ १५॥
निःसाधनत्वभङ्गः स्याद्यदि स्यात्साधनैः फलम्। एतादृङ्मार्गबोधाय प्राकट्ये तादृशो मतः॥१६॥
कालो हरेः कृपापूर्णनिःसाधनफलात्मनः। श्रावणः पुष्टिमार्गीयश्चातुर्मास्यगतत्वतः ॥ १७॥
विष्णुसम्बन्धिसम्बन्धात्सम्बन्धख्यापको मतः। बोध्यते तेन पुष्टिर्हि प्रथमं वरणात्मिका ॥१८॥
मर्यादाबोधनार्थाय पक्षः प्रोक्तोऽमलस्तथा । भक्तिमार्गीयमर्यादाबोधिकैकादशी मता ॥१९॥
प्राकट्यकालः पूर्णस्य हरेः प्रोक्ता महानिशा। निःसाधनजनोद्धृत्यै फलदानाय भूतले ॥२०॥
फलसामयिकी पुष्टिस्तेनात्र विनिरूपिता। एवंविधे हरि' काले प्रादुर्भूय निजेच्छया ॥२१॥
ब्रह्मसम्बन्धमारभ्य सर्वं मार्गं स्वयं जगौ । न भक्तैर्नावतारेण न स्वप्नप्रेरकेण च ॥ २२ ॥
न पूर्वरसरूपेण मूलरूपेण वै हरिः । उक्तवानिति बोधाय साक्षात्पदमिहोदितम् ॥ २३ ॥
सर्वलीलाविशिष्टत्वबोधाय भगवत्पदम् । साभिप्रायत्वबोधाय कथने प्रपदं मतम् ॥ २४ ॥
यदुक्तं हरिणा तद्धि प्रत्यक्षरमिहोच्यते । ब्रह्मसम्बन्धकरणादित्यादि भगवद्वचः ॥ २५ ॥
आदौ सम्बन्धकरणं कन्ययेव स्वयम्वरे। स्वस्य सर्वपदार्थानां मनसा तेन योजनम् ॥२६॥
सम्बन्धवत्या दूत्येव गुरुणा तत्कृतिर्भवेत्। सम्बन्धश्चापि निर्दोषस्तथा सर्वसमः स्मृतः ॥२७॥
वह्नेरिवेति बोधाय प्रोक्तं ब्रह्मपदं पुनः। 'निर्दोषं हि समं ब्रह्मे'त्यत्रोक्तं तत्तथाविधम् ॥२८॥
स्यात्प्रयुक्ते कृष्णपदे विषमत्वं[3] गुणाहितिः। सम्बन्धे तादृशापेक्षा नास्ति दोषनिवारणात् ॥२९॥
दोषमात्रनिवृत्त्यर्थं ब्रह्मसम्बन्ध उच्यते । गुणाधायकसम्बन्धः फलसामयिको मतः ॥३०॥
तस्मिन्वाच्ये कृष्णपदं वाच्यं कृष्णः फलात्मकः। तत्सम्बन्धे स्वतःसिद्धे फलसंसिद्धिसंभवात् ॥
अपरा कृष्णसेवादिकृतिर्वैयर्थ्यमाप्नुयात्। अतः साधनसम्बन्धो विवाह इव लौकिके ॥३२॥
तेन निर्दुष्टतासिद्धिर्विधिनेव रतौ पुनः । ईदृक्सम्बन्धबोधाय प्रोक्तं ब्रह्मपदं पुरा ॥ ३३ ॥
विषमश्च हरिः कृष्णो न यायात्समतां यतः। हेतु[4]सम्बन्धसम्बन्धात्कृष्णः साधनतां गतः ॥३४॥

---

१. नित्यलीलास्थानेति पाठः । २. सापि त्रिधेति पाठः । ३. विषयत्वम् । ४. हेतोरक्षरस्य सम्बन्धो यस्य कृष्णस्य तस्य सम्बन्धात्।

ब्रह्मेति प्रोच्यते सर्वसमत्वाद्दोषनिर्हृतेः । व्यापकत्वं च सम्बन्धे तेनैव विनिरूपितम् ॥३५॥
करणोक्त्या न मुख्योत्र[1] भावित्वान्मानसी कृतिः । युक्तः प्रथमसम्बन्धो भावात्मा भावरूपिणा ॥
अग्रिमोपि तथाभूतः[2] सर्वथा नात्र संशयः । विशेषः परमेतावान् प्रथमो मानसो मतः ॥३७॥
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि । साक्षात्स्वरूपसम्बन्धो[3] द्वितीय इति निश्चयः ॥३८॥
परं तत्रेन्द्रियादीनां कृत्यादीनां च सर्वथा । भावात्मकत्वं मन्तव्यं तादृग्रूपानुभूतितः ॥३९॥
अप्राकृतत्वं चैतद्धि बोध्यं स्यादिन्द्रियात्मनाम् । मानसे पूर्वसम्बन्धे या कृतिस्तनुवित्तजा ॥४०
सा हि साधनतां प्राप्ता प्राकृतेन्द्रियदेहजा । तथोक्तमस्मदाचार्यैस्तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा॥४१॥
एतादृशस्य योगस्य सकृत्करणमात्रतः । अयोग्यानां च योग्यानां सर्वेषामधिकारिणाम्॥४२॥
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां ब्राह्मणादेरपि स्वतः । ज्ञानाज्ञानविभेदेन हीनमध्याधिकारिणाम् ॥४३॥
श्रीकृष्णसात्कृतासूनामुत्तमाधिकृतावपि । भवति ब्रह्मसम्बन्धः समत्वात्सकलान्प्रति ॥ ४४ ॥
पुरुषोत्तमरूपत्वान्न चिन्ता तदनुग्रहे । न वा समागतां कन्यां त्यजेत्पुरुषकेसरी ॥ ४५ ॥
न च सामर्थ्यसहितः कुर्यात्कांचिद्विचारणाम् । बलादङ्गीकृतिकृतिर्न गृह्णीयात्समर्पितम् ॥४६॥
अतो न चिन्तालेशोपि विधेयः स्वीकृतौ हरेः । एतदेवास्मदाचार्यैर्नवरत्ने निरूपितम्॥४७॥
तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे । अयमेवात्र संस्कारो मन्तव्यः कृष्णसेवने॥४८॥
उपदेशस्तु सावित्र्या यथा वैदिककर्मणि । तापक्लेशगुणाधानं शुद्धिवच्च समर्पणात् ॥ ४९ ॥
यथा हि संस्कृतः शुद्धः कर्ममार्गेभिधीयते । भक्तिमार्गे तथा तापक्लेशैः शुद्धो निरूप्यते॥५०॥
शुद्धो यत्कुरुते कर्म तत्सर्वं सफलं यथा । तथात्र तापक्लेशार्तकृता सेवापि मानसी ॥ ५१ ॥
संस्कारत्वे तु सम्बन्धो देहमात्रं विशोधयेत् । गायत्रीवन्न वै जीवमित्याशङ्क्यात्र चोदितम्॥५२॥
सर्वशोधकतासिद्ध्यै पदं यद्देहजीवयोः । जीवशुद्धिरविद्यातः संसाराद्विस्मृतेर्हरेः ॥ ५३ ॥
अशुद्धिस्तदभावात्मा ब्रह्मसम्बन्धतस्तु सा । भवति ब्रह्मसम्बन्धे ह्यहन्ताममतागतिः ॥५४॥
तापक्लेशे च भगवत्स्मृतिः सार्वदिकी मता । अतः शुद्धो हि योग्यस्तु भगवद्भजने मतः॥५५॥
निवृत्तिरत्र दोषाणामेकदैव विवक्षिता । अतः सर्वपदं प्रोक्तं दोषाणां विनिवर्तने ॥ ५६ ॥
दोषत्वेनैव दोषाणां संग्रहस्तु निरूपितः । न प्रत्येकमपारत्वात्ते शक्यन्त उदीरितुम् ॥५७॥
बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं तत्पञ्चविधतोदिता । दुष्यन्ति यैस्तु देहाद्या जीवाः कृष्णोपयोगतः ॥५८॥
निवर्तन्ते सर्वथैव ते दोषाः परिकीर्तिताः । निवृत्तिस्तु द्विधा दूरीकृतेः शुद्धिकृतेरपि ॥५९॥
आद्या तु वस्त्रमालिन्यनिवृत्तिरिव शोधकैः । द्वितीया मृण्मयस्येव पाकेनेव च शुद्धता॥६०॥
सदोषाङ्गीकृतेस्तस्यास्तद्गतौ व्यर्थता भवेत् । अतोत्र विनिवृत्तिस्तु द्वितीयैव हि युज्यते॥६१॥
एतदेव हि गङ्गात्वमित्यत्राग्रे निरूपितम् । हिशब्दः सर्वदोषाणां निवृत्तौ युक्तिबोधकः ॥६२॥
कोटिसूर्याग्निरूपस्य सम्बन्धाद्दोषवारणे । निश्चयार्थोपि बोद्धव्यः सत्यसङ्कल्पवाक्यतः॥६३॥
अविद्यारूपतस्तेषां संख्या चोक्ता तथाविधा । स्मृता इति पदोक्तौ च प्रसिद्धिरपि बोधिता॥६४॥
सर्वश्रुतिपुराणेषु लोके वेदेपि चैव हि । तेषु पञ्चविधत्वोक्त्या तत्रैवान्यनिवेशनम् ॥ ६५ ॥
देहेन सह जायन्ते जीवेनापि तथा पुनः । ते हि शूद्रत्वसंसारित्वादयः सहजा मताः ॥६६॥

१ सम्बन्धः । २ न मुक्तः । ३ प्रतिमासम्बन्धः ।

नन्वासुरत्वं सहजं कथं न हि निवर्तते । ब्रह्मसम्बन्धतः सर्वदोषदाहकतोपि हि ॥ ६७ ॥
इति चेत्सत्यमेवास्ति परं सम्बन्धसम्भवः । दुर्लभस्तेषु तद्दोषाद्भक्तिमार्गाप्रवेशतः ॥ ६८ ॥
यथा कथञ्चित्सम्बन्धे तन्निवृत्तिरपीष्यते । अत एवावतारे तु सम्बन्धात्तत्कृतार्थता ॥ ६९ ॥
परं रूपेण करणं न भक्त्येति विनिश्चयः । इदानीं भक्तिमात्रेण ह्युद्धारो भगवन्मतः ॥७०॥
तदा क्रोधादिभावेपि नेदानीं तद्धि साधनम् । भक्तिसाधनसत्त्वेन तेषां भक्तिविरोधतः॥७१॥
सन्तो न कुर्युस्तत्सङ्गमिति सङ्गोपि दुर्लभः । तस्मादनवतारे तु नासुराणां फलं भवेत्॥७२॥
अङ्गवङ्गादिगमनजनिता दैशिका मताः । यथा परीक्षितः कालस्थानदानात्तथा पुनः ॥७३॥
कालावेशेन ये जातास्ते दोषाः कालिकाः स्मृताः।यथा लोके राजसेवा योग्या नैव कुरूपिणः॥
चातुर्यरहिता मूर्खा दुःशीलाः स्तेयकारिणः । कुरूपित्वादयो दोषा अतस्ते लौकिकाः स्मृताः॥
वेदोक्तविध्यकरणान्निषिद्धकरणादपि । वैदिकास्ते समाख्याता आज्ञाभङ्गो यतो हरेः॥७६॥
सान्निध्यादेव दोषाणामेकोक्तिर्देशकालयोः । निषिद्धकृतिजन्यानां तेषां लोकेपि सम्भवात्॥७७
अपकीर्त्या लौकिकेषु साङ्कर्याद्वेदवर्तिनाम् । अतस्तथैव ग्रन्थेऽस्मिन्नेकोक्तिर्लोकवेदयोः ॥७८॥
अतो लोकेषु संख्याया नाधिक्यमिह शङ्कितम् । सम्यग् योगो हि संयोगः कामलोभादयश्चसः ॥
नैरन्तर्येण संवासशयनासनभोजनैः । म्लेच्छशूद्रादिसंयोगस्तज्जाः संयोगजाः स्मृताः ॥८०॥
स्पर्शजाः स्पर्शमात्रेण प्रायश्चित्तं विधीयते । यत्र चाण्डालपतितादीनां ते तादृशा मताः ॥८१॥
एवं पञ्चविधा दोषा विज्ञेया भगवत्परैः । उक्ता अनुक्ता सर्वेपि चकारेण समुच्चिताः ॥८२॥
स्वानुभूतेः परप्रोक्तात्प्रतीता अपि सर्वथा । सेवायां बाधकत्वेन न मन्तव्या विशेषतः ॥८३॥
कथञ्चनेति पदतः सूचितोर्थो निरूपितः । तव्यप्रत्यययोगेनामननं सर्वथोच्यते ॥ ८४ ॥
अन्यथा स्यादविश्वासात्समस्तं फलमन्यथा । ननु दोषनिवृत्त्यर्थं प्रायश्चित्तादिकं कथम् ॥८५॥
अन्यत्र विहितं चात्र तदेव न किमुच्यते । किमर्थं ब्रह्मसम्बन्ध इति चेत्तत्र चोच्यते॥८६॥
विना तु ब्रह्मसम्बन्धं प्रायश्चित्तादिभिः पुनः । युगपत्सर्वदोषाणां न निवृत्तिर्भवेदिति ॥८७॥
ब्रह्मसम्बन्धकरणं सर्वदोषनिवर्तकम् । तदभावे कथं सद्यः सेवायामधिकारिता ॥ ८८ ॥
अत एवाग्रिमे पद्ये प्रोक्तं सर्वपदं पुनः । अन्यथा सर्वदोषाणामित्यत्रोक्तार्थसूचकम् ॥ ८९ ॥
एवं हि ब्रह्मसम्बन्धः संस्कारोत्र निरूपितः । तदुत्तरं तस्य सर्वसमर्पणमिहोच्यते ॥ ९० ॥
यस्मात्कृतो हि सम्बन्धो विनियोगाय सर्वथा । स्वासम्बन्धि यतः कृष्णो न गृह्णातीति निश्चयः ॥
एतदेवोक्तमाचार्यैर्वेणुगीतनिरूपणे । स्वभोगानन्तरं भोग्यो भगवान्भवतीति हि ॥ ९२ ॥
तत्रापि ब्रह्मसम्बन्धो वेणुना शब्दरूपिणा । ब्रह्मणा येन संसिद्धं देहादिविनियोजनम् ॥९३॥
तस्मात्सम्बन्धसहितो वर्जयेदसमर्पितम् । समर्पणं तु संसिध्येत्सम्बन्धादेव सर्वथा ॥ ९४ ॥
स्वसम्बन्धि यतः सर्वं गृह्णात्येवेति निश्चयः । समर्थं भक्त्युपहृतमतस्तु हरिणोदितम् ॥९५॥
गीतायां भक्तिमार्गीयप्रभुणातिदयालुना । वस्तूनामिति यत्प्रोक्तं बहुत्वं तस्य चाशयः ॥९६॥
सर्वांशेनैव तत्त्यागो नैकांशेनेति बुध्यताम् । यथा गायत्र्योपदेशः संस्कारोत्तरमुच्यते ॥९७॥
श्रुतिस्मृत्युदिताचारस्तदभावे फलं न हि । आचरेदित्यनेनात्र ब्रह्मसम्बन्धतः परम् ॥ ९८ ॥

---

१ दोषेषु ।

समर्पणं तथाचारो ह्यसमर्पितवर्जनम् । तदभावेऽङ्गहीना तु सेवा नैव फलेदिह ॥ ९९ ॥
ननु सर्वं समर्प्यं चेद्वैदिकं लौकिकं तथा । न कुर्यात्कृष्णकार्याय सम्बन्धो विहितो यतः ॥
न चान्यविनियोगोपि ह्युचितश्च निवेदिनाम् । इति चेदुच्यते सर्वं कुर्यादेव यथोदितम् ॥
मर्यादामध्यपातेन पुष्टिमार्गनिरूपणात् । निवेदो वर्तते तेषां पदार्थानां पुराकृतः ॥१०२॥
तेनैव सकलं कुर्यात्समर्प्यैव हरौ परे । देहनिर्वाहवत्कृष्णप्रसादेनेति निश्चयः ॥ १०३ ॥
स्वयं कुर्यान्न विश्वासं पुत्रादीनामपि क्वचित् । एवंप्रकारिकैवैषा स्थितिः पुष्टिफलावधि ॥
मर्यादापीयमेवेह स्थित्यर्थमवगम्यताम् । नन्वेतदुचितं नैव यत्समर्पितयोजनम् ॥ १०५ ॥
लौकिके वैदिके नीचप्रेतपित्रादियोगिनि । अतोऽसमर्पितेनैव तत्कार्यमिति चेन्न हि ॥१०६॥
युज्यते शेषभावाप्त्या निखिलं तज्जुगुप्सितम् । अर्धभुक्तं देवदेवोपयोगाय भवेन्न तु ॥ १०७ ॥
न चोचितं सेवकानां स्वामिन्येवंविधार्पणम् । एवं समर्पणासिद्धौ सम्बन्धो विफलो भवेत् ॥
अतो निषिद्धं कृष्णस्य सामिभुक्तसमर्पणम् । ननु कृत्वाखिलं कर्म लौकिकं वैदिकं तथा ॥
कृष्णार्पणैकबुद्ध्या वा पश्चात्कृष्णे समर्पयेत् । तदा न प्राप्यते दोषः कश्चित्तादृक्समर्पणे ॥
इति चेद्देवदेवो हि यस्मात्कृष्णो न केवलः । अतः सेवकशेषो हि सामिभुक्तं हरेः स्मृतम् ॥
कृष्णार्पणैकमत्या वा कृत्वा कृष्णसमर्पणम् । तत्रापि स्यादन्यशेषो मतिमात्रेण चार्पणात् ॥
सर्वथा नार्पितं कृष्णे तन्न गृह्णाति केशवः । यतः सम्बन्धवैयर्थ्यमत आदौ समर्पणम् ॥
तत्रापि सर्ववस्तूनां सर्वकार्यं तथैव च । लौकिके वैदिके वापि ह्युत्तमेऽनुत्तमेपि च ॥११४॥
पश्चाद्विधेयं सर्वं हि तदा सार्थकता भवेत् । उच्छिष्टदाने सर्वेषां माहात्म्यं चापि सिध्यति ॥
नन्वेवं लौकिकार्थं हि वैदिकार्थं तथा पुनः । समर्पितपदार्थानां ग्रहणे दोषसम्भवः ॥११६॥
दत्तापहाररूपो हि धर्ममार्गनिरूपितः । भगवच्छास्त्रसिद्धोपि नैवेद्यग्रहणात्मकः ॥ ११७ ॥
'अपि दीपावलोकं मे' इत्यादिप्रभुणोदितः । इति चेन्न यतो मार्गो भिन्नोयं पुष्टिनामकः ॥
मार्गभेदान्न दोषोत्र कर्मपूजादिरूपितः । यथाश्रमविभेदेन निषेधानां विधेरपि ॥ ११९ ॥
भिन्नतात्र तथा मार्गभेदेनापि विबुध्यताम् । न वा निवेदनं दानं येन दोषो ग्रहे भवेत् ॥
वाक्यं पूजाप्रकरणात्तद्दोषविनिरूपकम् । नन्वेवं सर्ववस्तूनां समर्प्य विनियोजनम् ॥१२१॥
प्राप्येत कामचारेण दोषाभावान्न रक्षणम् । तथा च प्रभुवस्तूनां वृथैव विनियोगतः ॥१२२॥
अन्यत्र तेन भविता सम्बन्धदृढताकृतिः । न स्वसम्बन्धिवस्तूनां नाशनं कुरुते वृथा ॥
लोकेपि दृढसम्बन्धयुतः स्वाम्य[2]र्थरक्षकः । अतः प्रोक्तं यथा लोके सेवकानां प्रकर्षतः ॥
लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो हि सिध्यति । तथा सर्वं समर्प्यैव पुनः कार्यं निवेदिभिः ॥
पदार्थैस्तेन सम्बन्धे सिद्धे भाववतां दृढे । ततः सम्बन्धतः सिध्येन्निर्दोषसमता पुनः ॥
सेवायां सर्ववस्तूनां सर्वेषामधिकारिणाम् । अतस्तदुपयोगेन फलं सिद्धं न संशयः ॥१२७॥
सर्वांशकृतसम्बन्धो यतः फलमिहोच्यते । ननु दोषनिवृत्तिः का मलस्येव हि नाशनम् ॥
अथवा परिपाकेन दोषतागमनं यथा । मृण्मयेपि घटे पाकादामतैव निवर्तते ॥ १२९ ॥
न मृण्मयत्वमेवं हि तन्निवृत्तिरिहोच्यते । इति संशयतः प्राह प्रभुर्गङ्गात्वमेव हि ॥ १३० ॥

१ क्षतिः । २ देवमतो जनः ।

दोषाणां तत्प्रविष्टानां जलानामिव सर्वथा । तत्प्रवेशे पुनस्तेषां गुणदोषादिवर्णना ॥१३१॥
गङ्गात्वेनैव कर्तव्या न पानीयप्रयोगतः । शूद्रत्वादिकथात्रापि वैष्णवत्वेन बुध्यताम् ॥१३२॥
उपदिश्य जनोद्धारं पुष्टिमार्गेण सर्वथा । निजास्यरूपाचार्येभ्यो[1] दयार्द्रेभ्यो दयानिधिः ॥
कृपया प्रकटीभूय साक्षाच्छ्रीगोकुलेश्वरः । लीलाविशिष्टरूपस्तद्धृदयं प्राविशद्धरिः ॥१३४॥
इति श्रीवल्लभाचार्यदासदासेन रूपितः । तद्वाक्यगूढवाक्यार्थस्तेन तुष्यन्तु ते मयि ॥१३५॥

इति श्रीहरिदासोदिताः सिद्धान्तरहस्यविवृतिकारिकाः समाप्ताः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीविट्ठलेश्वरविरचितविवृतिसमेतम् ।

श्रीहरिः । श्रीमदाचार्याः स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गानभिज्ञान् स्वमार्गीयसिद्धान्तजिज्ञासून् स्वसेवकान् प्रति कृपया पुरुषोत्तमसिद्धान्तं निरूपयन्ति **श्रावणस्यामले पक्ष** इति

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

अर्धरात्रे साक्षादव्यवधानेन भगवता श्रीमद्गिरिधारिणा यत्प्रोक्तं तदक्षरश इति प्रत्यक्षरेण सप्तप्रकारेण निरूप्यते । सप्तप्रकारानाह । श्लोकार्थः, अर्धश्लोकार्थः, पदार्थः, प्रकरणार्थः, वाक्यार्थः, वेदार्थः, अक्षरार्थः । एतैः सप्तप्रकारैः साक्षादन्तरालरहितं मनोवाक्शरीरैः सकलांशेन भगवता पूर्णपुरुषोत्तमेन प्रोक्तं प्रकर्षेण निश्चयं कृत्वोक्तम् । उक्तं तत् कस्मिन्नवसरे? 'श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि' इत्येतस्मिन्नवसरे प्रोक्तम् । श्रावणे यदुक्तं तत्कथं, तत्र हेतुमाहुः । श्रावणस्तु दक्षिणायनं चातुर्मास्यं च । तस्मान्निषिद्धमासे यदुक्तं तस्यायमाशयः । पुरुषोत्तमविषये सर्वदा विधिरेव, न तु निषेधः । उक्तं च 'स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषं तमहं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम्' । तथा चोक्तं दशमस्कन्धे जन्मप्रकरणे 'अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभन' इति । एतावता भगवत्प्रवृत्तिर्यदा भवति, तदा सर्वे उत्तमयोगा भवन्तीत्युक्तम् । शुक्लपक्षस्य हेतुमाह । शुक्लपक्षस्तु पूर्वजानां रात्रिः, तत्र कर्ममार्गानधिकार इति । उक्तं च एकादशस्कन्धे 'न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा । व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमा' इति । एकादश्या हेतुमाह । एकादशी शिवतिथिः, शिवस्तु भक्तप्रधानः । उक्तं च चतुर्थस्कन्धे । 'अथ भागवता

---

१ निजास्यरूपानाचार्यान् दयार्द्रानिति पाठः ।

यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा, न मे भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ।' तस्माच्छिवतिथिरुक्ता । महानिशीथस्यायमाशयः । यत् शृङ्गाररसलीलाभजनमुक्तम् । उक्तं च चतुर्थस्कन्धे 'संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य । लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्ये'ति ॥ १ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधा मताः ॥ २ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणादिति । इदानीं श्रीमदाचार्यैः श्रीगिरिधरं प्रति प्रश्नः कृतः । यत् हे सुन्दरीकान्त, भवता आज्ञा दत्ता, यज्जीवानां मदीयभजनमार्गं निरूपय । तत्र ते जीवाः सकलदोषनिधानम्, भगवान् सकलगुणनिधानम् । भगवान् पूर्णपुरुषोत्तमः । जीवस्त्वपूर्णः पुरुषाधमः । तर्हि भगवद्भजनं कर्तुं कथं योग्यो भवति । तथा च श्रुतिः 'देवो भूत्वा देवान् यजेते'ति । तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्—यद्ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वदोषनिवृत्तिः । भगवद्भजनं कर्तुमुद्युक्तो यो जीवः स तत्कालं शुद्धो भवति । तस्य शुद्धजीवस्य मया सह सम्बन्धः कार्यः । अथवा । ब्रह्मणा मया सह सम्बन्धः कार्यः । तत्सम्बन्धप्रकारा दशमस्कन्धे उक्ताः 'कामं क्रोधं भयं स्नेह'मिति श्लोके । तेषु षट्सु कामसंबन्ध उत्तमः । कामसम्बन्धात् सकलदोषनिवृत्तिः । तत्र तत्संबन्धेन यथा कस्यचिद्राज्ञो दुःकुला स्त्री कामसंबन्धेन भजन्ती राजतुल्या स्यात्, तथा अनन्यत्वेन जीवो मां भजन् शुद्धः स्यात् । कामसंबन्ध इति किम् । साध्व्या आचारः । अथ च स्वैरिणीवत् नित्यनूतनभावेन भजनमिति । उक्तं च दशमस्कन्धे 'मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः । वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे'ति । एतेनानन्यत्वेन व्यभिचारिण्या भावमादाय भजनं विधेयमिति कामसम्बन्धः । तथा चोक्तं सप्तमस्कन्धे 'नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वात्मदर्शनाः । अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा' । पुनराचार्यैः पृष्टम्, यत् पतिभावभजने वर्णाश्रमाणां मध्ये कोऽधिकारी । तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्, जीवमात्रस्य भगवद्भजनेऽधिकारः । उक्तं च सप्तमस्कन्धे 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वे'ति । सर्वेषां देहजीवयोरिति । अस्यायमर्थः । यथा देहस्य जीवसंबन्धात् सर्वदोषनिवृत्तिस्तथा ब्रह्मसंबन्धकरणादिति । यथा जीवमन्तरेण देहः अपूर्णः, तत्सम्बन्धेन सकलगुणपूर्णः, तथा ब्रह्मसंबन्धादिति । यथा जीवो देहदुःखेनातुरो भवति, तथाहं भक्तदुःखेनातुरो भवामीत्यर्थः । अथवा । देहजीवयोरिति । भगवद्भजनेन तस्य हीनजातिरोगादयो दोषाः, तथा हिंसादिपातकानि व्रजन्तीत्यर्थः । उक्तं च तृतीयस्कन्धे 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्ये'ति । पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, दोषा गता इति कथं ज्ञायते । तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्, सर्वदोषनिवृत्तिर्हीतिशब्देन । निश्चयो यदा उत्पद्यते, तदा सर्वे दोषा गता इति ज्ञातव्यम् । उक्तं च भारते 'वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।

सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ।' पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, दोषाः कति सन्ति । तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तं दोषाः पञ्चविधा मता इति । तत्रापि द्वात्रिंशद्भेदाः सन्ति ।

के ते दोषाः तान् प्रभुर्वदति सहजा देशकालोत्था इति ।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

सहजा द्वादश । देशोत्थाः सप्त । त्रयः कालोत्थाः । संयोगजाः सप्त । स्पर्शजास्त्रयः । एवं द्वात्रिंशद्भेदा वेदपुराणादिषूक्ताः । सहजा द्वादश । तत्र एकादश इन्द्रियाणां कुमार्गप्रवृत्तिरूपाः । एको देहस्य हीनजातिलक्षणः । देशस्य सप्त । उषरभूमिः, गर्दभक्षेत्रम्, दुर्जनवासः, हीनजलदेशः, जलान्तर्गतदेशः, स्वचक्रभीतिदेशः, परचक्रभीतिदेशः । त्रयः कालदोषाः प्रातरादयः । एते त्रयो दोषरूपाः । भगवद्भजने न गुणरूपाः । संयोगजाः सप्त, सहभोजनशयनासनगानमैथुनभाषनिवासादयः । मानसवाचिककायिकास्त्रयः स्पर्शजाः । एवं द्वात्रिंशत्प्रकारका दोषाः । एते प्रत्यहं भगवद्भजने क्रियमाणे सति नोत्पद्यन्ते । उक्तं च द्वितीयस्कन्धे 'यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् । लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ।' दशमस्कन्धे 'तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् ।' न मन्तव्याः कथञ्चन । भगवत्सम्बन्धे संपन्ने एते दोषाः किं करिष्यन्तीत्यर्थः । प्रयत्ने क्रियमाणे चेदुत्पद्यन्ते, तर्हि हरिमेव शरणं गच्छेत् । शरणगमनाद्धरिः रक्षत्येव । प्रत्यहं करोति चेत्, तदा पतितो भवेत् ॥ ३ ॥

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, अनन्यत्वेन पतिभावं विना प्रकारान्तरेण जीवस्य दोषाः कथञ्चिदपि न गच्छन्तीति, तत् किमन्ये मार्गाः सर्वे मिथ्याभूता इति । तदा श्रीमत्प्रभुणोक्तम्—अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चनेति । अन्यथा करणे भगवत्संबन्धो न भवेत्, तदा कथमपि किञ्चिदपि सर्वदोषाणां निवृत्तिर्न स्यादित्यसमर्पितवस्तुवर्जनं कुर्यादित्यर्थः । प्रकारान्तरेण साधननिष्ठेन किञ्चिद्दोषनिवृत्तिः, न तु सकलदोषनिवृत्तिः । यथा राज्ञः स्त्री सकलदोषरहिता भवति, तत्संबन्धिनोपि भवन्ति, परन्तु तत्संबन्धिनां सकलदोषा (न) ? गच्छन्ति । तथा भक्त्या भवति..........गच्छन्ति । ....त्वेन गच्छन्ति । उक्तं च गीतायां 'अपि चेत् सुदुराचार' इति श्लोके । एतेन पतिभावभजनेन सर्वदोषनिवृत्तिः, न तु भावान्तरभजनेनेति श्रुत्वा पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, अनन्यत्वोत्पत्तेः किं साधनम्, तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्, असमर्पितवस्तुवर्जनं कार्यम् । एतेनान्यदेवसमर्पितस्य असमर्पितस्य च वस्तुनो वर्जने क्रियमाणे भक्तिभाव उत्पद्यते । पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, असमर्पितान्यदेवसमर्पितवस्तुवर्जनं करोतीत्यावेशः

कथमुत्पद्यते। यद्यसमर्पितमश्नाति, तर्हि असुरावेशो भवति। अथ च भगवदनिवेदितनिवेदनात् सकलकर्ममिथ्यात्वम्। उक्तं च द्वितीयस्कन्धे 'तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नम' इति। तस्मात् सर्वकार्याणि भगवति निवेद्य कार्याणीति। एवमावेशः कथमुत्पद्यते, तस्य किं कथं कर्तव्यमिति पृष्टे, श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्—निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कार्यमिति स्थितिः। ये निवेदिनो धर्मिणो भक्तास्तेषां सङ्गतिः कार्या। तया सर्वे शुद्धा भवन्ति, मद्भक्तियोग्याश्च भवन्ति। एवं सत्सङ्ग एव प्राप्तेर्मूलम्। उक्तं च द्वितीयस्कन्धे 'किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः, येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः'।

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्—यत्कर्ममार्गे एवमुच्यते, अर्धं समर्प्यते, समर्पितं तदन्यस्मै दीयते, असमर्पितं च भुज्यते, तत्कथम्? तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्—देवदेवस्य पुरुषोत्तमस्य मम साम्यर्धभुक्तं समर्पणं न मतम्। उक्तं च गीतायां 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति' 'अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नाद्यमौषधम्। अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्त जन्मानि नारकी। विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभिश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते। पितृशेषं तु यो दद्यात् हरये परमात्मने। रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभाजिनः। श्रीशं समर्प्य सर्वस्वं पुनर्ग्राह्यं समर्प्य च। भोक्तव्यमेव सकलं दासो नैव च दोषभाक्'। श्रीभागवतेपि 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धे'ति। एतैः श्लोकैरेवमुक्तम्, यद् अन्यस्मै दत्तं न ग्राह्यम्, परन्तु दासवनितयोर्यद् दत्तं भवति, तद् गृह्यते, तथा दीयते, तत्र न दूषणम्॥ ४॥ ५॥

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥ ६॥

तदा पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्—यदा किञ्चित् कार्यं क्रियते, तदा त्वां कथं समर्प्यते। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्—तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणमिति। यस्मात् सर्वांशेनासमर्पणं यस्मै भगवदमतम्, तस्मात् सर्वस्मिन्नपि कर्तव्यत्वेन प्राप्ते कार्यमात्रे आदौ प्रथमत एव उत्सवं कृत्वा सर्ववस्तूनां पदार्थानां मनोवाक्कर्मभिः समर्पणं कुर्यादित्येवंविधो भक्तिमार्गोऽस्ति। उक्तं च तृतीयस्कन्धे 'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्राविककर्मणाम्। सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या। अनिमित्ता भागवती भक्तिस्सिद्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा'। एतेन हरये सर्वं कार्यं नित्यं समर्पणीयं च। तेन सर्वं कर्मवागित्यादिकं भक्तिर्भवतीत्यर्थः।

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्—दत्तापहारवचनं यत्, तत् किंविषयम्। 'अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदित'मिति। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्। निवेदितस्वीकारे दत्तापहारवचनं 'यत् हरे'रिति मत्परत्वेन न ग्राह्यम्, किन्तु भिन्नमार्गपरं ज्ञेयम्। भक्तिमार्गाद्भिन्ना ये

मार्गास्तत्परत्वेन ज्ञेयम्। अन्ये सर्वेपि प्रकाराः पुरुषोत्तमविषये न भवन्ति, किन्तु मायावादिसिद्धान्ते भवन्ति। उक्तं च सप्तमस्कन्धे 'नैषां मतिस्तावदुरुक्रमांघ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः। महीयसां पादरजोभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्'। पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्। मायावादः कस्मिन् विषये प्रवर्तते। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्—मल्लीलारसमन्तरेण सर्वं मायावाद उच्यते। उक्तं च पुराणान्तरे। 'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्। तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधा' इति। मायावादस्वरूपमाह। वेदोक्तकर्माणि मन्यन्ते, निराकारस्वरूपं भजन्ते, द्वेषेण मोक्षं मन्यन्ते, सर्वदेवान् मां च समं मन्यन्ते, सर्वमेकीकृत्य जानन्ति, प्रपञ्चमसत्यं मन्यन्त इति मायावादः।

न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति॥ ७॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्। न ग्राह्यमिति निवेद्य न ग्राह्यमिति यद्वचनं तत् मद्भजनाद्भिन्नमार्गपरं ज्ञेयम्। उक्तं च गीतायां 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मामेवाक्षयमव्ययम्'।

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्। सकलसिद्धान्तस्य फलमेकीकृत्य वक्तव्यम्। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्—लोके यथा सेवकस्य व्यवहारः प्रसिद्धोऽस्ति, तथा भजनं विधेयम्। उक्तं च गीतायां 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'। एवं प्रथममन्यसेवकवद्भजनं विधेयम्। पश्चात् पतिव्रताधर्म आयाति। पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्। सेवकस्य व्यवहारः कथमस्ति। तदा श्रीमत्प्रभुणोक्तम्—**तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत** इति। यथा लोके सेवकव्यवहारः, तथा समर्प्य कार्याणि कर्तव्यानि। एवं क्रियमाणे मदाश्रयेण ब्रह्मस्वरूपो भवति। शुद्धो भवतीत्यर्थः। यथा राज्ञः प्रथमं कश्चिज्ज्ञातीयः सेवक आगत्य तिष्ठति। राजसेवकान् मिलित्वा स्वसेवां ज्ञापयति, अहमद्य प्रभृति भवदीयोऽस्मि, तथा भक्तौ नामग्रहणम्। पश्चाद्राजा आज्ञां ददाति, तदनन्तरं पृष्ट्वा पृष्ट्वा राजकार्याणि करोति, पश्चाद्राजा पृच्छति, प्रसन्नो भवति, तदा तं स्वसदृशं करोति, तथाहमपि भक्तं शुद्धं करोमि। उक्तं च प्रथमस्कन्धे 'अतो वै कवयो नित्यं भगवत्यखिलात्मनि। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं ययात्मा सुप्रसीदति। श्रुतोनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः। सद्यः पुनाति सद्धर्मस्तन्नामग्रहणादिभिः।' एतेन मद्भजनेन मत्सदृशो भवतीति सूचितम्।

तत्र दृष्टान्तः। **गङ्गात्वं सर्वदोषाणामिति।**

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि॥ ८½॥

यथा शुद्धमशुद्धं वा जलं गङ्गान्तः पतितं सत् गङ्गातुल्यं भवति। परन्तु गङ्गामध्ये

भिन्नं तिष्ठति । शौचादिकं कुर्वन्ति जनाः, तदा गङ्गा अशुद्धं जलं ददाति, मलनिवारणार्थं निर्मलं जलं ददाति, पापक्षयार्थं गङ्गोदकं ददाति; एवं मत्सेवका मां भजन्तो मत्सदृशा भवन्ति । परन्तु सेवायां दासत्वेन श्रेयम् । यथा गङ्गायामपवित्रजलं किञ्चिद्भिन्नं भवति, तदा गङ्गोदकं न स्यात्, तथा अन्यदेवाश्रितो भवति, स शुद्धो न स्यात् । उक्तं च षष्ठस्कन्धे 'यावदन्याश्रयस्तावद्भगवानपि तं जनम् । आलोकयेन्न कृपया ह्यनन्यजनवत्सलः' । गीतायां च 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'ति । ननु सर्वधर्मेण सहैव निवर्त्यानां दोषाणां कथमेवं निवृत्तिः, तत्राहुस्तत इति । ततो ब्रह्मणि परं स्थितानामपि दोषाणां गङ्गात्वं गङ्गातुल्यत्वमित्यर्थः । यथा गङ्गातिरिक्तापवित्रजलानां गङ्गाप्रवाहान्तःपातित्वे सम्पन्ने गङ्गात्वमेव, तेषां न भवः, पृथग्भावः । गङ्गात्वे सम्पन्ने पूर्वकालीनगुणदोषादिवर्णना यथा जलानां न निरूप्या भवति, तद्वदेवात्रापि भगवत्सम्बन्धे जाते ते पञ्चविधदोषाणां स्थितानामप्यदोषत्वमित्यर्थः । एवशब्दोऽवधारणे । हि शब्दोप्युक्तं युक्तमेवेति ।

इति श्रीश्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितं सिद्धान्तरहस्यविवरणं समाप्तम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतम् ।

श्रीकृष्णदेवमुखपद्ममरन्दपूर्णवाक्यानुवादविनिवारितजीवदोषम् ।
आचार्यवर्यचरणौ हृदये निधाय नत्वा वचस्तदुदितं विवृणोति दासः ॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञया तदभिप्रेतं भक्तिमार्गं प्रकटीकरिष्यन्तो 'यो वै भूमा तत्सुखम्' 'कृषिर्भूवाचकः शब्द' इत्यादिश्रुतिभिर्निरवध्यानन्दरूपस्य भगवतः कृष्णस्य 'स वा अयमात्माऽपहतपाप्मा' इत्यादिश्रुत्या 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह' इति पञ्चरात्रस्मृत्या च निर्दोषत्वात्, 'मुक्तोपसृप्य' सूत्रे च निर्दोषैरेव सेव्य इत्यपि सिद्धत्वादिदानीन्तनानां युगदोषेण सुतरां दुष्टत्वात्तत्कृतसेवारूपाया भक्तेर्भगवतानङ्गीकारे तत्फलाभावादुपदिष्टोपि भक्तिमार्गः कथं फलिष्यतीति चिन्तां यदा कृतवन्तः, तदा तच्चिन्तानिवृत्त्यर्थमाविर्भूतेन भगवता कृपया साक्षाद्यदुक्तं तदत्र कृपया स्वीयान् ज्ञापयितुं प्राकट्यकालोक्तिपूर्वकमुपनिबध्नन्तस्तदुक्तं प्रतिजानते श्रावणस्येत्यादि ।

**श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥**

अत्र मासपक्षतिथिसमयानामुल्लेखो विवक्षितसाधनस्य साधकगताधिभौतिकादि-

त्रिविधदोषनिवृत्तिसामर्थ्यसूचनार्थः । श्रवणर्क्षं हि वैष्णवम्, तत्सम्बन्धेन प्रसिद्धो मासः श्रावणो, 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोक' इति न्यायेन साधकजनपावनः । पूर्वः पक्षोप्यमलत्वात्प्रत्यहमधिकाधिकतमोहर इति मासपक्षौ बाह्यभौतिकदोषनिवर्तकौ । एकादशी चोपवासेनैकादशेन्द्रियदोषहारिका गुणाधायिका चेत्याध्यात्मिकदोषहरा । महानिशा च भक्तरक्षार्थमाविर्भूतस्य भगवतः प्रादुर्भावकालत्वादाधिदैविकदोषहरेति । एतादृशे काले प्रादुर्भूय यत्साधनमुपदिष्टं तत्साधकनिष्ठत्रिविधदोषनिवर्तकमिति बोधितम् ।

इदमत्रोच्यमानं सर्वं भगवद्वाक्यान्याकलय्य श्रीमदाचार्यैः पद्येषु तदर्थसङ्ग्रहरूपमुक्तमिति सर्वे प्राञ्च आहुः ।

अत्र मम त्वन्यदपि प्रतिभाति । तथाहि । एकादशस्कन्धे समर्पणं स्थलचतुष्टये निरूपितम् । तत्र पूर्वं योगेश्वरवाक्येषु कविना 'ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये । अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि ता'निति लक्षयित्वा, 'यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिहे'ति तन्माहात्म्यं चोक्त्वा, 'कायेन वाचा' इति श्लोके सर्वक्रियाणां भगवदर्थे समर्पणमुक्तम् । ततोन्यानपि भक्तिपूर्वकगुरुभगवद्भजनादीनप्युक्त्वा, 'भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति'रिति द्वाभ्यां भक्तिप्रभृतीनि चत्वारि फलान्युक्तानि । ततः प्रबुद्धेन तत्र 'भागवतान्धर्मान् शिक्षे'दित्युपक्रम्य, 'सर्वतो मनसो सङ्ग'मित्यादिना तान् वदता 'इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् । दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदन'मित्याद्युक्त्वा, ततो भक्त्या मायातरणरूपं तच्छिक्षाफलमुक्तम् । एकादशाध्याये च 'भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृते'त्युद्धवप्रश्ने, 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मित्याद्यष्टभिर्भगवता सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनमिति भक्तिमध्ये गणितम्; फलं तु तत्र नोक्तम् । तेन तत्र प्रश्नवाक्योक्तो भगवदुपयोग एव फलम् । ऊनविंशे तु महद्भिर्मृग्यभक्तिप्रश्न उद्धवेन कृते 'भक्तियोगः पुरैवोक्त' इत्युक्त्वा, तत्परमकारणं कथयिष्यामीति प्रतिज्ञाय, 'श्रद्धामृतकथायां म' इत्यादिभिश्चतुर्भिस्तद्वदता, 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिना'मित्यनेनाधिकारतयात्मनिवेदनमुक्त्वा 'मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति फलमुक्तम् । अतोत्र निरूप्यमाणं ब्रह्मसम्बन्धात्मकं समर्पणं तत्फलं तत्प्राशस्त्यं तदावश्यकत्वं च यदस्ति, तत्तेषामेव वाक्यानामनुवाद इति शङ्कानिरासार्थं कालविशेषे पृथगाविर्भूय भगवतोक्तमिति बोधनाय तादृशतत्कालानुवाद[1] इति च । तथा वाक्यानि तु श्लोकरूपाण्यपि भगवत एव । अक्षरश उच्यत इति कथनात् । तेन वाक्यकथनस्यैवेयं प्रतिज्ञेति च । (ननु[2] यदि तदानीन्तनवाक्यकथनस्यैवेयं प्रतिज्ञा, तदा समर्पणगद्यमपि कुतो नोक्तमिति चेत् । उच्यते । तद्धि पञ्चाक्षरमन्त्रविवरकत्वादतिगोप्यम्, अतो नोक्तम् । शास्त्रे ह्यतिगोप्या

१ तदनुवाद इति पाठः । २ ( ) चिह्नान्तर्गतं श्रीपुरुषोत्तमैः पश्चाल्लिखितमिति प्राचीनपुस्तकेषु प्रायः तद्दर्शनाभावात् प्रतिभाति ।

मन्त्रादय उद्भियन्त एव, न तु प्रकाशतया कथ्यन्ते । यथा स्पर्शेषु यत् षोडशमेकविंशमित्यादि । तन्मन्त्रविवरकत्वं चैतस्यैव ज्ञेयम् । तत्र हि मन्त्रस्थोत्तमपुरुषान्तक्रियापदसूचितस्य कर्तुः स्वरूपम्, तस्य सपरिकरस्य भगवदीयत्वम्, तस्यैव भगवद्वियुक्तत्वादिबोधनात् मन्त्रस्थषष्ठ्युक्तभगवत्स्वामिकत्वसंबन्धशालित्वं च विवृतम्, भगवत्पदविशेषितकृष्णपदेन च निरङ्कुशजगदीश्वरत्वादिबोधनादवतारं व्यावर्त्य मन्त्रस्थं कृष्णपदं विवृतम्, तादर्थ्यचतुर्थ्या समर्पणफलं च बोधितमिति तथेति तदनुक्तिः । किञ्च, समर्पणं नवविधभक्तावात्मनिवेदनत्वेन प्रसिद्धमिति न तत्र कोपि सन्देह इत्यतोपि तथा । तस्य दोषनिवर्तकत्वं तु षष्ठस्कन्धे 'यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पुरुषनिषेवया'त्यनेन भगवदीयसङ्गादुक्तम् । किञ्च, 'दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा'इत्यत्र सर्वाशुभनिवारकत्वेन सिद्धस्य दुःसहभगवद्विरहतापस्य तदानीमभावात् सेवाङ्गीकारसम्पादिका दोषनिवृत्तिः कथं स्यादिति शङ्कानिवृत्त्यर्थं हि ब्रह्मसम्बन्धकरणपदेन तत्पूर्वोक्तं सर्वमनूद्य ततः सर्वदोषनिवृत्तिरत्राभिधित्सिता । एकादशोनविंशाध्याये भगवतात्मनिवेदनस्य भक्तिमार्गीयधर्माधिकारत्वबोधनेन एतस्यैवार्थस्य सूचनात् । अतो यद्दुरूहं तदेव व्युत्पाद्यम्, न तु निःसंदिग्धं सुबोधं वा । अतोपि तदनुक्तिरिति जानीहि । ननु वाक्यकथनप्रतिज्ञापेक्षया तदर्थकथनप्रतिज्ञैव साधीयसी, एतदुपपादनानपेक्षत्वादिति चेद्, गद्यं मन्त्रविवरणरूपम्, तस्यार्थस्य सुतरां गोप्यत्वम् । अतोर्थप्रतिज्ञायामपि सर्वेषां वाक्यानामर्थे क्रियमाणेऽपि वाक्यार्थप्रतिज्ञातत्वात् गद्यार्थः कुतो नोक्त इति शङ्का उदियात्, तदा गद्यस्यापि अर्थोवश्यं कर्तव्यत्वेनायाति, तदा वाक्यार्थयोः प्रतिज्ञायामविशेषः । तेनार्थप्रतिज्ञापेक्षया श्रीमुखवाक्यप्रतिज्ञा गरीयसीति सैव कृता । गद्यार्थः कुतो नोक्त इति शङ्कायास्तदाप्युदयात् । उदितायां तस्यां तत्राप्युपपादनस्यावश्यकत्वमिति पक्षद्वयेपि विशेषाभावात् । यत् पुनः प्राचीनैरत्र किमपि नोक्तम्, तत्रैतद्गोप्यत्वमेव बीजम् । मया तु यदिदमुक्तम्, तद्बहिर्मुखमुखध्वंसार्थमेवेति न तद्विरोधो दोषाय । यद्यपि मदुक्तौ मार्गरहस्यप्रकाशनापराध आयाति, तथापि प्रकाशनस्यान्यैरेव कृतत्वेन तदर्थसन्देहवारणस्यैव मत्कृतितया स्वोत्कर्षप्रकाशनार्थत्वाभावाद् भगवान् श्रीमदाचार्यचरणाश्च मदपराधं क्षमन्त्विति विज्ञापयामीतिदिक् ।) न च प्रबुद्धोक्तदारसुतगृहप्राणनिवेदनस्य कव्युक्तकायादिधर्मसमर्पणस्यैकादशाध्यायोक्तस्य दास्येनात्मनिवेदनस्य च गद्ये प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्समर्पणगद्यस्य तदनुवादत्वं शक्यम् । अर्थतः शब्दतो वा पुरोवादसादृश्यस्यानुवादत्वतन्त्रस्यात्रानुपलम्भात् । तदुक्तफलस्यात्राकथनाच्च । किन्तु सेवाकरणोपदेशात्पूर्वं ब्रह्मसंबन्धकरणेनोनविंशोक्तसेवाधिकारत्वस्यात्र स्फुटत्वादात्मनिवेदनपूर्वकं क्रियमाणसेवाफलत्वेनोक्ताया महद्भिस्त्र्यग्भक्तेरत्र सहस्रपरीत्यादिनाधिकारिविशेषणेन फलतया सूचनात्प्रबुद्धाद्युक्तार्थसंग्रहेप्यन्तःकरणास्नेहपराणामधिकानां निवेशनेनोनविंशोक्ताधिकारिविशेषणसूचितसंस्कारस्वरूपनिश्चायकेऽस्मिन् गद्ये योगेश्वराद्युक्तातिरिक्तमेवेदं समर्पणं बोध्यते । न चान्तःकरणाद्यन्तकथनस्याधिक्यात् समर्प्यत्वांशे अप्रामाण्यं

शङ्क्यम् । अम्बरीषमभिप्रेत्य 'ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्, हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे' इति नवमस्कन्धे दुर्वाससं प्रति भगवद्वाक्ये तेषामपि बोधनात् । न चास्मिन् वाक्ये हित्वेति पदाद्दारादित्याग एव बोध्यते, नतु समर्पणमिति तदंशे कथमस्य प्रामाण्यमिति शङ्क्यम् । अम्बरीषस्य तदानीं राज्यदशासद्भावेन परमहंसवद्बहिस्त्यागस्याभावादान्तर एव स वाच्यः । राजा च 'करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु'इत्यादिवाक्यान्महाराजोपचारेण स्वयं सेवां करोतीति भगवद्धर्मं जानन् रक्षकत्वेन भगवन्तमनुसन्दधानस्तानि कथं न समर्पयेदित्यर्थत एव प्राप्तत्वात् । वस्तुतस्तु राजा मर्यादापुष्टावङ्गीकृतो, न केवलपुष्टौ, न वा पुष्टिमर्यादायाम्, अतस्तस्य महद्भिर्मृग्यभक्त्यर्थित्वाभावात्तत्र तदकथनेप्यदोषः । तस्य तदर्थित्वाभावे च 'केवलेन हि भावेने'ति सन्दर्भे तदनुल्लेख एव गमकः । श्रीकृष्णावतारात् प्राक् तस्य मार्गस्याप्राकट्यादिति । तेन यदस्मिन् गद्ये उच्यते, तत्र कस्याप्यनुवादः, किन्तु कर्मणः कल्पसूत्रवदिदमात्मनिवेदनप्रकारनिश्चायकम्[1], अतो नात्रानुवादशङ्कालेश इति दिक् । न च भवत्वेवम्, तथाप्यत्र पूर्वोक्तवाक्यार्थसङ्ग्राहकत्वं तु स्फुटम् । तथा सति तत्र पुरुषाणां जिज्ञासूनामेवाधिकारदर्शनादत्र पुमांस एवाधिकुर्युः, नतु स्त्रियोपीति शङ्क्यम् । 'को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् । न भजेत्सर्वतो मृत्युरुपास्यममरोत्तमैः । सर्वेधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप । देवोसुरो मनुष्यो वे'त्यादिवाक्यैरिन्द्रियवत्त्वेनैव सर्वेषां नवविधायामपि भक्तौ सामान्येनाधिकारसिद्धौ भक्तिविशेषभूत आत्मनिवेदने स्त्रीणां नाधिकार इति वक्तुमशक्यत्वात्, निषेधाभावात्, प्रत्युत सप्तमस्कन्धे 'तत्तु कालस्य दीर्घत्वात्स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदध'इति दैत्यबालकान् प्रति प्रह्लादवाक्ये कयाधूमुद्दिश्य नारदेन नवविधभक्त्युपदेशस्य बोधनेन तस्यां तस्यापि प्राप्तेश्च । भगवताप्येकादशे सम्वादं समापयता 'साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिता'मिति शूद्रयोषिद्भ्यो भक्तिसद्भावे पूर्वोक्तसर्वकथनस्याज्ञप्तत्वात् । कथनस्य च यथाधिकारं करणैकप्रयोजनत्वात् । 'विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोन्त्यजाः । रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ । बहवो मत्पदं प्राप्ता' इति तासामपि सत्सङ्गफलस्यापि बोधनाच्च । न च भवतु स्त्रीणामप्यात्मनिवेदनेधिकारः, तथापि स्त्रीव्यक्तिवीतरागिबालानां निवेदने कार्यमाणे तेषां दाराद्यभावात्तत्र तत्पदाकथनं पत्याद्यूहश्च प्राप्नोति, अन्यथा तेषामसमर्पितत्वे तत्सङ्गाद्दोषः स्यात्, अतः स तत्र कुतो न क्रियत इति शङ्क्यम् । सृष्टिन्यायाद्भूमनिबन्धनया गौण्या दारपदात्पत्युः सुतपदात् पित्रोश्चोपलक्षणे तेषां समर्पितत्वसिद्धेः पूर्वोक्तदोषासंसर्गे तत्प्रयोजनाभावात् । सृष्टिन्यायस्तु पूर्वतन्त्रे प्रथमाध्यायस्योपान्त्ये । तत्र हि 'सृष्टिरूपं दधाती'तिवाक्यं सृष्टिसञ्ज्ञकानामिष्टकानामुपधानं विधत्ते । तत्र काः सृष्टय इत्याकाङ्क्षायाम् 'तद्वानासामुपधानो मन्त्र' इति पाणिनिसूत्राद्यदुपधाने सृष्टिवान् मन्त्रस्ताः सृष्टय इति सिध्यति[2] । मन्त्रास्तु 'ब्रह्मासृज्यत, भूतान्यसृज्यन्त' इत्यादयः पश्चात्पठ्यन्ते । प्रथममन्त्रे सृजतिर्न प्रयुक्तः, किन्तु दधाति प्रयुक्तः,

१. निश्चायकमिति बोध्यमिति पाठः । २ ४-४-१२५ सूत्रपाठे ।

एकया स्तुवत प्रजा अधीयन्तेति तत्पाठात् । तथापि द्वितीयतृतीयादिषु बहुषु मन्त्रेषु सृजति धातुप्रयोगाद्भूमरूपं सादृश्यमस्तीति सृष्टिशब्दः । स सृष्टिसङ्गं बोधयतीति । ननु भवत्वेवम्, तथापि देहाद्यात्मान्तान् समर्पयामीत्यनुक्त्वा, यदत्रैवमुक्तम्, तत्र किं बीजमिति चेत् । उच्यते । विधेयांशनिष्कर्षोनूद्येष्वध्यासाभावाय तत्स्वरूपस्फुटीकरणं चेति जानीहि । अत्र ह्यात्मनिवेदने सर्वसाहित्यं विधेयमिति देहादीननूद्यात्मसाहित्यमवयुत्या निरूप्यते । देहादयोऽहमित्यध्यासविषयास्तद्धर्मा अहं ममेत्युभयाध्यासविषया दारादयः केवलममता-विषया इति । आत्मना सहेति सहपदप्रयोगस्तु पितरि निमन्त्रिते पुत्रः पित्रा सहागत इत्यत्रेव प्राधान्यं न विहन्ति । तस्माद्दद्ये बोध्यमानं समर्पणमूनविंशोक्ताधिकारस्वरूपस्यैव बोधकम्, ननु कस्याप्यनुवादः, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वादिति । प्रकृतमनुसरामः ॥ १ ॥

एवं प्रतिज्ञाय वाक्यान्याहुर्ब्रह्मसम्बन्धेत्यादि ।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

ब्रह्मसम्बन्धो नाम सर्वस्मिन् भगवत्स्वामिकत्वरूपः सम्बन्धः, तस्य करणं नाम भगवता आचार्यान् प्रति गद्येनोक्तो य आत्मसमर्पणप्रकारः, तद्रीत्या भगवति स्वात्मसहितस्वीयसर्वपदार्थानां भगवति तथात्वविज्ञापनम् । 'स वै नैव रेमे' इति श्रुतेः, 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्यु'रित्या-दिवाक्याच्च, वस्तुतः सर्वस्य भगवदीयत्वेपि 'स वै नैवे'त्यादिश्रुत्या रमणार्थं द्वितीय-निर्माणादिश्रावणात्तेनापादिता या तत्तत्पदार्थे जीवस्य स्वत्वस्वीयत्वाभिमतिः तत्परि-त्यागेन तेषु भगवदीयत्वस्य विज्ञापनमिति यावत् । तस्मात्सर्वेषां समर्पितात्मनां देहजीवयोः स्थूललिङ्गशरीरयोः । सर्वदोषनिवृत्तिः । हि निश्चयेन । (यतो भगवतैव गीतायां 'यत् करोषि यदश्नासी'त्यादिना सर्वकर्मार्पणं कर्तव्यत्वेनोपदिश्य, 'शुभाशुभ-फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै'रिति तत्फलमुक्तम् । एकादशे च 'यानास्थाय नरो राज'न्नित्यनेन प्रमादाद्यभावरूपं भगवद्धर्मास्थितिफलमुक्तम् ।) युक्तं चैतत् । वस्तुतः सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वात्तत्र भगवदीयत्वेऽनुसंहिते तदुपदेहभूतप्राकृतगुणजन्यदोषस्य निवृत्तिर्भवतीति । तथा च जीवादिदोषवशात्तत्कृतसेवाङ्गीकारविषयिणी चिन्ता न कार्येत्यर्थः । अत्र सर्वेषामित्यनेन 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा । भजन मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वय'मिति सप्तमस्कन्धीयप्रह्लादवाक्योक्ताः सर्वेपि भजना-धिकारिणः सङ्गृहीताः । जीवपदेन च शरीरविशिष्टश्चेतनः, ननु केवलः, तस्मिन् स्वतो दोषाभावस्यासङ्गश्रुत्या शारीरब्राह्मणे सिद्धत्वात् । देहपदस्य पृथगुक्तिस्तु स्थूलशरीरदोषाणा-मभीक्ष्णमनुभूयमानतया दोषाकरत्वबोधनार्था । यद्वा । जीवपदेनाविद्यासम्बन्धवांश्चेतनः । देहपदेन देहद्वयमिति बोध्यम् । ननु ब्रह्मसम्बन्धकरणमात्राच्चेत्सर्वेषां देहजीवगतसर्वदोष-

१. ( ) इदमपि श्रीपुरुषोत्तमानां पाश्चात्त्यम् ।

निवृत्तिः, तदा निर्दुष्टत्वात् प्रतिबन्धकाभावेन तदानीमेव सेवया मुख्यफलप्राप्तिः, गद्ये तादर्थ्येनैव समर्पणस्योक्तत्वात्, तस्य दानहेतुकत्वाद्भगवदिच्छाधीनत्वात्, तदभावेपि सायुज्यप्राप्तिस्तु स्यादेव । तत्र प्रतिबन्धकस्याभावात् सेवायाश्च पूर्वं कृतत्वात्, प्रमाणसिद्धायास्तस्या नैष्फल्यस्य[1] वक्तुमशक्यत्वात् । तथा सति विवक्षितस्य पुष्टिमर्यादाभक्तिमार्गस्यैवोच्छेदः, उपदेशकस्याभावात् । किञ्च, उक्तरीत्या ब्रह्मसम्बन्धकरणोत्तरमपि दोषाणां प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानत्वात्तद्विरोधोपीति कथं तन्निवृत्त्यवगतिरित्याकाङ्क्षायां दोषानिवृत्तिस्वरूपं वक्तुं पूर्वं दोषान् गणयंस्तन्निवृत्तिस्वरूपं सपादश्लोकेन भगवानाहेत्याहुर्दोषा इत्यादि । अत्र जीवस्य सहजा दोषा अविद्यासम्बन्धतत्कृताभिमतिप्राणधारणप्रयत्नाः । लिङ्गदेहस्य सहजाः कामक्रोधादयः क्षुधादयश्च । स्थूलदेहस्य सहजास्तु मातापितृमलानुषङ्गात्मत्वं रोगादयश्च । देशकालोत्थादयस्तु देहयोरेव, न जीवस्य । ते तद्द्वारा जीव उपचर्यन्ते । तत्र देशोत्था मगधमरुसिन्धुप्रभृतिदेशेषूत्पत्त्या तत्र गमनादिना च जाताः । कालोत्थाः कलिप्रभवा दुर्मुहूर्तप्रभवा अवस्थादिकृताश्च । उत्थशब्दो द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तेनात्र दोषद्वयम् । एतान् भक्तिमार्गीयेभ्यो दोषेभ्यो व्यावर्तयितुं विशिंषन्ति लोकवेदनिरूपिता इति । इदं च विशेषणं देहलीदीपवत् पूर्वापरयोः सम्बध्यत इति पञ्चस्वपि तदन्वयः । उचितं चैतत् । 'गुणदोषभिदा दृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वत' इत्येकादशस्कन्ध उद्धववाक्ये गुणदोषयोः श्रुतिमूलकत्वस्य कथनात् लोकस्यापि दूरतस्तदुपजीवकत्वादिति । संयोगजाः । बुद्धिपूर्वकं कामेन च सम्यङ्मनोयोगजन्याः । स्पर्शजा अबुद्धिपूर्वकमकामतश्च जाताः । ते कथञ्चन केनापि श्रौतेन वा स्मार्तेन वा लौकिकेन वा प्रकारेण न मन्तव्याः सेवाप्रतिबन्धकतया न विचारणीयाः । ब्रह्मसम्बन्धकरणोत्तरं देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु तद्धर्मेषु च भगवदीयत्वेऽनुसंहिते तत्स्वामित्वेन तत्प्रेरकत्वेन च भगवत एवानुसन्धानात्तेषां स्वसम्बन्धित्वनिवृत्तिरिति तेषां स्वरूपतः सत्त्वेपि पारक्यवत् तं प्रत्यकिञ्चित्करत्वात्तेषां सेवाप्रतिबन्धकत्वनिवृत्तिरेव निवृत्तित्वेनाभिप्रेता, नतु स्वरूपतो निवृत्तिरत्राभिप्रेता । तथा च स्वरूपतः सत्त्वान्न तदानीमेव सायुज्यादिप्राप्तिः, न वा प्रत्यक्षविरोधः । प्रतिबन्धसामर्थ्यस्य निवृत्तत्वाच्च सेवाङ्गीकार इति न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः । नन्वेवंविधाया दोषनिवृत्तेः प्रायश्चित्तादिनापि संभवाद्ब्रह्मसम्बन्धतः को विशेष इत्यत आहुरन्यथेत्यादि । अन्यथा एतदतिहाय सर्वदोषाणां निवृत्तिः कथञ्चन केनापि कर्मज्ञानभक्तिरूपेण साधनेन न, दोषहेतूनां कर्मदेशकालानां विद्यमानत्वात्तैः संयोगस्पर्शाभ्यां तदुत्पत्तिनैयत्यात् । कृते तु ब्रह्मसम्बन्धे दूष्येषु जीवदेहादिषु भगवदीयत्वानुसन्धानात्तेषु स्वसम्बन्धनिवृत्तेर्दोषाणामकिञ्चित्करत्वमितीदमेव स्वतन्त्रं दोषनिवृत्तिसाधनम्, नान्यदित्यर्थः ।

अत्रेदं बोध्यम् । एकादशस्कन्धे 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे'तिवाक्ये भगवता त्रीणि जीवानां श्रेयःसाधनान्युक्तानि । श्रेयश्च

---

१. नैर्वल्यमिति पाठः ।

दुःखाभावः सुखं चेति । चतुर्थस्कन्धे 'श्रेयस्त्वं कतमद्राजन्कर्मणात्मन ईहसे । दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यत' इति नारदेनोक्तम् । तत्र पूर्वं दुःखाभावो मृग्यः । बुद्धेस्तत्रैव प्रथमप्रवृत्तेः । दुःखं च पूर्वोक्तेभ्य एव दोषेभ्यः । दोषाणां च निवृत्तिर्न प्रायश्चित्तकर्मणा आत्यन्तिकी । तदुत्तरमपि पुनः पापे मनःप्रवृत्तिदर्शनात् । 'कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते । अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शन'मिति षष्ठे शुकवाक्याच्च । न च तर्हि ज्ञानात्तन्निवृत्तिरस्तु । 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथे'ति गीतायां भगवद्वाक्याच्चेति शङ्क्यम् । 'नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्त्युत । एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते । तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च । त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन च । देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः । क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानल' इति त्रिषु प्रथमे पथ्याशनदृष्टान्तेन शनैर्नानासाधनतः क्षेमशब्दोदितज्ञानोत्पत्तिमुक्त्वा, द्वितीये तत्सहकारीणि नवसाधनान्युक्त्वा, तृतीये पापनाशकथनात् । श्रीधरीये तप ऐकाग्र्यम् । 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तप' इति स्मृतेः । ब्रह्मचर्यं च 'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव चे'त्यष्टाङ्गमैथुनाद्विपरीतम् । शमो मनोनिग्रहः । दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहः । त्यागो दानम् । सत्यं सत्यभाषणम् । शौचं देहाशुद्धिनिवारक आचारः । यमोऽहिंसादिः । नियमो जपादिरिति तेषां विवरणात् । एवं बहुकालतो दोषनिवृत्तिरिति सहकार्यभाव इदानीं ज्ञानस्योत्पत्तेरेव दुर्घटत्वात्कथञ्चित् भवनेपि सहकारिसंपत्तेर्दुर्लभत्वाच्च ।

अतः परं भक्तितो दोषनिवृत्तिरवशिष्यते । 'केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः । अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः । न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया । सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः । सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः । प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निःपुनन्ति राजेन्द्र सुराभाण्डमिवापगाः । सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह । न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृता' इति वाक्यैस्तस्या अपि पापनिवारकत्वेनोक्तत्वात् । सा तु ब्रह्मसम्बन्धकरणादेव सिध्यति, न तु तदतिहाय । तथा हि । अत्र प्रथमे 'केचि'दितिपदेन तादृशाधिकारिणां दुर्लभत्वं सूचितम् । 'केवलये'तिपदेन सहकारिनिरपेक्षत्वबोधनाद्भक्तेर्ज्ञानापेक्षया प्राबल्यं च बोधितम् । 'कार्त्स्न्य'पदेन नीहारभास्करदृष्टान्तेन च निरन्वयपापध्वंसजनकत्वम् । प्रौढे भास्करे नीहारस्य तथा नाशात् । द्वितीये 'कृष्णार्पितप्राण' इत्यधिकारिविशेषणेन तस्य कृतब्रह्मसम्बन्धत्वस्य बोधनात् । उचितं चैतत् । अपहतपाप्मनः स्वस्वामित्वेऽनुसंहिते दोषनिवृत्तेर्युक्तत्वादिति । परमयं विशेषः । तथा हि । तत्र तृतीयान्तेन 'तत्पूरुषनिषेवये'तिपदेन सर्वदा भगवद्भक्तसङ्गित्वं च सूचितम् । तृतीये मार्गोत्कर्षबोधनार्थं भगवद्भक्तस्वरूपबोधनेन दाम्भिकादिसंसर्गत्यागः सूचितः ।

चतुर्थे बहिर्मुखकृतप्रायश्चित्तस्य 'सुराभाण्डमिवापगा' दृष्टान्तेन वैफल्यमुक्त्वा, पञ्चमे सकृद्भगवच्चरणनिवेशितमनस्तद्गुणरागि येषां जातम्, तेषां यमतद्भटदर्शनाभावबोधनेन पापानां निःशेषनाशो निगमितः, ततोऽजामिलोपाख्याने प्रपञ्चितश्च । अतो भगवद्भक्तसङ्गो दाम्भिकतत्सङ्गत्यागः साधनान्तरश्रद्धाराहित्यं भगवद्गुणरागिचित्तत्वं च यदा भवति, तदा तथेति । यतस्तस्यापि निर्णयः श्रीमदाचार्यैस्तत्रत्यनिबन्धे 'भगवत्सेवका ये तु कथञ्चिद्भिन्नतां गताः। सर्वात्मना पापनाशस्तेषामेव भवेत् ध्रुव'मिति कारिकया निरूपितः। एवं सति ये पूर्वं भगवत्सेवकाः कुतश्चन हेतोरिहागताः, तेषामेवार्थेऽयं मार्ग इति त एव ब्रह्मसम्बन्धकरणे तेन निवृत्तसर्वदोषा भवन्ति । त एव च तत्राधिकुर्वन्ति । अत एव निबन्धारम्भे 'सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः । भवान्तसम्भवा दैवात्तेषामर्थे निरूप्यत' इत्युक्तम् । एवं च यद्यपि 'सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृपे'ति भावस्थानविषयकवाक्योक्तदृष्टान्तात् 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा । भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वय'मिति सप्तमस्कन्धीयप्रह्लादवाक्याच्च स्वरूपयोग्यतारूपः सर्वेषामधिकारः, तथापि फलमुख उक्तविधानामेव। अतो ब्रह्मसम्बन्धस्तादृशामेव कारणीयः। तादृशत्वं चोत्कटभजनादरजनिकया गुरुशुश्रूषया तदनुकूलप्रश्नमार्गरुचि[illegible]शभाषाचारैश्चावधारणीयम्। यः पुनः पूर्वं पापाचारः पश्चाद्भगवन्मार्गे उत्कण्ठते, सोप्युपदेष्टव्यः, 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि स' इतिवाक्ये तादृशस्यापि साधुतया मन्तव्यत्वकथनात् । 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' इत्यनेनाग्रे तदभिज्ञापकस्यास्यापि कथनाच्च । यस्तु स्वयमनुत्कण्ठः सत्सङ्गात्कुलपारंपर्याद्वोपसीदेत्, सोप्युपदेशमर्हति। परं तत्र भगवत्कृपायाः सन्दिग्धत्वात्फलमुखता न निश्चेतुं शक्या। तथापि तदुपदेष्टरि न दोषमावहति । सत्सङ्गादिना तथा सम्भावनया कृतत्वात् । स परं परीक्षणीयः । यदि पश्चाच्छ्रद्धत्ते भगवद्धर्मे, तदा तु 'यथा यथा हरिः कृष्णो मनस्याविशते निजे । तथा तथा साधनेषु परिनिष्ठा विवर्धत'इत्याचार्यचरणोक्तात् ज्ञापकान्मार्गरीत्या बोधनीयः। यद्युदास्ते, तदा न बोधनीयः। यदा तु बाहिर्मुख्यं प्रकटयति, तदा तूपेक्षणीयः। 'ईश्वरे तदधीने च बालिशेषु द्विषत्सु च । प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यम' इत्येकादशस्कन्धे योगेश्वरवाक्ये भागवतलक्षणे तथोक्तत्वात् । 'निवेदितात्मभिन्नेषु सदौदासीन्यमाचरेत् । प्रावाहिकास्तेपि चेत् स्युरुपेक्षैवोचिता सदे'ति विज्ञप्तौ प्रभुचरणैरपि तथोक्तत्वात् । 'विजातीयजनाक्रान्ते निजधर्मस्य गोपनम् । देशे विधाय सततं स्थेयमित्येव भासते । हरेरेव तथेच्छास्ति सर्वोद्धृतिविरोधिनी । अन्यथाचार्यविमुखाः कथमेतत्पथि स्थिता' इति पत्रे[1]ऽपि तथा लिखितत्वाच्च । तदेतदौच्छृङ्खल्यनिवारणाय मार्गरीतिबोधनाय तत्रान्यथाबुद्ध्यपहाराय च प्रसङ्गादुक्तम् ।

---

१ इदं पत्रं वेणुनादे मुद्रितम् ।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।

प्राञ्चिभस्त्वत्र पञ्चविधदोषस्वरूपमात्रं स्वस्वविचारितरीत्योच्यते, न तु प्रासङ्गिकं विचार्यते, न वा प्रत्यक्षविरोधः परिह्रियते । तथा सति तन्मतेनाधुनिकानां जघन्याधिकारिणां तद्रीत्या दोषनिवृत्त्यादिः क्लेशेन साधयितव्य इति तन्मतं विहाय श्रीरघुनाथानां विवरणमनुसृत्यैवं विवृतम् । श्रीगोकुलनाथैस्त्वत्र पूजामार्गोक्तदोषाणामेव निवृत्तिर्ब्रह्मसम्बन्धेनाभिप्रेयते । तत्र देहस्य भौतिकत्वाद्भूतशुद्धिनिवार्याः सहजाः । 'अपसर्पन्तु ते भूताः' 'पवित्रं कुरु चासन'मित्यादिना आसनादिशुद्धिविधानात्पूजादेशेपि दोषाः सन्तीति देशोत्थाः । 'प्रातर्होमं च कृत्वैव कृत्वा वा ब्रह्मयज्ञकम् । यद्वा माध्याह्निकं कृत्वा पूजयेत्पुरुषोत्तम'मिति कालविधानादन्यकाले पूजने कालोत्थाः । एतयोरेकपदोपात्तत्वादैक्यम् । लोकनिरूपितस्तु 'आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिन' इति वाक्यात्पुनरावृत्तिरूपः । वेदनिरूपितस्तु 'यस्य स्मृत्या चे'ति वाक्योक्तो न्यूनत्वादिः । एतयोरप्यैक्यम् । संयोगजस्त्वभिमन्त्रितजलादावनभिमन्त्रिततत्संयोगजः । आसादितानां गन्धपुष्पादीनां स्त्रीशूद्रस्पर्शजः । चकारादन्ये नैवेद्यादौ दृष्ट्यादिजाः । ते न भक्तिमार्गे, न मन्तव्याः, न गण्या इत्येवं व्याख्यानात् । तत्र हेतुस्तु ब्रह्मसम्बन्धकरणमेव । तथा च तदपराधानां भगवतैव निवारणात्तथेति तदाशयः ॥ २ ॥

प्रकृतमनुसरामः । ननु भवत्वेवं पूर्वदोषनिवृत्तिः, तथापि कर्मदेशकालानां दोषहेतूनां विद्यमानत्वात्तैः संयोगाद्युत्पादने ताभ्यां जायमाना दोषाः कथं निवारणीया इत्यत आहुः असमर्पितेत्यादि ।

असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।

यस्माद्ब्रह्मसम्बन्धमन्तरेण न सर्वदोषनिवृत्तिस्तस्माद्धेतोः असमर्पितवस्तूनां आत्मसमर्पणोत्तरं लब्धानां 'सर्वलाभोपहरण'मित्युक्तरीत्या भगवत्यनिवेदितानां पदार्थानां वर्जनमाचरेत् । वृजी वर्जने । वर्जनं संसर्गराहित्यम्, तत्कुर्यात् । तानि भगवतेऽनुपहृत्य न स्वयं विनियुञ्जीत । प्रारब्धादयो हि न दृष्टसामग्रीसंपादनरूपव्यापारं विना संयोगस्पर्शावुत्पादयन्ति । तत्संपादिता च सामग्र्यसमर्पितैव दोषावहा, नतु समर्पिता, भगवदीयत्वात् । अतोऽसमर्पिताया असंसर्गे संयोगस्पर्शाभ्यां भाविनां दोषाणामसंश्लेषादेव वारणमित्यर्थः । ननु भवत्वेवं कालादिकृतदोषवारणम्, तथापि प्रारब्धवशाद्विद्यमानस्य देहादेर्निर्वाहस्तु भगवदीयेनैवान्नादिना कार्यः । तथा सति स्वस्य स्वामिवस्तुभोगजनितो दोषः सेवां प्रतिबध्नीयात्, अतस्तस्य कथं निवृत्तिरित्यत आहुः निवेदिभिरित्यादि । निवेदिभिरिति करणे तृतीया । निवेदो निवेदनं भगवति समर्पणम्, तद्येषामस्ति, मतु-

बर्थे णिनिः । तानि निवेदनानि तैर्निर्वाहकरणभूतैः समर्प्यैव सर्वं कुर्यात् । स्वात्मसमर्पणावसरे भगवते निवेदितैर्दारादिभिश्चेतनैर्गृहवित्तादिभिरचेतनैश्च यत् कुर्यात्, तत्सर्वं भगवते तेषां यथोचितविनियोगरूपं समर्पणं विधायैव कुर्यात् । 'शास्त्रे निवेदनं दानं ह्यर्पणं त्रिविधं स्मृतम् । निवेदनं समुद्दिश्य द्रव्यस्य ज्ञापनं मतम् । दानं स्वकीयतात्यागः परस्वापादनं विधेः । अर्पणं स्वामिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम् । सूददृष्टान्तदृष्टेन तदेवं त्रिविधं प्रमे'ति क्वचिद्वैष्णवनिबन्धे दर्शनात् । अत एवात्र 'निवेद्ये'त्यनुक्त्वा 'समर्प्ये'ति शब्दान्तरमुक्तम् । समुपसर्गश्च भावपूर्वकत्वायोक्तः । तथा च चेतनान् भगवत्सेवायां विनियुञ्जन्नचेतनान् गृहवित्तादीनुपयोजयन्नन्नादीन्नैवेद्यरूपेण वस्त्रालङ्कारादींश्चोचितविनियोगे नियोजयन् 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः । उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही'त्युक्तरीत्या तद्दत्तप्रसादत्वेन तत्तदुपयुञ्जीत । इति स्थितिः । एषा निर्दुष्टा भक्तिमार्गमर्यादा । अत्र सर्वपदेन लौकिकं वैदिकं च यद्विधित्सितं कार्यं तदुच्यते, निवेदिभिरिति वस्तुविशेषणेन समर्पणक्रियया च सर्वत्र शेषित्वेन भगवतः स्मरणं बोध्यते । तथा चैवं तत्प्रसादेन स्वस्वीयसर्वनिर्वाहे क्रियमाणे स्वामिनैव तन्निर्वाहार्थं स्वीयवस्तूनां प्रसादत्वेन दत्तत्वस्यानुसंधानात् न तद्भोगेन दोष इत्यर्थः । न चोक्तवाक्यस्यावतारकालिकविषयत्वादिदानीं प्रसाददानानुसंधानस्याहार्यत्वात्तेन कथं दोषनिवृत्तिरिति शङ्क्यम् । एतादृशानुसंधानस्यापि फलसाधकत्वात् । 'इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम् । उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत्पुन'रिति भगवद्वाक्येन तथा निश्चयात् । एतदेव पुराणान्तरेप्युक्तम् । 'अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम् । कृत्वा विष्णूपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवे'रिति । 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पत' इति च । न चैवं प्रक्षालनपङ्कन्यायापत्त्या गार्हवस्तूनां समर्पणात्पूर्वं भगवदीयत्वमेव नाङ्गीकार्यम् । आत्मसमर्पणावसरे वित्तोल्लेखस्य भाविनि परलोक इव भूते वित्तेप्यभिमानमात्रनिवृत्त्यर्थत्वेन तदानीं भगवदीयत्वानापादकत्वादिति वाच्यम् । समर्पणात्पूर्वमपि वस्तुतः सर्वस्य भगवदीयत्वेन त्यक्ते स्वाभिमाने सुतरां तथात्वेनोक्तरीतिं विना पूर्वोक्तदोषानपायात् । न च 'यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् । अधिकं योभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति' इति सप्तमस्कन्धवाक्यात् निर्वाहमात्रार्थग्रहणे दोषस्य न सम्भव इति वाच्यम् । तस्य सामान्यत्वात् । आत्मनिवेदनमुपक्रम्य तदपाठात् । तावताभिमानजनितदोषाभावेप्यभिमानस्य विद्यमानत्वेनैतदपेक्षया पूर्वोक्तस्यैवोत्कृष्टत्वादिति । एवमत्र सर्ववस्तुसमर्पणोपदेशेन स्वामिवस्तुग्रहणदोषो निवारितः ।

अतः परं समर्पणं यथा न दुष्यति, तं प्रकारं वक्तुं पूर्वं दूषितसंसर्गनिषेधमाहुः न मतमित्यादि ।

न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ९ ॥

देवदेवस्य पूज्यानामपि पूज्यस्य भगवतः । सामिभुक्तस्यार्धभुक्तस्य समर्पणं

न मतम् । सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो हि भोगः, तद्विषयं भुक्तम् । तथा च यत उद्धृत्य ग्रहणाद्यनन्तरं शिष्टे भुक्तशेषत्वव्यवहारः, तत्सामिभुक्तम् । वस्तुनः सदसत्त्वादिपरीक्षार्थं तत उद्धृत्य मुखादौ क्षेपे आघ्राणे हस्तलापने वा शिष्टस्य न सामिभुक्तत्वम् । तच्छिष्टे भुक्तशेषव्यवहाराभावात् । तत्रापि बीजं स्वस्य तद्दर्शनाद्युत्तरं तद्बुभुक्षाभावो बुभुक्षोत्तरं तदुपादानयत्नाभावो वा । यदि पुनः कस्यचिद्बुभुक्षोत्पत्तिः, तदा तस्य चेतनस्यैवापराधित्वम् । मानसिकव्यभिचारादिव । नत्वचेतनस्य वस्तुनः सामिभुक्तत्वम् । यदा तु बुभुक्षोत्तरमिन्द्रियव्यापारः, तदा तु वस्तुन्यपि दोष इति तादृशस्य समर्पणं क्रियादूषकत्वात् न संमतमित्यर्थः । एवञ्च यच्छ्रीगोकुलनाथैर्भगवदर्थं सम्पादितेषु पदार्थेषु कदाचित्केनचित्तन्मध्यात्किञ्चित्स्वार्थमन्यार्थं वा गृहीत्वा विनियुक्तं चेत्, तदा तस्य पदार्थस्य यत्सामिभुक्तत्वमुक्तम्, तदत्र कैमुतिकादेव सिद्धं ज्ञेयम् । यत्पुनस्त एव स्वोपभोगार्थमानीतं वस्त्रादिकं किञ्चित्स्वोपयुक्तमात्रं भगवते समर्प्य तस्योपयोगं कृत्वा तदवशिष्टं चेत्समर्पयितुमिच्छति, तदपि सामिभुक्तं जातमिति न समर्पणीयमित्याहुः । तत्र स्वोपभोगार्थत्वाभिसंधानमेव दूषकताबीजम् । तादृशस्य समर्पितस्य ग्रहणे भगवद्दत्तप्रसादत्वबुद्धेः कर्तुमशक्यत्वात् गौणत्वाद्वेति मम प्रतिभाति । तथा भगवद्वस्तुबुभुक्षापराधे तु, ममायमपराधो निवर्तताम्, पुनश्च माभूदिति दीनभावनपूर्वकं भगवानेव प्रार्थनीयो, वज्रचिह्नयुक्ततच्चरणारविन्दध्यानं च कार्यम्, दैन्यस्य भगवत्तोषणहेतुत्वात् । 'यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोभूत् । ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्द'मिति तृतीयस्कन्धे श्रीकपिलवाक्याच्च । भक्तेः पापनाशकत्वस्य पूर्वं साधितत्वेन तद्ध्यानात्मकस्मरणेपि तथात्वस्यौचित्याच्च । किञ्च । भगवच्चरणचिह्नभूताङ्कुशध्यानमपि कार्यम् । 'अङ्कुशो नागशिक्षायै यावद्भवति पुत्रक । तादृशं तद्भवेचिह्न'मिति पाद्मे चरणचिह्नाध्याये तादृगाकारस्य शिक्षार्थत्वाभिधानात् । पञ्चाध्याय्यां 'लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजचक्राङ्कुशयवादिभि'रित्यत्र सुबोधिन्यां मनोनिग्रहार्थमङ्कुशस्थापनमिति तत्तात्पर्यकथनाच्चेति मम प्रतिभातं प्रसङ्गादुक्तम् ।

एवं दूषितसंसर्गनिषेधमुक्त्वा समर्पणादूषणप्रकारमाहुः तस्मादित्यादि ।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमितिवाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।

यस्मादसमर्पितसंसर्गः सामिभुक्तसमर्पणं चायुक्तम्, तस्मात्सर्वस्मिन्वैदिके स्मार्ते लौकिके च कार्ये आदौ ततः प्रागेव सर्वेषां तत्रतत्रापेक्षितानां वस्तूनां समर्पणं मतं संमतमित्यर्थः । तत्प्रकारस्त्वेवं प्रतिभाति । गारुडे । 'जगद्धातुर्महेशस्य दिव्याज्ञाचरणा वयम् । इह नित्यक्रियां कुर्मः स्निग्धास्ते वैष्णवाश्च ते' इति वैष्णवलक्षणवाक्यात्, एकादशस्कन्धे च 'सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि विधिना नोदितानि मे । पूजान्तैः कल्पयेत्सम्यक् संकल्पः कर्मपावन'

इति वाक्याच्च स्वस्य भगवदाज्ञाकारित्वं श्रौतस्मार्तकर्मणां भगवदाज्ञाप्राप्तत्वं चानुसन्धाय, विष्णुधर्मोत्तरे शंकरगीतासु 'अपृष्ट्वा यस्तु यां काञ्चित्क्रियां नारभते हरिम् । असंभिन्नार्यमर्यादस्तस्य तुष्यति केशव' इति वाक्यात्स्वधर्मत्वाच्च तत्करणार्थं भगवद्विज्ञप्तिं कृत्वा तत्संभारान् संभृत्य कर्मकरणार्थं पुनराज्ञां प्रार्थ्य महापाकादेः समर्पयितुमशक्यत्वान्मनसा वाचा च समर्पणं कुर्यात् । श्राद्धाद्यर्थे स्वल्पे पाके तु प्रत्यक्षवस्तूनां सिद्धानामेव समर्पणं कुर्यात् । एवं लौकिकेपि पूर्वं कृत्वा पश्चात्तत्तत्कार्यं कुर्यादिति । न च विज्ञापने समर्पणव्यवहाराभावान्नैवमिति शङ्क्यम् । विज्ञापनं विशेषेण ज्ञापनमर्थस्य सम्यग्बोधनमिति यावत् । तत्र तु प्रयोगो दृश्यते । समर्पकमिदं वाक्यम्, असमर्पकोयं शब्द इति विदुषां व्यवहारात् । एतस्य च सम्यग्बोधन एव पर्यवसानात् । एवं निवेदनपदेपि बोध्यम् । 'निवेदितोजोङ्गिरसे'त्यादौ तथा दर्शनादिति । ननु भवत्वेवमुक्तरीत्या सर्वसमर्पणे दोषाभावः, तथापि 'भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृते'त्युद्धवप्रश्ने, भगवता यदा 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मित्यादिना भक्तिमार्ग उपदिष्टः, तत्र 'अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदित'मित्याज्ञप्तम्, तदकरणादाज्ञाभङ्गदोषः कथं निरसनीय इत्यतस्तदनूद्य तद्विषयव्यवस्थामाहुः दत्तापहारेत्यादि । दत्तस्य भगवते समर्पितस्य अपहारः, पुनर्जीवोपयोगाय ग्रहण उच्यते, निषिद्धतया कथ्यते यस्मिन्, तद्दत्तापहारवचनम्, 'अपि दीपावलोकम्' इत्यादिजातीयकं वाक्यं भक्तिमार्गोपदेशे वर्तत इति शेषः । तथा च हरेः सम्बन्धिसकलं सर्वं समर्प्यापि न ग्राह्यमित्येवमर्थकं भिन्नमार्गपरं विवक्षितभक्तिमार्गादन्यमार्गविषयं मतं विचारितम् ।

अयमर्थः । इदं हि वाक्यमेकादशाध्याये भगवति निश्चलमनोधारणाशक्तौ 'यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चल'मित्यादिना तदनुकल्पकथने या भक्तिरुपासनशेषत्वेनोक्ता, तत्प्रकार उद्धवेन पृष्टे, 'मल्लिङ्गमद्भक्तजने'त्याद्यष्टभिस्तन्मार्ग उपदिष्टस्तेषु वर्तते । तत्र च यथा स्वलिङ्गदर्शनादयो धर्माः पृथगुक्ताः,तथा वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षापि पृथगुक्ता, सा नास्मिन्मार्गे, भक्तिमार्गीयोपदेशस्यात्र विवक्षितत्वात् । तथा दास्येनात्मनिवेदनमपि तथोक्तम्, तदपि नात्र पृथग्धर्मत्वेन । अधिकाररूपतया तस्यात्र पूर्वं विवक्षितत्वात् । तथाग्रे 'सूर्योग्निर्ब्राह्मणा गाव'इत्यादिना पूजास्थानान्येकादश निर्दिष्टानि । समासौ च 'इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः । लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवये'ति तथा कृतौ भक्तिलाभः, तया स्वस्मृतिः फलत्वेनोक्ता । विवक्षितो मार्गस्तु 'अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन । सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखे'ति सुगोप्यकथनं प्रतिज्ञाय, ततो द्वादशाध्याये तां भक्तिमुक्त्वा, ततोग्रे षडध्याय्या अन्यदपि तत्प्रश्नानुसारेणोक्त्वा, पश्चादूनविंशे 'आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते', 'त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्य'मिति महदभिलषितभक्तिप्रश्ने पुनस्तेन कृते, भगवता 'भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं पर'मिति द्वादशाध्यायोक्तां भक्तिं परामृश्य, तत्परमकारणत्वेन कथितार्थपुनरावृत्तिं प्रतिज्ञाय, 'श्रद्धामृतकथायां मे' इत्यादिभिश्चतुर्भिरुक्त्वा, 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्म-

निवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यत' इति पञ्चमे पूर्वोक्तभक्तिप्राप्त्या पुरुषार्थसमाप्तिमुक्त्वा, समाप्यते । अतोधिकारभेदात्साधनभेदात्फलभेदाच्च भक्तिमार्गयोर्भेदे सिद्धे दत्तापहारबोधकं वाक्यं यत्रोक्तम्, तत्तज्जातीयपरमेव, नैतन्मार्गपरम्, अतो नात्र समर्पितस्य पुनः समर्प्यग्रहणे आज्ञाभङ्गदोषो वाक्यविरोधो वेति बोध्यम् ।

ननु भवत्वेवं वाक्यविरोधपरिहारादिकम्, तथापि सर्वकार्यादौ सर्ववस्तुसमर्पण-मसमर्पितवस्तूनां वर्जनाचरणं च यदुक्तम्, तदशक्योपदेशरूपम् । न हि सर्वाणि कार्याणि पूर्वं ज्ञातुं शक्यन्ते । ज्वरादिपथ्यत्वेन वैद्यैस्तदानीं देयत्वेनोक्तस्य पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वात् । तथा केनचिदाप्तेन सम्बन्धिना वा शिष्येण वा इभ्येन वा सविनयं बलादिना वा स्वगृहे भोजने वस्त्रालङ्कारादेर्वा दाने तत्र तत्कर्तुमशक्यत्वेन असमर्पितवर्जनस्य कर्तुमशक्यत्वात् । तथा सति कथं तत्र स्वधर्मनिर्वाह इत्यत आहुः सेवकानामित्यादि ।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।

सेवन्ते ये ते सेवकाः सेवाकर्तार इति यावत् । यथा लोके तेषां व्यवहारः प्रसिद्धोस्ति, तथा समर्प्यैव कार्यम् । निष्कपटसेवकाः स्वगुरुं वा स्वप्रभुं वा कार्यात् पूर्वं पश्चाद्वा क्वचित्कालद्वयेपि वा विज्ञापयन्तीति तथा समर्प्य व्यवहारणीयम् । विज्ञापनेपि समर्पणपदप्रयोगस्य साधितत्वात् । किञ्च । गुणसन्निपातरूपो मनोमात्रेन्द्रियासुव्यापारो हि व्यवहारः । स यथा सेवकानां प्रसिध्यति संपद्यते, तथा समर्प्यैव कार्यम् । 'उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शक्यते । अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुन'रिति वाक्यात्कामः प्रतिवदितुमशक्यः । तथा च स्वस्य किञ्चिद्वस्तुबुभुक्षोत्पत्तौ प्रभवे विज्ञाप्य, तत्कृत्वा समर्प्य, पश्चाद्भोक्तव्यम् । 'यद्यदिष्टतमं लोके यच्चापि प्रियमात्मनः । तत्तन्निवेदयेन् मह्यं तदानन्त्याय कल्पत'इत्येकादशस्कन्धे सदादृतभक्तिकथने भगवद्वाक्यात् । एवं स्वाशक्त्या सर्वपाककरणाशक्तौ स्वार्थं जातिकुलमर्यादानिर्वाहाय तावन्मात्रपाकं कृत्वा समर्पणेपि न दोषः । लोकव्यवहारस्य तथैव सिद्धेः । एतावान्परं विशेषो यदूनविंशाध्याये भक्तिपरमकारणत्वेनात्मनिवेदिनां ये धर्मा उक्ताः 'श्रद्धामृतकथायां म'इत्यादिना सार्धैश्चतुर्भिः, तत्र सर्वकामविवर्जनस्य भगवदर्थे तद्विरोधिनामर्थभोगसुखानां परित्यागस्य च कथनात्तद्विरुद्धमिदं मुख्यसाधनकक्षां नारोहति, तस्मादेवं कुर्वता 'जुषमाणश्च तान्कामा'निति न्यायेन ग्लानिः स्थाप्या, 'अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरि'रिति च भावनीयम् । अङ्कुशवज्रयुक्तं चरणं च ध्यातव्यम् । येनायं मनोदोषः सः शीघ्रं निवर्तत इति प्रसङ्गादुक्तम् । न च समानकर्तृकयोः क्रिययोः पूर्वकाले क्त्वानुशासनादत्र समर्प्यैति प्रयोगेण कार्यात्पूर्वकालिकत्वं समर्पणस्य लभ्यत इति कथं पश्चाद्वेत्युच्यत इति शङ्क्यम् । अत्र सेवकीयलोकव्यवहारवद्भगवत्सेवकव्यवहारसिद्ध्यर्थं तथाकरणस्य विधेयत्वेन समर्प्येत्यस्य कार्यविशेषणतामात्रे तात्पर्येण अनूदिततया कालबोधने तात्पर्याभावात् । अन्यथा सर्वादौ समर्पणवाक्येनैव सर्वकार्य-

पूर्वकाले समर्पणस्य प्राप्तत्वेन तदनुवादवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । अतो न कश्चिद्दोषः । एवं सर्वदोषनिवृत्तिस्वरूपं पुनस्तदनुत्पत्त्युपायं पाश्चात्यसमर्पणक्रियादोषराहित्यप्रकारं विरुद्धवाक्यव्यवस्थाया आज्ञानिर्वाहप्रकारं व्यवहारानुरोधेऽपि दोषासम्भवप्रकारं चोपदिश्य तत्फलमाहुः सर्वेषां ब्रह्मता तत इति । तच्छब्दः पूर्वोक्तं साधनसमूहं परामृशति । तथा च तत उक्तरीत्या ब्रह्मसम्बन्धमारभ्य साधनकरणात्सर्वेषामात्मनिवेदिनां ब्रह्मता दोषराहित्यं सर्वत्र साम्यं च भवति । 'निर्दोषं हि समं ब्रह्मे'ति ब्रह्मणस्तादृशत्वात् तदाज्ञायामप्रमादात्तथा भवतीति कलिप्रभृतिदोषाणां तेष्वभावात्तत्कृतसेवायाः प्रभुणाङ्गीकारे सुखेन फलवत्त्वमित्यर्थः ॥ ७½ ॥

एवं सर्वदोषनिवृत्त्युपायमुपदिश्य, दोषाणां स्वरूपतो विद्यमानत्वे तेषां सेवायामप्रतिबन्धकत्वं न सम्यगवगन्तुं शक्यम्, तथा सत्यविश्वासे संशये वा जघन्याधिकारिणां पुनः सर्वनाशापत्तिरिति तन्निवारणार्थं सिंहावलोकनेन पूर्वं परामृशन्तो दृष्टान्तमुखेन तद्दोषनिवृत्त्यवगमोपायमाहुः गङ्गात्वमित्यादि ।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८½ ॥

अत्राग्रे दार्ष्टान्तिकवाक्ये तद्वदिति पदात्पूर्वस्मिन् वाक्ये यद्वदिति यथेति वाध्याहारः । तथा च गङ्गामिलितानां सर्वदोषाणां रथ्योदकादीनां यथा गङ्गात्वम्, गङ्गाया भूयस्त्वात् । यथा च गङ्गात्वे तदितरगुणदोषयोर्मृद्विशेषस्य च वर्णना न निरूप्या, सर्वेऽपि हि गङ्गाजलं पीतम्, गङ्गायां स्नातम्, तेन ममायं ज्वरादिर्निवृत्त इत्येव वदन्ति, ज्वराद्यभावं चानुभवन्ति, न तु रथ्योदकादिपानस्नानगुणदोषान्। हि निश्चयेन । अत्रापि ब्रह्मसम्बन्धकरणेऽपि उक्तरीत्या भगवदीयत्वस्य, चकाराद्भगवदनुसंधानादेश्च बाहुल्यात् तद्वदेव गङ्गासंपृक्तसर्वदोषवदेव पूर्वोक्तपञ्चविधदोषवर्णना न निरूप्या स्यात् । तथा चैवं तेषां स्वरूपतो विद्यमानत्वे ज्ञायमानत्वे अज्ञायमानत्वे वा गङ्गायां तेषामिवैतेषामपि दोषाणां स्वरूपनाश एवेति जघन्याधिकारिभिरप्येवमवगत्य स्वात्मा संरक्षणीयः । श्रुतौ सूत्रेषु च तत्क्रतुन्यायस्य सिद्धत्वात् सर्वदा सर्वत्र भगवदीयत्वानुसन्धानेन भगवदीयत्वस्यैव सिद्धेरित्यर्थः । इदमत्र प्राचामतुसारेण व्याख्यातम् ।

मम त्वन्यदपि किञ्चिदत्र प्रतिभाति । यदि ह्येतावन्मात्रमेवात्राभिप्रेतं स्यात्, तदा 'न मन्तव्याः कथञ्चने'त्येतदुक्त्वा 'गङ्गात्व'मित्यादि वदेयुः । तत्रानुक्त्वा 'सर्वेषां ब्रह्मता तत' इति फलकथनोत्तरं यदुक्तम्, तेन फलबोधकताप्यभिप्रेतेति । तथा चात्र पूर्वं ब्रह्मसम्बन्धेन दोषनिवृत्तिमुक्त्वा, अग्रे भाविदोषासंसर्गार्थं यत्समर्पणं भगवद्धर्मानुरोधिलौकिकव्यवहारानुरोधिभेदेन द्विविधमुक्तम्, तत्राद्यकरणे ब्रह्मतारूपं फलम्, द्वितीयकरणे तु गङ्गासम्पृक्तदोषाणामिवैतद्दोषाणां निवृत्तिमात्रम् । तेन सेवाफलग्रन्थोक्तमध्यम-

जघन्यफलोपयोगि सेवोपकारकत्वं क्रमेण सिध्यतीति । तेन मार्गान्तरे या दोषनिवृत्तिः साधनान्तरमपेक्षते, सात्र सेवाधिकारसम्पादकसंस्कारस्यानुषङ्गिकं फलमित्यतोऽस्य सिद्धान्तरहस्यत्वमिति च ।

एवं प्रभुप्रेरणया विभातं यन्मे तदुक्तं नहि तत्स्वबुद्ध्या ।
अतः स्वदासे करुणां वितन्वन् स एव मत्स्वान्तमलङ्करोतु ॥ १ ॥
यदत्र सदसद्वापि जीवबुद्ध्योदितं क्वचित् । क्षमन्त्वाचार्यचरणास्तं मे मन्तुं कृपालवः ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचितं
सिद्धान्तरहस्यविवरणं संपूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेतम् ।

स्वीयजीवान्समुद्दिधीर्षुः स्वयमाज्ञापयद्धरिः ।
साक्षाद्यं तमहं वन्दे श्रीवल्लभविभुं सदा ॥ १ ॥
तदाज्ञानन्तरं श्रीमदाचार्यैर्यन्निरूपितम् ।
तद्वचोविवृतिं कर्तुमारभे तत्प्रसादतः ॥ २ ॥

अथ श्रीमद्वृन्दावनचन्द्रः स्वस्य रासादिक्रीडारूपमत्यलौकिकमनुभावं प्रकटयितुमिच्छन् स्वमुखारविन्दाधिष्ठात्रलौकिकाग्निं स्वलीलाक्रान्तसर्वश्रीवल्लभाचार्यरूपेण प्रकटीकृत्य स्वाभिलषितशुद्धपुष्टिमार्गं प्रकटयितुमाज्ञामदात्, ततस्तदाज्ञाया एवार्थं निरूपयन्तः श्रीवल्लभाचार्यचरणाः पद्यबन्धेन तमर्थं सपूर्वपीठिकं निरूपयितुं प्रतिजानते श्रावणस्यामले पक्ष इति ।

श्रावणस्यामले पक्ष एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

श्रवणर्क्षस्य विष्णुदैवत्येन तदुपलक्षितमासस्यापि तथात्वमेवास्तीति स्वयमपि सर्वोत्तमं वैष्णवमार्गमेव प्रकटयितुमुद्यत इति च विचिन्त्य तद्देवताक एव मासे भगवानाचार्यानाज्ञापयदिति तस्यैव ग्रहणम् । तस्यामले मलरहिते सर्वदोषविवर्जिते पक्षे शुक्लपक्ष इति यावत्, तस्मिन् । एकादश्यां विष्णुदैवत्यामेव तिथौ । महानिशि अर्धरात्रे पुष्टिमार्गोपदेशान्मर्यादाविरुद्धे स्वभक्तैः सह निःशङ्कतया यो निरवध्यानन्दानुभवस्तदाधारभूते पुष्टिरूपे समये । तदा तादृग्भूतेनैव भगवता साक्षादव्यवधानेन । अथवा । साक्षाद्भगवान्निरावरणपूर्णपुरुषोत्तमस्तेन । प्रकर्षेण परमकृपापूर्वकं यदुक्तं तदक्षरशः प्रत्यक्षरार्थ-

पूर्वकमुच्यत इत्यर्थः । किञ्च । अत्र श्रावणमासोक्त्या ऋतुरपि वर्षाख्य उक्तो भवति । तस्यायमाशयः । वर्षर्तोः सर्वरसोत्पादकत्वान्निदाघततस्थिरचरतापापहारकत्वादिधर्मवत्त्वादत्रोपदिष्टमार्गस्यापि भगवत्सम्बन्धिसर्वरसोत्पादकत्वं सर्वतापापहारकत्वादिकत्वं च सूचितं भवतीति ॥ १ ॥

एवं पूर्वपीठिकामुक्त्वा भगवदुक्तपदार्थमाहुः ब्रह्मेति ।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

अस्मिन्मार्गे यशोदोत्सङ्गलालितश्रीकृष्णस्यैवोपास्यत्वात् तस्य चाङ्गलोके अवतारमात्रभ्रमत्वादत्र तद्व्यावृत्त्यर्थं ब्रह्मपदोपादानम् । अथवा । भगवद्वाक्यार्थकथनाद्वेदे इवात्रापि ब्रह्मपदम् । तथा च तेन ब्रह्मणा सह देहजीवयोर्यः सम्बन्धः स्वमार्गीयनिवेदनेन तदीयत्वसम्पादनलक्षणस्तत्करणात्सर्वेषां दैवजीवमात्राणां सर्वदोषनिवृत्तिर्भवति । सर्वपदेन देहजीवयोस्तद्धर्माणां तत्र तत्सम्बन्धिनां च सर्वेषां सम्बन्धिनां यावन्तो दोषास्तेषां सर्वेषां निवृत्तिर्भवति । लापनिका तु, देहजीवयोर्ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां तद्धर्माणां तत्सम्बन्धिनां च सर्वदोषनिवृत्तिर्भवति । यद्वा । सर्वेषामैहिकामुष्मिकपदार्थमात्राणां देहजीवयोश्च तत्सम्बन्धे सत्येतत्सर्वगतसर्वदोषनिवृत्तिर्भवति । शेषमुभयत्रापि पूर्ववत् । हीति युक्तोयमर्थः । यद्भगवत्सम्बन्ध एव सति सर्वेषां सर्वदोषनिवृत्तिर्भवति, नान्यथापीति । ननु अत्र निवेदनशब्दवाच्या किंरूपा भक्तिरुच्यते, दानापरपर्याया वा, काचिदन्यैव वा । तत्र नाद्या, 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तर'मित्यादिवचनविरोधात् । नह्येकस्मै देवाय दत्तं वस्तु पुनः तदेवान्यस्मै दातुं शक्यमुचितं वा, तत्र स्वीयत्वाभावात् । स्वीयवस्तुन एव हि दानार्हत्वात् । न द्वितीयः । मानाभावात् । नहि पूर्वोक्तान्निवेदनरूपाद्भिन्नं रूपं कुत्रापि प्रमाणसिद्धमस्ति । अतो विचार्यमाणे तदीयत्वसम्पादनरूपैव सेति पर्यवस्यति । किञ्च । त्वयापि 'यश्चात्मानं निवेदये'दित्यादिस्थलेष्वयमेवार्थोस्य शब्दस्य वक्तव्यः, अर्थान्तरकल्पनाया अनिर्वाहात् । एवं च सति निवेदनाख्यभक्त्या स्वात्मादिसकलपदार्थमात्रस्य भगवदीयत्वसम्पत्तिर्भवतीति निःप्रत्यूहमवेहि । अथ निवेदनस्यावश्यकर्तव्यताकत्वमुक्तमेकादशे । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति । इयं तु भक्तिः प्रेमलक्षणा फलरूपेति बोध्यम् । अन्यच्च तत्रैव । 'मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तधर्मा निवेदितात्मा विचिकिर्षितो मे । तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै' इत्यादिभिः । किञ्च । भगवद्भक्तेर्बहुविधत्वेपि श्रवणादिनवविधाया एव मुख्यत्वेन प्रेमलक्षणासाधनत्वेन सर्वत्र प्रसिद्धेर्निवेदनाकरणे तस्या नवविधत्वाभावादपूर्णसाधनरूपायास्तस्या न पूर्णफलजनकत्वं भवतीति तत्करणस्यावश्यकत्वम् । अत एव श्रीमत्प्रभुचरणैरप्युक्तं नवरत्नप्रकाशे 'आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतर' इति । ननु देहादीनां समर्पणं तेन च शुद्धिरित्यस्तु नाम, युक्ति-

पहत्वात् । किन्तु जीवात्मादिसमर्पणं, तत्रापि स्वस्यैव समर्पकत्वं, तेन च शुद्धिरिति कथमुपपत्तिप्रमाणाभ्यामुपपद्यत इति चेत्, तत्र वदामः । इत्थम् । यथा वेदोक्तमर्यादामार्गेपि कर्मकाण्डे विरजाहोमे 'जीवात्मा मे विशुद्ध्यन्ताम् । परमात्मा मे शुद्ध्यन्ता'मित्यादिभिर्जीवात्मादीनां शोधनम्, तत्रापि स्वस्यैव कर्तृत्वम्, तेन च शुद्धिरपि भवतीत्यादि विधीयते । ज्ञानकाण्डे तु पुनर्महावाक्येन जीवस्य ब्रह्मैक्यबोधनं तेन च तस्य तदुपपत्तिरित्यपि तैरुच्यते । तथैवास्मिन्नपि मार्गे । तथाहि 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'त्यादिवाक्यैर्भगवदीयानामितरशोधनप्रकारनिषेधा'द्यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः । तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्त'मित्यादिभिर्भक्तेर्नवविधायाः शोधकत्वेनोक्तत्वाच्चायमेवात्र शोधनप्रकार इति तथैवात्र निरूपितमिति सर्वमवदातम् । एवं च सति देहजीवयोरित्यत्र जीवपदेनात्मत्वाविशेषात्परमात्मादयोपि संगृह्यन्ते । अतस्तेषामपि समर्पणं भवत्येवेति युक्तमेव । यतः पुरुषोत्तमस्तु लोकवेदातीतः सर्वेश्वरः सर्वोपास्यः सर्वपरश्च । जीवास्तदनतीता अनीश्वरा उपासका अवराश्चेति तस्मिन्नेतेषां समर्पणं युक्तमेवेति सारम् । अथ तत्र दोषाः कियत्प्रकारास्सन्ति इत्याकाङ्क्षायामाहुः दोषाः पञ्चविधा इति । पञ्चप्रकारका दोषाः स्मृताः श्रुतिस्मृत्यादिषु कथिता इत्यर्थः । पाठान्तरे मताः सम्मताः ।

तानेव पञ्चविधान् गणयन्ति सहजा इति ।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।

तत्र देहस्य सहजदोषाः कुण्डगोलकत्वादयः । म्लेच्छत्वचाण्डालत्वादयश्च । जीवस्य तु 'जीवाः स्वभावतो दुष्टा' इति वचनात्तदीयः सहजः स्वभावः स्वतःसिद्धभगवद्वियोगजनितार्त्यादिभगवदानन्दतिरोभावत्वरूपः । यतः श्रुतिस्मृत्यादिषु सर्वोपास्यत्वादिधर्मवत्वेन श्रुतस्यापि भगवतो भजनदर्शनादावार्त्याद्यभावः सहजो दोष एव भवति । अथवा । आसुरावेशित्वादिकं च जीवस्य सहजो दोषः इत्यादिमाः । द्वितीयानाहुः देशकालोत्था इति । देशो मगधम्लेच्छादिः, तदुत्थाः, कालः कल्पादिरूपस्तदुत्थाः । देशकालयोः प्रायो बहुस्थले सहभावो दृश्यत इत्यनयोरेकरूपता । द्वितीयप्रकारादारभ्य सर्वे दोषाः देहग्रहणानन्तरमेवोत्पद्यन्त इति ते देहजीवयोः समा एवेति न पृथगुच्यन्ते । तृतीयानाहुः लोकवेदनिरूपिता इति । लोके परजातीयसिद्धान्नभक्षणादिर्दोषत्वेनोच्यते, न परमार्थतः । एवंविधा लोकनिरूपिताः । अथवा । स्मृत्याद्युक्ताः लोकनिरूपिताः । वेदनिरूपिताः असंस्कृतत्वादयः, आश्रमभ्रष्टत्वादयश्च । अत एवानयोरेकप्रकारता । स्मृत्यादीनामपि वेदमूलकत्वात् । तुरीयानाहुः संयोगजा इति । संयोगः पतितादिसंसर्गः, नीचसेवकादिकं च । तज्जाः । पञ्चमानाहुः स्पर्शजाश्चेति । स्पर्शजा वातव्याधित्वादयः । अगम्यास्पर्शादयश्च । चका-

रात् कर्मजा अपि कुष्ठापस्मारादयः । कामक्रोधादयो वा । अथवा । लोकवेदनिरूपिता इत्युक्तपञ्चविधानामपि विशेषणम् । पदार्थमात्रस्य लोकवेदनिरूपितत्वात्तद्योगात् । तदा पञ्चमप्रकारकाश्चकारोक्तकर्मजादयः, शेषं प्राग्वत् । एते पञ्चविधा अपि दोषाः पूर्वं तेषु तेषु विद्यमाना अपि निवेदनसमये तदनन्तरं च दैवात् कदाचित्तिष्ठेयुरपि चेत्तथापि कथंचन केनापि प्रकारेण न मन्तव्या न विचारणीया इत्यर्थः । ननु निवेदनकरणमात्रेण सहसैव सर्वदोषनिवृत्तिः कथं भवति? अथ दृश्यते च न तन्निवृत्तिरिति चेत्, मैवम् । मूल एव न मन्तव्या इत्युक्तत्वात् । स्थिता अपि दोषा दोषत्वेन न गणनीया इत्यभिप्रायेण । एतत्त्वग्रे स्वयमेव विशदयिष्यन्ति गङ्गादृष्टान्तेन । अत्रेदमेव शुद्धिस्वरूपमिति सर्वं सुस्थम् । अत एव 'अपि चेत् सुदुराचारः' 'बाध्यमानोपि मद्भक्तः', 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्ये'त्यादि भगवतोक्तम् । 'किरातहूणान्ध्रे'त्यादि शुकेन । अन्यैरप्यन्यत्र बहुशः । ननु प्रायश्चित्तादिना पूर्वं तान्निवर्त्य पश्चाद्भगवत्सम्बन्धः कुतो न कार्य इति चेत्, तत्राहुः । अन्यथेत्यादि । अन्यथा भगवत्सम्बन्धव्यतिरेकेण सर्वप्रकारकाणां दोषाणां कथञ्चन प्रायश्चित्तादिनापि निवृत्तिर्नैव भवति । एतदेवोक्तं षष्ठे । 'न तथा ह्यघवान् राजन् पूयते तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवये'त्यादिभिः ।

ननु स्वस्य निवेदनकरणानन्तरं स्वात्मना सह ये कलत्रपुत्रादयो निवेदिताः, तेषां पुनः पृथक् पृथक् निवेदनं करणीयं न वेत्याशङ्कायां समाधानं निवेदनानन्तरं तस्य स्थितिप्रकारं, प्रसङ्गात् प्राप्तं स्वरूपसेवादिकरणं चेति त्रयमप्याहुः असमर्पितवस्तूनामिति ।

असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।

न समर्पितं वस्तु यैस्ते असमर्पितवस्तवः तेषां वर्जनमाचरेत् । अत्रायमाशयः । यस्मात्स्वात्मना सह कलत्रादीनां निवेदने जातेपि 'सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येक'मिति वाक्यात्तेषामपि भगवत्सम्बन्धे पूर्वसिद्धेपि त एव निवेदिता जाताः, परं न तेषां सम्बन्धिवस्त्वादिकम्, तत्त्वनिवेदितस्थितमिति तेऽसमर्पितवस्तवो जाताः । अतस्ते वर्जनीयाः । तादृशास्ते न स्थापनीयाः । किन्तु पृथक्पृथक् तेषां निवेदनं करणीयम्, यथा तेपि समर्पितवस्तवो भवन्तीत्यर्थः । यद्वा । यस्माद्भगवत्सम्बन्ध एव सति सर्वेषां सर्वदोषनिवृत्तिरतोऽसमर्पितवस्तूनामनिवेदितात्मनामत एव सदोषाणां तेषां वर्जनं तत्सङ्गादिवर्जनमाचरेत् । तादृशां सङ्गादिकं न कुर्यात् । एतदेवोक्तं नवरत्ने । 'निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनै'रिति । द्वितीयमर्थमाहुः असमर्पितेति । यस्मादुपायान्तरैर्न तन्निवृत्तिः, प्रत्युत स्वधर्महानिश्च, तस्मात् सर्वदोषनिवृत्त्यर्थं स्वधर्मसिद्ध्यर्थं भक्तेः परमकाष्ठापन्नदशाप्राप्त्यर्थं च भगवदसमर्पितवस्तुमात्रस्य स्वस्मिन् लौकिकवैदिकस्वकार्यमात्रे च विनियोगो न कार्यः, किन्तु समर्पितस्यैव वस्तुन इत्यर्थः । एतेन निवेदनानन्तरं तस्य भगवत्स्वरूपसेवापि कर्तव्यत्वेन सर्वथा प्राप्ता । अन्यथा प्रतिक्षणं तत्तद्वस्तुसमर्पणा सम्भवति । तृतीयः ।

समर्पितकलत्रादिविनियोगे समर्पितवस्तुमात्रविनियोगे च निषेधमुक्त्वा समर्पितस्यैव ग्रहणं वदन्तस्तत्समर्पणे प्रकारमप्यापातत आहुः निवेदिभिरिति । सहेति शेषः । तथाच सद्यःकृतात्मनिवेदनः निवेदिभिः सह चिरात्कृतात्मनिवेदनैः सदभ्यस्तसकलसेवाप्रकारैः सह मिलित्वा तदुक्ततदर्शितप्रकारेण समर्प्यैव भगवति निवेद्यैव पश्चात् सर्वं कलत्रादीनां भगवत्सेवादिविनियोगरूपं स्वार्थं च वस्तु विनियोगरूपं अन्यदपि लौकिकं वैदिकं च विवाहयागादिरूपं कार्यमात्रं कुर्यात् । इति स्थितिर्मार्गमर्यादा स्थितिपदेनेयमेव निश्चला भक्तिमार्गमर्यादा, नान्यापीति ज्ञाप्यते। किञ्च। निवेदिभिः सहेतिपदं सर्वं कुर्यादित्यनेनापि लापनीयम् । तथा च पूर्ववस्तुनो भगवति समर्पणे पश्चात्स्वविनियोगसमयेपि तैः सहभावः कार्य इत्यर्थः । एतेन सत्सङ्गदुःसङ्गयोर्विधिनिषेधौ च तस्योक्तौ भवतः ।

अथ विस्तीर्णवस्त्रादिके तन्मध्यात् पूर्वं स्वार्थं स्थापयित्वा तदुर्वरितं किञ्चित् स्वल्पे स्वरूपे तावदेवापेक्षितमिति मत्वा तत्समर्पयितुमिच्छेन्नेत्याहुः न मतमिति ।

न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ५ ॥

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।

देवानामपि देवस्य सर्वनियामकस्य सर्वोपास्यस्य सामिभुक्तसमर्पणं स्वेनान्यैर्वा यद्वस्तुमध्यात् पूर्वमुपभुक्तं भवति तदुर्वरितं वस्तु पश्चाद्भगवति निवेदयितुमिच्छेचेत्, तद्भगवतो मतं सम्मतं सिद्धान्तो वा न भवतीत्यर्थः। एवमन्नादिसर्वपदार्थेषु व्यवहर्तव्यम्। पुनरिममेवार्थं स्थूणाखननन्यायेन द्रढयन्त आहुः तस्मादिति । यस्मात्कारणात् प्रकारान्तरेण व्यवहारे कृते, प्राक्कृतदोषाणामनिवृत्तिः, नूतनानां प्रत्युत प्रवृत्तिः, स्वधर्महानिश्च, तस्मादादावेव सर्वकार्येषु तत्तत्कार्यं कर्तुमिच्छन् तत्तदुपयुक्तसर्ववस्तुनः समर्पणं कुर्यात् । एवं च सति नित्यनैमित्तिककार्यमात्रोपयुक्तवस्तुमात्रस्य पूर्वं यथायोग्यप्रकारेण भगवति विनियोगे जाते पश्चात्तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वव्यवहारोपयोगः कर्तव्य इति सिद्धम् ।

ननु 'अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदित'मिति भगवतैवोक्तत्वात् तन्निवेदनानन्तरं तदेव वस्तु स्वयमुपभुञ्जीतेति कथमुच्यतेति चेत्तत्राहुः दत्तापहारवचनमिति ।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥

न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।

अत्र वचनं वाक्यमिति स्थलद्वयेप्येकवचनं जात्यभिप्रायेण । तत्र दत्तापहारवचनानि 'त्वयि दीपावलोकं म' इत्यादीनि । तथाचान्यान्यपि सकलं वस्त्रमाल्यादिकं हरेः हरिसम्बन्धि हरये यन्निवेदितं तत्तदनन्तरं न ग्राह्यं, स्वयं न गृह्णीयादेवंबोधकानि अनिवेदितश्राद्धादिबोधकानि च यानि वाक्यानि तानि सर्वाणि भिन्नमार्गपराणि वैधभक्तिमार्गपराणि । पूजाख्यं कर्म तच्छेषतया या भक्तिस्तत्पराणि, न शुद्धभक्तिमार्गपराणि । अत एवंबोधकं वाक्यसहस्रं भिन्नमार्गपरं मतं सम्मतम् । तत्र पूजायाः कर्मत्वमुक्तमेकादशे 'कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः । विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते पर'मिति

जनकेन पृष्ट आविर्होत्र उवाच । 'कर्माकर्मविकर्मे'त्यारभ्याग्रे 'य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः । विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशव'मित्यादिप्रश्नोत्तरैः । अतस्तानि वाक्यानि तादृग्भक्तिपराणि इत्यत्रानवकाशपराहतानि इति सर्वथा नोपक्षेपणीयानीत्यर्थः। अन्यथा 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्ध', 'अम्बरीष नवं वस्त्रम्', 'विष्णोर्निवेदितान्नेन', 'मुकुन्दाशनशेषं तु' इत्यादिवाक्यसहस्राण्यगतिकानि भवेयुः । चिरात् प्रदृश्यमाणप्रागाचार्यचरणपरम्परा अप्यप्रामाणिक्य एव च तिष्ठेरन् । ननु पूर्वोक्तमार्गेषु सङ्कल्पपूर्वकं वैधप्रकारेण निवेद्यत इति भक्तिमार्गे तन्निषेधो युक्त एव ।

अथैतन्मार्गीयैः केन प्रकारेण भगवद्वस्तुसमर्पणं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः सेवकानामिति ।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।

लोके स्वस्मिन् सेवकानां व्यवहारः यथा प्रकर्षेण सिध्यति, तथा तेन प्रकारेण सर्वं समर्प्य सर्वं कार्यमात्रं कार्यं कर्तव्यमित्यर्थः । स व्यवहारो यथा सेवकैस्तु स्वप्रभोरग्रे सेवकभावेनैव सर्वं वस्तुसमर्पणं क्रियते, तथैव स्थीयते च, एवं व्यवहारो लोके प्रसिद्धो भवति । अयं भगवदग्रे सेवकभावेन सर्वं वस्तु समर्प्य तथैव च तिष्ठतीति भगवानप्येनं सेवकत्वेनैव मनुतेऽनुगृह्णाति च । एवंप्रकारकं ज्ञानं यथा सर्वलोकानां भवति, तथा सर्वसमर्पणं कार्यं तथैव स्थेयं च । अत्राप्ययमाशयः । यथा सेवको गृहदासस्तेन स्वीयं वस्तुमात्रं पूर्वमेव स्वप्रभवे सर्वथा निवेद्यते, पश्चात् प्रभुणा स्वप्रसादत्वेन यद्दीयते तेनैव स्वोपभोगः सर्वोपि क्रियत इति सर्वदा सर्वत्र दृश्यते श्रूयते च, तथैवानेनापि भगवदग्रे व्यवहर्तव्यमिति दिक् । समर्पणग्रहणे प्रमाणवाक्यानि तु 'त्वयोपभुक्ते'त्यादीनि पूर्वमेवोक्तानि । ननु भगवान् पुरुषोत्तमत्वादलौकिक इति तस्मिन् सेवादिकरणमप्यलौकिकप्रकारेणैवोचितमिति स्मृतिपुराणाद्युपदिष्टं सेवाप्रकारमनुक्त्वा लोकरीत्या सेवाकरणोपदेशे को हेतुरिति चेत्। न ।अत्रोच्यते । स्मृत्याद्युक्तप्रकारास्तु विधिबोधिता इति तदधीनत्वात् तदधीनस्वरूपपर्यवसायिन एव । अस्मिन् मार्गे तु पुरुषोत्तम एव भजनीय इति । तस्य च 'न रोधयति मां योगो,' 'नाहं वेदै'रित्यादिभिर्विध्यनधीनत्वादत्र वैधप्रकाराणामकिञ्चित्करत्वेन लोकसिद्ध एव सः प्रदर्शित इत्यवधेयम् । तर्ह्यस्यापि मार्गस्य लौकिकत्वं भवतीति चेत् । न । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मित्युक्तेर्लोकवद्दृश्यमानापि सा भगवदीयकृतसेवा वस्तुसमर्पणादिरूपा भगवत्कृततत्स्वीकारतद्भक्ताङ्गीकारादिरूपा चालौकिक्येव । यद्यपि 'न रोधयति मा'मित्यादिभिर्भगवतो विध्यनधीनत्वमात्रं तूक्तमेव, तथापि तादृशसेवाप्रकारो नोक्त इति स प्रकारोत्र प्रदर्शितः। तर्ह्यस्य प्रकारस्यैव स्मृत्याद्यनुक्तत्वादमूलकत्वमिति चेत् । न । 'यद्वृत्त्या तुष्यते हरि'रिति शूद्रवृत्तेरेव भगवत्तोषहेतुत्वमुक्तम्। यतः सा तु न वैधा, मन्त्राद्यधीना वा, तेषां तत्र नाधिकारात् । अत एतत्सर्वं विचार्यैवाचार्यैर्लोकक्रुतसेवादृष्टान्त उक्त इति सर्वमवदातम् ।

ननु एवं कृतेऽग्रे तस्य किं फलं भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः सर्वेषामिति । ततस्तदनन्तरं पूर्वस्मिन् स्थितानां गुणानां दोषाणां च ब्रह्मता । भगवदीयत्वेन भगवद्रूपतैव भवति । भगवदीयानां भगवद्रूपता तु भगवतैवोक्ता 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्,' 'नोद्धवोण्वपि मन्न्यून' इत्यादि । तथात्वे जाते न तेषु पुनर्दोषत्वं, कदाचिदपि न तिष्ठतीति भावः। यथा कामादयो भगवति निवेदिताश्चेत्तदीया भूत्वा न पुनर्दोषत्वाय कल्पन्ते, किन्तु प्रत्युत सर्वलौकिकफलसाधकत्वायैवेति दिक् । तदुक्तम् । 'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते' 'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वे'त्यादिभिः ।

ननु तथापि दोषाणां ब्रह्मरूपता प्रत्यक्षतया कुत्रापि दृष्टा नेति प्रत्यक्षवादिनां बहिर्मुखानां शङ्कां परिहरन्तो गङ्गादृष्टान्तेन तमेवार्थं प्रत्यक्षं दर्शयन्त आहुः गङ्गात्वमिति ।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८½ ॥

यथा प्रणालादिकुत्सितस्थानेभ्यो गङ्गायां समागतानां जलानां तद्गतदोषाणां च गङ्गात्वमेव सम्पद्यते, तदनन्तरं या तत्र गुणदोषादिवर्णना, कथनरूपा, सा संयोगानन्तरं तत्र गङ्गात्वे जाते निरूप्या कथनीया न स्यात् । अथवा । सा वर्णना यथा तदनन्तरं गङ्गात्वेनैव निरूप्या, कथनीया स्यात्, न कापि दोषत्वेन, तद्वदेवात्रापि भगवति सर्वस्वनिवेदनानन्तरं स्थितानामपि दोषाणां भगवदीयत्वमेवेति ज्ञात्वा तथैव कथनीयं करणीयं च, नान्यथा कथमपीति निगर्वः ।

इति श्रीविठ्ठलनाथचरणैकतानगिरिधरकृतौ सिद्धान्तरहस्यविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

दीक्षितश्रीलाल्लूभट्टकृतटीकासमेतम् ।

श्रीमद्गोपनितम्बिनीमणिनिजप्राणप्रियानिर्मित-
क्रीडाम्भोनिधिरासमण्डललसद्राकावधूनायकम् ।
कोटीन्दुद्युतिवन्दितं स्मरमनोहारित्विषानन्दितम्
वन्दे वेदशिरःसमीडितगुणं गोवर्धनेशं प्रभुम् ॥ १ ॥
जयन्ति वल्लभाचार्यविठ्ठलेशाङ्घ्रिरेणवः ।
कुशलाः स्वीकृतस्वान्तमोहध्वान्तनिवारणे ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः पुष्टिमार्गीयजीवानां पुष्टिमार्गङ्गीकारं चिकीर्षवः साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तममुखसरसीरुहोद्गतानि वाक्यानि स्वमात्रविषयीभूतानि भगवत्कृपापात्राणां निजोपदेशविषयकश्रद्धाधिक्यसम्पादनार्थं ग्रन्थरूपेण सङ्गतिपूर्वकं निरूपयन्ति श्राव-

णस्यामले पक्ष इत्यादिना । श्रावणशुक्लैकादश्यामर्धरात्रसमये श्रीमदाचार्यान् प्रति पुष्टिजीवोद्धारार्थं परमकाष्ठापन्नेन परब्रह्मणा श्रीकृष्णेन स्वयमाविर्भूयोपदेशः कृतः । स एवास्मिन् ग्रन्थे सर्वोपि विराजते । स एष प्रत्यहं विमृश्यमानो मार्गपद्धतिं प्रदर्शयत्यतो मयाचार्यवर्यकृपालब्धबोधेन तदर्थो निरूप्यते श्रावणस्येत्यादि ।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

श्रावणस्य वैष्णवत्वात् स गृहीतः । उपदिश्यमानमार्गस्य निर्मलताबोधनाय शुक्लपक्षः । अत एवामले पक्षे इत्यत्रामलपदमुक्तम् । एकादश्या वैष्णवतिथित्वात् सा गृहीता । अर्धरात्रसमयस्य पूर्णपुरुषोत्तमप्राकट्याधिकरणत्वात् तत्समये प्राकट्यम् । 'अथ सर्वगुणोपेत' इत्याद्यष्टभिः सार्धैः श्लोकैः समानसङ्ख्याकाः सार्धा अष्टौ श्लोकाः पूर्णपुरुषोत्तमप्रादुर्भावसूचकाः । साक्षाद्भगवतेति । भगवान् परमकाष्ठापन्नः स्वयमेवाविर्भूयोक्तवान्, न त्वंशेन कलया विभूतिरूपेणावेशरूपेण वेति ज्ञापकं साक्षात्पदम् । अथवा । साक्षात् पदस्य प्रोक्तमित्यनेनान्वयः । तथा च भगवता साक्षादेवोक्तम्, न तु दूतादिद्वारा । न वा स्वप्नादिद्वारेति बोध्यते स्म । अक्षरश इति । भगवदुक्तस्यैकस्याप्यक्षरस्यार्थो न त्यक्त इत्यर्थः । अथवा । श्लोकरूपेणैव भगवतोक्तमिति त एव श्लोका ब्रह्मसम्बन्धकरणादित्यारभ्य तद्वदत्रापि चैव हीत्यन्ता अत्र ग्रन्थे धृताः । सङ्गत्यर्थं प्रथमश्लोकः श्रीमदाचार्यैर्विरचित इति ज्ञातव्यम् । इदमत्राकूतम् । तृतीयस्कन्धनिबन्धविवृतौ भगवता प्रोक्तं यद्भगवदीया वदन्ति, तद्भागवतमिति निरूपितम् । अतः साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिदमिति भवत्यस्य भागवतत्वम् । तथा च यथा साक्षाद्भगवता चतुःश्लोकीरूपं भागवतं ब्रह्मणे प्रोक्तम्, यथा वा मैत्रेयाय प्रोक्तम्, तस्य भागवतत्वम्, एवं श्रीमदाचार्यान् प्रति साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिदमपि भागवतमेवेति ग्रन्थान्तरापेक्षया अस्य वैशिष्ट्यमनुसन्धेयम् । अत एव सिद्धान्तरहस्यमिति नामधेयमेतस्य ।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणादिति । ब्रह्मणा सह सम्बन्धः स्वस्वामिभावलक्षणो देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणदारागारपुत्रादीनां आत्मनश्च तदीयत्वमिति यावत् । तस्य करणाद्द्वयसहितपञ्चाक्षरनिवेदनमन्त्रस्योपदेशेन स्फुटीकरणादित्यर्थः । यद्यपि जीवानां सहजहरिदासत्वेन स्वस्वामिभावसम्बन्धः सिद्धोस्ति, तथापि संसारदशायां बाहिर्मुख्येन विस्मृतः स एतेनोपदेशेन ह्याविर्भाव्यते । 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्यु'रित्यष्टमस्कन्धे विन्ध्यावलिवाक्यात् प्रपञ्चस्य सर्वस्यापि भगवत्क्रीडार्थं निर्मितत्वेन भगवदीयत्वात् प्रपञ्चान्तर्गतदेहादीनामपि भगवदीयत्वं वर्तत एव, तथापि 'स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्यु'रित्युक्त्या कुधीत्वप्रयुक्तो देहादावाहंममाभिमानः, स एतेन

सगद्यमन्त्रेण नाश्यते, ततश्च तदीयत्वं स्फुटीभवति । सेयमात्मनिवेदनरूपा भक्तिः सर्वथा संपादनीया । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यत' इति भगवद्वाक्यात् । सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि इति । सर्वेषामिति नात्र वर्णाश्रमादिनियमः, किन्तु प्राणिमात्रस्येदं कर्तव्यमित्यर्थः । 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा, भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वय'मिति सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्यात् । 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गति'मिति भगवद्गीतासूक्तत्वात् । 'सर्वेधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप' इति पुराणान्तरवाक्याच्च । देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिरिति । देहदोषा जीवदोषाश्च निवर्तन्ते, देहजीवयोः समर्पितत्वेन भगवदीयत्वादित्यर्थः । देहपदमिन्द्रियप्राणान्तःकरणोपलक्षकम् । तथा च देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवानां सर्वदोषनिवृत्तिः, समर्पितत्वेन भगवदङ्गीकारात् । एतत्तु भगवत्संबन्धे युक्तमेवेति हिशब्दः सूचयति । दोषाः पञ्चविधाः स्मृता इति । स्मृता इति प्रमाणमुक्तम् ॥ २ ॥

तान् गणयन्ति सहजा देशकालोत्था इत्यादिना ।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

इह सहजदोषदेशोत्थदोषकालोत्थदोषसंयोगजन्यदोषस्पर्शजदोषश्चेति पञ्च दोषाः । लोकवेदनिरूपिता इति तु विशेषणम् । लोकशब्देन स्मृतिपुराणादि ग्राह्यम् । तत्र केचन देहस्य, अपरे तु जीवस्येति विवेचनीयम् । तत्रापि देहदोषाणां जीवेपि सम्बन्धो देहाध्यासात् । ते सर्वेपि दोषा आत्मसमर्पणरूपया भक्त्या निवर्तन्ते । 'तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नश'इति भगवद्वाक्येन भक्तिमात्रस्य सर्वदोषनिवारकत्वात् । पञ्चविधदोषास्तु प्रथमस्कन्धसप्तमाध्याये 'भक्तानामभयंकरात्वमेको दह्यमानानामपवर्गोसि संसृते'रित्यस्य सुबोधिन्यां कर्मजाः कालजाः स्वभावजा मायोद्भवा देशोद्भवाश्चेति पञ्चोक्तास्त एवात्राप्युक्ता इति ज्ञेयम् । तत्र स्वभावजा दोषा इह सहजपदेनोक्ताः । कालजा देशोद्भवाश्च देशकालोत्था इत्यनेन । मायोद्भवास्ते संयोगजपदेन निरूपिताः । अविद्यासंयोगजन्यत्वात् । कर्मजाः स्पर्शजपदेनाभिहिताः । एवं पञ्चविधा दोषाः । तत्र सहजाः स्त्रीत्वशूद्रत्वादयः । तेपि निवेदननाश्याः । 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गति'मिति वाक्यात् । देशदोषा मरुमगधसौराष्ट्रदुष्टदेशस्थित्यादयः । कालदोषाः कलिकालप्रभवाः शरीराशुद्ध्यादयः । एते त्रयो देहदोषाः । अविद्यासंयोगजन्याः संयोगजास्तु भगवद्भजनसद्धर्मबाहिर्मुख्यरूपाः । जीवदोषा एते । स्पर्शजा दुष्टकर्मस्पर्शेनोत्पन्नाः पातित्यादयः ।

तेषां पञ्चविधानां समर्पणजन्येन स्वस्वामिभावसम्बन्धेन निवृत्तिर्जायते । तत्र शूद्रत्वादयः सहजदोषाः । मरुमगधादिदुष्टदेशस्थित्यादयो दोषा न सर्वेषाम् । ब्राह्मणाद्युत्तमकुलोत्पन्नेषु सहजदोषाभावात् । मथुरादिशुभदेशवासिषु देशदोषाभावात् । अथवा । देशदोषा अपि सर्वेषां भवन्ति । मथुराद्युत्तमदेशस्थितावपि दुष्टस्वामिकस्थलस्थित्यादिजन्यापावित्र्यादिरूपदेशदोषाणां तत्रापि सत्त्वात् । न मन्तव्याः कथञ्चनेति । आत्मसमर्पणात् पूर्वं यावन्तो दोषास्ते सर्वेपि समर्पणनाश्याः, अतो निवेदनानन्तरं ते न मन्तव्याः । निवेदनकार्ये भगवत्सेवनादौ प्रतिबन्धका न भवन्तीत्यर्थः । नहि सूर्यनाश्यं तमः सूर्यप्रकाशे प्रतिबन्धकं भवति । 'निर्गुणो मदपाश्रयः' 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मित्यादिवाक्यैर्भगवदीयपदार्थस्य निर्गुणत्वेन समर्पितपदार्थेषु दोषसम्बन्धस्य वक्तुमशक्यत्वात् । दोषाणां तु राजसादिगुणमात्रविषयत्वेन भगवत्सम्बन्धिषु निर्गुणपदार्थेष्वभावात् । एवं निर्दोषत्वे सम्पन्ने तादृशाधिकारिणा किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां नवरत्नग्रन्थानुसन्धानेन तनुजवित्तजभगवत्सेवैव कर्तव्येति फलति । यतो निवेदितानां पदार्थानामुपयोगो भगवत्सेवयैव भवति । देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानां दारागारपुत्राप्तवित्तानामात्मना सह भगवत्सेवायामुपयोगः स्फुट एव । एवं सति निवेदनफलं भगवत्सेवा, तत्र निर्दोषता द्वारमिति निष्कर्षः । 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः । भगवत्सेवने योग्या नान्य इत्यर्थतः फल'मिति प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तत्वात् ॥ ३ ॥

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥

अन्यथेति । आत्मसमर्पणं विना कर्मज्ञानयोगादिभिर्न सर्वदोषनिवृत्तिः । इह पूर्वमुक्तेषु पञ्चदोषेषु निखिलदोषाणामन्तर्भाव इति ज्ञापयितुं सर्वपदम् । 'न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवये' ति षष्ठस्कन्धवचनात् । यद्यपि प्रायश्चित्तेन दोषनिवृत्तिस्तथापि न सर्वात्मना दोषापहारः । 'कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यत' इति षष्ठस्कन्धे शुकवाक्यात् । एवं ज्ञानेनापि न सर्वथा दोषनाशः । 'नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवये'ति शुकवाक्यात् । भक्त्या तु सकलदोषनिवृत्तिः । 'केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः । अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव गोपति'रिति वाक्ये कार्त्स्न्यपदात् नीहारदृष्टान्ताच्च । एवं निवेदनात् पूर्वं कृतानां दोषाणां निवेदनेन निवृत्तिमुक्त्वा निवेदनानन्तरं कदाचित् केनचिदनिवेदितपदार्थेन सम्बन्धे बुद्धिभ्रंशाद्दोषोत्पत्तिः सम्भवेदतो दोषाणामनुत्पत्त्यर्थं दोषोत्पादकपदार्थानां हेयत्वमाहुः असमर्पितवस्तूनामिति । भगवदनुपभुक्तान्नवसनस्रग्गन्धादीनामित्यर्थः । यस्मात् असमर्पितस्य सदोषत्वेन तत्सम्बन्धे स्वस्यापि दोषोत्पत्तिः, तस्मादसमर्पितवस्तूनां वर्जनं कर्तव्यमित्यर्थः । अतएव 'असमर्पितं तथा विष्णोः श्वमांससदृशं भवेत् । शुनोवि-

ष्ठासनं चान्नं नीरं तत्सुरया सम'मित्यादिवाक्यैरसमर्पितसम्बन्धे दोषबाहुल्यं गीयते ।

एवमसमर्पितवस्तूनां हेयत्वकथनेन तत्सम्बन्धं निराकृत्य दोषानुत्पत्तिप्रकारमुक्त्वा देहादिनिर्वाहार्थं कृतात्मनिवेदिनः प्रेमासक्तिव्यसनसर्वात्मभावान्तभक्तिहेतुभूताधिदैविकीशुद्ध्यर्थं च भक्तिमार्गीयमुपायमाहुः निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति ।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ९ ॥

निवेदनं निवेदः, निवेदो येषामस्ति ते निवेदिनः पदार्थाः अन्नादयः, तैः निवेदिभिः पदार्थैः सर्वं भक्षणादिव्यवहारं कुर्यात्, परन्तु समर्प्यैव कुर्यात् । अत्रेदं आकूतम् । सगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रग्रहणावसरे सर्वेपि स्वकीयाः पदार्था देहादयो दारागारादयश्च भूतभविष्यद्वर्तमानकालसम्बन्धिनो निवेदिता ब्रह्मसम्बन्धिनो निर्दुष्टा बभूवुः । अतस्ते सर्वेपि पदार्था निवेदिपदवाच्याः, तेषां पुनः समर्पणं नाम तत्तदवसरे भगवदुपयोगकरणम्, अतो मन्त्रग्रहणावसरे निवेदितानामन्नादीनां भगवदुपयोगं कृत्वा भगवदुपभुक्तशिष्टेन भक्षणादिव्यवहारं कुर्यादिति । तथा च पञ्चाक्षरमन्त्रग्रहणेन स्वकीयपदार्थानां ब्रह्मसम्बन्धः स तु सामान्यतः समर्पणम् । पुनस्तदुपयोगिकरणं विशेषतः समर्पणं ज्ञेयम् । एवं समर्पितात्मनः सर्वे पदार्था भगवदीयत्वान्निर्दुष्टास्तान् भगवदुपयुक्तान् कृत्वा तद्दत्तप्रसादत्वेन भक्षणादिव्यवहारो भक्तिमार्गे प्रशस्तः । तदुक्तं श्रीप्रभुचरणैर्नवरत्नप्रकाशे 'तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरे'ति । प्रसादत्वेन ग्रहणं कृतार्थतासम्पादकम् । 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः । उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही'त्येकादशस्कन्धे श्रीमदुद्धववाक्यात् । अतः सामान्यसमर्पणविशेषसमर्पणोभयसूचनार्थं निवेदिभिः समर्प्येति पदद्वयेन निवेदनमुक्तम् । इदं त्विह विशिष्यावधेयम् । निवेदनमन्त्रग्रहणेन ब्रह्मसम्बन्धे सर्वेषां पदार्थानामन्नादीनां या शुद्धिः सा त्वाधिदैविकी । तस्यां सिद्धायामपि दुष्टस्पर्शादिदोषनिवृत्तये भगवन्नामाभिमन्त्रितजलप्रोक्षणादिजन्या जलक्षालनादिजन्या भौतिकी शुद्धिः कर्तव्या । एवं शङ्खोदकतुलसीगोपालमन्त्रशरणमन्त्रोच्चारणादिनाध्यात्मिकी शुद्धिः, सापि कर्तव्यैव । श्रीमदाचार्यवर्यैस्तु पुष्टिभक्तिमार्गे या विशेषतः समर्पणजन्या शुद्धिः सात्र ग्रन्थे निरूपिता । सामान्यतो भौतिकी शुद्धिस्तु स्मृतिपुराणधर्मशास्त्रप्राप्तैवेति सा नोक्ता, नैतावता तस्या निषेधः । अतः सा यथाशास्त्रं विधेयैव । अतएव भगवत्सेवार्थं स्नात्वा गच्छतो निवेदितात्मनः पुंसो मध्ये निषिद्धस्पर्शदोषनिवारणार्थं पुनः स्नानादिना शुद्धिसम्पादनमार्याणां व्यवहारः । एवमेव पात्रादीनां यथाशास्त्रं शुद्धिकरणमस्मत्सम्प्रदायेऽस्ति । अत एव पुत्रजन्मनि वृद्धिसूतके देहाशुद्धिं मन्वाना न भगवच्चरणौ स्पृशन्ति । दशदिवसानन्तरं यथापूर्वमाचरन्ति, तावता कालेन शुद्धेः शास्त्रसिद्धत्वात् । सेयं भौतिकी शुद्धिर्न निवेदनहेतुका । अन्यथा देहादीनां समर्पितत्वेन सकलाशुद्धिसम्बन्धस्य वक्तुमशक्यतया स्नानादिशुद्धेर्निष्प्रयोजनकत्वं स्यात् ।

स्नानसन्ध्यावन्दनादिरूपं शोधकं परमभक्तानामपि व्यवहारे दृश्यते । 'इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निक' इति वाक्यात् । तदन्यथानुपपत्त्या भौतिकी शुद्धिर्वैष्णवानामुचितेत्यायाति । अतो भौतिकी शुद्धिर्जलक्षालनादिना शङ्खोदकादिना चाध्यात्मिकी शुद्धिर्यथाशास्त्रं सम्पादनीया । ननु शुद्धिद्वयं स्नानशङ्खोदकादिना सम्पाद्यम्, अधिदैविकी शुद्धिः समर्पणेन संपन्ना, ततो द्वितीयस्य विशेषतः समर्पणस्य किं प्रयोजनमिति चेत्, श्रूयताम् । भगवते समर्पितानां पदार्थानां भगवदुपयोगकरणाभावेऽपराधः स्यात् । सामान्यतः समर्पितानां भगवदुपयोगं विना स्वोपयोगे तु महानेवापराधसमुदाय आपद्येत । अतः सामान्यतः समर्पितानां भगवदुपयोगकरणरूपं विशेषतः समर्पणमावश्यकमेव । तदेतदुक्तं निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति । अत्र ह्यसङ्कुचितवृत्तिना सर्वपदेन लौकिकवैदिकव्यवहारः सर्वोपि गृहीतः । तथा च नित्ये नैमित्तिके च कर्मणि कर्माङ्गदेवताभ्यो यदन्नं देयं तदपि भगवते समर्प्यैव देयमिति स्फुटति स्म । अत एव 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पत' इत्यादिवचांस्युपलभ्यन्ते । युक्तं चैतत् । 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा । भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वय'मिति प्रह्लादवाक्यात् सर्वे देवा भगवद्भक्ताः । अतस्तेषां भगवदीयत्वाद्भगवत्प्रसाददाने तेषां प्रसाद एव । ननु सर्वोपि पदार्थो भगवते समर्पणीय इत्युक्तम्, एवं सति केनचिद्देवान्तरोपयुक्तशिष्टवसनादिकं स्वस्मै दत्तं तर्हि तद्भगवते समर्पणीयं न वेत्याकाङ्क्षायां नेत्याहुः न मतं देवदेवस्येत्यादिना । यतो भगवान् देवानामपि देवः पूज्यः स्वामी, अतो भगवद्भुक्तशिष्टं सर्वेभ्योपि देयम्, अन्यभुक्तशिष्टं तु हरये नार्पणीयम् । 'पितृशेषं तु यो दद्याद्धरये परमात्मने । रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन' इत्यादिनिषेधात् । तदेतदाहुः न मतं देवदेवस्येत्यादि ।

एवमुक्त्वा सिद्धमुपदिशन्ति तस्मादादौ सर्वकार्य इत्यादिना ।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।

यस्मात् सामिभुक्तं प्रभवे न निवेद्यम्, किन्तु कृष्णोपभुक्तशिष्टेन देवतायजनं स्वस्य भोजनादिव्यवहारश्च शास्त्रसिद्धः, तस्मादादौ सर्वं श्रीकृष्णाय समर्पणीयमित्यर्थः । ननु भगवत्समर्पितस्य पुनः प्रसादत्वेन ग्रहणे दत्तस्यापहारो भवति, अतो न युक्तमित्याशङ्क्य समाधिमाहुः दत्तापहारवचनमित्यादिना । दत्तापहारवचनं भिन्नमार्गपरमित्यन्वयः । दत्तापहारस्य वचनं निषेधकवचनं भिन्नमार्गपरम्, न तु भक्तिमार्गे निषेधः । निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात् । भक्तिमार्गे दत्तापहारस्याप्राप्तत्वात् । अस्मिन् मार्गे हि देहादीनामात्मना सह भगवते निवेदनम्, न तु दानम्, स्वसत्तानिवृत्तिपूर्वकपरसत्तोपादानस्य

दानलक्षणत्वात् । इदं तु 'क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं' इति चतुर्थस्कन्धवाक्यात् निवेद्ये देहादौ भगवत्सत्तायाः सर्वदा विद्यमानतया स्वसत्ताया अभावात् । अत एव परसत्तोपादानमपि न संभवति । सर्वस्य पदार्थजातस्य भगवदीयत्वात् । किन्तु भगवदीयस्यैव पदार्थस्य भगवते समर्पणमिति नात्र दानम् । दानाभावेन दत्तापहारोपि नैवास्तीति भक्तिमार्गभिन्नमार्गे निषेधप्रवृत्तिरिति भावः । तस्मान्निवेदितस्य भगवदुपभुक्तशिष्टस्य ग्रहणे निषेधाभावात् प्रभुदत्तप्रसादत्वेन ग्रहणं विधेयमेव । एतदेव नवरत्नप्रकाशे श्रीमत्प्रभुचरणैरवादि 'दाने हि न स्वविनियोगो न तु निवेदन' इति । ननु मास्तु दत्तापहारस्तथापि 'अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदित'मित्यनेन निवेदितग्रहणस्य निषेधात् कथं निवेदितस्वीकार इत्याशङ्क्य समादधते तथा च सकलं हरेः न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतमिति । इति वाक्यमित्यत्र इतिशब्दः प्रकारे । तथा हरेः सकलं न ग्राह्यमिति प्रकारकं वाक्यं 'अपि दीपावलोकं मे' इत्यादिरूपं भिन्नमार्गपरम्, न तु भक्तिमार्गपरमित्यर्थः । अपि च । समर्पणगद्यसमासौ दासत्वस्य निरूपितत्वादङ्गीकारे दासधर्मस्य भगवदुच्छिष्टग्रहणस्योचिततरत्वमेव । श्रीमदुद्धवेनापि भगवदुच्छिष्टग्रहणस्य दासधर्मत्वबोधनाय 'उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही'त्यत्र दासपदमभाणि । दास्यं च सर्वथा कर्तव्यमेव । 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदन'मिति प्रह्लादेन नवविधभक्तिषु दास्यस्य गणनात् । अस्मिन्नेव सप्तमस्कन्धे श्रीनारदेन 'श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः । सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मनिवेदन'मित्यनेन नवविधभक्तौ दास्यस्योपादानात् । तत्रापि 'नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृत' इत्युक्त्यावश्यकत्वस्य सूचनाच्च ।

ननु सप्तमस्कन्धे 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेते'त्यत्र त्यागस्योक्तत्वात् त्याग एव कर्तव्यः, तथा सति भिक्षावृत्त्या कस्यचिद्वैष्णवस्य गृहाद्देहनिर्वाहकमात्रं भगवदुपभुक्तशिष्टं गृहीत्वा निष्प्रत्यूहं भगवद्भजनं कार्यम्, किमर्थं दारागारसम्पादनं चेत्याशङ्क्य दारादिसम्पादनप्रयोजनं देहादिनिर्वाहप्रकारं चाहुः सेवकानां यथेत्यारभ्य, तथा कार्यं समर्प्यैवेत्यन्तेन ।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।

सेवकानामिति । भगवतः श्रीविग्रहं सेवमानानामित्यर्थः । तेषां यथा लोके सर्वोपि व्यवहारः भगवत्सेवारूपः सेवोपयोगिलौकिकभोजनादिरूपो वैदिकः पुत्रोपनयनविवाहादिरूपश्च स यथा येन प्रकारेण सिध्यति । तथा कर्तव्यम् । तथा सति स्त्रीपुत्रादिभिः सह कृष्णसेवा सिध्यति । तदभावे तु सेवाया न निर्वाहः । अतः स्त्रीपुत्रादिसम्पादनं कृष्णसेवार्थमिति प्रयोजनं सिद्धम् । अनिवेदिताः स्त्रीपुत्रादयो बाहिर्मुख्यं जनयन्त्यतस्तन्निवृत्त्यर्थं स्त्रीपुत्रादीनां निवेदनमावश्यकम् । तदेतदुक्तं तथा कार्यं समर्प्यैवेति ।

भगवतापि 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदन'मित्यनेन निवेद्यत्वेन दारादयो निर्दिष्टाः । निवेदनस्य किं फलमित्याकाङ्क्षायां 'उद्धवात्मनिवेदिनां मयि संजायते भक्ति'-रित्युक्त्या भक्तिशब्दवाच्या सेवैव फलत्वेन निर्दिष्टा । भक्तिशब्दस्य सेवार्थः । भजसेवाया-मिति धातुपाठात् । 'भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तित' इति तन्त्राच्च । तथा च सिद्धमेतत् । दारादिसङ्ग्रहस्तन्निवेदनं च कृष्णसेवार्थम् । कृष्णसेवा हि सर्वथैव कर्तव्या । 'तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनोवचः । नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वर' इति नारदवाक्यात् । 'करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च शावौ करौ नो कुरुतः सपर्याम् । करौ हरेर्मन्दिर-मार्जनादि'ष्वित्यादिवचःपुञ्जाच्च । 'यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न' इति पञ्चमस्कन्धे देववाक्ये सर्वदेवतास्पृहणीयत्वस्याभिधानाच्च । अतः सेवार्थं गृहाश्रम-स्तन्निर्वाहार्थं लौकिको ज्ञातिसम्बन्धिव्यवहारो ब्राह्मणभोजनादिरूपो यज्ञोपवीतविवाहादिक-र्मसु कर्माङ्गभूतदेवतापूजनादिव्यवहारश्च सर्वथा कर्तव्य एव । परम्परया कृष्णसेवोपयोगि-त्वात् । परन्तु स सर्वोपि भगवते समर्प्यैव भगवदुपभुक्तशिष्टेन कार्यः । एतद्बोधकं समर्प्यै-वेत्यत्रैवपदं एतदभिसंधाय 'सेवकानां यथा लोके' इत्यत्र सेवकपदं दत्तमाचार्यवर्यैः । अनेन सेवाभिलाषिणां गृहाश्रमः सर्वाश्रमेभ्यो बलीयानित्युक्तं भवति । यस्य तु गृहे भगवत्सेवाया अभावस्तद्विषयकानि गृहत्यागवचनानि । अत एव 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूप'मित्यत्रात्मपात-त्वमन्धकूपत्वं च विशेषणद्वयमुक्तम् । न हि भगवदीयानां गृहमन्धकूपं भवति । वेदान्तरत्न-रूपस्याखिलपुरुषार्थदातुर्भगवतो विराजमानत्वात् । अतः सर्वं सुस्थम् । गृहाश्रमाभिप्रायेणैव भगवन्तं प्रति विज्ञापयता उद्धवेन 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिता' इत्यत्र वसन-भूषणाद्यलङ्कृतत्वं श्रीकृष्णदासानामुक्तम् । अन्यथा त्यागपक्षे भूषणवसनाद्यलङ्कारो नोचित इति न वेदत् । अतो गृहाश्रमं सम्पाद्य भगवते सर्वं निवेद्य कृष्णोपभुक्तशिष्टेन देहादि-निर्वाहे न किञ्चिद्दूषणम् । 'अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम् । कृत्वा विष्णूपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवै'रित्यादिपुराणान्तरवचःसमुदायादिति दिक् । 'अम्बरीष नवं वस्त्र'मित्यत्र नवपदेन अन्यभुक्तस्य निवेदनं निषिद्धमिति ज्ञेयम् । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवन्तं भजमानस्य फलमाहुः सर्वेषां ब्रह्मता तत इति । आत्मना सह समर्पितानां देहादीनां दारागारपुत्रादीनां च ब्रह्मता भवति । निर्दोषत्वप्रकटसच्चिदानन्दत्वरूपाक्षरब्रह्मधर्मास्तेष्वाविर्भूता भवन्तीत्यर्थः ।

पूर्वमतथाभूतस्य भक्त्या ब्रह्मत्वप्राप्तौ दृष्टान्तमाहुः गङ्गात्वं सर्वदोषाणामित्यादिना ।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८½ ॥

सर्वे दोषा येषु तानि सर्वदोषाणि रथ्यादिजलानि । तेषां गङ्गाप्रवाहप्रवेशे यथा गङ्गा-त्वम्, तथा निवेदनेन ब्रह्मत्वं भवतीत्यर्थः । गङ्गाप्रवेशे रथ्यादिसलिलानां सर्वे दोषा निवर्तन्ते, ततो निर्दुष्टवारीणां गङ्गात्वम्, न तु दोषाणां गङ्गात्वम्, तेषां गङ्गासम्बन्धनाश्यत्वात् ।

अतो 'गङ्गात्वं सर्वदोषाणा'मित्यत्र सर्वदोषपदे बहुव्रीहिर्ज्ञेयः । तथाच सर्वदोषाणां दोषयुक्तानां जलानां दोषानिवृत्त्या गङ्गात्वमित्यर्थो भवति । एवमिहापि निवेदनेन गतदोषाणां ब्रह्मत्वमाकलनीयम् । **गुणदोषादिवर्णना गङ्गात्वे न निरूप्या स्यादिति ।** गङ्गात्वे इति सप्तमी । गङ्गात्वे सति निर्दोषादिवर्णना न निरूप्या स्यात् । अस्मिन् प्रवाहे ब्राह्मणजलं पतितम्, तच्छुद्धमस्ति, रथ्याजलं निषिद्धमस्तीत्यादिरूपा गुणदोषवर्णना गुणदोषकथा न निरूप्या, किन्तु सर्वमेव जलं गङ्गामिलितं गङ्गैवेति निर्धारः । तद्वदत्रापीति । अत्रापि निवेदनेपीत्यर्थः। निवेदने हि सर्वस्य ब्रह्मत्वं तुल्यम्, न वर्णाश्रमादिगुणदोषविचारः । अपि तु सर्वस्य भगवदङ्गीकृतत्वमिति भावः ।

निखिलोपनिषद्वेद्यो बालकृष्णो व्रजाधिपः ।
तदङ्घ्रौ बालकृष्णेन मया सर्वं समर्पितम् ॥ १ ॥

निवेदनविचारः ।

अथेदं विचार्यते किं नाम निवेदनम्, किं प्रयोजनकम्, कतिप्रकारकं चेति । तत्र 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदन'मित्यत्र दारादयो निवेद्यत्वेन निर्दिष्टाः । 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिना'मित्यात्मपदेन देहजीवौ निवेद्यत्वेनोक्तौ, आत्मशब्दस्योभयवाचकत्वात् । तथा च आत्मनो जीवस्य देहेन दारादिभिः सह भगवत्सेवोपयोगिकरणमात्मनिवेदनम् । तच्च त्रिविधम् । 'अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदनम् । यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवने'ति नवरत्नग्रन्थात् । तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैर्यदात्मनिवेदनं तदुत्तमम् । भगवत्स्वरूपस्वस्वरूपनिवेदनस्वरूपज्ञानपूर्वकं आत्मनिवेदनं तन्मध्यमम् । प्रेमज्ञानोभयराहित्येन केवलं पुष्टिमार्गीयगुरुमुखोद्गतसगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रोच्चारणजन्यमात्मनिवेदनं तृतीयम् । एवं त्रिप्रकारके निवेदने यदुत्तमं तत्प्रेमोत्पत्तिपश्चाद्भावि । द्वितीयं पुष्टिमार्गीयग्रन्थाध्ययनगुरूपदेशजन्यज्ञानानन्तरोत्पत्तिकम् । तृतीयं तु केवलं पुष्टिमार्गीयगुरुमुखोत्थसगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रोपदेशोत्तरभावि । नवरत्ने अज्ञानाद्यन्निवेदनमुक्तम्, तत्पञ्चाक्षरमन्त्रोपदेशमात्रजन्यमिति बोद्धव्यम् । एवं त्रिप्रकारकनिवेदनस्य प्रयोजनं भगवत्सेवा । तया कृतार्थत्वम् । 'उद्धवात्मनिवेदिनां मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यते' इति वाक्यात् । इह वाक्ये आत्मनिवेदनानन्तरं भक्तिशब्देन प्रेमसेवामुक्त्वा 'कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इत्यनेन कृतार्थत्वमुक्तम् । ननु पित्रा कृते निवेदने पुत्रस्य भगवदीयत्वे सिद्धे पुनः पुत्रेण किमर्थं निवेदनं विधेयमिति चेत्, सत्यम् । भगवदीयत्वेपि स्वदेहादौ स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिमन्तरेण न

भगवदीयत्वबुद्धिरुत्पद्यते । अतः सर्वैरेव स्वस्वाध्यासनिवृत्तये पृथक् पृथग्निवेदनं कार्यम्, सर्वानेव जीवानधिकृत्य निवेदनस्य विहितत्वात् । 'सख्यमात्मनिवेदनं नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृत' इति सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरं प्रति नारदवाक्यात् । अतः शास्त्रसिद्धत्वात् पृथक्पृथगनुष्ठेयम् । तथाच विशेषतो भगवदीयत्वं सेत्स्यति, अधिकस्याधिकं फलमिति न्यायात् । यथार्जुनस्य वैष्णवत्वेन पूतत्वेपि पौत्रपरीक्षिद्भक्त्या विशेषतः पूतत्वम् । 'त्रिःसप्तभिः पिता पूत' इति प्रल्हादं प्रति भगवद्वाक्यात् । यस्य वंशे वैष्णव उत्पन्नः स पवित्रो भवत्येवेति सर्वसत्सम्मतम् । स्वयं वैष्णवो वैष्णववंशकर्ता चेद्विशेषतः पूतो भवति । अधिकं तत्रानुप्रविष्टम्, न तु तद्धानिरिति न्यायात् । एवं निवेदनेपि ज्ञेयम् । ननु अज्ञानात्केवलमन्त्रोच्चारणेन कथं निवेदनसिद्धिरिति चेत्, सत्यम् । ज्ञानाभावेन केवलं मन्त्रोच्चारणेनापि धर्मसिद्धेर्बालादावुपलभ्यमानत्वात्तन्न्यायेनात्रापि निवेदनसिद्धिरित्याकलितव्यम् । बालो हि दानादिधर्मं कुर्वन् पित्रादिशिक्षया दातुमहं समुत्सृज इत्यादिपदमुच्चारयन् स्वरूपमजानन्नपि दानफलमाप्नोति । तथात्र स समर्पणगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रोच्चारणे समर्पयामीति पदमुच्चारयंस्तत्स्वरूपमजानन्नपि समर्पणफलमवाप्नोति । यथा वा रोगाद्यातुरकृतधर्मे मूर्खकृतधर्मे शब्दोच्चारणमात्रेण सिद्धिः, एवमुच्चारणमात्रेण निवेदनसिद्धिरिति मञ्जुलमखिलम् । ननु एकगुरोरुपदेशग्रहणे दम्पत्योः परस्परं भ्रातृत्वाद्यापत्तिः, तद्भिया गुरुपार्थक्यमेव कर्तव्यम्, न त्वेकगुरुत्वमिति चेत्, न । 'आचारो धर्ममार्गश्च गुरुर्मन्त्रश्च देवताः । दम्पत्यपत्यभृत्येषु एकीकृत्य महत्फल'मिति **साधनदीपिकास्थपाद्मोत्तरखण्डवाक्यात्** । देहजसम्बन्ध एव तथात्वेन पारमार्थिकेस्मिन्निवेदनमन्त्रोपदेशसम्बन्धे गुर्वैक्येपि दोषाभावात् । अयमेव गुरुकत्वरूपः सम्बन्धो न लौकिकः, किन्तु भगवत्प्राप्तिसाधनत्वात् अलौकिकः, अलौकिकसम्बन्धस्य लौकिकपदार्थे दोषजनकत्वं नास्त्येव । अतो नैकगुरुकत्वे दम्पत्योर्भ्रातृभगिनीत्वापातः । 'अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातस्तथैव च । विद्यादाता जन्मदाता पञ्चैते पितरो नृणा'मिति ब्रह्मवैवर्तीयब्रह्मखण्डदशमाध्याये सूतवाक्ये पितृत्वादिविधौ पितृवत्पूज्यतामात्रमभिप्रेतम् । अन्यथान्नदात्रादीनां पितृत्वेन दम्पत्योरेकपोष्यत्वे एककर्तृकभयत्राणे च भ्रातृभगिनीभावापत्तिरिति विवाहवैयर्थ्यमेव स्यात् । एवं गुरावपि पितृवत्पूज्यतामात्रमभिप्रेतम् । न त्वेकगुरुकत्वसम्बन्धे भ्रातृत्वमतो दम्पतिभ्यां भक्तिमार्गे गुर्वैक्यकरणं न दोषायेति दिक् । किञ्च । भारते आश्वमेधिके उत्तङ्कोपाख्याने गौतमेन उत्तङ्काय स्वशिष्याय स्वसुता परिणायितेत्युक्तम् । 'इत्थं च परितुष्टं मां विजानीहि भृगूद्वहे'त्यारभ्य 'ततस्तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनी'मित्यन्तेन । कार्तिकमाहात्म्ये च 'अपुत्रः स च शिष्याय चन्द्रनाम्ने ददौ सुता' मित्युक्तम् । अतो ज्ञायते गुरुपुत्र्या विवाहेपि दोषो नास्ति । गुरुपुत्र्यां गुरुतल्पातिदेशो व्यभिचारेण तथात्वे विवक्षितो, न तु विवाहे । अन्यथोत्तङ्के चन्द्रनाम्नि च गुरुतल्पगामित्वं स्यात्, अत उक्तैव व्यवस्था सुधीभिरादर्तव्या । एवं भक्तिमार्गीय-

शिष्टसम्प्रदायसिद्धपद्धतिके सन्मार्गीयनिवेदनप्रकारे दूषणलेशोपि नास्तीति निर्दुष्टः पन्था अस्मदाचार्याणामार्याणां च ।

गोवर्धनेशपदपङ्कजलब्धिहेतुः श्रीवल्लभैर्निगदितात्मनिवेदनाख्या ॥
श्रीविठ्ठलप्रकटिता हरिभक्तिरेषा चर्कर्तु वाञ्छितफलान्यमलाश्रितानाम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविठ्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामविदितदीक्षितबालकृष्णेन विरचिता सिद्धान्तरहस्यटीका सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तरहस्यम् ।

श्रीशाचार्यमतानुवर्तिकृतसंवादविवृतिसमेतम् ।

श्रीवल्लभं नमस्कृत्य तन्मुखोक्तीर्विभाव्य च ।
क्रियते भक्तिसिद्धान्तरहस्यविवृतिर्मया ॥ १ ॥

अथ श्रीगोपीजनवल्लभः कचिच्छ्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि प्रादुर्भूय भगवान् अनन्तशयनस्वरूपे समर्पितं सितोपलखण्डं स्ववदने निक्षिप्य तदर्पितपवित्रमालिकाः परिधाय प्रोवाच 'श्रीवल्लभ, भवत्प्राकट्यं ममैव स्वास्यात् कृतमस्ति, तेनात्मनिवेदनद्वारा जीवोद्धारणे विलम्बो न कार्य' इति । तदनु कीदृशं तदिति प्रश्ने, भगवान् सगर्वं 'तवास्मी'तिपूर्वकं स्वसिद्धान्तरहस्यं समुपदिष्टवान् । तथाहि । एकदा श्रीवल्लभाचार्या धृतव्रताः श्रीगोकुले श्रीयमुनातटे समुपासीना भगवन्तं श्रीगोपीजनवल्लभं साक्षाद् दृष्टवन्तः । तत्र यदनुभवन्ति स्म, तदेव स्वयमावेदयन्ति श्रावणस्येत्यादिश्लोकैरष्टभिः सार्धैः । धर्मधर्म्यभिप्रायेण दृष्टान्तेन च । प्रथमं प्रतिज्ञावाक्येनाहुः श्रावणस्येति ।

श्रावणस्यामले पक्ष एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

साक्षादाविर्भूतेन भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

ननु भगवन्, सर्वदोषनिधाने कलौ तथाविधदेहात्मनामेषां जीवानां कथं कस्मात् समुद्धार इति पृष्टो भगवानाह ब्रह्मसंबन्धकरणादिति ।

---

१. शालिग्रामे । २. षड् गुणा धर्माः, सप्तमो धर्मी, श्रीभगवदभिप्रायेण ।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

निर्दोषं हि समं ब्रह्माहम्, तस्मिन् सम्बन्धस्य करणात् साधकतमात् सगद्यपञ्चाक्षरकथनात् । अंशत्वेपि 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ'विति भक्तिमार्गीयात्मसमर्पणापरपर्यायनिवेदनद्वारा सेवैकत्वकरणादित्यर्थः । ननु केषां तत्करणमिति चेत्, अत्राह सर्वेषामिति । दैवमध्ये उच्चनीचानामपि स्त्रीपुंनपुंसकानाम् । ननु तत्र देहेन्द्रियान्तःकरणप्राणजीवसत्त्वात् कुत्र तत्करणमित्यत्राह देहजीवयोरिति । प्राणेन्द्रियान्तःकरणोपचिते देहे जीवेपि । तदा किं भविष्यतीत्याशङ्कायामाहुः सर्वदोषनिवृत्तिर्हीति । ब्रह्म हि निर्दोषं सममिति तत्र सम्बन्धकरणे सा न्याय्येति हिशब्देन सूच्यते । ननु के ते दोषा इत्याकाङ्क्षायामाहुः दोषाः पञ्चविधाः स्मृता इति ॥ २ ॥

ननु किमाख्या तेषाम्, तत्राह सहजा इत्यादित्रिभिः पादैः ।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

एते श्रीगोकुलेशोत्सवादिभिर्विवृता एवेति न प्रतन्यन्ते । नन्वेते कथं चिन्त्या इति तत्राह न मन्तव्याः कथञ्चनेति । सत्त्वेन न मन्तव्याः, किन्तु समूलं निवृत्ता इत्यग्रे तु सावधानतया स्थेयमिति भावः ॥ ३ ॥

ननु शास्त्रेषु दोषनिवृत्त्यर्थं भूतशुद्ध्यादिरूपं प्रकारान्तरमपि श्रूयत (क्रियते) इति चेत्, तत्राह अन्यथेति ।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥

प्रकारान्तरेणैतदुक्तसर्वदोषाणां कथञ्चन न निवृत्तिः, किन्तु यथाकथञ्चित् केषाञ्चिदेवेत्यर्थः । ननु स्वस्याहन्तास्पदानां सधर्माणां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मनां ब्रह्मणि सम्बन्धे समर्पणाख्ये कृतेप्यवशिष्टानां ममतास्पदानां वस्तूनामतथात्वे दोषतादवस्थ्यमेवेत्याशङ्कायामाह असमर्पितेति । तेषामपि समर्पणं यथायोग्यं विधेयमित्यर्थः ॥ ४ ॥

ननु स्वयमेव कृतं कथं तत् सेत्स्यतीत्यत्राह निवेदिभिरिति ।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ५ ॥

आत्मनिवेदिभिर्महापुरुषैर्द्वारा (गुरुभिरिति बहुत्वं पूज्यत्वेन ज्ञेयम्) सर्वं दारागारपुत्राप्तवित्तेहपरादिकं समर्प्य कुर्यात्, खान्नादिकं समर्प्य गृह्णीयादिति भक्तिमार्गमर्यादा।

---

३. वैष्णवत्वकरणात् । ४. सधर्मक.

'महापुरुषेण निवेदिता' इत्युक्तत्वात् । ननु मतान्तरेऽर्धभुक्तसमर्पणं विधीयते, तथात्रापि न वेत्याशङ्कायामाह भगवान् न मतमिति । न तन्मम मतम्, कुतः, तत्राह देवदेवस्येति । साधारणो देवोपि नैवमङ्गीकुरुते, कथं देवदेवोहं तदुच्छिष्टमङ्गीकुर्यामिति भावः ॥ ५ ॥

तर्हि कथं विधेयमित्यत्राह तस्मादादाविति ।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।

सर्वकार्ये लौकिकवैदिके च, अनिषिद्धप्रियसर्ववस्तुसमर्पणं कार्यम्, अत्र बहूनि प्रमाणवचनानि दर्शितानि तैरेव । ननु तर्हि भगवते दत्तस्यापहरणे स्वोपभोगार्थं दोष एव, अनपहरणेऽनिर्वाह इत्युभयतःपाशा रज्जुरेवेत्याशङ्कायामाह, दत्तापहारवचनं, हरेस्तन्न ग्राह्यमिति वाक्यं च भिन्नमार्गपरं मतम्, दानधर्मपूजामार्गपरम्, न तु शुद्धभक्तिमार्गपरम् । यत्स्वसत्ताकमेव हि दीयते, परसत्तामापाद्यते, तन्न ग्राह्यम् । तथा च सकलं नैवेद्यं तथावादिना न ग्राह्यमित्यापत्तौ सदाचारविरोधः । यद्वा । वस्तुतो हरेः सकलं सर्वमिति किमनेन दत्तम्, यदपहरणे दोषः । किञ्च, नेदमपहरणम्, किन्तु तत्प्रसाददत्तवस्तुग्रहणं वस्तुतोपि तदीयस्यैव वस्तुनो नितरां वेदनं ज्ञापनं समर्पणं सेवकधर्मः ॥ ६ ॥

कथं तर्हि वर्तितव्यम्, तत्राह सेवकानां यथेति ।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।

तदुच्छेषग्रहणेन वर्तितव्यम् । ततः समर्पणात् सर्वेषां ब्रह्मता निर्दोषतात्मकता ॥७॥

ननु कथं तथा प्रतीयेतेत्यत्राह दृष्टान्तेन गङ्गात्वमिति ।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ।
गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८½ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सिद्धान्तरहस्यं समाप्तम् ।

सर्वेषां दोषवतां जलानामिव गङ्गासम्बन्धे गङ्गात्वम्, गुणदोषादिवर्णना, जलानां गङ्गात्वेन यथा निरूप्या, तद्वदेवात्रापि निश्चेयम् ॥ ८ ॥

इति श्रीभगवत्संमुखश्रीवल्लभाचार्यकृतभक्तिसिद्धान्तरहस्यसंवादस्य विवृतिः श्रीशाचार्यवर्यमतानुवर्तिना कृता संपूर्णा ।

श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु को सर्वोत्तमस्तोत्र में—"श्रीभागवत-पीयूषसमुद्रमथनक्षमः" कहा गया है.

श्रीमद्भागवत वस्तुतः भक्तिरस का एक छलकता हुआ सागर है. अनेकविध भक्ति के रसभावों को प्रकट करनेवाली भगवान् की विविध लीलाओं की जैसी लहरें यहां उठती दिखलाई देती हैं, वैसा अन्य किसी भी भक्तिशास्त्र में सहज-सुलभ नहीं. अतएव कहा जाता है—"पिबत भागवतं रसमालयम्."

भागवत की रसलहरी में हिलोरा लेनेवाले भक्तों के लिए उस पार मुक्तितट पर पहुंचना उतनी ही तुच्छ उपलब्धि है जितनी कि इस पार संसार के तट पर चिपके रहने की सांसारिक मनोवृत्ति!

इसी भागवत-रसामृत-सागर के मन्थन द्वारा श्रीमहाप्रभु ने जो षोडश-कला-निधि चंद्र प्रकट किया उसे हम 'षोडशग्रन्थ' के नाम से पहचानते हैं.

इस षोडश-कला-निधि चन्द्र की शीतल और शुभ्र चन्द्रिका के प्रकाश में प्रत्येक पुष्टिजीव अपने पुष्टिभक्ति के मार्ग को बिना किसी आयास के खोज सकता है और आश्वस्त होकर उस पर अग्रसर हो सकता है.